# श्रीश्री गीतपञ्चक

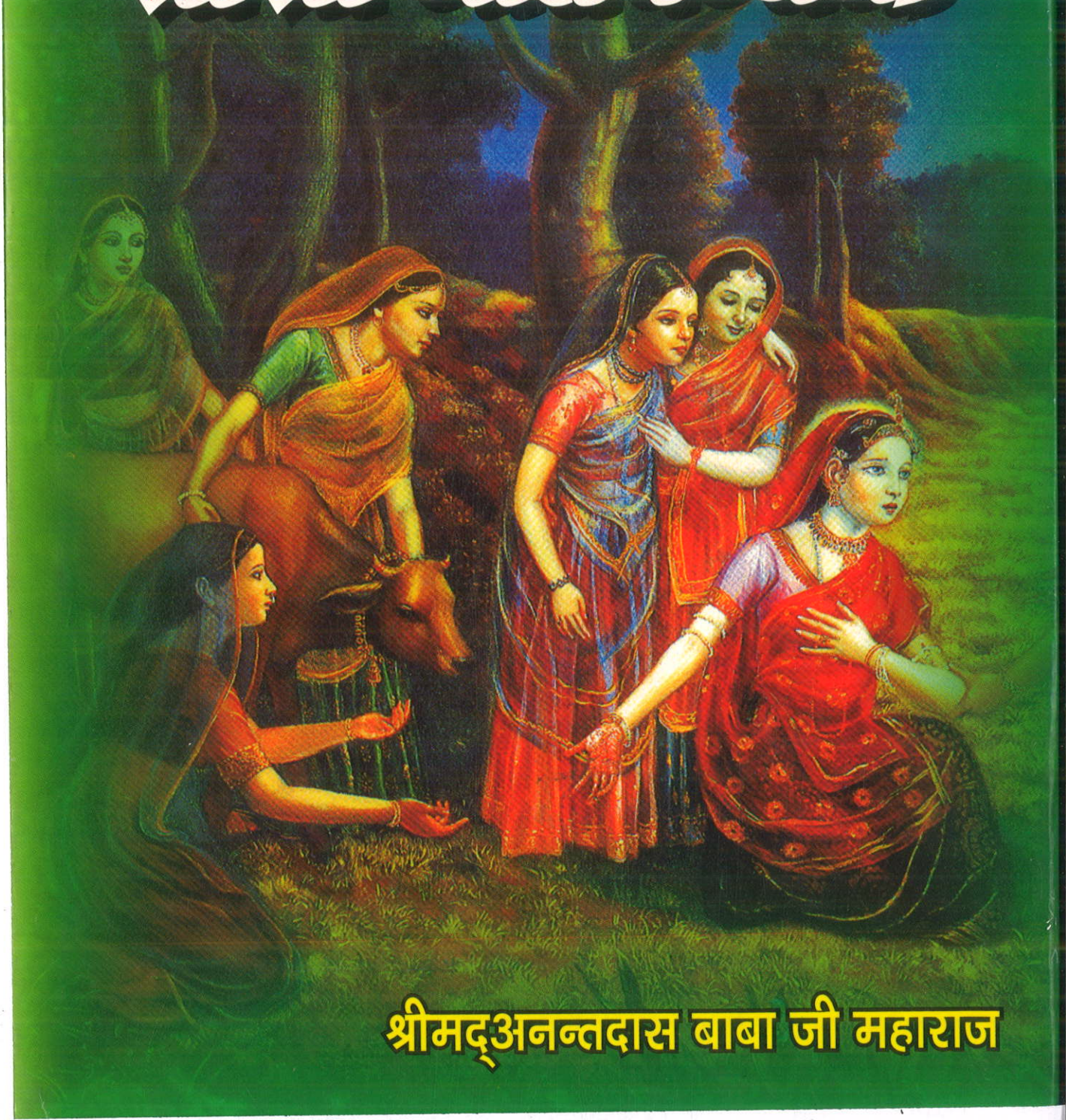

श्रीमद्अनन्तदास बाबा जी महाराज

श्रीश्रीमद्भागवत में गोपीप्रेमसिन्धु
का दिव्य तरङ्ग-उच्छ्वास

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

(श्रीवेणुगीत, श्रीगोपीगीत, श्रीयुगलगीत,
श्रीभ्रमरगीत और श्रीउद्धवगीत)

अन्वय-अनुवाद और गीतामृतलेश टीका
से समलंकृत

टीकाकार
**श्रीमद् अनन्तदास बाबाजी महाराज**

हिन्दी अनुवादक
ब्रजगोपाल दास अग्रवाल

**श्रीकृष्णचैतन्य शास्त्र मन्दिर**
श्रीश्रीराधाकुण्ड से प्रकाशित

सर्वाधिकार सुरक्षित

**युग्म प्रकाशक :**

श्रीकेशवदास और श्रीहरेकृष्णदास

व्रजानन्द घेरा, राधाकुण्ड (मथुरा) उ0 प्र0 पिन - 281 504

**प्राप्ति स्थान :**

1. श्री केशवदास

   व्रजानन्द घेरा, राधाकुण्ड (मथुरा) उ0 प्र0

2. श्रीमती शिखा साहा

   डी. बी. 55, साल्टलेक सिटी

   कोलकाता - 700 064

**मुद्रक :**

प्रमोद प्रिन्टर्स, मथुरा मोबा. - 9837290339

**सैटिंग :**

मनीष कम्प्यूटर सेन्टर, भरतपुर गेट, मथुरा मोबा. - 9634167928

**संस्करण :**

प्रथम 2011

1000 प्रतियाँ

**मूल्य :**

रुपये 300/- मात्र

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

## समर्पण

## परमाराध्य 108 श्रीमत् गुरुदेव

## के श्रीकरकमलों में परमभक्तिपूर्वक

## समर्पित

# श्रीश्री गीतपञ्चक

## दिव्य पञ्चामृत

## (प्रभुपाद श्रीविनोदकिशोर गोस्वामी)

श्रीमद्भागवत वेदकल्पतरु है - अप्राकृत नन्दनकानन-परमकृपालु श्री गोविन्द का ग्रन्थरूप में लीलाविग्रह सुर मुनि नर-वन्दनीय। इस महाग्रन्थ का रसास्वादन करते हुए साधु, योगी, महात्मा, न्यासी और भक्तिवादी सभी स्वानुभवानन्द में विभोर हैं। इस महाग्रन्थ की सेवा और रसास्वादन में वर्तमान काल में जिन लोगों ने अपनी सामर्थ्य नियोजित की थी, उनमें शचीनन्दन गोस्वामी, प्राणगोपाल गोस्वामी प्रभु, राधाविनोद प्रभु, रसिकमोहन विद्याभूषण, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, राधागोविन्द नाथ और अन्यान्य विदग्धजन उल्लेखनीय हैं। श्री राधाकुण्ड के महन्त परमप्रीति - श्रद्धामण्डित परमतत्वज्ञ श्रील अनन्तदास बाबाजी महाराज ने अपने मेधामधुप साधकोचित हृदय की निविष्टता के साथ भागवतकल्पतरु के पाँच रसाल अमृतफल भागवतवितान से संग्रह कर विश्व के भक्तिरसास्वादन-लोलुप जनगण को उपहार में दिये हैं। ग्रन्थ को नाम दिया है 'श्रीश्रीगीतपञ्चक'। टीकाचार्य ने श्री चैतन्यदेव के अन्यतम पार्षद सनातन गोस्वामिपाद की वृहद् वैष्णवतोषिणी टीका, अचिन्त्य भेदाभेद के केतनवहनकारी दार्शनिकधुर्य श्रीजीव की क्रमसन्दर्भ और भागवतसन्दर्भ, रसिकाचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती महाशय की सारार्थदर्शिनी टीका - इन सबके आनुगत्य में अभिस्नात आन्तरिक निष्ठा के साथ श्रीमद्भागवत के वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत और उद्धवसन्देश की गूढ़ तत्वाश्रित रसमाधुरी की अति मधुरभाव से विस्तृत व्याख्या की है। इससे पहले हम लोगों ने परमप्रीतिभाजन सुहृद्वर बाबाजी महाराज के आस्वादनमाधुर्य और विभिन्न गोस्वामिग्रन्थों के प्राणस्पर्शी अनुराग से तत्वामृतसिन्धु और साधन-साम्राज्य का सन्धान प्राप्त किया था। श्रीमन्नित्यानन्दप्रभुवंश्य अनन्तश्री प्रभुपाद प्राणकिशोर गोस्वामीजी मेरे पितृदेव ने नवीन भागवतव्याख्याता अनन्तदास बाबाजी महाराज की टीकासमृद्ध भागवत व्याख्या सुनकर कहा था - गोस्वामिवृन्द की टीकाओं पर आश्रित व्याख्या ही तुम्हें आने वाले समय में जयटीका धारण करा देगी। वह बात आज अक्षरशः सत्य हो रही है। सत्य ही इस प्रवीण वयस में उनकी विभिन्न वैष्णवरसग्रन्थों की चर्चा-समीक्षा, दुरूह तत्वों के वर्णन की कुशलता, गोस्वामिवर्ग की टीकाओं का आनुगत्य, श्रीचैतन्य-अनुरागी पार्षदवृन्द के अलौकिक रसास्वादन की प्रतिभा - इन सब बातों के परिणामस्वरूप उनकी सहज व्याख्या और रचनाशैली श्रोताओं के हृदय में उत्तरोत्तर भाव-तरङ्ग की सृष्टि करती है, इसमें सन्देह नहीं। टीका के आलोक में व्याख्या निरपेक्ष निर्भीक राजपथ पर विचरण करती पुष्ट होती है। दिव्य रस- बुभुक्षित तृष्णाकातर जीव की परम तृप्ति का रसाधार है श्रीमद्भागवत। वेणुगीत और भ्रमरगीत दोनों ही दिव्य चित्रकाव्य हैं।

चिन्मय अप्राकृत पुरुष के संस्पर्श में आने वाली मुरलीमोहन की यह वंशी तीन प्रकार की है - बाँस का वेणु, सोने का वेणु और मणिमुक्ताजड़ित वेणु। लीलावैचित्र्य के कारण वंशी के प्रयोग की विधि भी स्वतंत्र है। चिदानन्द प्रेम की मूर्छना से इस वंशीध्वनि ने त्रिजगत् को विमोहित किया है। प्राकृत तरुराजि, पशु-पक्षी, गोसमूह, गोप-गोपी, यमुना, गिरिराज गोवर्द्धन सभी प्लावित ध्वनितरङ्गों से, अप्राकृत प्रेम के स्पर्शलावण्य से, सौन्दर्यमुग्धता से सिहर उठते हैं, चञ्चल नृत्यशील गतिच्छन्द से मुग्धमोहित हो जाते हैं। मुदितनयन प्रफुल्लित चित्तशतदल- ध्यानतन्मयता में आत्मनिमग्न । इस अलौकिक पुरुष का वंशी चुम्बन, जड़ में चिन्मय शक्ति का प्रकाश विस्मयकर है। जड़ चेतन का ऐसा सेतुबन्धन, अघटनघटनपटीयसी योगमाया देवी की सहायता से ऐश प्रताप के परम अधीश्वर असमोर्द्ध माधुर्यघन नित्यकिशोराकृति श्रीश्रीराधावल्लभ की सर्वातिशायी लीला की अभिनव प्रकाशमाधुरी है। वंशी से बीजमंत्रवर्षण अनुभवी जनों द्वारा आस्वाद्य है। श्रीमद्भागवत में दिव्यलीला के स्वर्णपात्र में गोपीप्राण श्री गोविन्द की वंशीगीतिझंकार ने केवल वनभूमि को ही मुखरित नहीं किया, स्थावर-जङ्गम कीटपतङ्ग यहाँ तक कि गिरिराज सभी को विमोहित किया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण लीलामाधुरी वर्णन प्रसङ्ग में हम लोग शाश्वतकाल के अलौकिक दिव्यप्रेम, विरह और स्मृतिचारण की चित्रराजि का मानस नेत्रों से दर्शन कर आनन्दित स्तम्भित विस्मयाविष्ट हो जाते हैं। भ्रमरगीत के भावचित्रों में राधारानी की दिव्यप्रेमोन्मादना में सखियों को सेवा संकेत, मञ्जरीभाव के सखी-आनुगत्य में गुप्त दिव्य सरणी की सन्धान-वार्ता अभिनव साधन-प्रणाली की निर्मल भावव्यञ्जना के साथ सुअभिव्यक्त है। वेणुगीत के माधुर्य में जड़ में चैतन्य का क्रीड़ाविलास, दूसरी ओर गोपीगीत में विरहविह्वलता में सूक्ष्म अनुभूति के महोत्सव क्षेत्र में स्थूल तनुभेदी अन्तश्चिन्तित अप्राकृत तनुका आनन्द विभोर गोपीचित्तप्राङ्गण में श्रीकृष्णलीला की आविष्टता के उत्सर्गीकृत प्राणानुराग से परमात्ममयता की चरम निविड़ता का उल्लास - श्रीकृष्णाकर्षिणी शक्ति का अपरिमेय प्रकाश - लीलाअभिनय के सुपरिपाट्य से सार्थकता प्राप्त की है। गोपीचित्त श्रीकृष्णलीलानुकरण के भावसमुद्र में, श्रीकृष्णलीलास्मृति के पुनरभिनय की तन्मयता में, अभिनिविष्टता के नूपुरनिक्कण में, रस की गाढ़ता में, श्रीगोविन्द की मनोहारी लीला की निविड़ निकटता में, प्रियतम के रूप और स्पर्श अनुभूति के सुखद उज्ज्वल स्मरण में उन्मादित है। यह अपूर्व दिव्य आलेख्य बाबाजी महाराज ने अति सुनिपुण भाव से रसविदग्धता के साथ अंकित किया है। "प्राकृत भ्रमरे" भ्रमरगीत में परम आल्हादिनी राधारानी का आस्वादनवैचित्र्य दिव्य विलापप्रलाप चित्रजल्प-विजल्प नाना भावों की अभिव्यक्ति - भावों की अप्राकृत नैवेद्यरचना होने से भावगाढ़ता की सात्विकोज्ज्वल तन्मयता की वीणाझंकार करुणा के दिव्यरस की धारा प्रवाहित करती है। मूर्तिमती महाभावस्वरूपिणी राधारानी नायकचूड़ामणि श्रीकृष्ण की सर्वेन्द्रियों की विश्रामस्थली हैं। हम मनुष्येतर प्राणियों के साथ ऐसी मर्मवेदना की बात का आलापन भागवतग्रन्थ में देखते हैं। महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' खण्डकाव्य में चकित चपला की चमक की तरह वेदनवार्ता विरहिणी यक्ष ने यक्ष के मेघ को दूत बनाकर जड़ के भीतर विज्ञान सचेतनता से नीतिनिष्ठता से मन्त्र-उच्चारण किया है और राधारानी ने अपनी भावव्याकुलता में, श्रीकृष्णभावतन्मयता में अपने मनोभाव को लेकर मनुष्येतर प्राणी के साथ कथोपकथन

किया है। राधारानी का विरहीरूप भ्रमर के साथ संलाप में परिस्फुट हुआ है। इस भाववैचित्र्य का अभिनवत्व अश्रुतपूर्व है, एकमात्र नायिका-चूड़ामणि मादनाख्य महाभाव स्वरूपिणी राधारानी में ही सम्भव है। प्रथितयशा रसाचार्य श्रील अनन्तदास बाबाजी महाराज ने अनन्य अनुभव की तूलिका से अनुराग के विचित्र रंग भरकर यह दिव्य चित्र हमें भेंट किया है। धूर्त के बन्धु मधुकर के वर्णन में राधारानी के भावमनोमन्दिर में अतुलनीय ममता-विरह के विपरीत रसचित्र देखकर हम लोग चमत्कृत हो जाते हैं। उद्धव संदेश कृष्णअनुरागिनी सखियों की यूथेश्वरी राधारानी की विरह व्याकुलता के सौरभ से आमोदित आलेख्य है; उसे क्षण-क्षण रूप का मोहिनी परिवर्तन परावर्द्धन कहना अत्युक्ति नहीं।

''युगलगीत'' में द्वादश युगलों में चौबीस श्लोक हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की दैनन्दिन जीवनचर्या, विलास और माधुरी का आस्वादन होता है। प्रतिदिन गोपियों की श्रीकृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा में सन्ध्या तक प्रतीक्षा - प्रत्येक श्लोक में गोपियों की आर्ति और प्रेम की अटल लालसा के दिव्यचित्र रूपायित हैं। पितृदेव प्रभु प्राणकिशोरजी ने 'भागवते गीत' प्रसङ्ग में लिखा है - ''गोधूलिधूसरित वदन, प्रेमघूर्णित लोचन, प्रिय बान्धवों के मानवर्द्धनकारी सुन्दर वनमाली मकरकुण्डल नचाते प्रफुल्लवदन से मदमत्त गजेन्द्र गति से चन्द्रोदय के समय आनन्द देने के लिये व्रजजन और गोगण का दिन का ताप दूर कर व्रज में आगमन करते हैं।'' असाधारण भावनेत्रों से यह दर्शन कर हम धन्य होते हैं।

अपार्थिव अप्राकृत सौन्दर्य का स्वाद ग्रहण करने की दृष्टि से श्रीगुरुपादपद्मों के आनुगत्य में ध्यानानन्द में विभोर साधक के लिये इस चित्रराज्य का भावसौन्दर्य विरल है। चैतन्य की मुखरता को वाणी-वैभव से रूपायित करने में बाबाजी महाराज दुर्लभ कृतित्व के अधिकारी हैं।

जो लोग साध्य, साधन और लक्ष्य-अभिमुखी मानससिद्धि की सरणी का अन्वेषण करते हैं, श्रीगुरुकृपा-कानन के पुष्पवितान में कुसुमचयन करने में विरलभावाविष्ट अधिकारी पुरुष अनन्तदास बाबाजी महाराज उनमें अन्यतम हैं। अनन्तमय के लीलाकुञ्ज में अभिसार की स्वादुता ने उनके नाम को सार्थक किया है। भजन अभिज्ञता के कनक कुम्भ में स्थित विचित्र अप्राकृत दिव्यरस की आस्वादन-सभा में, अभिनव रस के भोज में प्रणतजन की क्लेशनाशकारी परामृत साधनसम्पदा वितरण में श्रील बाबाजी महाराज भूरिदा गुण से विभूषित हुए हैं। उनकी लेखनी वैष्णवसाहित्यसेवा के रूप में बङ्गभाषा जननी को और भी मणिरत्नों से अलंकृत करे। श्रीराधागोविन्दचरणयुगलों में यही प्रार्थना है।

**महाष्टमी 19-10-2007**
**श्रीगौराङ्ग मन्दिर श्रीभूमि**
**कोलकाता - 48**
**अनुराधा कुञ्ज, पानीघाट**
**वृन्दावन (उ० प्र०)**

**भागवत सेवाभिक्षु**
**श्री विनोदकिशोर गोस्वामी**
**फोन - 3257-3756, 2534-0105**

# श्रीश्री गौरविधुर्जयति

## मूल बंगला संस्करण का नम्र निवेदन

महर्षि वेदव्यास प्रणीत पारमहंस्यसंहिता रसमय श्रीमद्भागवत की सर्वश्रेष्ठतम आस्वाद्यवस्तु है श्रीश्रीगोपीभावामृत। श्रीमद्भागवत वक्ता श्रीपाद शुकदेव मुनि ने श्री भागवत के द्वितीय स्कन्ध से नवम स्कन्ध तक अंशस्वरूप भगवान् में प्रीतिमान् भक्तों के चरित्र वर्णन किये हैं। अंशस्वरूप भगवान् के प्रति प्रीतियुक्त भक्तों में प्रीति का आंशिक आविर्भाव होता है और परिपूर्णतमतत्व अंशी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तों में प्रीति का भी पूर्ण आविर्भाव होता है – यह शास्त्रों और महापुरुषों का सिद्धान्त है। श्रील शुकदेव मुनि ने दशम स्कन्ध में दशम पदार्थ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में प्रीतिमान भक्तों में से किस भक्त ने अखिलरसामृत मूर्ति श्रीकृष्ण के प्रति किस परिमाण में प्रेम का अनुभव और आस्वादन प्राप्त किया है – उन भक्तों की उसी प्रेम परिपाटी का सुपरिचय देने के लिये अति विस्तृत नव्वेवें अध्याय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। यहाँ व्रजवासी पार्षदों ने श्रीकृष्ण की शुद्ध माधुर्यमय लीलामाधुरी का आस्वादन अपने ऐश्वर्य ज्ञान-गन्धशून्य माधुर्यमय प्रेम द्वारा किया है। उनमें पहले तो श्रीकृष्ण की बाल्यलीला के वर्णन प्रसङ्ग में वात्सल्यप्रेमसिन्धु श्रीश्री यशोमती माता एवं श्रील नन्द महाराज की विशुद्ध वात्सल्यरसमयी प्रेमपरिपाटी का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण की पौगण्ड वयस में गोष्ठलीला वर्णन में विशुद्ध सख्यरस के पात्र श्रीदाम-सुबल आदि सखाओं की प्रेममाधुरी वर्णन की है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण की कैशोर लीला में निरुपाधि मधुर रस की पात्र श्रील व्रजाङ्गनाओं के पूर्वराग और रास आदि लीलाओं के वर्णन प्रसङ्ग में प्रदर्शित है – उन लोगों के कृष्णानुराग की परिपाटी, विपुल आकुलतामय आवेश और प्रेममाधुरी की अत्यन्त विलक्षणता।

यह गोपीभावामृत सिन्धु ऐसा अनन्त, अपार और दुरवगाह है कि दूसरों की तो बात ही क्या, सर्वज्ञ शिरोमणि स्वयं भगवान् श्री व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भी उसे सम्यक् रूप से नहीं जान सकते। ''कृष्ण ताहा सम्यक् ना पारे जानिते'' (चै. च.)। यदि श्रील व्रजदेवियाँ स्वयं अपने श्रीमुख से अपने प्रेम की वार्ता व्यक्त करें – तब कहीं विश्व के रसिक विद्वत् समाज को कथञ्चित् अनुभूत हो सकता है। किन्तु वे सब हैं 'गोपी', उनका स्वभाव ही है काम के आवरण में प्रेम को गुप्त किये रखना। वे कभी भी प्रेम को वाङ्निष्ठ नहीं करतीं। किन्तु उन लोगों का महाभावसिन्धु जब श्रीकृष्ण के विरह-वाड़वानल में स्फुटित होता है, तो उनके श्रीमुख से उनकी महारहस्यमय गुप्त प्रेमवार्ता विघोषित हो उठती है।

सर्वज्ञ श्रीपाद शुकदेव मुनि ने श्रील व्रजबालाओं के श्रीमुख से उनकी प्रेममाधुरी व्यक्त करा विश्व के रसिक समाज को धन्य करने के लिये उनकी विरहदशा में उनकी विलापवाणी चार गीतों में प्रस्तुत की है। अदूर प्रवास में श्रीकृष्ण के प्रति पूर्वानुराग में ''श्रीश्रीवेणुगीत'', रास में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान पर 'श्रीश्रीगोपीगीत';

महारास-मिलन के पश्चात् श्रीकृष्ण के गोचारणकाल में 'श्रीश्रीयुगल गीत'; सुदूर प्रवास में अर्थात् श्रीकृष्ण की मथुरालीला के समय उन्होंने गोप-गोपियों की सान्त्वना के लिये उद्धवजी को व्रज में भेजा, तो उनके दर्शन कर व्यक्त हुआ राधारानी का अत्यन्त रहस्यमय दिव्योन्मादजनित 'श्रीश्रीभ्रमरगीत'।

माथुरविरहकातरा श्रील व्रजबालाओं के श्रीमुख से व्यक्त उन लोगों के महाभाव सिन्धु का उत्ताल उच्छ्वास दर्शन कर, सर्वोपरि राधारानी का महारहस्यमय अत्यन्त दुर्जेय दिव्योन्माद जनित चित्रजल्प 'भ्रमरगीत' सुनकर संवित् की मूर्ति उद्धवजी इतने स्तम्भित और अभिभूत हो उठे थे कि उन्होंने इन लोगों के श्रीचरणों के मात्र एक रेणुकण से अभिषिक्त होने की लालसा से व्रज में तृण-गुल्म आदि के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की और चकित होकर सानन्द इन लोगों के प्रेम की महामहिमा का कीर्तन किया - यही है 'श्रीश्रीउद्धवगीत'। श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने श्रीमद्भागवत की दार्शनिक व्याख्या की है अपने श्रीश्रीभागवत सन्दर्भ के प्रीतिसन्दर्भ में। श्रील व्रजबालाओं के प्रीत्युत्कर्ष की स्थापना के लिये इस उद्धवगीत के ही कतिपय श्लोकों की व्याख्या कर व्रजदेवियों की प्रीति का विलक्षणत्व और सर्वश्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया है।

श्रील गौड़ीय वैष्णवाचार्यों की टीकाओं के अनुरूप गोपीप्रेमामृतसिन्धु के उत्ताल उच्छ्वासमय इन पाँचों गीतों की व्याख्या का एकत्र सम्पादन किया जाय - इस आकांक्षा का बीज इस दीनजन के हृदय में बहुत दिनों से क्षीण रूप से विद्यमान था, किन्तु कृपावारि सिञ्चन के अभाव में वह इतने दिन अंकुरित नहीं हो सका। अब अपार करुणासागररूपिणी श्रीश्रीकुण्डेश्वरी के कृपाकण से सिञ्चित हो जाने से वह अंकुरित हुआ; पत्र-पल्लवों से सुशोभित होकर यह 'श्रीश्रीगीतपञ्चक' फल प्रसव किया। इस फल के आस्वादन की शक्ति मुझ में नहीं। तभी यह सुधी वैष्णववृन्द के श्रीकरकमलों में समर्पित है। उन्होंने इससे किञ्चित् भी आस्वादन प्राप्त किया, तो इस दीन का श्रम सार्थक होगा।

श्रीश्री नित्यानन्द-वंशावतंस परमपूज्य प्रभुपाद श्रीयुक्त विनोदकिशोर गोस्वामी महाशय ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर मुझे धन्य किया।

प्रच्छदपट का चित्र श्रीमान् अञ्जनदास ने अंकित किया है। इन सब पर श्रीकुण्डेश्वरी का कृपा-वर्षण हो, यही प्रार्थना करता हूँ। इत्यलम्।

# कृतज्ञता प्रकाश

''श्रीश्रीगीतपञ्चक'' ग्रन्थ के बंगला भाषा में प्रकाशित होने के उपरान्त हिन्दी भाषी भक्तगणों के हिन्दी में इस ग्रन्थ के प्रकाशन के विशेष आग्रह को देखते हुए, जिन्होंने मेरे द्वारा सम्पादित कई बंगला ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है, उन श्री वृन्दावनवासी परम श्रद्धास्पद् भक्त प्रवर श्री व्रजगोपालदास प्राचार्य महोदय की शरण ली। उन्होंने अपने असाधारण सहृदयता गुण से बहु परिश्रमसाध्य इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में रूपान्तर कर हमें अशेष कृतज्ञता पाश में बाँध लिया। हिन्दी भाषी भक्तगण सभी उनके अनुवाद से मुग्ध हैं। उन्होंने नि:स्वार्थ भाव से अथक परिश्रम कर भक्तगण की जो सेवा की है वह अतुलनीय है। वे जिस प्रकार के परमभक्त है, उसी प्रकार सरलप्राण, उदारचेता, व्रजवासनिष्ठ, भक्त जन सेवा परायणता आदि अनेक गुणों से भूषित हैं। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्दों का नितान्त अभाव है। श्रीराधारानी उन्हें आजीवन व्रजवास का सौभाग्य दान करें एवं अपने श्रीचरणों में भक्ति देकर धन्य करें – उनके श्रीचरणों में यही प्रार्थना ज्ञापन करता हूँ।

परम स्नेहास्पद श्रीमान् महिमा चन्द्र पाठक ने इस ग्रन्थ का प्रूफ संशोधनादि मुद्रणालय विषयक कार्य क्रिया है – उनके प्रति श्रीराधारानी की कृपा वर्धित हो, यही प्रार्थना है।

इस ग्रन्थ के मुद्रण निमित्त श्रीसर्वेश्वरदास, दिल्ली ने 20,000.00 (बीस हजार रुपये), श्री उच्चदानन्द दास, दिल्ली ने 20,000.00 (बीस हजार रुपये), श्रीमती सखी प्रिया दासी, ठाकुर गार्डेन दिल्ली ने 10,501.00 (दस हजार पाँच सौ एक रुपये) श्रीमान सेवानन्द दास, दिल्ली ने 9700.00 (नौ हजार सात सौ रुपये), श्री क्षितिज खट्टर, तिलक नगर, दिल्ली ने 5100.00 + 3,100 = 8,200.00 (आठ हजार दो सौ रुपये), अमन दुआ, दिल्ली ने 5,000.00 (पाँच हजार रुपये), श्री शिखर दुआ, दिल्ली ने 5,000.00 (पाँच हजार रुपये), श्री परमानन्द, पंजाबी बाग, नई दिल्ली ने 3,200.00 (तीन हजार दो सौ रुपये), श्रीमती रोहिणी दासी, शिवनगर, दिल्ली ने 2,501.00 (दो हजार पाँच सौ एक रुपये), श्रीमती मधु कणा दासी, तिलक नगर, दिल्ली ने 1,100.00 (एक हजार एक सौ रुपये), राधाबल्लभ दास ने 1,100.00 (एक हजार एक सौ रुपये), श्रीमती नारायणी दासी ने 1,100.00 (एक हजार एक सौ रुपये), श्री राधाबल्लभ एवं समाता दास ने 1,100.00 (एक हजार एक सौ रुपये), श्री नन्दकुमार दास, दिल्ली ने 1,100.00 (एक हजार एक सौ रुपये)), श्रीमती शशि दासी, दिल्ली ने 500.00 (पाँच सौ रुपये), श्रीमती करिश्मा ने 500.00 (पाँच सौ रुपये), श्री चन्दन सिकदर, दिल्ली ने 500.00 (पाँच सौ रुपये), श्रीमती रेखा दुआ, दिल्ली ने 500.00 (पाँच सौ), नीलम मूदन, दिल्ली ने 500.00 (पाँच सौ), श्रीमती रंजना दासी ठाकुर गार्डेन, दिल्ली ने 250.00 (दो सौ पचास रुपये), श्रीमती सीमा दासी, जलंधर, पंजाब ने 100.00 (सौ रुपये) दिये है। इन सब की श्री श्री राधामाधव के श्रीचरणों में रति मति हो। यही कामना करता हूँ।

वैष्णवकृपाभिक्षु
श्री अनन्त दास

# हिन्दी अनुवादक का निवेदन

परम पूज्य बाबा श्रीअनन्तदास जी महाराज ने श्री केशवदास के हाथों अपनी नयी कृति 'श्रीगीतपञ्चक' भिजवाई और इस सर्वथा अयोग्य जन को उसका हिन्दी अनुवाद करने का निर्देश दिया, तो स्मृति-पटल पर यह श्लोक उभर आया-

**''आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,**
**रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।**
**श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्,**
**श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नः परः ।।''**

जिस भागवत ग्रन्थ को स्वयं महाप्रभु ने निर्मल प्रमाण माना, वेदान्त-भाष्य के रूप में ग्रहण किया, उसी ग्रन्थ में स्वयं भगवान् नन्दनन्दन आराध्य रूप में निरूपित हैं, प्रेम परम पुरुषार्थ रूप में स्थापित है, प्रेम के सर्वोच्च स्तर महाभाव की साक्षात् मूर्ति व्रजवधुओं के उन्नत-उज्ज्वल प्रेम-पथ का प्रकृष्ट परिचय है। मुझे लगा कि 'श्रीगीतपञ्चक' एक प्रकार से इस श्लोक-गागर का ही सागर-विस्तार है। इस कृति में पूज्य बाबा महाराज ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की पाँच गीत-शृङ्खलाओं को रखा है, जो क्रमशः वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत और उद्धवगीत के नाम से जानी जाती हैं।

श्रीकृष्ण का वंशीनाद सुनकर और उनका भुवनमोहन रूप देखकर गोपिकायें पूर्वराग की जिस चरम अवस्था को प्राप्त हुईं, उसी के परिचायक बीस श्लोकों का नाम 'वेणुगीत' है।

शरदपूर्णिमा की रात्रि को रास का निमंत्रण देती श्रीकृष्ण की वंशी सुनकर गोपिकायें वंशीवट दौड़ी गईं। राधारानी मान कर बैठीं और गोपिकायें अपने सौभाग्य की बात सोचकर गर्व से भर उठीं। श्रीकृष्ण उनके मान-प्रसादन और इनके गर्व-खण्डन के लिये पहले गोपिकाओं को, फिर श्रीराधा को छोड़ अन्तर्हित हो गये। तब राधारानी के साथ गोपिकाओं ने रोते-रोते श्रीकृष्ण को खोजते हुए उनका जो गुणगान किया, उसी से जुड़े उन्नीस श्लोक 'गोपीगीत' कहे जाते हैं।

गोपिकायें रात में कृष्ण के साथ रास का आनन्द लेतीं, तो दिन में श्रीकृष्ण के गोष्ठ-गमन के पश्चात् उनकी वेणुमाधुरी का वर्णन कर विरह-ताप दूर करतीं। इसी विषय से जुड़ा है छब्बीस श्लोकों का 'युगलगीत'। भागवत 10/21 के 'वेणुगीत' में गोपियों का पूर्वराग (मिलन से पूर्व की रति) है, तो भागवत 10/35 के इस वेणुगीत में श्रीकृष्ण-मिलन के पश्चात् गोपिकाओं का विरह भरा है।

श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन पर विरहिणी राधारानी ('काचित्' = कोई गोपी) अपने दिव्योन्माद में भ्रमर को धूर्त कृष्ण का दूत समझ कर अपनी मनोदशा व्यक्त करती हैं। भागवत 10/47/11-21 में वर्णित उनका वह प्रलाप ही 'भ्रमरगीत' है।

ज्ञान-मूर्तिमन्त उद्धव गोपिकाओं, विशेषत: राधारानी के दिव्योन्माद को देखकर, कृष्ण में अभूतपूर्व आवेश-अभिनिवेश को देखकर अपना ज्ञान भूल गये। उनके प्रेम का कीर्तन करने लगे। भागवत के 10/47/57-63 में वर्णित वह कीर्तन-गायन ही 'उद्धवगीत' है।

ग्रन्थ के उपसंहार के रूप में टीकाकार पूज्य बाबा महाराज ने बड़ा ही मार्मिक सटीक मन्तव्य व्यक्त किया है - "(उद्धवजी से) श्रीराधा का भ्रमरगीत सुनकर श्रीकृष्ण के नेत्रों में जो विरहमेघ जम गया था, इस विशेष कलियुग में विश्व के आकाश में उसी की धारा उतर आई। राधारानी की भावकान्ति अङ्गीकार कर श्रीकृष्ण श्री गौराङ्ग हुए, तो वही नयनाश्रु प्रकट रूप से बरस पड़े।"

पूज्य बाबा महाराज ने अपने अन्यान्य ग्रन्थों की तरह 'श्रीगीत-पञ्चक' को भी चण्डीदास, ज्ञानदास आदि पदकर्ताओं की पदावली से और श्रीरूप, श्रीजीव, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती आदि गौड़ीय वैष्णवाचार्यों की कालजयी रचनाओं के उद्धरणों से परिपुष्ट कर श्रीमद् भागवत के सारतत्व का जो अपूर्व आस्वादन कराया है, उसके लिये पूरा रसिक पाठकवर्ग ऋणी रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

— ब्रजगोपाल दास अग्रवाल
चार सम्प्रदाय के पास,
कृपा-कना, 3/106, गौरा नगर,
वृन्दावन - 281121

बसन्त पञ्चमी
2011

# विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| श्रीश्री वेणुगीत | 1–116 |
| श्रीश्रीगोपीगीत | 117–248 |
| श्रीश्रीयुगलगीत | 249–322 |
| श्रीश्रीभ्रमरगीत | 323–416 |
| श्रीश्रीउद्धवगीत | 417–458 |

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दौ जयतः।
श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

# श्रीश्रीवेणुगीत

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में इक्कीसवें अध्याय में वेणुगीत में व्रजसुन्दरियों का पूर्वराग वर्णित है। इससे पहले दशम स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में श्लोक 42/43 में श्रीपाद शुकदेव मुनि ने श्रीकृष्ण के उत्तरगोष्ठ में श्रीकृष्ण और व्रजदेवियों का पारस्परिक संक्षिप्त पूर्वराग वर्णन किया है-

"तं गोर जश्छुरित कुन्तल बद्धबर्ह-
वन्य प्रसूनरु चिरेक्षण चारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः।।
पीत्वा मुकुन्दमुख सारधमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽन्हि।
तत्सत् कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीड़हासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्।।"

"गोरजमण्डित कुन्तलों पर मयूरपुच्छ एवं वन्य पुष्पों से परिशोभित, प्रेमदृष्टि-सञ्चरण और मृदु-मन्द हास्य के कारण सभी के मनोहर, वेणुवादनरत, गोपबालकों द्वारा संस्तुत्य (गोपबालक जिनकी ललित कीर्ति का बखान कर रहे हैं, ऐसे) व्रजराजनन्दन के दर्शन की उत्कण्ठा लिये व्रजसुन्दरियाँ एकत्रित होकर उनके निकट आईं।

व्रजदेवियों ने अपने नयन-भृङ्गों से मुकुन्द के मुख-कमल का मधु-पान कर दिनभर का श्रीकृष्णविरहजनित ताप दूर किया। श्रीकृष्ण ने भी उनका लज्जा-हास्य-विनय-मिश्रित नयन-कटाक्ष रूपी सत्कार पाकर गृह में प्रवेश किया।"

श्रीपाद शुकदेव मुनि ने इस संक्षिप्त पूर्वराग वर्णन के पश्चात् इक्कीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण के वेणुवादन-माधुर्य के प्रसङ्ग में श्रीराधा आदि व्रजदेवियों के विस्तृत पूर्वराग का वर्णन किया है। व्रज देवियाँ वयःसन्धि के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण का सर्वचित्ताकर्षक वेणुनाद सुनकर और उनकी भुवनमोहन रूपमाधुरी देखकर किस प्रकार उनकी अनुरागिनी बन गईं, वह अनुराग क्रमशः बढ़कर उन्हें कैसे पूर्वराग की चरमभूमि पर ले गया - यही वेणुगीत का प्रतिपाद्य विषय है। यह विषय एक ओर भक्तवृन्द के लिये

जितना आस्वाद्य है, दूसरी ओर उतना ही साध्यसाधना की चरम वस्तु है। इसलिये हम वेणुगीत वर्णन से पहले व्रजदेवियों के पूर्वराग की किञ्चित् चर्चा करना चाहते हैं।

प्रेमरस में विरह और मिलन यह द्विविध माधुरी है। दोनों ही प्रेमरस का कलेवर। तभी व्रजबालाओं का मधुर प्रेम भी विप्रलम्भ और सम्भोग भेद से दो प्रकार का है। "स विप्रलम्भः सम्भोग इति द्वेधोज्ज्वलो मतः।" (उ. नी. शृङ्गारभेद प्र. - 1)

विरह के बिना मिलन-माधुरी की परिपुष्टि नहीं होती - "न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।" विरह की तीव्रता के अनुरूप ही मिलनानन्द परिपुष्ट होता है। विरह चतुर्विध है- पूर्वराग, मान, प्रमवैचित्त्य और प्रवास। फिर प्रवास दो प्रकार का - अदूर और सुदूर। सम्भोग (मिलन) भी चतुर्विध है - संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान् ! पूर्वराग के पश्चात् संक्षिप्त, मान के पश्चात् संकीर्ण, अदूर प्रवास में सम्पन्न, सुदूर प्रवास में समृद्धिमान् । विरह केवल सम्भोग का पुष्टिकारक हो, सो नहीं; वस्तुतः यह स्वयं रस या परम आस्वाद्य वस्तु है। यहाँ तक कि यह मिलनानन्द से भी कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण है, कारण यह रति, प्रेम, स्नेह आदि स्थायी भावों से युक्त नायक-नायिका के पारस्परिक स्मरण, स्फुरण, आविर्भाव आदि द्वारा मानस, चाक्षुष और कायिक आलिङ्गन, चुम्बन, सम्प्रयोग इत्यादि से अति चमत्कारिता को निरन्तर परिपुष्ट करता है; सो विरह को सम्भोगपुञ्जमय कहा जाता है। (पूर्व लिखित उज्ज्वल नीलमणि के श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका) इसलिये पहले के लोग कहते हैं - "सङ्गम-विरह विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः। सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।।" (अनुभविष्णु) अर्थात् मिलन और विरह में विरह ही श्रेष्ठ है, कारण - मिलन में श्रीकृष्ण को एकाकी पाया जाता है, विरह में त्रिभुवन कृष्णमय हो जाता है। इस विषय में पर्याप्त विचार और दृष्टान्त, श्रील गोस्वामिचरणों के ग्रन्थों में मिलता है। जो विशेष जानना चाहते हैं, वे देख सकते हैं। जो भी हो, गोपियों का पूर्वराग ही इस वेणुगीत में प्रकट हुआ है।

श्रीश्रीराधामाधव की लीलामाधुरी को समझने के लिये यहाँ हम किञ्चित् तत्वकथा की अवतारणा आवश्यक समझते हैं। श्रीश्रीराधारानी और व्रजगापियाँ श्रीकृष्ण की ही अभिन्नस्वरूपा वरीयसी ह्लादिनीशक्ति हैं। "मृगमद तार गन्ध जैछे अविच्छेद। अग्नि अग्निज्वालाचय कभु नहे भेद।। तैछे राधा कृष्ण दोंहे अभिन्न स्वरूप। लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप।।" (चै. च.) जैसे लीलारस के आस्वादन के लिये एक वस्तु दो भागों में बँट गई है, वैसे ही लीलामाधुरी की वैचित्री के लिये श्रीराधारानी ने अपने कायव्यूह में अनन्त गोपियों के रूप में आत्मप्रकाश किया है। उधर मधुर लीलारस की अत्यन्त चमत्कारिता की परिपुष्टि के लिये और पारस्परिक चरम आकर्षण की वृद्धि के लिये परकीयाभाव अङ्गीकार किया है। "परकीयाभावे अति रसेर उल्लास। वृज बिना इहार अन्यत्र नाहि

वास।।'' (चै. च.) परकीया भाव के माध्यम से श्रीवृन्दावन में रास आदि लीलायें अति चमत्कारपूर्ण हो जाती हैं। वस्तु की दुर्लभता ही उसका कारण है। दुर्लभता, अनेक बाधा और प्रच्छन्नकामता - इन तत्वों ने गोपियों के साथ गोपीनाथ की लीलाओं को इतना आकर्षक और मधुमय कर रखा है। इसीलिये रसमय परम पुरुष के विविध कला कौशल का आविष्कार है। श्रीकृष्ण ने स्वरूप के भगवद्भाव को ढककर और नरभाव* को प्रकट कर व्रज में लीला की है। इसीलिये उनकी व्रजलीला इतनी मधुमय है। वेद आदि शास्त्रों ने भगवान् को सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप निरूपित किया है, तो उन्हें रसमय, प्रेममय, लीलामय भी कहा है। वे एक ओर निर्गुण, निराकार, सत्तामात्र ब्रह्म हैं, तो दूसरी और साकार, सविशेष, अनन्त कल्याण-गुणनिधि हैं। एक ओर वे अरूप, अवर्ण, अकर्ता के रूप में कीर्तित हैं, तो दूसरी ओर उनकी ख्याति हिरण्मय, आदित्यवर्ण, श्याम कमललोचन के रूप में भी है। उनके इन विविध विरुद्ध भावों की समाधानकर्त्री हैं उनकी स्वरूपभूता अघटन-घटन शक्ति योगमाया।

हमने कहा है, इस वेणुगीत में व्रजगोपियों के साथ गोपीनाथ के पूर्वराग का ही वर्णन है। पूर्वराग किसे कहते हैं ? ''रतिर्या सङ्गमात पूर्वं दर्शनश्रवणादिजा। तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते।।'' (उज्ज्वल विप्रलम्भ प्रकरण पूर्वरागः -1) श्रीराधामाधव के मिलन से पहले जो रति पारस्परिक दर्शन-श्रवण आदि द्वारा अभिव्यक्त होती है (विभाव आदि के संयोग से परम आस्वाद्य बनकर प्रकाशित होती है) विज्ञजन उसी को पूर्वराग आख्या दिया करते हैं। महारास से पूर्व गोपियों के साथ गोपीनाथ का मिलन कभी नहीं हुआ, इसलिये रासलीला से पूर्व उन सबकी पारस्परिक मिलन-आकांक्षा ही (जो परस्पर के गुण आदि सुनकर और रूप-दर्शन आदि कर प्रकट होती है) 'पूर्वराग' है। दूती-वाँदी-भाट या सखी के मुंह से सुनना; फिर नाम-श्रवण, गुण-श्रवण, वंशी-श्रवण इत्यादि श्रवण की विविधता है।

श्रीमती ने अभी तक श्याम के दर्शन नहीं किये, केवल 'श्याम' नाम ही सुना है। सुनते ही 'श्याम' दो अक्षर उनके कानों में होकर मर्म में प्रवेश कर गये हैं। मधुमय श्याम नाम ने उन्हें सोचने का भी समय नहीं दिया, तत्क्षणात् उनके प्राणों को आकर्षित कर श्यामसुन्दर के पादपद्मों में समर्पित कर दिया है। वह कौन है, कहाँ रहता है, क्या परिचय है - स्वभाव कैसा है, देखने में कैसा है, वे कुछ भी नहीं जानतीं। नाम की माधुरी ने यह सब सोचने का भी अवसर नहीं दिया। अन्धा अनुराग वन के रास्ते

---

* ''कृष्णेर जतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला, नरवपु ताँहार स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर, नवकिशोर नटवर, नरलीलार हय अनुरूप।।''
(चै. च.)

खींच लेना चाहता है। जा भी नहीं सकतीं, वे कुलबाला जो हैं। घर में स्थिर रहा भी नहीं जाता, सो घर में बैठकर ही 'श्याम' ये दो अक्षर जप रही हैं। नयनों में अविरल वारिधारा ! प्रिय सखी उनका भावान्तर देख कारण पूछती है, तो उसका स्नेहिल हाथ अपने वक्ष तक खींचकर कहती हैं-

''सइ किबा शुनाइलो श्यामनाम !
कानेर भितर दिया, मरमे पशिलो गो,
आकुल करिलो मोर प्राण।।
ना जानि कतेक मधु, श्याम-नामे आछे गो,
वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम, अवश करिलो गो,
केमने बा पासरिबो तारे।।
नाम परतापे जार, ओइछन करिलो गो,
अङ्गेर परशे किबा हय।
जेखाने बसति तार, नयाने देखिया गो,
जुबती धरम कोइछे रय।।
पासरिबो करि मने, पासरा ना जाय गो,
कि करिबो कि हबे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदास, कुलवती कुल नाशे,
आपनार जौवन जाचाय।।''

इसी प्रकार दूती और सखी से रूप-गुण-लीला आदि का श्रवण भी समझना होगा। श्रीकृष्ण का सर्वचित्ताकर्षक वेणुनाद पूर्वरागवती श्रीमती के चित्त में सर्वाधिक उन्मादना जगाता है। पहली बार वेणुनाद सुनते ही वे उसकी उन्मादकशक्ति से विमोहित हो जाती हैं, समझ ही नहीं पातीं यह किसका शब्द है। सखी ललिता से पूछती हैं-

''कदम्बेर वन हैते, किबा शब्द आचाम्बिते,
आसिया पशिलो मोर काणे।
अमृत निछिया फेलि, कि माधुर्य पदावलि,
कि जानि केमन करे प्राणे।।
सखि हे ! निश्चय करिया कहि तोरे।

हाहा कुलाङ्गना-मन, ग्रहिबारे धैर्यगण,
जाहे हेनो दशा हैलो मोरे।।''
शुनिया ललिता कहे, ''अन्य कोनो शब्द नहे-,
मोहन मुरली-ध्वनि एह।
से शब्द शुनिया केने, हैला तुमि विमोहने,
रहो निज चित्ते धरि थेह।।''

राधारानी की बात सुनकर ललिता सखी श्रीमती को श्रीकृष्ण के मोहन वेणुनाद की बात स्मरण करा देती हैं ओर उपदेश देती हैं कि उससे मोहित न हो धैर्य धारण करें। किन्तु हाय ! वेणु की असाधारण उन्मादिका शक्ति ने श्रीमती के चित्त में अपना प्रभाव विस्तार कर उन्हें उन्मादिनी कर डाला है, महाशक्तिशाली मंत्र की तरह उनके धैर्य आदि का नाश कर उनसे वंशीधारी के चरणों में आत्मसमर्पण करा कर ही छोड़ा है। सखी यह सब कैसे जानेंगी ? श्रीमती कहती हैं -

''राइ कहे- केबा हेनो, मुरली बाजाय जेनो,
विषामृते एकत्र करिया।
जल नहे हिमे जनु, काँपाइछे सब तनु,
प्रति तनु शीतल करिया।।
अस्त्र नहे मने फुटे, काटारिते जेनो काटे,
छेदन ना करे हिया मोर।
ताप नहे उष्ण अति, पोड़ाय आमार मति,
विचारिते ना पाइये ओर।
एतेक कहिते धनी, उद्वेग बाड़िलो जानि,
नारे चित्ते प्रबोध करिते।
कहे शुनो आरे सखि, तुमि मिथ्या बोइले देखि,
मुरलीर नहे एइ रीते।।
कोनो सुनागर सेइ, महामंत्र पड़े से जेइ,
हरिते आमार धैर्य जतो।''

इसी प्रकार दर्शन भी विविध है- स्वप्न में दर्शन, चित्रपट में दर्शन, साक्षात् दर्शन। एक बार की बात। वर्षाकाल, अँधेरी रात, मेघाच्छन्न आकाश। मेघों का गुरु गम्भीर गर्जन हो रहा है। रिमझिम

शब्द करता पानी बरस रहा है। मत्त दादरी (मेढ़की) टर् टर् कर रही है। मयूर भी प्याँक् प्याँक् कर रहे हैं। कोयल कुहकुह कर रही है। दूर झीगुरों का कर्ण-कठोर शब्द भी हो रहा है। जलचिड़िया रह-रह कर पुकार रही है। श्रीमती पलंग पर सो रही हैं। स्वप्न में श्याम-दर्शन करती हैं। दर्शन करते ही विमोहित हो उठती हैं। जीवन-यौवन जाति-कुल-शील सब उनके चरणों में समर्पित कर बैठती हैं। प्राण मात्र बचे हैं, वे भी जाने को हो रहे हैं। अपनी मर्मसखी को स्वप्न के उस मोहन आकर्षण की बात बताती हैं-

''मनेर मरम-कथा, तोमारे कहिये एथा,
शुनो शुनो पराणेर सइ।
स्वपने देखिलु जे, श्यामल वरण दे,
ताहा बिना आर कारु नइ।।
रजनी शाङन घन, धन देया गरजन,
रिमि झिमि शबदे वरिषे।
पालंके शयान रङ्गे, विगलित चीर अङ्गे,
निन्द जाइ मनेर हरिषे।
शिखरे शिखण्ड-रोल, मत्त दादुरी बोल,
कोकिल कुहरे कुतूहले।
झिंझा झिनिकि बाजे, डाहुकी से घन गाजे,
स्वपन देखिलुँ हेनो काले।।
नयने पैठलो सेह, मरमे लागलो नेह,
श्रवणे भरलो सेइ वाणी।।
हेरिया ताहार रीत, जे करे दारुण चित,
धिक रहु कुलेर कामिनी।।
रूपे-गुणे रससिन्धु, मुख-छटा जिनि इन्दु,
मालतीर माला गले दोले।
बसि मोर पदतले, पाये हात देइ छले,
आमा किन, बिकाइलुँ बोले।।
किबा से भूरुर भङ्ग, भूषणेर भूषण अङ्ग,
काम मोहे नयनेर कोणे।

हासि हासि कथा कय, पराण काड़िया लय,
भुलाइते कतो रङ्ग जाने।।
रसावेशे देइ कोल, मुखे ना निःसरे बोल,
अधरे अधर परशिलो।
अङ्ग अवश भेलो, लाज-भय-मान गेलो,
ज्ञानदास भाविते लागिलो।।''

इसी प्रकार चित्रपट में दर्शन ! विशाखा सखी श्रीराधा की पूर्वराग-दशा में श्रीकृष्ण का वंशीनाद श्रवण कर उनकी उन्माद-अवस्था देख उनके चित्तरञ्जन के लिये श्रीकृष्ण का चित्र अंकित कर लाईं, उन्हें दिखाया। किन्तु हाय ! चित्रपट-दर्शन से तो उनकी उन्माद-दशा दुगनी हो गई। ललिता-विशाखा ने इसका कारण पूछा, तो बोलीं-

''वितन्वानस्तन्वा मरकतरुचीनां रुचिरतां
पटान्निष्क्रान्तोहभूत् धृतशिखिशिखण्डो नवयुवा ।
भ्रुवं तेनाक्षिप्ता किमपि वसतोन्मादितमतेः
शशी वृत्तो बन्हिः परमहह बन्हिर्मम शशी ।।''

''सखि ! जो अपनी अङ्ग-कान्ति द्वारा मरकतमणि की कान्तियों की भी रुचिरता का विस्तार कर रहा था, जिसने मस्तक पर मयूरपुच्छ धारण किया था, उसी नवयुवक ने चित्रपट से बाहर आकर हँसते हुए मेरे प्रति कटाक्ष निपेक्ष किया। उसी से मेरी बुद्धि उन्मादग्रस्त हो गई है। अब मेरे लिये चन्द्र अग्निवत् और अग्नि चन्द्र की तरह शीतल हो गई है।''

अन्त में साक्षात् दर्शन ! एक बार श्रीमती जल लेने यमुना गईं, वहाँ श्याम को देख आईं। तभी से शान्ति नहीं मिल रही।

''यमुना जाइया, श्यामेरे देखिया,
घरे आइला विनोदिनी।
विरले बसिया, काँदिया काँदिया,
धेयाय श्यामरूप खानि।।
निज करोपरि, राखिया कपोल,
महायोगिनीर पारा।
ओ दुटि नयाने, बहिछे सघने,

श्रावण मासेरि धारा।।''

एक बार घर के भीतर जाती हैं, एक बार बाहर आती हैं। ग्रहाविष्ट की-सी दशा है। वन का देवता मन में प्रवेश कर गया है। यत्न करने पर भी उसे हृदय से बाहर नहीं निकाल पा रहीं। उसका रूप छाया की तरह साथ-साथ चल रहा है, पर पकड़ में नहीं आता। उनकी दशा देखकर सखी प्रश्न करती है-

''घरेर बाहिरे, दण्डे शतबार,
तिले-तिले आइस जाओ।
मन उचाटन, निश्वास सघन,
कदम्ब-कानने चाओ।।
राइ एमन केने बा हइले।
गुरु-दुरुजने, भय नाइ मने,
कोथा बा कि देव पाइले।।
सदाइ चञ्चल, वसन अञ्चल,
सम्वरण नाहि करो।
बसि थाकि थाकि, उठहो चमकि,
भूषण खासाया परो।।
वयसे किशोरी, राजार कुमारी,
ताहे कुलवधू बाला।
कि बा अभिलाषे, बाढ़ाले लालसे,
ना बुझि तोमार छला।।
तोमार चरिते, हेनो बुझि चिते,
हात बाड़ाइले चाँदे।
चण्डीदास भणे-, करि अनुमाने,
ठेकिले कालिया फाँदे।।''

सखी की बात सुनकर श्रीमती रोते-रोते कहती हैं-

''आलो मुँइ केनो गेलुँ जमुनापार जले।
छलिया नागर चित हरि निलो छले।।

रूपेर पाथारे आँखि डुबिया रहिलो ।
जौवनेर वने मन हाराइया गेलो ।।
घरे जाइते पथ मार हैलो अफुराण ।
अन्तरे विदरे हिया किबा करे प्राण ।।
चन्दनेर चान्द माझे मृगमद धान्दा ।
तार माझे पराण पुतली रैलो बान्धा ।।
कटि पीत-वसन रसना ताहे जड़ा ।
विधि निरमिलो घाटे कलंकर कोंड़ा ।।
जाति-कुल-शील सब हेनो बुझि गेलो ।
भुवन भरिया मोर घोषणा रहिलो ।।
कुलवती हैया दुकुले दिनुँ दुख ।
ज्ञानदास कहे दृढ़ करि थाको बुक ।।''

इस प्रकार स्वप्न-दर्शन, चित्रपट-दर्शन और साक्षात् दर्शन कर श्रीमती राधारानी की अवस्था उन्मादिनी की तरह हो गई है। कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं, कभी स्थिर नेत्रों से मेघ की ओर देखती रहती हैं। कभी वेणी-बन्धन खोलकर केशदाम को देखने लगती हैं। कभी योगिनी की तरह रंगीन वस्त्र पहन लेती हैं। वैष्णव कवि कहते हैं-

''राधार कि हैलो अन्तरे व्यथा।
बसिया विरले, थाकये एकले,
ना शुने काहारो कथा।।
सदाइ धेयाने, चाहे मेघ पाने,
ना चले नयनेर तारा।
विरति आहारे, राङ्गावास परे,
जेमन जोगिनी पारा।।
आउलाइया वेणी, फुलेर गाँथनी,
देखये खसाया चुलि।
हसित बयाने, चाहे चन्द्र पाने,
कि कहे दुहात तुलि।।

एक दिठि करि, मयूर-मयूरी,
कण्ठ करे निरखने।
चण्डीदास कय-, नव परिचय,
कालिया बन्धुर सने।।''

सखियों में से भी प्राय: सभी की ऐसी ही अवस्था है। कौन किसे देखे ? कौन किसे सान्त्वना दे ? सभी के दिन कट रहे हैं प्रबल विरह वेदना में। सभी के तन-मन में लालसा, उद्वेग, जागर्या (जागरण) प्रभृति दस दशाओं का उदय हो रहा है।

''लालसो द्वेग जागर्यास्तानवं जड़िमात्र तु ।
वैयग्रं व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश ।।''

(उ. न. श्रंगारभेद - 21)

लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (क्षीणता), जड़िमा, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु - दस दशायें हैं। राधारानी में सभी का चरम विकास दे रहे हैं। लालसा -

''अभीष्टलिप्सया गाढ़गृध्नुता लालसो मतः ।
अत्रोत्सुक्यं चपलता घूर्णाश्वासादयस्तथा ।।''

अभीष्ट वस्तु पाने के लिये अतिशय लुब्धता को ही 'लालसा' कहते हैं। इसमें उत्सुकता, चपलता, घूर्णा (घूमना, चक्कर खाना), श्वास आदि देखने में आते हैं। यथा-

''दुरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे,
सोन्माद मदिरेक्षणा विरुवति धत्ते मुहुर्वेपथुम् ।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवद्वराम्भोधरे,
दृष्टे तं परिरब्धुमुत् सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति ।।''

(विदग्धमाधव)

विशाखा श्रीकृष्ण को राधारानी की उनमें प्रबल लालसा की बात बताती है - ''हे श्रीकृष्ण ! दूर से भी अन्य प्रसङ्ग में तुम्हारे नाम का एक अक्षर सुनते ही खञ्जन की-सी आँखों वाली श्रीराधा उन्माद के साथ चीत्कार कर देह में कम्प धारण कर लेती हैं। और क्या कहूँ, कृष्णवर्ण नवजलधर देखते ही उसे आलिङ्गन करने के लिये उत्कण्ठित चित्त से पंखों की इच्छा करने लगती हैं।'' उद्वेग -

''उद्वेगो मनसः कम्पस्तत्र निःश्वासचापले ।
स्तम्भश्चिन्ताश्रु-वैवर्ण्य-स्वेदादय उदीरिताः ।।''

''मन की अस्थिरता का नाम ही उद्वेग है। इसमें दीर्घनि:श्वास त्यागना, चापल्य, स्तब्धता, चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, घर्म (पसीना) आदि देखे जाते हैं।'' यथा - (विदग्धमाधव में) -

''चिन्ता सन्ततिरद्य कृन्तति सखि स्वान्तस्य किं ते धृतिं,
किम्वा सिञ्चति ताम्रमम्बरमतिस्वेदाम्भसां डम्बरम ।
कम्पश्चम्पक गौरि लुम्पति वपुः स्थैर्यं कथं वा बलोत्,
तथ्यं ब्रूहि न मङ्गला परिजने सङ्गोपनाङ्गीकृतिः ।।''

विशाखा श्रीराधा की उद्वेगदशा देखकर उनसे पूछती हैं- हे सखि ! इस समय चिन्तायें क्या तुम्हारे धैर्य का छेदन कर रही हैं ? स्वेदजल क्या तुम्हारे अरुण वस्त्र को आर्द्र कर रहा है ? हे चम्पकगौरि ! कम्प क्या बलपूर्वक तुम्हारी देह की स्थिरता का हरण कर रहा है ? सच बताओ, परिजनों से मनोभाव छिपाना मङ्गलप्रद नहीं।

जागर्य - ''निद्राक्षयस्तु जागर्यास्तम्भ शोषगदादिकृत ।'' (निद्रा के क्षय को जागर्य कहा जाता है। इसमें स्तम्भ श्वास कष्ट और रोग आदि देखे जाते हैं) यथा -

''श्यामं कञ्चन काञ्चनोज्ज्वलपटं सन्दर्श्य निद्रा क्षणं,
मामाजन्म सख विमुच्य चलिता रुष्टेव नावर्तते ।
चिन्तां प्रोह्य सखि ! प्रपञ्चय मतिं तस्यास्त्वमावर्तने,
नान्यः स्वाप्निकतस्करोपहरणे शक्तो जनस्तां बिना ।।''

विशाखाजी पूर्वराग दशा में राधारानी की विरह दशा देखकर इस बात की चिन्ता करती हैं कि उनका मिलन श्रीकृष्ण से कैसे कराया जाय। तब उनसे श्रीराधा कहती हैं - हे विशाखे ! निद्रासखी उज्ज्वल स्वर्णवर्ण वस्त्र धारण करने वाले एक श्यामवर्ण पुरुष को क्षण भर दिखाकर मुझे सदा-सदा के लिये त्याग कर चली गई, लौटकर नहीं आई। अतएव हे सखि ! अन्य उपाय की चिन्ता त्याग कर मेरी निद्रा लौटाने का यत्न करो। उस स्वाप्निक तस्कर को लाने में निद्रा को छोड़ और कोई समर्थ नहीं। (तात्पर्य यह है कि ऐसा उपाय सोचो कि किसी औषध या मंत्र द्वारा मुझे नींद आ जाय। मैं कुलवती रमणी हूँ, मेरे साथ उनका मिलन सहजसाध्य नहीं, फिर यह भी सच है कि उनके दर्शन किये बिना मैं बचूँगी भी नहीं। अतएव निद्रा को लाना ही निरापद मार्ग है। नींद आते ही स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शन होंगे, मेरी प्राणरक्षा का उपाय भी हो जायेगा) (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की टीका का मर्म)

इस प्रकार अन्यान्य दशायें भी श्रीराधा में अति प्रबल रूप से प्रकट होती हैं। यदि अन्य उपायों से श्रीकृष्णमिलन सम्भव नहीं होता, तो मदनवाण की पीड़ा के कारण मृति का उद्यम होता है। इसमें प्रिय वस्तु का सखी को समर्पण, भृङ्ग, मलयपवन, ज्योत्स्ना, कदम्ब आदि का अनुभव होता है। यथा-

''अति शीतल, मलयानिल,
मन्द मन्द बहना।
हरि वैमुख, हामारि अङ्ग,
मदनानले दहना।।
कोकिलागण, कुहु कुहरइ,
झांरे अलि कुसुमे।
हरि लालसे, तनु तेजब,
पाओब आन जनमे।।
सब सङ्गिनी, घेरि बैठत,
गाओत हरिनामे।
जैखन शुनि, तैखन उठि,
नव-रागिणि गाने।।
ललिता कोरे, करि बैठल,
विशाखा धरे आटिया।
शशिशेखर, कहत धनि,
जाओत जीड़ फाटिया।।''

गोपियों के साथ गोपीनाथ की लीला आत्मेन्द्रियप्रीतिवासना शून्य, पारस्परिक सुखभावनामय, सुनिर्मल मिलनमाधुरी है। ऐसा विशुद्धभाव प्रेम के राज्य में और कुछ भी नहीं। भगवान की ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति प्रेम जैसे भक्त के चित्त में भगवत् सेवा की आकांक्षा जगाता है, वैसे ही भगवान् के हृदय में भी भक्त की प्रेमसेवा ग्रहण करने की आकांक्षा जगा डालता है। राधारानी के अनुरूप श्रीकृष्ण में भी श्रीमती के प्रति पूर्वराग का उदय होता है। हाँ, अभिव्यक्ति में थोड़ा अन्तर है। श्रीरूप गोस्वामिपाद ने लिखा है - (श्रंगारभेद प्रकरण - 16)

''अपि माधवरागस्य प्राथम्ये सम्भवत्यपि ।
आदौ रागे मृगाक्षीणां प्रोक्ता स्याच्चारुताधिका ।।''

''यद्यपि गोपियों के साथ गोपीनाथ के पूर्वराग में पहले माधव के पूर्वराग की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिये, कारण- नायक और नायिका के पूर्वराग में नायिका के लज्जा-संकोच-वाक्य आदि भावों की अधिकता के कारण नायक का पूर्वराग ही पहले प्रकट होता है, (तथापि) गोपियों के साथ गोपीनाथ

की लीला भक्त और भगवान् की मिलनमाधुरी है, तभी पहले गोपियों के पूर्वराग की चारुता वर्णित हुई है।'' श्रीकृष्ण ने अभी तक राधारानी के दर्शन नहीं किये, सखी के मुँह से राधानाम सुना है। नाम सुनते ही प्राण व्याकुल हो गये हैं। वे सखी को मन की बात बताते हैं-

''सखि ! राधा नाम कि कहिले ।
शुनि काण-मन जुड़ाइले ।।
कतो नाम आछये- गोकुले ।
हेनो हिया ना करे आकुले ।।
ओइ नामे आछे कि माधुरी ।
श्रवणे रहलो सुधा धरि ।।
चिते निति मूरति विकाश ।
अमिया सायरे जेनो वास ।।
आँखिते देखिते करे साध ।
ए जदुनन्दन मन काँद ।।''

राधानाम सुनते ही चित्त में मन्मथ पीड़ा का उद्रेक हो गया ! नाम माधव के हृदय में अपनी माधुरी का विस्तार कर हृदयराज्य पर अधिकार कर बैठा है। सखी से और भी कुछ कहते हैं-

''राधा नाम कि कहिले आगे ।
शुनइते मनमथ जागे ।।
सखि ! काहे कहलि उह नाम ।
मन माहा नाहि लागे आन ।।
कह तछु अनुपम रूप ।
बुझलम अमिया स्वरूप ।।
हेरइते आँखि करे आश ।
कह राधामोहन दास ।।''

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की उत्कण्ठा की भी सीमा नहीं। कभी वन में, कभी यमुना-पुलिन पर घूमते फिरते हैं। यमुना की शोभा, वन की शोभा, पक्षियों का कलगान। सर्वत्र ही उद्दीपन है। सदा ही अनमने से रहते हैं। प्रियाजी के दर्शन के लिये, मिलन के लिये प्राण व्याकुल हैं। एक दिन श्रीमती सखियों के साथ यमुना-स्नान को जाती हैं; दैवयोग से साक्षात् दर्शन होते हैं।

''सहचरी मेलि, चलल वररङ्गिणि,

कालिन्दि करइ सिनान।
काञ्चन शिरिष-, कुसुम जिनि तनु-रुचि,
दिनकर किरणे मैलान।।
सजनि ! सो धनी चीतक चोर।
चोरिक पंथ, भोरि दरशायलि,
चञ्चल नयनक ओर।।
कोमल चरण, चलत अति मन्थर,
उतपत बालुक वेल।
हेरइते हामारि, सजल दिठिपंकज,
दुहुँ पादुक करि नेल।।
चीत नयन मझु, दुहुँ से चोरायलि,
शून हृदय अब मान।
मनमथ-पाप-, दहने तनु जारत,
गोविन्ददास भाले जान।।''

प्रियाजी के दर्शन कर श्याम खोये-खोये से हो रहे हैं। चित्त चञ्चल है। हर समय इधर-उधर घूमते रहते हैं। किसी दिन दर्शन होते हैं, आँखों से आँखे मिलती हैं। हास्य से हास्य का विनिमय होता है। दोनों एक-दूसरे को प्रणयअर्ध्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार दोनों का अनुराग बढ़ते-बढ़ते असीम पर आ पहुँचा है- ''अनुदिन बाढ़ल अवधि ना गेलो।''

इधर माता यशोमती पुत्र का भावान्तर देखकर बड़ी चिन्ता में पड़ गई हैं। नवनीत में स्पृहा नहीं, खीर-मलाई खाता नहीं। जानें क्या हुआ ! वात्सल्यवती मां शारीरिक ग्लानि की बात सोचने लगती हैं। क्या फिर प्राणेन्द्रिय से द्रोह करने वाले किसी दुष्ट ग्रह की दृष्टि सन्तान पर पड़ गई ? किसी असुर राक्षस आदि का उत्पात तो नहीं ? यह सब चिन्ता कर सर्वदुष्टग्रह आदि के विनाशक श्री हरि के चरणों की शरण लेती हैं - ''नारायण, मेरे गोपाल की रक्षा करो।'

एक दिन रात को मां अपने गोपाल को यत्न के साथ शयनकक्ष में पलंग पर सुला गईं। श्याम सारी रात श्रीराधा की सर्वाङ्ग माधुरी का चिन्तन करते-करते आँसुओं से भीगते रहे -

''कषिल कनया कमल किये।
थिर बिजुरी निछनि दिये।।

किये से शोन चम्पक फूल ।
राइ-वरण जगदतुल ।।
ताँहि किरण झलके छटा ।
वदने शरद-विधुर घटा ।।
चाँचर चिकुर सीथाँये मणि ।
दशन कुन्द-कलिका जिनि ।।
अरुण अधर वचन मधु ।
अमिया उगारे विमल विधु ।।
चिबुके शोभये कस्तूरबिन्द ।
कनक-कमले बालक भृङ्ग ।।
गलाये मुकुता दोसुती झरि ।
सुरधुनी बेड़ि कनक गिरि ।।
शंख-झलमलि दुबाहु दोला ।
किये सरु सरु शशीर कला ।।
कर कोकनद नखर मणि ।
अङ्गुले मुदरि मुकुता जिनि ।।
क्षीण माझखानि भङ्गिया पड़े ।
बान्धल किंकिणी नितम्ब-भरे ।।
रामरम्भा उरु चरणशोभा ।
मदनमोहन- मानस- लोभा ।।
नखर-मुकुर अङ्गुलावलि ।
जनु सारि सारि चम्पककलि ।।
नील ओड़नी ढाकिलो तनु ।
सब विधु राहु झाँपिलो जनु ।।
अलपे अलप तेयागे ताय ।
जदुनाथ चिते ओइछन भाय ।।''

प्रात:काल प्रति दिन की तरह माँ यशोमती अपने गोपाल को जगा रही हैं - ''उठ बेटे नीलमणि ! खाले नवनी, उदित हुए भानु।'' ओ मा ! यह क्या ! गोपाल ! तेरी आँखें फूल कर इतनी

लाल क्यों हो रही हैं ? यमुना के नये पानी में खूब खेला लगता है। तेरी तो आँखें आ गईं। माँ दौड़कर हल्दिया रंग का एक वस्त्र लाती हैं। कहती हैं – ''इससे आँखें पोंछना, थोड़ा आराम मिलेगा।'' और उस वस्त्र को देखते ही श्याम को हरिद्रावर्णी राधा का उद्दीपन हो गया। माँ के सामने ही आँखों से कुछेक बूँदं टपक पड़ीं। चिन्ता से भरी माँ कुन्दलता से पूछती हैं – 'बेटी कुन्द ! मेरे गोपाल की आँखें आ गई हैं। हल्दिया रंग के वस्त्र से पोंछने से तो आराम होता है, फिर गोपाल का रोग बढ़ा क्यों ?' कुन्दलता श्रीकृष्ण की भाभी हैं, बीमारी की बात समझ गई हैं। परिहास के स्वर में कहती हैं– 'अरी मां ! हल्दिया रंग के वस्त्र से तुम्हारे गोपाल का रोग अच्छा नहीं होगा। अब इसके विवाह की व्यवस्था करो। इसकी नजर अच्छी नहीं है।' कुन्दलता की बातें नन्दरानी हँसकर उड़ा देती हैं – 'कुन्दलता भी क्या कहती है, दुधमुंहा बच्चा, छह पूरे कर सातवें साल में पैर रखा हैं। स्तनपान की इच्छा तो अभी गई नहीं। मेरा गोपाल वह सब कुछ नहीं समझता। वह तो बस गायें चराना और बाँसुरी बजाना जानता है।' मां का शुद्ध वात्सल्य भाव है, कुन्दलता की बातें सहन करने को राजी नहीं। उन्हें इस बात का ख्याल ही नहीं कि बेटे ने बाल्य-पौगण्ड पारकर कैशोर में प्रवेश कर लिया है। वस्तुतः इस (वात्सल्य) रस में वह अनुभव जगता ही नहीं। प्रेमिक के रस के अनुरूप ही श्रीकृष्ण की अनुभूति जगती है। मां के लिये वे चिरशिशु हैं, सखाओं के लिये चपल ग्वाले, व्रजसुन्दरियों के लिये नवीन मदन, और राधारानी के लिये साक्षात् मदनमोहन। दूसरी ओर, पूतना के लिये छह दिन का वह शिशु ही सर्वज्ञ है, उसका प्राणसंहारक है।

सखाओं के साथ गोचारण के लिये वन-गमन श्रीकृष्ण की दैनन्दिन लीला है। उस लीला में एक दिन बड़ा ही आकर्षण था। गायों का झुण्ड लिये व्रजबालकों के साथ नाचते-नाचते गोचारण को जायेंगे, इस बात में उन्हें बड़ा सुख मिलता। वेणुध्वनि, रमणियों की शंखध्वनि-उलुध्वनि से सारे पथ-घाट मुखरित हो उठते। देव-देवियाँ सतृष्ण नयनों से उस मनोहर दृश्य को देखने के लिये मेघों के अन्तराल में खड़े रहते। रास्तों पर व्रजनारियों का मङ्गल अनुष्ठान चलता, वह भी बड़ा सुख देता। किन्तु आज कुछ भी अच्छा नहीं लगता। प्रिया-संग की लालसा में चित्त व्याकुल है। प्राणों में शृंगाररस की तरङ्गें दौड़ती हैं। मन को दबाये किसी प्रकार दिन कंट रहे हैं, पर और नहीं काटे जाते। ऊपर से शरत्काल ने आकर दारुण विभ्राट ला खड़ा किया। स्वाभाविक रूप से सुन्दर वृन्दावन चारों ओर शृंगार रस की छवि बना हुआ है। देखते-देखते अनङ्गरस में उन्मत्त श्रीहरि ने सखाओं के साथ वृन्दावन में प्रवेश किया। अब श्रीपाद शुकदेव मुनि वेणुगीत आरम्भ करते हैं।

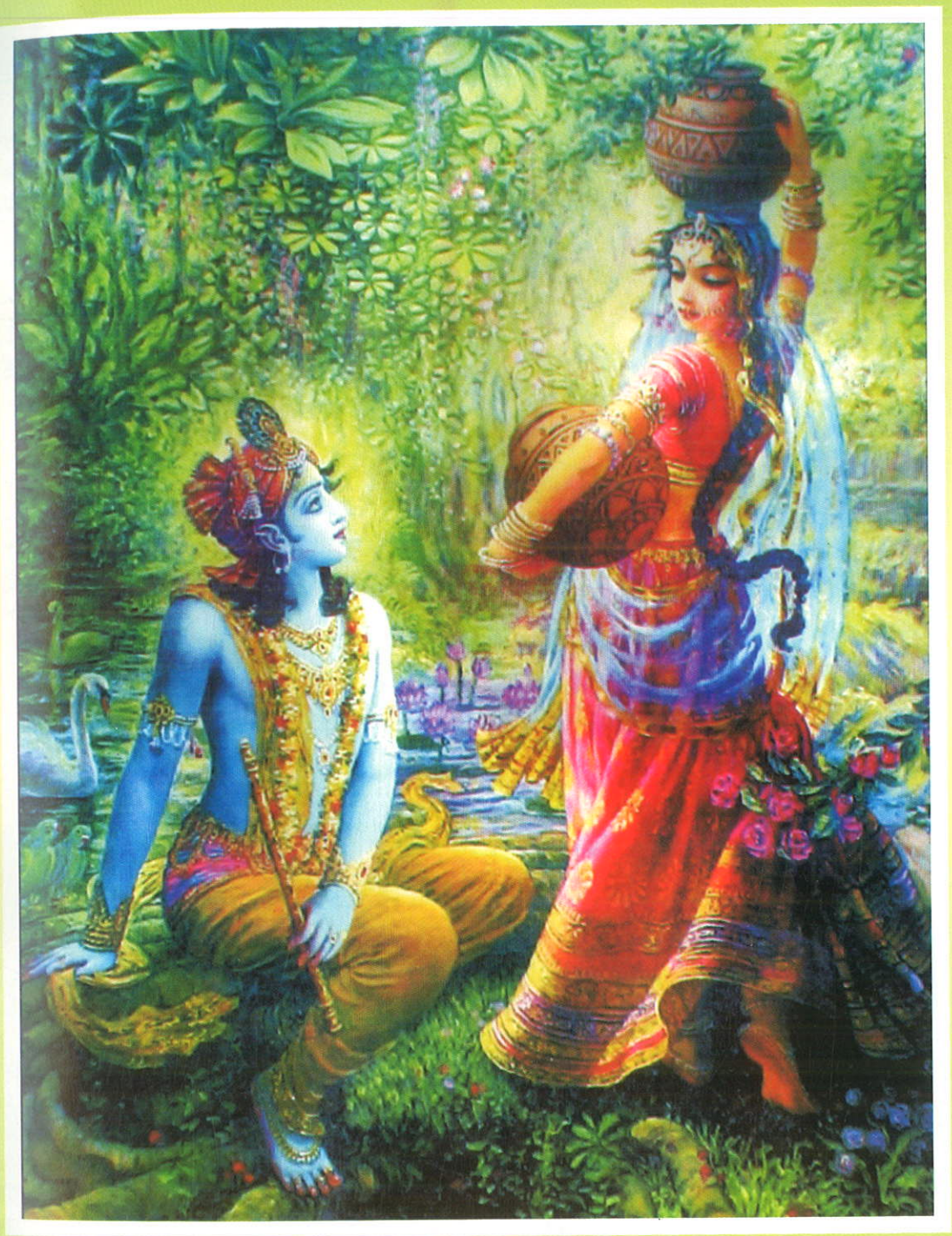

''यमुना याइया, श्यामेरे देखिया, घरे आइला विनोदिनी।''

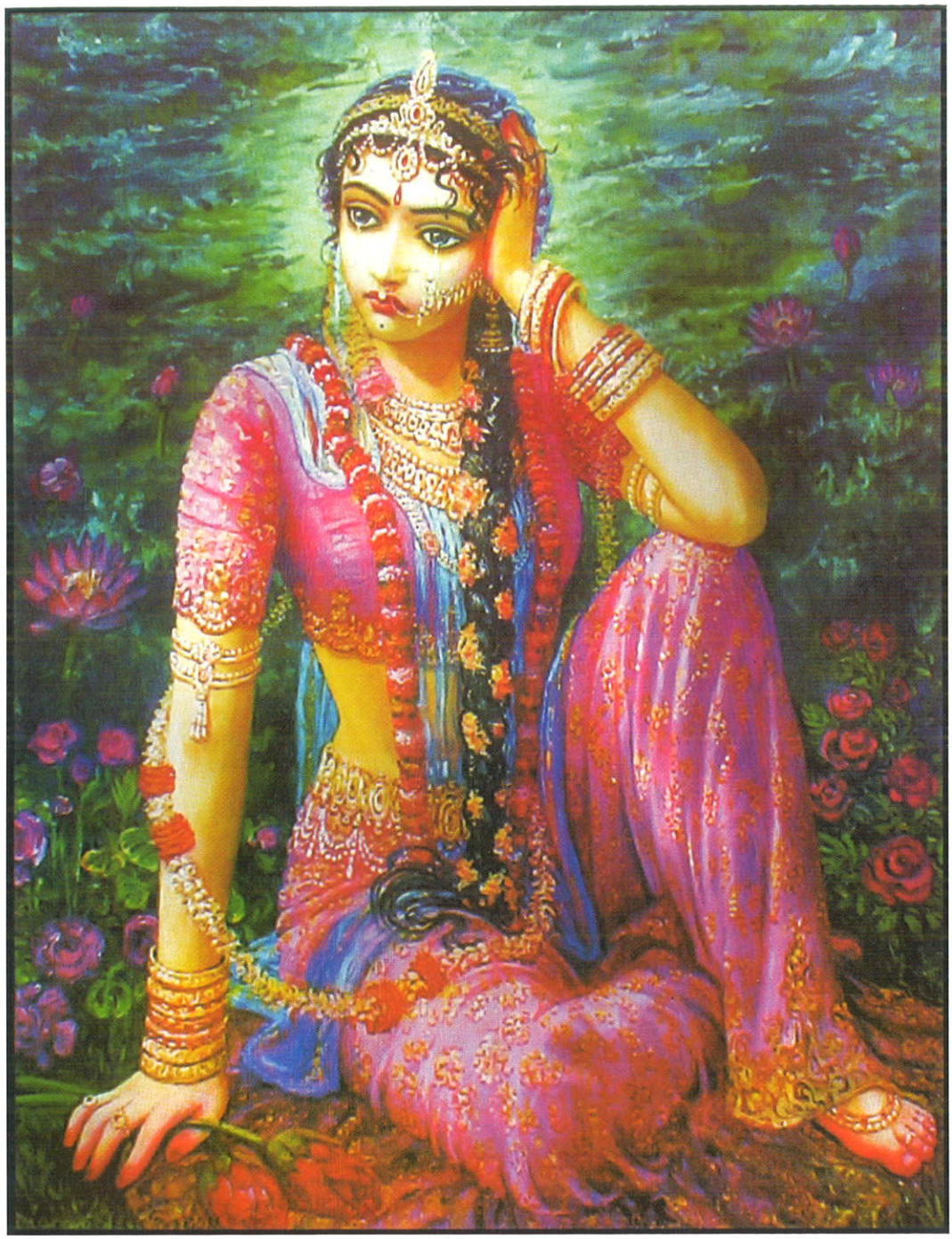

''विरले वसिया, काँदिया काँदिया, धेयाय श्यामरुप खानि।।
निज करोपरि, राखिये कपोल, महायोगिनीर पारा ।
ओ दुटि नयाने, वहिछे सघने, श्रावण मासेरि धारा।।''

श्रीश्रीगीतपञ्चक

श्रीमद्भागवत

दशम स्कन्ध

इक्कीसवाँ अध्याय

# श्रीश्रीवेणुगीत

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद्वायुना वातं सगोगोपालकोवनम्।। 1।।
कुसुमित वनराजिशुष्मिभृङ्ग-
द्विजकुल घुष्ट सरः सरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवग्राह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्।। 2 ।।

---

**अन्वयः** - सगोगोपालकः (धनेपालैस्तथा गोपबालकैश्च सहितः) इत्थं (एवम्भूतं) शरत् स्वच्छजलं (शरदागमे स्वच्छानि जलानि यस्मिन् तत्) पद्माकरसुगन्धिना (पद्माकरैः शोभनः गन्धः तेन सुगन्धिना) वायुना (मन्दानिलेन) वातं वनं (व्याप्तं श्रवृन्दावनं) न्यविशत् (प्रविष्टवान्) ।। 1 ।। सहपशुपालबलः (पशुपालैः श्रीदामसुबलादि-गोपबालकैः बलः बलदेवेन च सह) मधुपतिः (श्रीकृष्णः) गाः चारयन (गाः धेनुः चारयन्) कुसुमित वनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलघुष्ट सरः सरिन् महीध्रम् (कुसुमितवनराजिषु शुष्मिनां मत्तानां भृङ्गानां द्विजानां पाक्षिनाञ्च कुलैः घुष्टानि शब्दितानि सरांसि सरितः नद्यः महीध्राः पर्वताश्च यस्मिन् तत्) वनम् अवगाह्य (प्रविश्य) वेणुं चुकूज (अवादयत्) ।। 2 ।।

**अनुवाद**- हे राजन् ! असंख्य गायों और गोपबालकों से घिरे (श्रीकृष्ण ने) शारदीय स्वच्छ जल से भरे सरोवर आदि से सुशोभित, प्रफुल्लित कमलों की गन्ध से सुवासित, मन्द पवन द्वारा सेवित वृन्दावन में प्रवेश किया।। 1।।

मधुपति श्रीकृष्ण ने श्रीदाम-सुबल आदि सखाओं और अग्रज श्रीबलदेव के साथ कसुमित वृक्षों से पूर्ण, मत्त मधुकरों से झंकृत, शुक-पिक आदि पक्षियों से निनादित वनभूमि और नदी-सरोवर-पर्वत आदि की शोभा निहारते हुए वृन्दावन में प्रवेश कर मोहन वेणु बजाया ।। 2 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रील शुकदेव मुनि पिछले (10-20) अध्यायों में वृन्दावन में वर्षाऋतु की शोभा, उसमें सखाओं के साथ श्रीकृष्ण का मधुर विहार और शरद की सुषमा का वर्णन कर इस अध्याय में उनकी क्रीड़ाविशेष अर्थात् उनके भावमय वेणुनाद और पूर्वरागवती व्रजबालाओं के वेणुगीत का वर्णन कर रहे हैं।

श्रीपाद शुकदेव मुनि इस प्रथम श्लोक में कर्तापद उच्चारण नहीं कर पाये। 'अच्युत' चित् सुख-सम्मत पाठ है, किन्तु वैष्णवतोषणी में 'वनम्' पाठ ही ग्रहण किया गया है। इससे इस अध्याय के वर्णित विषय का माधुर्यविशेष ही सूचित हुआ है। अथवा द्वितीय श्लोक का 'मधुपति' शब्द इस श्लोक में भी अन्वय करना होगा। 'मधुपति' शब्द का श्लेषार्थ है वसन्तकाल का पति। अतएव शारदीय शोभा के साथ वसन्तऋतु की सुषमा भी फूट उठी, इसकी सूचना दी गई है।

व्रज के पावन सरोवर, कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड-श्यामकुण्ड आदि सरसियों और यमुना मानसगंगा आदि सरिताओं में किनारों तक भरा वर्षा का अगाध जल शरद के आगमन पर पंकिलता त्याग कर काँच-सा स्वच्छ निर्मल हो गया है। उसमें प्रस्फुटित हैं कुमुद-कमल-कल्हार (श्वेत कमल)-कोकनद (लाल कमल) । कमलवन में परमानन्द से विहार कर रहे हैं राजहंस ! वृक्ष सुशोभित हैं नव-नव पल्लवों से । वकुल-शेफाली-गन्धराज की सुगन्ध से वनभूमि मत्त है। यमुना और मानसगंगा के पुलिनों पर फैली हैं स्थल कमलों एवं केलिकदम्बों की हास्य-लहरियाँ! पुष्प-पुष्प पर कुञ्ज-कुञ्ज में मत्त मधुकरों की मधुर झंकार है। कोकिलों की कलतान, मयूरों के मोहन नृत्य, विविध पक्षियों के कलकूजन से मुखरित है वनभूमि ! गोवर्द्धन आदि पर्वत सुनिर्मल झरनों के जल से, फल-फूलों से सुशोभित हैं। शीतल सुमन्द पवन कुसुमगन्ध वहन करता दिगन्त आमोदित कर रहा है। 'मधुपति' शब्द की एक और व्यञ्जना है - श्री कृष्ण मधुपति हैं, उनकी लीलभूमि व्रजधाम भी मधुमय है। आकाश-वातास (वायु) - वृक्षलतायें, सूर्य-चन्द्र और उनकी किरणधारायें सर्वत्र ही मधु झर रहा है। फूलों की हंसी, फलों का रस, पक्षियों का कलरव, मयूरों का नर्तन सभी मधुमय है। ''मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'' - इन सबकी तमाम माधुरी समर्पित है मधुर गोविन्द की सेवा में। उसी चिरवसन्तसेवित मधुभूमि वृन्दावन में शरत्ऋतु के आगमन पर मानो महामधुमहोत्सव चल रहा है। श्रीहरि गोचारण के लिये जितने ही अग्रसर होते हैं, उतने ही मुग्ध होते हैं। सर्वत्र ही एक अपरूप शोभा है। वृन्दावन की प्रकृति ने उनके चित्त-विनोदन के लिये मानो सर्वत्र ही एक निरुपम शोभा का सन्निवेश किया है। देखते-देखते वे आविष्ट हो गये। दूर वन में 'बोउ कथा कओ' शब्द करता पक्षी बोल उठा। वह बोल सुनकर दोलायित चित्त और भी नाच उठा। सरोवर की ओर दृष्टि जाती है, तो देखते हैं - खञ्जन दम्पत्ति मुँह से मुँह लगाये

जानें क्या कह रहा है ! भ्रमरों के गुञ्जन का भी विराम नहीं। यह सब देख-सुनकर श्यामल किशोर का गोचारण में बिलकुल ही मन न लगा। मन में नशा छाया है; पैठे हैं कुछेक मृगनयना गोपकिशोरियों के सुन्दर चेहरे। वे देख जो आये हैं - उनके चञ्चल नयनों की कामना-मिश्रित मधुर हँसी। वे चेहरे ही छवियों की तरह आँखों के आगे तैर रहे हैं। विशेष रूप से जिस धनी ने ध्वनिहीन भाषा में हृदय को मथकर प्रबल आलोड़न मचा दिया है, उसे वे किसी प्रकार भी नहीं भूल पा रहे। तभी तो वे चरागाह में सखाओं को छोड़, दूर एक तमालवृक्ष के नीचे पक्की वेदी पर बैठकर बायें पैर पर दायाँ पैर रखे उसी के विषय में सोच रहे हैं। श्याम उसी के चिन्तन में डूबे हैं।

यहाँ हमें स्मरण रखना होगा - गोपियों के साथ गोपीनाथ की लीला में प्राकृत नायक-नायिका की तरह पारम्परिक मिलन-आवेश वर्णित है, पर वस्तुतः यह आत्मेन्द्रियप्रीति-वासनाशून्य भक्त और भगवान् की परमतत्वमय सुनिर्मल महामधुर मिलन-माधुरी है। भागवत-परमहंसों के सर्वश्रेष्ठ ध्यान-धारणा की विषयवस्तु है। भगवान हैं रसमय, तभी वे लीलामय हैं। रस के बिना लीला नहीं रहती, कारण रस ही लीला का प्राण है। 'रस' का अर्थ है- जो आस्वाद्य हैं वे रस हैं, और जो आस्वादन करते हैं वे भी 'रस' हैं। जैसे मधु और भ्रमर। लीलामय श्रीकृष्ण रसमय हैं। रसमय की रसास्वादन की इच्छा स्वाभाविक है। ज्ञानियों के ब्रह्म निर्गुण निरस हैं, उनकी कोई वासना ही नहीं। किन्तु भक्त के भगवान् वैसे नहीं हैं, भक्त के प्रेम के आस्वादन की उनकी वासना अशेष है। वे अनन्त हैं, उनकी रसास्वादन की वासना भी अनन्त है। आनन्दसिन्धु के वक्ष में अनन्त कामना की तरङ्ग। यह सभी उनकी लीला है। इसीलिये वे लीलामय हैं। लीला किसे कहते हैं ? भगवान् की चेष्टा दो प्रकार की है - एक 'कर्म', दूसरी 'लीला'। किसी उद्देश्य को लेकर, जैसे धरा-भार हटाना, असुरों को मारना, उनकी जो चेष्टा है, उसका नाम 'कर्म' है। स्वेच्छा से आनन्द से अनायास सम्पादित होने वाली जो चेष्टा है, उसका नाम 'लीला' है। उनकी यह लीला त्रिविध है - सृष्टिलीला, संसार-लीला, नित्यलीला। भगवान अपनी शक्ति के साथ ही खेलते हैं, कारण- खेल एकाकी नहीं होता। वे जब बहिरङ्गा मायाशक्ति के साथ खेलते हैं, तब उसका नाम होता है सृष्टि-लीला। जब तटस्था जीवशक्ति के साथ खेलते हैं, तो नाम होता है संसार-लीला। फिर जब स्वरूपशक्ति साथ खेलते हैं, तब उसे कहते हैं नित्यलीला। स्वयं भगवान श्री कृष्ण का सृष्टिलीला - संसारलीला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। ये दोनों उनकी अंश-कलाओं द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। ''तुरीय कृष्णेर नाहि मायार सम्बन्ध'' (चै. च.)। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की द्वारका, मथुरा, व्रज इन नित्य लीलाओं में व्रजलीला ही सर्वोत्कृष्ट है। व्रज के पार्षद श्रीकृष्ण के अखिल ऐश्वर्य को भूलकर उन्हें 'मेरा पुत्र, मेरा सखा, मेरे प्राणपति' ही समझते हैं। इसीलिये व्रजलीला परम माधुर्यमय है। उसमें भी गोपियों के साथ गोपीनाथ की शृङ्गाररसमय लीला का माधुर्य ही सर्वाधिक है, कारण-

श्रीकृष्ण की ही ह्लादिनीशक्ति की सारवृत्ति प्रेममूर्ति व्रजकिशोरियों के मधुर रस मे परकीयभाव का समावेश रहने से इतना पारस्परिक आकर्षण होता है। इसीलिये वे समर्था नायिकायें हैं।

''किञ्चिद्विशेषमायान्त्या सम्भोगेच्छा जयामितः ।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते ।।
×× ×× ××
समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता ।।''

(उ. नी. 14/52)

अर्थात् ''साधारणी और समञ्जसा रति की तुलना में एक अनिर्वचनीय विशिष्टता अर्थात् श्रीकृष्णवशीकरण की अतिशयता से युक्त जिस रति के साथ सम्भोग-इच्छा तादात्म्य (रतिस्वरूपता) प्राप्त करती है, जिसकी गन्धमात्र से कुल धर्म धैर्य लज्जा आदि सभी कुछ भूल जाते हैं - जो अति सान्द्रतम (प्रगाढ़तम) है, जिसमें अन्य भाव का लेश भी प्रवेश नहीं कर सकता, उसी को 'समर्था रति' कहा जाता है।''

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के प्रति मधुरारति तीन प्रकार की है - साधारणी (मथुरा में कुब्जा आदि), समञ्जसा (द्वारका में महिषियाँ) और समर्था (व्रजबालायें) । सम्भोगेच्छा के बिना मधुरारति नहीं होती। वह सम्भोग-इच्छा दो प्रकार की - (1.) प्रियजन द्वारा अपनी इन्द्रियों के तर्पण की इच्छा (2.) अपनी इन्द्रियों द्वारा प्रियजन की इन्द्रियों के तर्पण की इच्छा। पहली 'काम' है, दूसरी 'रति' है। अपनी इन्द्रिय द्वारा प्रियजन के सुख साधन की इच्छा होते हुए भी मधुर रस में प्रियजन का स्पर्शसुख आदि अवश्यम्भावी है। साधारणी और समञ्जसा रति में यह इच्छा अत्यन्त दुर्वार और बलवती होती है। किन्तु व्रजबालाओं की समर्थारति की ऐसी सामर्थ्य है कि यह सम्भोगेच्छा को अपने साथ तादात्म्य दिला देती है। इसीलिये वे श्रीकृष्ण सुख में ही तन्मय रहती हैं। तभी कहा है -

''आत्मसुख-दुःखे गोपीर नाहिक विचार ।
कृष्णसुख हेतु चेष्टा मनो व्यवहार ।।
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग ।
कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग ।।
×× ×× ××
तबे जे देखिये गोपीर निज देहे प्रीत ।
सेहो तो कृष्णेर लागि जानिहो निश्चित ।।
एइ देह कैलुँ आमि कृष्णे समर्पण ।

ताँर धन ताँर एइ सम्भोग-साधन ।।
ए देह दर्शन-स्पर्शे कृष्ण-सन्तोषण ।
एइ लागि करे देहेर मार्जन भूषण ।।''

(चै. च. आदि - 4)

प्रश्न उठ सकता है - यदि गोपियों सुख नहीं चाहतीं, तो उन्हें सुख भी नहीं होगा, पर सुख ही पुरुषार्थ है। फिर तो गोपीप्रेम की पुरुषार्थता ही नहीं रहती। इसीलिये कहा गया है-

''गोपीगण करे जबे कृष्ण दरशन ।
सुखवांछा नाहि, सुख हय कोटिगुण ।।
गोपिकादर्शने कृष्णेर जे आनन्द हय ।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय ।।
ताँ सभार नाहि निज सुख-अनुरोध ।
तथापि बाड़ये सुख पड़िलो विरोध ।।
ए विरोधेर एकमात्र देखि समाधान ।
गोपिकार सुख कृष्णसुखे पर्यवसान ।।''

यह पर्यवसान किस प्रकार, वही दिखाया है -

''गोपिका-दर्शने कृष्णेर बाढ़े प्रफुल्लता ।
से माधुर्य बाढ़े जार नाहिक समता ।।
'आमार दर्शने कृष्ण पाइलो एतो सुख । '
एइ सुखे गोपीर प्रफुल्ल अङ्ग-मुख ।।
गोपीशोभा देखि कृष्णेर शोभा बाढ़े जतो ।
कृष्णशोभा देखि गोपीर शोभा बाड़े ततो ।।
एइमत परस्पर पड़े हुड़ाहुड़ि ।
परस्पर बाढ़े केहो मुख नाहि मुड़ि ।।
किन्तु कृष्णेर सुख हय गोपी-रूपगुणे ।
ताँर सुखे सुख वृद्धि हय गोपीगणे ।।
अतएव सेइ सुखे कृष्णसुख पोषे ।
एइ हेतु गोपीप्रेमे नाहि कामदोषे ।।''

(वही)

श्रीमती राधारानी में ही इस प्रेम की पराकाष्ठा है। उन्हीं में प्रेम परम महान है। वे ही मादन नामक महाभाव से युक्त हैं। इसीलिये प्रेम द्वारा वशीभूत होने वाले श्रीकृष्ण की वश्यता उसी में सबसे अधिक है। उनकी प्रेमरसमाधुरी के आस्वादन की परिपुष्टि के लिये ही अन्यान्य गोपियों की कामना है।

स्थायी भाव रति के साथ विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी या सञ्चारी भाव के सम्मिश्रण से प्रेमरस का आस्वादन हुआ करता है। विभाव दो प्रकार का - आलम्बन एवं उद्दीपन। आलम्बन विभाव भी आश्रय आलम्बन और विषय आलम्बन भेद से द्विविध है। वृन्दावनलीला में किशोरी गोपियाँ आश्रय आलम्बन हैं, श्रीकृष्ण विषय आलम्बन। वस्तुतः दोनों ही दोनों के आश्रय आलम्बन और दोनों के विषयालम्बन हैं। फिर भी, भक्तिरसशास्त्र भक्तों को भक्ति का आश्रय आलम्बन और भगवान् को विषयालम्बन कहा करते हैं। तभी हम गोपिकाओं को आश्रय आलम्बन और श्रीकृष्ण को विषयालम्बन कह रहे हैं। उद्दीपन विभाव हैं शरत् ऋतु, पूर्णिमा का चाँद, मलयपवन, कोकिलों का कुहुरव, कुसुमित कानन इत्यादि। आज चारों ओर ही उद्दीपन के उपकरण हैं। जिधर देखो, उधर ही केवल उद्दीपक माधुरी है। इस तमाम उद्दीपन ने श्रीकृष्ण और गोपियों के परस्पर के प्रति भाव को उद्दीप्त कर उन्हें मत्त कर डाला है। शरद की जितनी शोभा बढ़ रही है, गोपी-गोपीजन वल्लभ के मन भी उतने रो रहे हैं। आज की उद्दीपन माधुरी ने गोपीनाथ को अधीर कर डाला है। वे तमाल तले बैठकर राधारानी की रूपामाधुरी का चिन्तन कर रहे हैं। मुखपद्म मलिन है। नेत्र उदास हैं। तभी प्रियसखा सुबल धीरे-धीरे आ खड़े होते है। गोविन्द का मलिन वदन देखकर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित हो गया। पास बैठकर अत्यन्त स्नेहभरे स्वर में पूछा- 'सखे ! आज तुम्हें इतना उदास क्यों देख रहा हूँ ? इतने व्यथित क्यों हो ? गोचारण सखाओं का संग सब त्यागकर इस दूर, वन में एकाकी बैठे इतना क्या सोच रहे हो ? श्रीकृष्ण सुबल की ओर थोड़ी देर देखते रहते हैं, फिर कहते हैं - नहीं तो, कुछ भी तो नहीं सखा ! सुबल बोले - छिपाने की चेष्टा मत करो सखा ! तुम्हें इतना उदास कभी नहीं देखा, बताओ, क्या हुआ। गोविन्द ने सुबल का दायाँ हाथ धीरे-धीरे अपने वक्ष पर दबाकर रखते हुए कहा - 'सखा ! सुनो, बताता हूँ। तुमसे छिपाने का कुछ नहीं। गोचारण के लिये वन में आता हूँ, तब नित्य एक सुन्दर रमणी मेरी आँखों के आगे आ खड़ी होती है। मैं उसे देखकर भी नहीं देखता, एक प्रकार से उपेक्षा करके ही चला आता हूँ। वन में आकर गायें चराता हूँ, वेणु बजाता हूँ, उसे भूलने की चेष्टा करता हूँ। पर कुछ दिन से समझ रहा हूँ, कि मेरी वह चेष्टा व्यर्थ हो रही है। मुझे लगता है कि वह रमणी कोई मोहिनी विद्या जानती है। मेरे अनजाने में मेरे हृदय में प्रवश कर मुझे पागल कर डाला है। अब मैं समझ गया हूँ कि उसके बिना मैं और जीवित न रहूँगा सखा।' यह कहने के साथ ही साथ गोविन्द के दो-चार आँसू सुबल के हाथ पर टपक पड़े। सुबल ने व्यग्र होकर पूछा - 'वह रमणी कौन है ? देखने में कैसी है ? कहाँ देखा,

बताओ ?' गोविन्द बोले- 'सखे, वह कैसी है, यह वर्णन करने के लिये कोई भाषा नहीं। उसकी कोई तुलना भी खोजने पर नहीं मिलती। वह मानो अट्टालिका को प्रकाशित करने वाली मेघविहीन स्थिर विद्युत लता है, अथवा नन्दनवन से अलग हुई एक कोमल कल्पलता है। लगता है जैसे त्रिलोक सम्मोहन कञ्चन प्रतिमा है - ऐन्द्रजालिक मदन की कोई ठगिनी स्वर्णपुत्तलिका। गोकुल की अधिष्ठात्री देवी है, अथवा किसी शिल्पनिपुण चित्रकार द्वारा आकाश में अंकित चित्रलेखा। लगा जैसे गगन-सरसी में फैली स्वर्ण हंसिनी है। उसे देखकर जाने क्या-क्या मन में आया - मानो द्वितीया की अद्वितीय चन्द्रलेखा है, सम्मोहनविद्या की महिमावल्ली है, लावण्य का दर्पण, माधुर्य की पताका, श्रेष्ठ गुणों की तेजपूर्ण मञ्जरी, सौन्दर्य- विहंग का स्वर्णपिञ्जर है, जो क्षण भर के लिये आविर्भूत होकर तिरोहित हो गया। यह मेरा स्वप्न है, मन का भ्रम है, या कोई चित्तविभ्रामिका दैवीमाया ? हे सखे, कुछ समझ में नहीं आया। सुबल बोले- सखे, खेद मत करो, यही हैं व्रज की प्रसिद्ध वार्षभानवी - विधाता की नवीन सृष्टि, सभी सौभाग्यों की साराधिका श्रीराधिका ! सुबल की बात सुनकर श्रीकृष्ण चौंक कर बोले - भाई, क्या नाम बताया, श्रीराधिका ? सुबल - हाँ, इस गोकुल में उन- जैसा सौन्दर्य-माधुर्यपूर्ण रमणीरत्न और दूसरा नहीं। मुझे लगता है, उसी ने तुम्हें पागल कर दिया है। श्रीकृष्ण - यही होगा, सखा । उनकी दो अन्तरङ्ग सखियाँ उनका एक प्रेमपत्र लेकर मेरे पास आई थीं। मैंने उसे पढ़कर थोड़ा झुँझला कर पत्र लौटा दिया और कहा - मैं ग्वाला हूँ, प्रेम-प्रीति कुछ नहीं समझता, अपनी मस्ती में गायें चराता हूँ, वेणु बजाता हूँ। अपनी सखी से कहना, पतिव्रता रमणी का परपुरुष से प्रीति करना उचित नहीं; मुझे उनका प्रस्ताव मंजूर नहीं।

**''राइक राग कहलि बहु मोय ।**
**कैछने ओइछन साहस होय ।।**
**परनारी-ग्रहण दहन-सम ताप ।**
**धरम-मरम ज्ञानी को करु पाप ।।**
**ताहे जदि सङ्गी सब देखे लव दोष ।**
**जागर दूरे रहु स्वप्नहिं रोष ।।**
**शुनि सखी कानुक वचन-अनुबन्ध ।**
**कह राधामोहन लागल धन्ध ।।''**

वे दोनों बोलीं - ''व्रजराजकुमार ! वे आपके लिये पागल हो रही हैं। आपका नाम जपती हैं, रोती हैं। आपके ध्यान में ही हर समय मग्न रहती हैं, थोड़ी दया कीजिये।''

**''सहजे ननीक पुतली गोरी ।**

जारल विरह अनले तोरि ।।
वरण काञ्चन ए दशवान ।
श्यामरि सोअँरि तोहारि नाम ।।
शुन शुन माधव कहलुँ तोय ।
समति ना देइ दिन रजनी रोय ।।
अरुण अधर बान्धुली फूल ।
पाण्डुर भैगेल धुतुर तुल ।।
फुयल कवरी उरहि लोल ।
सुमेरु उपरे चामर डोल ।।
गलाय ए गजमोतिम हार ।
बसन बहिते गुरुया भार ।।
अङ्कुल अङ्कुरी वलया भेल ।
ज्ञान कहे दुख मदन देल ।।''

उनकी बातें सुनकर मैंने थोड़ा झुँझला कर कहा- तुम लोग यहाँ से चली जाओ, नहीं मैं घर जाकर सब बता दूँगा। यह सुनकर वे रोते-रोते चली गईं।

''कानुक ओइछन बात ।
शुनि सखी अवनत माथ ।।
कछु ना कहल फेरि ।
लोरे पन्थ ना हेरि ।।
मलिन वदन भेलो ।
धीरे धीरे चलि गेलो ।।
आओल राइक पाश ।
कि कहब ज्ञानदास ।।''

''अब समझ में आ रहा है सखा, मुझ से बड़ी भूल हो गई। हाय ! मैंने उन लोगों की उपेक्षा क्यों की ?'' कहते-कहते नयनकमल अश्रुसिक्त हो गये। सुबल ने स्नेह से उनके हाथ पकड़ कर कहा- ''सखा ! तुम इस तरह रोओ मत। मैं तुम्हारे मर्म की व्यथा दूर करके रहूँगा। सखियों से बात करता हूँ, तब तक, तुम यहाँ बैठकर अपना मोहन वेणु बजाओ।''

यह कहकर सुबल चले गये। गोविन्द ने अपने अधर किशलय पर मोहन वेणु रखकर फूँक

मारी। व्रज में श्रीकृष्ण की चार अनन्य-साधारण माधुरियों में से वेणुमाधुरी अन्यतम है। वेणुमाधुरी इतनी चित्ताकर्षक और उन्मादक है कि इसके गुणों से भुवन पागल है। "त्रिजगन्मानसकर्षिमुरलीकलकूजित:" - वेणु का कलकूजन त्रिजगत् के मन को आकर्षित करता है। वह स्वर, वह ध्वनि भगवद् राज्य का एक महावैभव है। इसके माधुर्य से सब कुछ मधुमय हो जाता है; वेणु का स्वर स्थावर-जङ्गम के स्वभाव में विपर्यय ला देता है।

"अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्"

(भागवत)

वेणु के स्वर से सचल अचल हो जाते हैं, अचल सचल, और गिरिपथ पिघल जाते हैं। वेणु शब्द ब्रह्ममय है, तभी इसका स्वर-वैभव विभु या व्यापक है। इसीलिये चौदह भुवनों में सभी पर इसका ऐसा अद्‌भुत मोहन प्रभाव है।

"रुद्धन्नम्बुभृतश्चमत् कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं ।
ध्यानादन्तरयन् सनन्दन मुखान विस्मापयन् वेधसम् ।।
औत्सुक्यावलिभिर्वलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन् ।
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिममितो वभ्राम वंशीध्वनिः ।।"

—विदग्धमाधवनाटकम्

"आकाश में विचरण करने वाले मेघों का गतिरोध (करना), गन्धर्वराज तुम्बुरु के हृदय में चमत्कारित्व उत्पन्न करना, सनन्दन आदि की समाधि भंग करना, विधाता को विस्मित करना, उत्सुकतासमूह द्वारा बलिराजा की चपलता बढ़ाना, नागराज का मस्तक घुमाना और ब्रह्माण्डरूपी कटाह को चीरते घूमना - यह वंशीध्वनि का स्वभाव है।"

"से ध्वनि चौदिके धाय, अण्ड भेदि वैकुण्ठे जाय,
जगतेर बले पैशे काणे।
सभा मातोयाल करि, बलात्कारे आने धरि,
विशेषतः जुवतीर गणे।।
ध्वनि बड़ो उद्धत, पतिव्रतार भाङ्गे व्रत,
पतिकोल हैते काढ़ि आने।
वैकुण्ठेर लक्ष्मीगणे, जेइ करे आकर्षणे,
तार आगे केबा गोपीगणे।।

नीवि खसाय पति आगे, गृहकर्म कराय त्यागे,
बले धरि आने कृष्णस्थाने।।
लोक धर्म-लज्जा-भय, सब ज्ञान विलुप्त हय,
ओइछे नाचाय सब नारीगणे।
काणेर भितर बासा करे, आपने ताँहा सदा स्फुरे,
अन्य शब्द ना देय प्रवेशिते।।
आन कथा ना शुने काण, आन बोलिते बोलाय आन,
ओइछे कृष्णेर वंशीर चरिते।।''

(चै. च. मध्य-21)

शृङ्गार-रसराजमूर्ति श्रीकृष्ण के कामबीज के प्रस्फुरक वेणुगीत के प्रभाव की अतिशयता रमणी मात्र पर लागू होती है, ऐसा वर्णन किया गया है, फिर भी श्रीकृष्ण की माधुरी का आस्वादन प्रेम के अनुरूप ही होता है, इसीलिये महाभाववती व्रजसुन्दरियों पर ही इसका अप्रतिम प्रभाव है। सर्वोपरि गोपी-शिरोमणि श्रीराधारानी को ही आकर्षित करती है और उनमें असमोर्ध्व उन्मादना जगाती है यह वेणुमाधुरी। पूर्वराग की दशा में वेणुनाद सुनकर श्रीमती कहती हैं -

''केना बाँशी बाए बड़ायि कालिनी-नइ-कूले ।
के ना बाँशी बाए बड़ायि ए गोठ गोकुले ।।
आकुल शरीर मोर बेयाकुल मन ।
बाँशीर शबदे मो आउलाइलों रान्धन ।।
के ना बाँशी बाए बड़ायि से ना कोन जना ।
दासी हैंया तार पाए निशिबों अपना ।।
के ना बाँशी बाए बड़ायि चित्तेर हरिषे ।
तार पाए बड़ायि मों कैलो कोन दोषे ।।
आझर झरये मोर नयनेर पानी ।
बाँशीर शबदे बड़ायि हाराइलो पराणी ।।
आकुल करिते किबा आमार मन ।
बाजाए सुस्वर बाँशी नन्देर नन्दन ।।
पाखि नहों तार ठाँइ उड़ी पड़ि जाओ ।
मेदिनी विदार देउ पसिआँ लुकाओ ।।

वन पोड़े आग बड़ायि जगजने जानी ।
मोर मन पोड़े जेन्ह कुम्भारेर पणी ।।
आन्तर सुखाये मोर कान्ह-अभिलासे ।
बासली शिरे वन्दी गाइलो चण्डीदासे ।।'' 1-2 ।।

**तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।**
**काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्।। 3।।**
**तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।**
**नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप।। 4।।**

---

**अन्वयः** - काश्चित् (भाववत्यः) व्रजस्त्रियः (श्रीराधा-देव्याद्याः) कृष्णस्य तत् (सर्वमनोहरं) स्मरोदयं (मन्मथोद्दीपकं) वेणुगीतम् आश्रुत्य (श्रुत्वा) स्वसखीभ्यः (स्वस्वप्रियनर्मसखीभ्यः) परोक्षम् (अवहित्थयार्थाच्छादनपूर्वकम्) अन्ववर्णयन् (निरन्तरं वर्णयामासुः) ।। 3 ।। नृप (हे राजन् !) तत् (वेणुगीतं) वर्णयितुम् आरब्धाः (आरब्धवत्योहपि व्रजरमण्यः) कृष्णचेष्टितं (श्रीकृष्णस्य वेणुगीतदिमयं चेष्टितं) स्मरन्त्यः (अनुसन्दधानाः) स्मरवेगेन (मिलनेच्छामयेन कन्दर्पवेगेन) विक्षिप्तमनसः (व्याकुलचित्ताः सत्यः) न आशकन् (नैव वर्णयितुमशकन् इति भावः) ।। 4।।

**अनुवाद**- श्रीराधा आदि भाववती व्रजदेवियाँ श्रीकृष्ण का वह सर्वचित्ताकर्षक और मदन-उद्दीपक वेणुनाद सुनकर अपने हृदय के भावों को छिपाकर अपनी-अपनी सखियों के आगे उसका वर्णन करने लगीं ।। 3।।

हे राजन् ! वे श्रीकृष्ण के वेणुनाद की माधुरी का वर्णन करने में प्रवृत्त तो हुईं, किन्तु वर्णन

नहीं कर सकीं, कारण - श्रीकृष्ण की मनोहर चेष्टा आदि का स्मरण कर उनसे मिलने की इच्छा से कन्दर्पवेग से अधीर हो उठीं ।। 4 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण के उस दिन के वेणुनाद को सुनकर व्रजबालाओं को जो भावावेश हुआ, श्रील शुकदेव मुनि उसका वर्णन कर रहे हैं, इन दो श्लोकों में। श्रीकृष्ण की गोष्ठलीला में वेणु नित्य बजता है। चरागाह में गायें चरती हैं, कुञ्जवन में वेणु बजता है। गोपियाँ घरों में बैठी सुनती है। प्रति दिन किसी तरह चित्त को संयत किये रहती हैं। किन्तु आज का यह वेणु (नाद) बड़ा ही विपरीत है। श्रीकृष्ण के हृदय की राधाविरहवेदना मुरली के छिद्र-छिद्र से व्यक्त हो उठी है। पागल कर देनेवाला है उसका स्वर। आकाशवायु काँप-काँप उठे हैं। श्रीकृष्ण का यह वेणु जो भी सुन रही है वही सोचती है कि वेणु उसी का नाम ले-लेकर पुकार रहा है। विशेषत: वेणु राधानाम का ही अभ्यस्त है। अहर्निश राध नाम लेकर ही बजता रहता है। तभी श्रीमती आक्षेप करती हैं -

**''मुरली रे मिनति करिये बार बार।**
**श्यामेर वदने रैया, राधा राधा नाम लइया,**
**तुमि मेने ना बाजिओ आर।।**
**खलेर वदने थाको, राधा राधा बलि डाको,**
**गुरुजना करे अपयश।**
**खल हय जेइ जना, से कि छाड़े खलपना,**
**तुमि केने हओ तार वश।।**
**तोमार मधुर स्वरे, रहिते ना पारि घरे,**
**निझरे झरये दुनयान।**
**पहिले बाजिल जबे, कुलशील गेलो तबे,**
**अवशेषे आछे मोर प्राण।।**
**जे बाजिले सेइ भालो, इथेइ सकलि गेलो,**
**तोरे आमि कहिलुँ निश्चय।**
**ए उद्धव दास भणे, जे बाँशीर गान शुने,**
**से जन तेजये कुलभय।।''**

व्रजबालायें अबला हैं, ऊपर से प्रेमविह्वला, सो और सहन नहीं कर पा रहीं। शुकदेवजी कहते

हैं – वेणुगायन सुनकर उन सबके हृदय में 'स्मर' (काम) उद्दीप्त हो उठा। उनके हृदय में काम नहीं है, वह तो प्रेम के परमसार महाभावरस से पूर्ण है। काम और प्रेम ये दोनों तो अत्यन्त प्रतियोगी हैं। काम आत्मेन्द्रियप्रीति–वासना के कारण लोहे की तरह मलिन है, प्रेम कृष्णेन्द्रियप्रीति–वासना के कारण सौ बार तपे स्वर्ण की तरह उज्ज्वल है। काम में आत्मेन्द्रियप्रीति की बासना है, अतः वह अमानिशा का अन्धकार है। उधर प्रेम में श्रीकृष्णेन्द्रियप्रीति की बासना है, सो वह स्वप्रकाश दिवालोक है। आत्मेन्द्रिय प्रीति की वासना हेतु काम पूति (पीप)– गंध से भरा नरक है, उधर कृष्णेन्द्रियप्रीति की वासना रहने से प्रेम दिव्य नन्दनवन है।

''अतएव काम-प्रेम बहुत अन्तर ।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर ।।''

(चै. च.)

यहाँ जिस 'स्मर' (काम) की बात कही गई है, वह व्रजबालाओं के प्रेम की पराकाष्ठा 'महाभाव' है। यही कारण है कि उद्धव आदि महामनीषीगण भी इस काम की आकांक्षा किया करते हैं।

''प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रिया ।।''

(भ. र. सि. 1/2/285)

अर्थात् व्रजरामाओं का प्रेम ही 'काम' नाम की आख्या प्राप्त किया करता है, इसीलिये श्रीउद्धव आदि भगवत् प्रियजन भी इसे प्राप्त करने की अभिलाषा किया करते हैं। अर्थात् इन लोगों के प्रीतिजनित आकुलता मय अंश के लिये सतत प्रार्थना करते हैं।

कामगन्धहीन अति सुनिर्मल प्रेम है व्रजबालाओं का। उनकी बाहरी तौर पर श्रीकृष्ण को आलिङ्गन– चुम्बन आदि जो चेष्टायें देखने में आती हैं, वे प्रेम–प्रेरित ही, अर्थात् श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिये ही हुआ करती हैं। उनका हेतु स्वसुख–वासना नहीं। इसलिये उनका प्रेम 'काम' संज्ञा से अभिहित होता है। प्रश्न सम्भव है – 'काम' शब्द तो कर्णकटु है, सुन कर मन में अपवित्र भाव जगता है। 'प्रेम' शब्द को सुनकर चित्त में पवित्र भाव जगता है। फिर व्रजगोपियों के ऐसे उन्नत प्रेम को शास्त्रकारों ने 'काम' शब्द से अभिहित क्यों किया ? इसके उत्तर में कहा गया है –

''आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम् ।
तत्तत्क्रीड़ा–निदानत्वात् काम इत्युच्यते बुधैः ।।
इयन्तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते ।।''

(भ. र. सि. 1/2/284)

व्रजदेवियों का प्रेमविशेष एक अनिर्वचनीय माधुरी प्राप्त कर उन-उन क्रीड़ाओं का निदान बनता है, इसीलिये पण्डितगण इनके प्रेमविशेष को 'काम' नाम देते हैं। यह कामरूपा भक्ति व्रजदेवियों में ही सुप्रसिद्धरूप से विराजमान है। बाहर क्रिया-साम्य है, पर भीतर आत्मेन्द्रिय को तुष्ट-सन्तुष्ट करने की वासना का अत्यन्त अभाव है - यह एक अति दुज्ञेय रहस्य है। केवल 'प्रेम' शब्द से इनके प्रेमविशेष का यह दुज्ञेय रहस्य अभिव्यक्त न होता, अन्य दूसरे प्रकार के प्रेम से इन लोगों के प्रेम की यह महान विशिष्टता भी न बताई जा सकती।

स्पष्ट हुआ कि श्रीकृष्ण के प्रति व्रजबालाओं के अन्तर का अनुराग ही यह 'स्मर' है। शुष्क काष्ठ के भीतर वन्हि का कण छिपा हो और किसी नलिका द्वारा फूँक मारी जाय, तो वह वन्हि प्रबल होकर लकड़ी को जलाकर बाहर फूट पड़ती है। ठीक इसी प्रकार व्रजबालाओं के हृदय में स्मर-अग्नि उनके कुल, शील, धैर्य, लज्जा आदि के अन्तराल में इतने दिन सुगुप्त रूप से निहित थी, पर आज श्रीकृष्ण के वेणुनाद रूपी फुत्कार से वह बाहर आ गई। वेणुनाद सुनते-सुनते वे उन्मादिनी और विवश हो उठीं। उनकी एक-एक शिरा में अनङ्गरस की तरङ्ग दौड़ने लगी। व्रजगोपी के हृदय में प्राकृत मदन नहीं हैं, उन सबके चित्त अप्राकृत नवीन मदन की लीलाभूमि हैं। "जहाँ राम तहाँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम। दोनों क्या एकहिं बसें रवि रजनी इक ठाम।।" मदनमोहन के वेणुरन्ध्रों से अविरल कुसुम-शर छूटने लगे। अरविन्द, अशोक, चूत, नवमल्लिका और रक्तोत्पल - मदन के ये पाँच कुसुमशर हैं। इनके कार्य हैं - सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तम्भन। अप्राकृत नवीन मदन के इन पाँच वाणों से बिंधकर गोपकिशोरियों के धैर्य का बाँध टूट गया। मोहना के मोहन वाणों से बिंधकर वे वाणविद्ध हिरनियों की तरह छटपटा उठीं। पर वे किसी से कुछ कह नहीं सकतीं। यह सब क्या किसी से कहा जाता है ? फिर बिना कहे भी स्थिर कैसे रहा जाय ? चिक्कण कालिया-रूप हृदय में पैठ गया है, शत चेष्टायें करने पर भी वह भुलाये नहीं भूलता। "पासरिबो करिमने पासरा ना जाय गो, कि करिबो कि होबे उपाय ?" नितान्त ही निरुपाय होकर वे साहस बटोरकर एक-दूसरे के आगे अपना मनोभाव व्यक्त करने के लिये निर्जन में आकर एकत्रित हुई हैं। एक जगह आ बैठी हैं, पर कोई किसी से कुछ कह नहीं पा रही। प्रबल लज्जा-संकोच कण्ठ रुद्ध कर रहा है। साथ ही साथ हृदय में जगती है प्रबल उत्कण्ठा, भावावेग ! इन्हीं भावों के भार से दबकर वे जब आत्महारा हो रही हैं, वेणु पुनः बज उठता है - "राधे राधे, जय राधे।"

राधारानी अधीर होकर अपनी मर्मसखी से मन की बात कहने लगती हैं। मूल श्लोक में हैं - "काश्चित् परोक्षं कृष्णास्य स्वसखीभ्योऽन्व वर्णयन्" - कोई-कोई व्रजरमणी श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर हृदय का भाव छिपाकर अपनी-अपनी सखियों के आगे उसका वर्णन करने लगीं। इस श्लोकांश

की लघुतोषणी टीका में लिखा है - ''काश्चित्तद्भावविशेषयुक्ताः श्रीराधादेव्याद्या इति .... स्वशब्देन सख्याः सख्योऽपि व्यवर्त्यन्त इति तासां परमशाली नत्वं दर्शितम् किं बहुना तत्रापि परोक्षम् अर्थान्तराच्छन्नं सावहित्थं यथा स्यात्तथा।'' 'काश्चित्' का अर्थ है श्रीकृष्ण की भावविशेषयुक्ता श्री राधा चन्द्रावली इत्यादि, 'स्व' शब्द द्वारा वे अपनी अन्तरङ्गा सखी के आगे ही मन की बात कहने लगीं, सखियों की सखियों भी वहाँ उपस्थित नहीं थीं - यह समझना होगा। इससे उन लोगों का परम शालीनत्व अर्थात् लज्जाशीलता, नम्रता, शिष्टता एवं विनीत भाव दिखाया गया। फिर परोक्षरूप से अर्थात् अर्थान्तर द्वारा अपना भाव गुप्त रखकर बोलने लगीं।

व्रज के शृङ्गाररस ने शृङ्गाररसराज मूर्ति व्रजेन्द्रनन्दन को राधारानी की भावमाधुरी अति विचित्र रूप से आस्वादन कराने के लिये कान्ताशिरोमणि राधारानी को केन्द्र बनाकर व्रजकान्ताओं के चार पक्ष बनाये हैं - स्वपक्ष, विपक्ष, तटस्थ और सुहृत्पक्ष। श्रीललिता-विशाखा आदि राधारानी की स्वपक्षा हैं, श्री चन्द्रावली-पद्मा- शैव्या आदि विपक्षा हैं, श्यामला आदि सुहृत्पक्षा हैं, भद्रा आदि तटस्थपक्षा हैं। जो इन चारों के समजातीय भाव से सम्पन्न है, वे अपनी-अपनी यूथेश्वरी का श्रीकृष्ण से मिलन कराके ही सुखी हैं। जिनके हृदय में स्वतंत्ररूप से अपने सुख की कोई कामना नहीं, वे ही उनकी 'सखी' हैं। ''प्रेम लीलाविहाराणां सम्यग्विस्तारिका सखी।'' प्रेम, लीला और विहार की सम्यक विस्तार करने वाली सखी। विस्तार का अर्थ है विख्यापन और विवर्धन। ये सखियाँ श्रीकृष्ण के साथ अपनी-अपनी यूथेश्वरी के प्रेम, लीला और विहार का सम्यक्रूप से ख्यापन और वर्धन किया करती हैं। इसलिये श्रीराधाकृष्ण की लीला विभु (व्यापक) होते हुए भी सखियों की सहायता के बिना लीला की रसपुष्टि नहीं होती।

**''विभुरपि सुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः**
**क्षणमपि न हि राधाकृष्णयोर्या ऋते स्वाः ।**
**प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः**
**श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः ।।''**

(श्रीगोविन्दललामृत - 10/17)

**''राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर ।**
**दास्यवात्सल्यादि भावेर ना हय गोचर ।।**
**सबे एक सखीगणेर इहा अधिकार ।**
**सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार ।।**
**सखी-बिनु एइ लीला पुष्टि नाहि हय ।**

सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय ।।
सखी बिना एइ लीलाय नाहि अन्येर गति ।
सखी भावे ताँरे जेइ करे अनुगति ।।
राधाकृष्ण-कुञ्जसेवा साध्य सेइ पाय ।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ।।''

(चै. च. मध्य - 8)

श्रीमती राधारानी की सखियाँ पाँच प्रकार की -

''तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः ।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन ।
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः ।।''

श्रीवृन्दावनेश्वरी की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं - सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठसखी। फिर ये सब भी तीन प्रकार की हैं - समस्नेहा, कृष्ण स्नेहाधिका, राधास्नेहाधिका। समस्नेहा - कुरङ्गाक्षी इत्यादि और परमप्रेष्ठ ललिता-विशाखा आदि अष्ट सखियाँ। ये राधा-कृष्ण के प्रति समान स्नेह रखती हैं, पर ललिता आदि परमप्रेष्ठ सखियाँ दोनों को समानरूप से स्नेह करते हुए भी यह अभिमान पालती हैं कि 'हम श्रीराधा की ही हैं'। राधास्नेहाधिका - प्राणसखी और नित्यसखी, कस्तूरी-मणिमञ्जरी आदि। इन्हें मञ्जरी भी कहा जाता है। इस विशेष कलि में श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु और उनके श्रीचरणाश्रित श्रीरूप-सनातन- रघुनाथ आदि श्रीगोस्वामिपादगण ने राधास्नेहाधिका मञ्जरियों के आनुगत्य में ही भजन करने की शिक्षा प्रदान की है। जीवशक्ति साधनभजन द्वारा आध्यात्मिकता के जितने उन्नततम राज्य में पहुँच सकती है, यह मञ्जरीभाव साधना ही उसका चरम आदर्श है।

जो भी हो, श्रीकृष्ण का मोहन मुरलीनाद सुनकर भावविवश हुई व्रजरमणियाँ अपनी-अपनी प्रियनर्मसखियों के आगे अवहित्था भाव (आन्तरिक भावगोपन) का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण की मुरलीमाधुरी के वर्णन में प्रवृत्त हुईं। यह अवहित्था अथवा आकार-गोपन उन लोगों का एक सञ्चारीभाव है। महाभाववती व्रजबालाओं के प्रेमसिन्धु में निर्वेद, विषाद, दैन्य, अवहित्था आदि नाना प्रकार की भाव-तरङ्गे उमड़ती हैं। ये सभी सञ्चारीभाव तरङ्गों की तरह प्रेमसिन्धु को उच्छ्वसित करती हैं और उसमें विलीन हो जाती हैं।

''उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ ।
उर्मिवद्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपताञ्च ते ।।''

(भ.र.सि. - 2/4/3)

वस्तुतः व्रजसुन्दरियाँ जैसे प्रेम में सिन्धुस्वरूपा हैं, वैसे ही लज्जा, धैर्य, गाम्भीर्य आदि महागुणों के रूप में मणियों की खान भी हैं। किन्तु श्याम के सर्वचित्ताकर्षक और परम उन्मादक वेणुमाधुर्य के आकर्षण ने उनके धैर्यगाम्भीर्य आदि को इतना तरल कर दिया है। वे कभी योगिनी हैं, कभी वियोगिनी, और कभी उन्मादिनी। तीव्र उत्कण्ठा के कारण आहार-निद्रा छूट गये। एकटक नवीन मेघ की ओर देखती रहती हैं, श्यामनाम का जप करती हैं, धूँए के बहाने रोती हैं। 'नवीन पाउसेर मीन मरण ना जाने' (प्रथम वर्षा में मत्त मछली को अपनी मृत्यु का बोध नहीं रहता) श्याम के पिरीति सुख की आशा में कूद पड़ी थीं, अच्छा-बुरा आगा-पीछा नहीं सोचा; अब दहन-ज्वाला में प्राण निकल रहे हैं। प्रथम अवस्था में स्वयं अपने मन को कितना समझाया- 'अबोध मन ! इतने अधीर क्यों हो रहे हो, धैर्य रखो। हम लोग पतिव्रता कुलवधुऐं हैं, परगृह में रहती हैं। किस वन में कहाँ कौन वंशी बजा रहा है, उसे सुनने के लिये, उसे देखने के लिये इतने व्याकुल क्यों हो ? फिर देखकर भी क्या लाभ ? समझ लो वह आकाश का चाँद है, वामन होकर उसे पकड़ने की साध क्यों ?' मन किसी तरह भी समझा नहीं। वह दिन पर दिन इतना अशान्त और अस्थिर होने लगा कि अब लौटने का उपाय नहीं। अब मन के स्रोत में देह को डाल कर दृढ़ निश्चय कर लिया है - ''स्रोतविथार जले ए तनु भासाइयाछि, कि करिबे कुलेर कूकुरे'' (स्रोत में इस देह को छोड़ दिया है, कुल का ज्ञान नहीं रहा।)

जो भी हो, जैसे ही व्रजदेवियों ने प्रियसखियों के आगे किञ्चित् परोक्षरूप से हृदय की बात बतानी चाही, वैसे ही श्रीकृष्ण की वेणुगान आदि से जुड़ी सर्वचित्ताकर्षक लीला और उनकी मुरली मनोहर मधुर मूर्ति उनके हृदयपटों पर उभर आई। एक तो श्रीमती राधारानी कृष्णमयी, ''कृष्णमयी - कृष्णजाँर अन्तरे बहिरे। जाँहा जाँहा नेत्र पड़े ताँहा कृष्ण स्फुरे।।'' (चै.च.) भीतर-बाहर सतत कृष्ण-स्फुरण उनके लिये स्वाभाविक है। फिर जब प्रियसखी के आगे श्रीकृष्ण की मधुर वेणुगान आदि लीलाओं का वर्णन करना चाहा, 'नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसे नृप।' उन सबका चित्त उत्ताल मदनतरङ्गों अथवा महाभाव-तरङ्गों में विक्षिप्त हो गया। वे सब महाभावसिन्धु में निमग्न हो गईं। प्रबल सात्विक विकारों से तन-मन भर उठे। कण्ठरोध हो गया। निविड़ अश्रु-पुलक आदि से भूषित कलेवरा ये महाभाववतियाँ कृष्णप्रेम की जीवन्त मूर्तियों के रूप में प्रकट हो उठीं। इन सबके भावावेश की स्मृति में श्रीपाद शुकदेव मुनि भी भावाविष्ट हो उठे। भावाविष्ट अवस्था में उन्हीं ने महाराज परीक्षित के आगे उस मधुर मुरलीमनोहर मूर्ति का वर्णन किया, जो महाभाववतियों के हृदय में उदित हुई ।। 3-4 ।।

**बर्हापीड़ं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं**
**विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।**
**रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन गोपवृन्दै-**
**र्वृन्दारण्यं रचपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः।। 5।।**

---

**अन्वयः** - बर्हापींड़ (बर्हं मयूरपुच्छमयम् आपीड़ं शिरोभूषणं) नटवरवपुः (नटेभ्योऽपि वरं श्रेष्ठं वपुः) कर्णयोः कर्णिकारं (श्रवणयोः पीतवर्णमुत्पला कारं पुष्पं) कनककपिशं (स्वर्णवत् पिशङ्गवर्णं) वासः वैजयन्तीमालां च विभ्रद् (धारयन्) अधरसुधया वेणोः रन्ध्रान पूरयन् गोपवृन्दैः (श्रीदामसुबलादिगोपबालकैः) गीतकीर्तिः (गीता विचित्रा सौन्दर्यवैदग्ध्यादिरूपा कीर्तिः यस्य सः) स्वपदरमणं (स्वपदैः अंकितं रतिजनकं) वृन्दावनं प्राविशद् (श्रीकृष्ण इति शेषः) ।।5।।

**अनुवाद**- मस्तक पर मयूरपुच्छ का मनोहर चूड़ा, कानों में कनेर के पुष्प, स्वर्णवर्ण पीताम्बर, गले में वैजयन्ती माला- इस रूप में नटवरमूर्ति श्रीकृष्ण ने अपनी अधरसुधा से वेणु-छिद्रों को भरते-भरते, साथी गोपबालकों द्वारा नाना प्रकार से प्रशांसित होकर अपने पादमद्मचिन्हों से भूषित रमणीय वृन्दावन में प्रवेश किया ।। 5।।

**गीतामृतलेश टीका —**

महाभाववती व्रजसुन्दरियाँ अपनी-अपनी परमप्रेष्ठ सखियों के आगे सर्वचित्ताकर्षक श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी के वर्णन में प्रवृत्त हुईं, किन्तु अपने महाभाव-भावित हृदयों में श्रीकृष्ण की वेणुगीत आदि से युक्त लीला और लीलामय श्रीकृष्ण की स्फूर्ति हो उठने से उन्हें महाभाव के आवेग में आनन्द-जड़ता आ गईं और वे वह वर्णन न कर सकीं। सर्वज्ञ श्रील शुकदेव मुनि ने व्रजदेवियों के हृदय में स्फुरित मोहन मुरलीधारी श्रीकृष्ण की उसी माधुरी को अपने ध्यान में देखा और महाराज परीक्षित के आगे इस श्लोक में उसका वर्णन किया। श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण माधुरी-वर्णन करनेवाले श्लोकों में यह अन्यतम है। इस श्लोक की वैष्णवतोषणी टीका में श्रीमद् भागवत का एक श्लोक उद्धृत किया गया है-

**''यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।**
**विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गमिति ।।''**

श्रीचैतन्यचरितामृत में सनातन-शिक्षा में श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीकृष्ण माधुरी की स्फूर्ति में यह श्लोक पढ़कर अपूर्व व्याख्या की है -

**''कृष्णेर जतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला,**

नरवपु ताहार स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर, नवकिशोर नटवर,
नरलीलार हय अनुरूप।।
कृष्णेर मधुर रूप शुनो सनातन।
जे रूपेर एक कण, डुबाय सब त्रिभुवन,
सर्वप्राणी करे आकर्षण।।
योगमाया चिच्छक्ति, विशुद्धसत्व-परिणति,
तार शक्तिलोके देखाइते।
एइ रूप-रतन, भक्तगणेर गूढ़ धन,
प्रकट कैलो नित्यलीला हैते।।
रूप देखि आपनार, कृष्णेर हय चमत्कार,
आस्वादिते मने उठे काम।
'स्वसौभाग्य' जार नाम, सौन्दर्यादि गुणग्राम,
एइ रूप तार नित्य धाम।।
भूषणेर भूषण अङ्ग, ताहे ललित त्रिभङ्ग,
तार उपर भ्रूधनु-नर्तन।
तेरछ-नेत्रान्त-वाण, तार दृढ़ सन्धान,
बिन्धे राधा-गोपीगण-मन।।''

× × × × × ×

माधुर्य-भगवत्ता-सार, व्रजे कैलो परचार,
ताहा शुक व्यासेर नन्दन।
स्थाने-स्थाने भागवते, वार्णियाछे जानाइते,
जाहा शुनि माते भक्तगण।।''

इस श्लोक की महामाधुरी से श्रील शुकदेव मुनि विशेषरूप से परिचित हैं। ''हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् वादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः।।'' (भा. - 1/7/11) अर्थात् विष्णुभक्तप्रिय भगवान् व्यासनन्दन ने श्रीहरि के गुणों से आकृष्ट होकर ही इस श्रीमद्भागवतरूपी महत् आख्यान का अध्ययन किया है। इस श्लोक की क्रमसन्दर्भ टीका में श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने

लिखा है – ''अयम्भावः ब्रह्मवैवर्तानुसारेण पूर्वं तावदयं गर्भमारभ्य श्रीकृष्णस्य स्वैरितया मायानिवारकत्वं ज्ञातवान्। ततः स्वनियोजनया श्रीव्यासदेवेनानीतस्य तस्य दर्शनात्तन्निवारणे सति कृतार्थन्मन्यतया स्वयमेकान्तमेव गतवान्। तत्र व्यास देवस्तु तं बशीकर्तुं तदनन्यसाधनं श्रीभगवतमेव ज्ञात्वा तद्गुणातिशय-प्रकाशमयांस्तदीयपद्यविशेषान् कथञ्चिच्छावयित्वा तेनाक्षिप्तमतिं कृत्वा तदेव पूर्णमध्यापयामासेति श्रीभागवतमहिमातिशयः प्रोक्तः।''

तात्पर्य यह है कि व्यासनन्दन ब्रह्मानन्दी श्रीपाद शुकदेव मुनि माया से आबद्ध होने की आशंका से मातृगर्भ में बारह वर्ष रहे। व्यासदेव की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने उन्हें माया-मुक्ति का वर दिया तो उन्होंने मायामुक्त अवस्था में मातृगर्भ से आविर्भूत होते ही प्रव्रज्या (सन्यास) ग्रहण कर ली। तपोवन में विचरण करते ज्योतिर्मय मूर्ति दिग्वसन श्रीशुकदेव के दर्शन कर एक लकड़हारे ने उन्हें भूत समझकर व्यासदेव से भूत भगाने का उपाय पूछा। व्यासदेव ने उन्हीं को अपनी सन्तान समझ लिया और ब्रह्मानन्दी शुकदेव को आकृष्ट करने का एकमात्र उपाय श्रीमद्भागवत ही माना। उन्होंने श्रीकृष्णमाधुर्य के वर्णन से युक्त यह श्लोक ही भूत भगाने के मंत्र के रूप में उस लकड़हारे को दे दिया। लकड़हारे ने शुकजी के दर्शन कर यह श्लोक पढ़ा, तो वे श्रीकृष्णमाधुर्य से आकृष्ट होकर उसकी ओर दौड़े। वह बेचारा डरकर व्यासदेव की शरण में आया, श्रीव्यासदेव ने शुकदेव को अपने निकट रखकर उन्हें समग्र श्रीभागवत् अध्ययन कराई। श्रीकृष्णमाधुरी वर्णनात्मक भागवत के इन श्लोकों की ऐसी महा महिमा है।

**''सर्वाकर्षक सर्वोह्लादक महारसायन।**
**आपनार बले करे सर्व विस्मारण।।**
**भुक्ति-सिद्ध-मुक्ति सुख छाड़ाय जार गन्धे।**
**अलौकिक शक्तिगुणे कृष्णकृपा बान्धे।।**
**शास्त्रयुक्ति नाहि इहाँ सिद्धान्त विचार।**
**एइ स्वभाव गुणे जाते माधुर्येर सार।।**

× × × × × ×

**अलौकिक रूप-रस-सौरभादि गुण।**
**कारो मन कोन गुणे करे आकर्षण।।**
**सनकादिर मन हरिलो सौरभादि गुणे।**
**शुकदेवेर मन हरिलो लीलार श्रवणे।।''**

(चै. च. मध्यं - 24)

जो भी हो, श्रील शुकदेव मुनि व्रजबालाओं के चित्त में स्फुरित श्रीकृष्ण की वनगमन-कालीन

रूपमाधुरी का वर्णन करते हुए आरम्भ में ही कहते हैं- 'बर्हापीड़ं'। शृङ्गाररस में रूप-वर्णन का आरम्भ होता हैं मस्तक से। श्रीकृष्ण का असाधारण लक्षण है - वे शिखिपिञ्छमौलि हैं। वृन्दावन के मोर मदनमद में मत्त होकर नृत्य करते हैं, तो स्फीत पंख गिर पड़ते हैं। श्रीकृष्ण उन्हीं मोरपंखों को मस्तक पर धारण करते हैं। यही कारण है कि उनका वह चूड़ा व्रजबालाओं को मदनमद-मत्तता की सूचना देता है। ऊपर से वह मल्लिका-मालती की माला से वेष्टित है। तभी व्रजबालाओं के लिये वह इतना मनोहर है। वे सब उस चूड़े का वर्णन करती हैं-

''चूड़ाटि बाँधिया उच्च, के दिलो मयूर पुच्छ,
भाले से रमणी-मनलोभा।
आकाश चाहिते कि बा, इन्देर धनुकखानि,
नव मेघे करियाछे शोभा।।
मल्लिका-मालती-माले, गाँथनि गाँथिया भाले,
किबा दिलो चूड़ाटि बेड़िया।
मने हेनो अनुमानि, बहितेछे सुरधनी,
नीलगिरि-शिखर घेरिया।।''

''चन्द्रक-चारु-मयूर-शिखण्डक-मण्डल-वलयित-केशम् ।
प्रचुर-पुरन्दर-धनुरनुरञ्जित-मेदुर-मुदिर-सुवेशम् ।।''
(गीतगोविन्दम्)

''चूड़क चूड़, मयूर शिखण्डक,
मण्डित मालती-माल।
सौरभे उनमत, भ्रमरा-भ्रमरि कत,
चौदिगे करत झंकार।।
सजनि ! को कहे काम अनङ्ग।
केलि-कदम्ब-तले, सो रतिनायक,
पेखल नटवर-भङ्ग।।
कतहुँ विषम शर, नयन-तूण भर,
सञ्चरु भाङ् कामाने।
नागरि-नारी-, मरम माहा हानइ,

लखइ ना पारइ आने।
श्रुतिमूले चञ्चल, मणिमय कुण्डल,
दोलत मकर-आकार।
गोविन्द दास, अतये अनुमानल,
मदन-मोहन-अवतार।।''

उसी रमणीमोहन मूर्ति का मोहन चूड़ा थोड़ा बायीं ओर झुका हुआ है। मन्द पवन में भाव से भरकर थोड़ा दोलायित है। भावमय मोहन मूर्ति भाविनियों के हृदय में कितने-कितने भावों का उद्रेक ला उपस्थित करती है। चूड़ा देखकर उन लोगों को लगता है मानो मदनमोहन के मन को मोहनेवाली श्रीवृषभानुनन्दिनी को रस का इंगित कर रहा है मोहन के वाम पार्श्व में आ खड़े होने का।

फिर वे हैं 'नटवरवपुः' - नटवर रूप । ब्रह्मसंहिता कहती है - 'गमनं नाट्यम्'। ब्रज तो यों ही मधुर धाम है, यहाँ सभी का स्वाभाविक गमन ही नृत्यमधुर है। फिर उन लोगों का नृत्य कितना मधुर होगा, कौन बताये ? जिनके माधुरीगुण से यहाँ हर किसी का गमन ही नट की तरह सुन्दर है, वही व्रजेन्द्रनन्दन इन अप्राकृत नटों में वर या नटराज हैं। इस नटराज के साथ प्राकृत विश्व के किसी भी नट की कोई तुलना नहीं, कारण- प्राकृत विश्व का सभी कुछ माया का विकार है, नश्वर है, क्षण-क्षण परिणाम प्राप्त करता है। अथवा, 'नटवर वपुः' उनका 'वपु' अर्थात् प्रति अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही नटवर नृत्यमधुर है। वे जब गोपबालकों और गायों के साथ गोचारण के लिये नाचते वन-गमन करते हैं, तो उनके मस्तक पर मयूर पुच्छ का चूड़ा नृत्य करता है। कानों में नृत्य करते हैं मकरकुण्डल। नाक के आगे नाचता है गजमोती। खञ्जन को लजानेवाले नेत्र भी विविध भाव-विलास से भरकर नाचने लगते हैं। मधुर भङ्गिमा के साथ नृत्य करती हैं भौंहें और नाचती झूलती है कण्ठ की वनमाला। वंशी के छिद्र-छिद्र पर नृत्य करती हैं अँगुलियाँ। और हाथ के मणि- कंकण, कटि की किंकिणी, श्रीचरणों के मणिनूपुर - सब मधुर मधुर रव करते नाच उठते हैं। उनका वपुः अर्थात् समग्र श्रीविग्रह ही मानो नटवर है - नृत्यगोपालमूर्ति !! उनका नृत्य देखकर गोपबालक नृत्य करते हैं, गायें नृत्य करती हैं, विविध तरङ्गों से युक्त हो नृत्य करती है यमुना, और मलयपवन के साथ-साथ वृक्षलताओं की शाखावल्लियाँ नाच उठती हैं। जो भी इस नृत्य की बात श्रवण करता है कीर्तन-स्मरण करता है, उसका हृदय भी प्रेमानन्द में नृत्य कर बैठता है। ऐसे हैं विश्व नचाने वाले अनुपम नटवर शेखर व्रजेन्द्रनन्दन ! उन्हीं नटवर-शेखर का इस समय नटवेश है।

श्रील गोस्वामिपाद ने लिखा है -

''तस्यापि विस्मापकता-निर्णयेन स्वभावत एव तावत्तन्नटवरवपुः
सर्वतदीयरूप वृन्दवरिष्ठं तत्रापि तदानीं नटवेशमित्यर्थः ।''

(लघुतोषणी) श्रीकृष्णरूप स्वभावतः उनका स्वयं का भी विस्मापक (विस्मित करने वाला) है, फिर इस समय है नटवर विग्रह, इसलिये यह उनके समस्त रूपों में श्रेष्ठ है। फिर इस समय है नटवेश, अतएव इस रूपमाधुरी की कहीं भी तुलना नहीं।

फिर 'कर्णयोः कर्णिकारं' कानों में पीतवर्ण उत्पल-आकृति का कर्णिका पुष्प धारण किये हैं। वे इस एक पुष्प को कभी दायें कान में धारण करते हैं, कभी बायें में। एक ही पुष्प को इस प्रकार रखने से उनकी यौवनमद-मत्तता ही प्रकट होती है। वनगमन के समय व्रजदवियाँ उनके बायें-दायें जिस ओर रहती हैं, उसी के अनुरूप वे उस कर्णिका-कुसुम को कान में लगा लेते हैं। व्रजसुन्दरियों की वदनकान्ति से उनका मन-कुसुम भी विकसित हो रहा है, इससे यही अभिप्राय स्पष्ट होता है।

'विभ्रद्वासः कनककपिशं' - उन्होंने अपने श्याम अङ्ग पर द्रवित स्वर्णकान्ति को लजाने वाले दो पीतवस्त्र धारण किये हैं। मानो नवीन मेघ की गोद में ये पीतवस्त्र स्थिर सौदामिनी की तरह शोभित हैं। इसे देखकर व्रजदेवियों के लिये सारा विश्व ही अनङ्गमय हो जाता है।

''इन्दीवरोदरसहोदरमेदुरश्री-
र्वासो द्रवत् कनक वृन्दनिभं दधानः ।
आमुक्तमौक्तिकमनोहरहारवक्षाः
कोऽयं युवा जगदनङ्गमयं करोति ।।''

(उ. नी. - 15/7)

'दो-तीन प्रियनर्म सखाओं के साथ पथ-भ्रमण करते श्रीकृष्ण को अट्टालिका के झरोखे से देखकर श्रीमती राधारानी विशाखा से बोलीं- सखि ! जिनकी अङ्गकान्ति इन्दीवर- सदृश स्निग्ध है, जिन्होंने गलित स्वर्णराशि की तरह पीत वस्त्र धारण किये हैं जिनके वक्षस्थल पर मनोहार मुक्तामाला सुशोभित है - कौन है यह युवक, जिसने सारे विश्व को अनङ्गमय कर डाला है ।' मानो विद्युतवर्णा गोपबालाओं को ही वस्त्र की तरह सर्वाङ्ग में जड़ लिया है। दूती ने श्रीमती राधारानी से कहा था -

''तोमार अङ्गेर, वरण लागिया,
पीतवास परे श्याम।
प्राणेर अधिक, करेर मुरली,

लइते तोमार नाम।।''*

घनश्याम अङ्ग पर पीतवस्त्र की छटा देखकर व्रजबालाओं के लिये कुल-शील-मान की रक्षा करना कठिन है।

''कटि-पीतवसन रसना ताहे जड़ा।
विधि निरमिलो घाटे कलंकेर कोंड़ा।।''

इसके पश्चात् कहते हैं - ''वैजयन्तीञ्च मालां'' पाँच रंगों के पुष्पों से बनी आजानुलम्बित माला गले में झूल रही है। विनोदगले में विनोद माला का दोलन देखकर व्रजसुन्दरियों का हृदय भी झूलने लगता है। उन्हें लगता है -

''विनोद गले, विनोद माला,
विनोद विनोद दुले।
कोन् विनोदिनी, गाँथिलो माला,
विनोद विनोद फुले।।''

श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु का आस्वादन था - श्रीकृष्णरूपी नवीन मेघ पर पीत वस्त्र मानो स्थिर विद्युत है, और मयूर पुच्छ तथा वैजयन्तीमाला हैं इन्द्रधनुष।

''नवघन-स्निग्धवर्ण, दलिताञ्जन चिक्कण,
इन्दीवर-निन्दि सुकोमल।
जिनि उपमानगण, हरे सभार नेत्र-मन,
कृष्णकान्ति परम प्रबल।।
कहो सखि ! कि करि उपाय ! ?
कृष्णाद्भुत बलाहक्, मोर नेत्र चातक,
ना देखि पियासे मरि जाय।।
सौदामिनी पीताम्बर, स्थिर रहे निरन्तर,
मुक्ताहार वकपाँति भाल।
इन्द्रधनु शिखिपाखा, उपरे दियाछे देखा,

---

* श्रीकृष्ण स्वयं भी कहते हैं - ''तुया अनुरागे हाम पीताम्बरधारी'', ''पीतपिन्धन मोर तुया अभिलाषे'' इत्यादि।

आर धनु वैजयन्ती-माल।।''

(चै. च. अन्त्य. - 15)

फिर कहते हैं - 'रन्ध्रान् वेणोरधर सुधया पुरयन्' नटवर विग्रह श्रीकृष्ण सखाओं के साथ गायों को लेकर वेणुवादन करते-करते जब गोचारण के लिये वन-गमन करते हैं, तब उनकी वेणुवादन-भङ्गिमा देखकर लगता है जैसे वे अधरसुधा से वेणु-रन्ध्रों को पूर्ण कर देना चाहते हैं, कारण - उनके नित्य सङ्गी वेणु का उनके करकमलों का निविड़ आलिङ्गन पाकर और अधरामृत-पान करके भी कठोर एवं छिद्रयुक्त बने रहना उचित नहीं। श्रीकृष्ण भले ही उन छिद्रों को भरना चाहें, पर वेणु अन्तःसार शून्य होने के कारण अधरसुधा उसमें स्थान नहीं पाती। वह सुधा रन्ध्रों से निकल कर आकाश-वातास में सर्वत्र छिटक जाती है। दशदिक सुधामय हो जाते हैं। स्थावरजङ्गम तृप्त और विमोहित हो जाता है। सूखे वृक्ष मञ्जरित हो जाते हैं, कठिन पाषण द्रवित हो जाते हैं। किन्तु हाय ! वंशी स्वयं द्रवीभूत नहीं हो सकती, निश्छिद्र भी नहीं होती। लगता है वह अन्तःसारशून्य होने के कारण ही श्रीकृष्ण की ऐसी कृपा पाकर भी उसकी छिद्रता और कठोरता दूर नहीं होती। इससे श्रीकृष्ण मानो विश्व को शिक्षा देते हैं कि अन्तःसार शून्य खल व्यक्ति उनकी कृपा और सङ्ग पाकर भी आधार के वैगुण्य (अभाव, दोष) के कारण उस कृपा से वञ्चित रहता है। अतएव निश्छिद्र होकर, कपटता त्यागकर सरल अन्तःकरण से श्रीकृष्ण के चरणों की शरणागति ही उनकी कृपा पाने का एकमात्र उपाय है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी सारार्थदर्शिनी टीका में इस प्रसङ्ग में लिखा है - ''रन्ध्रानिति तेन स्ववेणुं स्वाधरसुधयैव निश्छिद्रीकरोमीति कृष्णस्येच्छा। अधरसुधा तु वेणुं निष्प्राणमपि संस्पर्शेन चेतयित्वा सप्राणीकृत्य तेन त्रिजगदप्युन्माद्य पश्चात्तं कठोरमचेतन स्वभावमनाधिकारिणं ज्ञात्वा तदीयाच्छिद्रेभ्यो निःसृत्य व्रजबालानां कर्णद्वारेण तन्मनः प्रविश्य स्वं सफलीकृत्य तत्रैव स्वसर्वविक्रमान् दर्शयामासेति द्योतितम्।'' अर्थात् अपने वेणु को अपनी अधरसुधा से निश्छिद्र करने की श्रीकृष्ण की इच्छा है। अधरसुधा ने अपने संस्पर्श से निष्प्राण वेणु को प्राणवान् कर विश्व को भी उन्मादित कर अन्त में वेणु को कठोर, अचेतन और अनधिकारी जानकर उसके छिद्रों से निकलकर व्रजबालाओं के कर्ण द्वारों से उनके मनों में प्रवेश कर स्वयं सभी प्रकार से सफल होकर उन लोगों के हृदयों में ही अपना समस्त विक्रम प्रकट कर दिया - यह व्यञ्जित हुआ।

तात्पर्य यह है, हमने कहा है - प्रेम के अनुरूप ही श्रीकृष्ण की माधुरी का आस्वादन होता है। वेणुनाद उनकी असाधारण चतुर्धा माधुरी में अन्यतम है। विश्वद्रावक, उन्मादक, महाविक्रमशाली । प्रेम की पराकाष्ठा महाभाव एकमात्र व्रजबालाओं में ही है, तभी उनके मन में प्रवेश करके ही वेणुनाद की यथार्थ सफलता है और वहीं उसका अखिल विक्रम प्रकट होता है, यह समझना होगा।

'गोपवृन्दैः गीतकीर्तिः' । श्रीदाम सुबल आदि सखा श्रीकृष्ण को घेरे उनका यशोगान करते-करते चल रहे हैं। 'गोपवृन्दैः गीतकीर्तिः विचित्रसौन्दर्यवैदग्ध्यादि प्रशंसारूपा यस्य' (वै0 तोषणी)। सखा श्रीकृष्ण के विविध सौन्दर्य-माधुर्य, वैदग्धी, उनका नटवेश, नृत्यकलामय गमन-भङ्गिमा, वचन-भङ्गिमा, वेणुनादमाधुरी की उच्च प्रशंसा करते-करते चल रहे हैं। यहाँ 'गोपवृन्दैः' से श्रीबल्देव भी जानने होंगे, कारण - व्रजदेवियों की बात से ही श्रीकृष्ण और बलदेव के वनगमन की बात ज्ञात होती है।

ये सब सखा त्रिविध हैं - नित्यप्रिय, सुरचर, साधक (साधनसिद्ध)। सुरचरगण भी साधनसिद्ध हैं, पर विशेष प्रदर्शन के लिये अलग उल्लेख किया गया है। सखा श्रीकृष्ण की कीर्ति का ही गायन करते हैं, सो नहीं; वे सख्यरसमय विविध मधुर चेष्टाओं द्वारा श्रीकृष्ण को आनन्द भी पहुँचाते हैं। कोई मंत्री की तरह उन्हें मंत्रणा देते हैं, कोई चपल सखा स्वयं हँसते हैं और उन्हें हँसाते हैं, कोई सरल व्यवहार से उन्हें सुखी करते हैं, कोई वक्र व्यवहार कर विस्मित करते हैं, कोई अपने प्रगल्भ स्वभाव को लेकर उनके साथ वादवितण्डा करते हैं, कोई सौम्य सखा अपने मीठे वचनों से उन्हें तुष्ट-प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार प्रकृति-मधुर सभी सखा सख्य रस से श्रीकृष्ण को विविध भावमाधुरी का आस्वादन करा सुख पहुँचाते हैं। (भ.र.सि. - 3/3/53-55)

अन्त में कहते हैं - 'स्वपदरमणं वृन्दारण्यं प्राविशत्' - इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने पादपद्मचिन्हों से भूषित परम रमणीय वृन्दावन में प्रवेश किया। लघुतोषणी टीका में लिखा है - 'वृन्दाया अरण्यमिति तदधिष्ठाञ्या तया श्रीभागवतः क्रीड़ाविशेषोत्सुक - तामभिप्रेत्य विशेषतः संस्कृतमित्यर्थः। अतः स्वैरसाधारणैः पदैः सर्वत्रांकितैः रमणं तस्याः सर्वेषाञ्च सुखकरम्। यद्वा स्वपादयोः रमणं स्वतः प्रियत्वेन रम्यकोमलधूलीपुष्पापराग - पत्रादिमयत्वेन च रतिजनकम।' तात्पर्य यह है कि श्रीवृन्दा इस स्थान की अधिष्ठात्रीदेवी हैं, इसलिये इस वन का नाम वृन्दावन है। यहाँ श्रीकृष्ण की क्रीड़ाविशेष में उत्सुकता देखकर वृन्दादेवी और वनदेवियाँ वृन्दावन को विशेषरूप से सुसंस्कृत रखती हैं। ऐसा संस्कृत-सुसज्जित करती हैं कि वृन्दावन पार्षदों के साथ श्रीकृष्ण के क्रीड़ाविहार के उपयोगी हो। अन्यान्य धामों में तो श्रीकृष्ण रत्नमय पादुकायें धारण करके ही विहार करते हैं, किन्तु वृन्दावन में वे खुले चरणों से ही विचरण किया करते हैं। श्रीचरणों की अत्यन्त मृदुलता देखकर गोचारण को जाते समय माता-पिता ने सोचा कि कंकड़-कंटक भरे वृन्दावन में उनके कोमल चरणों को आघात पहुँचेगा, सो उन्हें पादुकायें पहनकर जाने की आज्ञा की। इस पर वे बोले - हे मातः ! हे पितः ! हम लोग गोपाल हैं, गायों के सेवक हैं, गायें हमारी सेव्य हैं। पादुका पहनकर सेव्य की सेवा करना किसी सेवक को शोभा नहीं देता, ऐसा करना धर्मसङ्गत भी नहीं। विशेषतः हमारी सेव्य गायों की तो पादुकायें ही नहीं, फिर हम सेवकों के पैरों में पादुकायें कैसे रहेंगी ? माता-पिता अपने गोपाल की गो-भक्ति देखकर विस्मित और आनन्दसागर में

मग्न हो गये। यथार्थ बात यह कि वृन्दा देवी की सेवा के फलस्वरूप वृन्दावन में श्रीकृष्ण के विहार के समय किसी प्रकार के कंकड़-कंटक आदि नहीं रहते। श्रीकृष्ण खुले चरणों से वृन्दावन में विचरण करते हैं, तब सर्वत्र ही ध्वज-वज्र-अंकुश आदि उनके असाधारण उन्नीस श्रीचरणचिन्ह अंकित हो जाते हैं। वृन्दावन की वनभूमि उन्हें अपने वक्ष पर धारण कर स्वयं को परम सौभाग्यवती समझती है और वैकुण्ठ आदि ऊर्ध्व लोकों के आगे अपने इस असाधारण सौभाग्य की घोषणा करती है। व्रजभूमि असंख्य गायों और सखाओं के पदचिन्हों से तथा तृण-धूलि आदि से श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों को आवृत नहीं होने देती। इसलिये श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों का दर्शन वृन्दादेवी, वनदेवी, स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियों के लिये परम सुखद होता है - तभी वृन्दावन 'स्वपद-रमणम्'। अथवा वृन्दादेवी रम्य कोमल धूलि, पुष्पपराग आदि से वृन्दावन को आच्छादित रखती हैं, इसलिये श्रीकृष्ण-चरणों के लिये वृन्दावन-विचरण अतिशय रतिजनक या आनन्दप्रद होता है- तभी वृन्दावन 'स्वपदरमणम्' ।।5 ।।

**इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।**
**श्रुत्वाव्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे।।6।।**

---

**अन्वयः** - हे राजन् ! इति (एवम्विधप्रकारेण) सर्वभूतमनोहरं वेणुरवं श्रुत्वा सर्वाः व्रजस्त्रियः वर्णयन्त्य (मुरलीरवादिकं वर्णयितुं प्रवृत्ताः सत्यः) अभिरेभिरे (भावविशेषोदयेन अन्योन्यं परिरब्धवत्यः) ।।6।।

**अनुवाद**- हे राजन् ! श्रीकृष्ण की सर्वभूतमनोहर वेणुनाद श्रवण कर व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्ण के रूप और वेणु की माधुरी का वर्णन करने को प्रस्तुत होकर एक-दूसरे का आलिङ्गन करने लगीं ।।6।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रील शुकदेव मुनि महाराज परीक्षित से बोले - हे राजन् ! श्रीकृष्ण का उस दिन का मोहन वेणुनाद था सर्वभूत मनोहर। केवल व्रज के गोप-गोपी नर-नारी मात्र नहीं; स्थावर जङ्गम प्राणी अप्राणी सभी का चित्त-उन्मादक, यहाँ तक कि धर्म-विपर्ययकारी था उस दिन का वेणुरव ! श्रील कवि कर्णपूर ने इस सम्बन्ध में लिखा है -

**''अम्भः स्तम्भयति द्रुतं द्रवयति द्रागद्रिमद्रिं द्रवन**
**शुष्कानप्यवनीरुहः किशलयत्यामूलमुन्मूलितान् ।**
**ब्रह्मानन्दलयं गतानपि मुनीनुच्चैः समुच्चाटय-**
**त्याश्चर्यस्य निधानमेष जयति श्रीकृष्ण वेणुध्वनिः ।।''**

(आनन्दवृन्दावन चम्पू - 11/136)

''वेणुनाद जल की गति को स्तम्भित कर रहा है, पर्वत को गलाकर जल का धर्म प्राप्त करा रहा है, जड़ से उखड़े शुष्क वृक्ष नयी-नयी कोपलों से शोभित हो रहे हैं। ब्रह्मानन्द में लीन मुनियों के मन को भी उचाट कर रहा है- अति आश्चर्य की निधान श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि सर्वोत्कर्ष के साथ विराज रही है।

श्रीकृष्ण के सर्वभूत-मनोहर वेणुनाद के अद्‌भुत प्रभाव की बात महाजन-पदावलि से पता चलती है-

**''शुनिया वेणुर रव, वनमाझे धेनु सब,**
**माथा तुलि व्याकुल नयने।**
**इति उति फिरे चाय, तृण-पत्र नाहि खाय,**
**छुटे जाय श्याम-दरशने।।**
**यमुना उजान बय, ध्याने चित नाहि रय,**
**योगी-मुनि सब छाड़े ध्यान।**
**शाखी-शाखे बसि पाखि, मुदिया रहये आँखि,**
**नवीन नीरद अगेयान।।**
**सती छाड़े निज पति, लज्जा छाड़े कुलवती,**
**खुले जाय नीविर बन्धन।**
**पापपुण्य धर्माधर्म, भालो मन्द कर्माकर्म,**

क्षुन्न हय ससकल नियम।।
मृत तरु पाय प्राण, मूक करे वेदगान,
शुष्क तरु शोभे किशलये।
सुगन्धे मञ्जुरी फुटे, गुञ्जरी भ्रमरा छुटे,
माते तारा मकरन्द पिये।।
घन घोष बरिषाय, वसन्त बहिया जाय,
पिक वधू गाय कलताने।
जराजीर्ण देह माझे, नवरसे प्राण राजे,
श्यामेर बाँशरी मधुगाने।।''

वेणुगान से जब स्थावर-जङ्गम की ही ऐसी अवस्था है, तब महाभाववती व्रजदेवियों की तो बात ही क्या ? वे श्रीकृष्ण का वेणुगान सुनते ही अतिशय अभिभूत हो उठीं। उनके महाभाव-भावित चित्तों में वेणुवादनरत श्रीगोविन्द का आविर्भाव हुआ। प्रेमाविष्ट अवस्था में वे अपने-अपने हृदय में उन्हें आलिङ्गन करने लगीं अथवा प्रेमोच्छ्वास की भ्रान्ति के वशीभूत होकर एक-दूसरे को श्रीकृष्ण समझकर आलिङ्गन करने लगीं। जो प्रेमभ्रान्तिवश तमालतरु को श्रीकृष्ण समझकर आलिङ्गन करती हैं, वे एक-दूसरे को कृष्ण समझकर आलिङ्गन करे, इसमें आश्चर्य क्या ? अथवा सभी समभाव से भरी एक-दूसरे से श्रीकृष्ण प्रेम की बात करने को हुईं, तो वे भी कहने लगीं - सखि ! मैं भी तो वही बताने आई हूँ। इतने दिन उन सबने श्रीकृष्ण अनुराग की बात धैर्य-लज्जा आदि के अन्तराल में बड़े यत्न के साथ हृदय में छिपा रखी थी, आज भाव-उद्दीपक श्रीकृष्ण का वेणुगायन सुनकर भावविशेष के उदित हो जाने से वे हृदय-द्वार खोलकर श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी, प्रेममाधुरी की बातें जी भरकर कहते-कहते एक-दूसरे को आलिङ्गन कर बैठीं। ''अभिरेभिरे हृदाकान्तं श्रीकृष्णं भावनया। किंवा भावविशेषोदय स्वभावेनैव परस्परं सर्वा एव परिरब्धवत्यः।'' (लघुतोषणी)

श्री वृषभानुनन्दिनी प्रेम से भरकर आकुल होकर प्रियनर्म सखी का प्रेममय हाथ पकड़कर अश्रुपुलकादि से युक्त होकर बोलीं -

''सजनि ! ओ के नागर तरु-मूले।
एतो दिन नाहि जानि, लोकमुखे नाहि शुनि,
हेनो जन आछये गोकुले।
मुरलीर आलापने, पवन रहिया शुने,

यमुनाय बहये उजान।
ना चले रविर रथ, बाजि नाहि पाय पथ,
दरवये दारु-पाषाण।।
रमणी-रमण वर, गति अति मन्थर,
मनोहरेर मनोहर वेश।
मृगमद-चन्दन, तनु घन लेपन,
परिमले भुलायल देश।।
शुनिया मुरली-ध्वनि, ध्यान छाड़े जतो मुनि,
जप-तप किछुइ ना भाय।
तृणमुखे धेनु जत, ऊर्द्धमुखे रहत,
बाछुरे दुग्ध नाहि खाय।।
मयूर पाखार चूड़ा, मालतीर माले बेड़ा,
भुवन मोहन तार वेश।
अगोर-चन्दन, तनु घन लेपन,
सौरभे भरल सब देश।।
दास अनन्तेर धन, सेइ नन्दनन्दन,
नाम तार सुन्दर कानाइ।
ए देश उहार डरे, मरये आँखिर ठारे,
घरेर बाहिर हैते नाइ।।''

कहते-कहते श्रीमती का कण्ठ रुद्ध हो गया। स्तम्भ-भाव के उदित हो जाने से कुछ देर नीरव रहीं। भावोच्छ्वास कुछ कम हुआ, तो प्रियनर्म सखी से बोलीं - 'सखि ! अब मैं क्या करूँ, बताओ ? उन्हें देखा है तभी से मेरी अवस्था ग्रहग्रस्त-की-सी हो गई है, मैं मानो स्वयं को खो बैठी हूँ। उसे भूलने की कितनी चेष्टा कर रही हूँ, पर उपाय नहीं, उसका रूप मानो छाया की तरह सदा साथ-साथ चल रहा है। और कुछ न भी हो, यदि एक बार जी भरकर देख पाती। चञ्चल चक्षु उसे देखने के लिये व्याकुल हैं। किन्तु विधाता बड़ा विपरीत है। उसे देखने का कोई उपाय नहीं। कैसे करूँ, बताओ ?'

श्रीमती की बातें सुनकर प्रियनर्म सखियों ने कहा - 'राधे ! नेत्रों का क्या दोष, बताओ। एक बार उसका वदन देखना ही तो नेत्रों की सफलता है। जिसने चक्षु पाकर भी वह श्यामरूप नहीं देखा,

उसका तो जीवन ही वृथा गया। यह बात केवल तुम्हारे-हमारे लिये ही है, सो नहीं, चक्षुधारी मात्र के ही लिये है।' इस प्रकार श्रीमती राधारानी और उनकी प्रियनर्म सखियों ने एक-दूसरे से जो कुछ कहा था, वही उक्तियाँ श्रीपाद शुकदेव मुनि ने महाराज परीक्षित के आगे व्यक्त की हैं। यही 'वेणुगीत' है ।। 6 ।।

श्रीगोप्य ऊचुः

**अक्षन्वतां फलमिदं न परं विदामः**
**सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।**
**वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं**
**यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।। 7।।**

---

**अन्वयः** - सख्यः (हे वयस्याः !) वयस्यैः (सखिभिः सह) पशून् अनुविवेशयतोः (गवादीन् वनं प्रवेशयतोः) व्रजेशसुतयोः (श्रीरामकृष्णयोः) अनुवेणुजुष्टम् (निरन्तरं वेणुना सेवितम्) अनुरक्त कटाक्षमोक्षं (अनुरक्तजनेषु कटाक्षाणां मोक्षो यत्र तादृशं) वक्त्रं यैः निपीतम् अक्षन्वताम् (चक्षुष्मतां) इदं (एव) फलं परं (अन्यत्) न विदामः ।। 7।।

**अनुवाद**- हे सखियों ! जो श्रीदाम-सुबल आदि गोपबालकों के साथ गायों को एक वन से दूसरे वन में हाँकते रहते हैं, उन्हीं व्रजराज-नन्दन श्रीकृष्ण और बलराम की वेणु-सेवित एवं अनुरागी जनों के प्रति कटाक्ष-भरी वदनमाधुरी का जिन्होंने अपने नेत्रों से आस्वादन किया है, उनके नेत्र ही सार्थक हैं। इसके अतिरिक्त नेत्रों की और कोई सार्थकता है, हम नहीं जानतीं ।। 7।।

**गीतामृतलेश टीका —**

इस श्लोक से वेणुगीत का आरम्भ है। व्रजबालाओं की उक्ति है। उनके महाभाव-भावित कोटि समुद्रों-से गम्भीर हृदय के भाव ही उनकी वाणी में व्यक्त हुए हैं। उनके हृदय का महाभावसिन्धु व्रजराजनन्दन के वेणुनादरूपी मन्दर (गिरि) से मथा गया है। परिणामस्वरूप जो वेणुगीतामृत निकला है, वह भाव की गम्भीरता, अर्थ की गम्भीरता और आस्वाद-माधुरी में विश्व में अतुलनीय है - इसमें सन्देह नहीं। मन्दराचल से क्षीरसिन्धु के मथे जाने पर उसका सार देवभोग्य अमृत निकला था। इधर वेणुनादरूपी मन्दर द्वारा अप्राकृत प्रेम के परमसार महाभावामृत-सिन्धु के मन्थन से निकला है 'वेणुगीतामृत'। यह परम भागवत व्रजप्रेमिकों का ही आस्वाद्य है, किन्तु व्रजदेवियों की करुणा के बिना इस परमामृत की एक कणिका का भी आस्वादन सम्भव नहीं। तभी श्रीलगोस्वामीपाद ने तोषणी-टीका में इस श्लोक की व्याख्या के प्रारम्भ में लिखा है -

**''यासां बुध्येत वागर्थो यासामेव प्रसादतः ।**
**गोपीः प्रपद्ये ता याभिः स गम्भीराशयो जितः ।।''**

'महाभाववती व्रजसुन्दरियों के परम गम्भीर वाक्यों का अर्थबोध एकमात्र उन्हीं की करुणा-सापेक्ष है। उन्हीं गोपियों के श्रीचरणों में शरणागत होता हूँ - जिन्होंने अपने प्रेम के बल पर परम गम्भीराशय व्रजराजनन्दन तक को वशीभूत किया है।' ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण की स्तुति में 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' (भा. 10/14/3) श्लोक में कहा है - 'हे अजित ! इस जगत् में जो आपके स्वरूप-ऐश्वर्य-महिमा आदि को जानने का प्रयास छोड़कर भक्तों के निकट रहकर आपकी लीलाकथाओं का कायमनोवाक्य से सेवन कर जीवन धारण करते हैं, वे आपको वशीभूत किये रहते हैं - भले ही आप त्रिजगत् में किसी के वशीभूत न हों।' गोपियों ने अपने प्रेम-बल से उन्हें जीता है या वशीभूत किया है, इतना ही नहीं, उन्हें सदा-सदा के लिये अपना ऋणी भी बना रखा है।

**''कृष्णेर प्रतिज्ञा एक आछे पूर्व हैते ।**
**जे जैछे भजे कृष्ण तारे भजे तैछे ।।**
**से प्रतिज्ञा-भङ्ग हैलो गोपीर भजने ।**
**ताहाते प्रमाण कृष्ण-श्रीमुख-वचने ।।''**

(चै. च.)

('न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां' इत्यादि भा. 10/32/22 श्लोक और उसकी व्याख्या देखिये।)

सर्वोपरि हैं गोपी-शिरोमणि श्रीमती राधा श्रीकृष्ण ने उनकी वश्यता और ऋण स्वीकार किया है, यही नहीं, उनकी प्रेममाधुरी से विश्वमोहन की मोहदशा तक का उद्रेक हो जाता है। 'जगत मोहन

कृष्ण ताँहार मोहिनी। अतएव समस्तेर परा ठाकुरानी।।'' (वही) राधारानी के श्रीचरणों में शरणागति ही वेणुगीत की व्याख्या को उपलब्ध करने का प्रकृष्ट और एकमात्र उपाय है। आज श्रीमन्महाप्रभु के युग में राधारानी की नित्यसिद्धा किंकरियों या मञ्जरियों ने श्रीश्रीरूपसनातन आदि गोस्वामिपादों के रूप में अवतीर्ण होकर महाप्रभु के महादान श्रीश्रीराधामाधव-युगलमाधुरी का परिपूर्ण रूप से वितरण किया है। उन लोगों की श्रीमद्भागवतोक्त इस गीत की व्याख्या से गोपियों का हार्द (अभिप्राय) प्रकाशित हुआ है। इसलिये उन लोगों की टीका के अवलम्बन को छोड़ क्षुद्रबुद्धि मानव के लिये इन सब भावगम्भीर विषयों की उपलब्धि कभी सम्भव नहीं।

इस श्लोक की व्याख्या-भूमिका में श्रील गोस्वामिपाद ने लिखा है - ''अथ पूर्वोक्तानुसारेणावहित्थया रामसहितमेव वर्णयन्त्योऽपि स्वभाव व्यञ्जितार्थविशेषेण तथा न शेकुरिति दर्शयति अक्षन्वतामिति।'' (लघुतोषणी) हम श्रीकृष्ण को प्रेम करती हैं - यह सोचकर भी परम सुशीला कुलबाला व्रजसुन्दरियों का हृदय काँप उठता है। तभी उन्होंने पहले (श्लोक 3 में) अवहित्था या भावगोपन का सहारा लेकर ही वेणुगीत की माधुरी के विषय में वार्ता आरम्भ की थी, कारण - श्रीकृष्ण के साथ उनका प्रेम-सम्पर्क जुड़ गया है, यह बात प्रियनर्म सखियों को बताने में भी उन्हें लज्जा होती है। तभी इस श्लोक में भी श्रीकृष्णमाधुरी का वर्णन करने के लिये उन्होंने अवहित्था भाव से श्रीबलदेव के साथ श्रीकृष्ण की माधुरी का वर्णन किया है, किन्तु श्रीकृष्णमाधुरी के प्रति चित्त के स्वाभाविक आकर्षण के कारण वे भावगोपन की रक्षा नहीं कर पातीं।

श्रीकृष्ण-अनुरागिनी व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्ण-बलदेव की वनगमन कालीन माधुरी प्रियनर्म सखियों को बताती हैं - सखि !'अक्षन्वतां फलमिदं' - नेत्रधारी के नयनों की यही सार्थकता है। क्या सार्थकता है, उस विशेष वस्तु की बात पहले नहीं बता पातीं। केवल 'यही' कहकर उस विशेष वस्तु की सूचना मात्र देती हैं। अति सुगोप्य होने के कारण नाम नहीं बताया। अथवा प्रेमविशेष वैवश्य के कारण छूटते ही नाम नहीं बताया गया। वह प्रेम विवशता थोड़ी कम हुई तो धैर्य धारण कर बोलीं - सखियों ! श्रीकृष्ण-बलदेव ने गोपबालकों के साथ नाना प्रकार के संकेत और मधुर शब्द करते हुए गोचारण के लिये जब वृन्दावन में प्रवेश किया, तब जिन लोगों ने उनकी वदनमाधुरी का आस्वादन किया, उन्हीं के नयन सार्थक हैं। इसके अतिरिक्त नयनों की और कोई सार्थकता नहीं। यदि दूसरे लोग कहें कि किसी अन्य विषय को लेकर चक्षुओं की सार्थकता है, तो कहा करें, हम तो इसी को चक्षुओं की सार्थकता मानती है, कारण - हम लोग है गृहवधुएं, हमारे लिये उस समय उनकी वदनमाधुरी के दर्शन सर्वथा असम्भव हैं। यद्यपि यहाँ-वहाँ किसी भी समय उन (दोनों) की वदनमाधुरी के दर्शन करके ही नयनों की सफलता है, तथापि वनविहार और उस समय उनके दर्शन की विशेष उत्कण्ठा के कारण ही

व्रजसुन्दरियों ने ऐसा कहा है।

इस प्रसङ्ग में श्रील गोस्वामिपाद ने लिखा है - 'अयमेव हि, निर्भर प्रेम्नोहतृप्त्यार्तिविशेषलक्षणः स्वभावः।' (लघुतोषणी) नेत्रों के होने से ही श्रीकृष्णमाधुरी का आस्वादन मिल जायेगा, सो नहीं। जब तक अनुराग आकर नयनों को सुरञ्जित नहीं करता, तब तक उस माधुरी का आस्वादन नहीं किया जा सकता। प्रकट लीला काल में कंस आदि असुरों ने भी कृष्ण के दर्शन किये हैं, किन्तु उन लोगों के प्रेमहीन जीवन में श्रीकृष्ण-दर्शन से उनके प्रति शत्रुता और हिंसा-मात्सर्य आदि से उत्पन्न ज्वाला का ही उद्‌भव हुआ है। प्रेम के द्वारा ही श्रीकृष्णमाधुरी का आस्वादन होता है। व्रजबालाओं के हृदय में पूर्ण प्रेम या प्रेम की पराकाष्ठा महाभाव विराजता है। श्रीकृष्ण-दर्शन से उनके हृदय में सन्निपात-रोगी की तरह जो आर्ति-अतृप्ति उत्पन्न होती है, वह उनके महाभाव का स्वभाव है। यही श्रीकृष्णमाधुरी आस्वादन का परिमापक है। इस अतृप्ति और आर्ति को हृदय में लिये ही उन लोगों ने कहा है - 'जनम अवधि हाम रूप नेहारिणु नयन ना तिरपित भेलो। लाख-लाख जुग हिये- हिये राखिनु तबु हिया जुड़न ना गेलो।' (विद्यापति) इसलिये मथुरा में कंस के रङ्गालय में मथुरा-नागरियों ने श्रीकृष्ण-दर्शन करने के पश्चात् भी व्रजबालाओं के श्रीकृष्णदर्शन की ही भूरि भूरि प्रशंसा की है -

**''गोप्यस्तपः किमचरन यदमुष्य रूपं**
**लावण्यसारमसमोर्द्धमनन्य सिद्धम् ।**
**दृग्भिः पिवन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-**
**मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ।।''**

(भ. 10/44/14)

मथुरानागरियाँ परस्पर कहने लगीं - 'व्रजाङ्गनाओं ने ऐसी क्या तपस्या की है, जिसके फलस्वरूप वे लावण्यसार, असमोर्ध्व और अनन्यसिद्ध, प्रतिक्षण नूतन, दुर्लभ एवं सौन्दर्य ऐश्वर्य के एकमात्र आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण के इस रूप का नेत्रों से पान कर रही हैं ?'

इस श्लोक में व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों ही को 'व्रजेशसुत' कहा है। बलदेव व्रजेश श्रीनन्दमहाराज के पुत्र न होने पर भी 'वसुदेव' इति ख्यात गोषु तिष्ठति भूतले' - इस हरिवंश वाक्य से जाना जाता है कि वसुदेव महाशय की भी विपुल गो-समृद्धि थी, इसलिये उन्हें भी 'व्रजेश' कहा जा सकता है। अथवा, नन्द महाराज ने बलदेव का श्रीकृष्ण की तरह ही पुत्रवत् स्नेह पूर्वक लालन-पालन किया है, इसलिये व्रज में सभी श्रीकृष्ण-बलदेव को नन्दजी की सन्तान मानते हैं। श्रीवसुदेव महाशय ने भी मथुरा में नन्द महाराज से कहा है - 'भ्रातर्मम सुतः कश्चित् मात्रा सह भवद्‌व्रजे। तातं भवन्तं मन्वानो भवद्‌भ्यामुपलालितः।' भाइ नन्द ! मेरा एक पुत्र तुम्हारे व्रज में अपनी

माँ के साथ रह रहा है। वह तुम्हीं को पिता मानता है, तुम लोग भी पुत्रवत स्नेह कर उनका लालन-पालन कर रहे हो। श्रीबलदेव जब द्वारका से व्रज आये थे, तब पितृ बुद्धि से ही नन्द महाराज को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया था - ''रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः।।'' (भा.)

श्रीचैतन्यमतमञ्जुषा टीका में श्रील कवि कर्णपूर के गुरु श्रीनाथ चक्रवर्ती महाशय ने इस श्लोक के 'व्रजेश' शब्द की व्याख्या की है, उसमें जो असाधारण धारणा मिलती है, वह गौड़ीय वैष्णवों के लिये विशेष अनुधावन की वस्तु है। 'श्रीराधायाः सहचर्य एव प्रथममाहुः - हे सख्यः !''वृजेशसुतयोवक्त्रं यैः पीतं तदेव तेषामक्षिमत्वस्य फलम्। व्रजेशश्च व्रजेशौ श्रीकृष्ण-राधा-पितरौ स्थले स्थले दर्शनीयौ तयोः सुतश्च सुता च व्रजेश सुतौ श्रीकृष्णराधे, उभयोरेव उभयं वक्त्रं यैः पीतं वक्त्रं पृथक् पृथग् विशिनष्टि - अनुवेणु अनुगतो वेणुर्यत्र तत्तथा जुष्टं श्रीकृष्णेन स्वहस्त-लिखित- पत्रांकुरादिना सेवितम्। तयो कीदृशयोः ? वयसि भवैर्वयस्यैलविण्यैः पशून्पत्रावली-मकरांकुरान् अने अन्योन्यं विशेषेण वेशयतोः प्रापयतोः। 'पशुः पत्रांकुरे पुंसि पशुर्भूतगणेऽपि च।' इति हारावली।'' अर्थात् श्रीराधारानी की सहचरियाँ इस प्रथम श्लोक में कहती हैं - जिन्होंने व्रजेशसुतद्वय की वदनमाधुरी का आस्वादन किया है, उन्हीं नयनधारियों के नयनों की सफलता है। व्रजेशसुतद्वय का परिचय दे रही हैं - व्रजेश श्रीनन्दमहाराज और व्रजेश श्रीवृषभानुराजा - उनके सुत और सुता हैं श्रीकृष्ण और राधारानी, इसलिये वे ही 'व्रजेशसुतौ' हैं। इन्हीं श्रीराधाकृष्ण युगल की वदनमाधुरी के आस्वादन का सौभाग्य जिन्होंने प्राप्त किया है, उन्हीं के नयन सार्थक हैं। वह मुखमाधुरी कैसी है ? श्रीकृष्ण का वदन 'अनुवेणुजुष्टं' निरन्तर वेणु-सेवित है; श्रीराधा का वदन श्रीकृष्ण के स्वयं के हाथों लिखे पंत्राकुर द्वारा शोभित है। 'वयस्यैः' शब्द का अर्थ किया है - ' लावण्यैः' श्रीराधाकृष्ण दोनों एक-दूसरे के वदन पर लावण्य के साथ पत्रावली मकरांकुर रचना कर रहे हैं और अनुरक्त जन सखीमञ्जरियों के प्रति स्नेह-करुणा के साथ कटाक्षपात कर रहे हैं। 'पशु' शब्द का अभिधानिक अर्थ है 'मकरांकुर'। ऐसे अवसर पर जो श्रीराधाकृष्ण युगल की मुखमाधुरी का नेत्रों से आस्वादन करते हैं, उन्हीं के नेत्र यथार्थतः सार्थक हैं। श्रीराधा की सखीमञ्जरियों का एकमात्र काम्य श्रीश्रीराधाकृष्ण युगल का माधुर्य-आस्वादन और सेवा ही है।

**''सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन ।**
**कृष्णसह निज लीलाय नाहि सखीर मन ।।**
**कृष्णसह राधिकार लीला जे कराय ।**
**निज केलि हैते ताहे कोटि सुख पाय ।।**
**राधार स्वरूप - कृष्णप्रेम-कल्पलता ।**
**सखीगण हय तार पल्लव-पुष्प-पाता ।।**

**कृष्णलीलामृते यदि लताके सिञ्चय ।**
**निज सेक हैते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय ।।''**

(चै. च. मध्य. 8)

विशेषतः श्रीश्रीराधामाधव के परस्पर के सान्निध्य में ही परस्पर की माधुरी सम्पूर्णरूप से समुच्छलित हो उठती है। इसीलिये श्रीराधामाधवयुगलमाधुरी ही गौड़ीय वैष्णवों का उपास्य है। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने गौड़ीय वैष्णव का सम्बन्धतत्व निरूपित करते हुए श्रीकृष्णसन्दर्भ 581 में लिखा है –

**''गौरश्यामरुवोज्ज्वलाभिरमलैरक्ष्णोर्विलासोत् सवै-**
**र्नृत्यन्तीभिरशेषमादनकला वैदग्ध्यदिग्धात्मभिः ।**
**अन्योन्यप्रियतासुधापरिमलस्तोमोन्मदाभिः सदा**
**राधामाधवमाधुरीभिरभितश्चित्तं ममाक्रम्यताम् ।।''**

अर्थात् जो गौर श्याम कान्ति द्वारा उज्ज्वल है; अमल-नयनविलासोत्सव से नृत्यशील है; अशेष मादनकला वैदग्धी द्वारा लिप्तस्वरूप है; पारस्परिक प्रियतासुधापरिमल से आमोदित है – वही श्रीश्रीराधामाधव माधुरी मेरे चित्त पर आक्रमण करे।

श्रील गोस्वामिपाद वैष्णवतोषणी में इस श्लोक का व्रजबालाओं का स्वभाव-व्यञ्जित अर्थ प्रकट कर रहे हैं – 'व्रजेश सुतयोर्मध्येऽनु पश्चाद् वेणुजुष्टं वक्त्रं यैर्निपीतम्' – श्रीश्रीरामकृष्ण दोनों में अनु या पीछे जो श्रीकृष्ण हैं, उनका वेणुजुष्ट वदन जिन्होंने देखा है, उन्हीं के नेत्र सफल है। व्रजदेवियों ने दृष्टं न कहकर 'जुष्टं' या 'निपीतं' शब्द से अपने हृदय के भाव को गूढ़रूप से व्यक्त किया है। 'निपीतं' अर्थ में 'नितरां पीतं' अर्थात् उन लोगों का विशेष रूप से पान (पीना) सूचित हुआ है। 'निपीतं' शब्द एक ओर श्रीकृष्ण के सुधामय वदनचन्द्र की तरफ संकेत करता है, तो दूसरी ओर उन लोगों के स्निग्ध कटाक्षमोक्षण द्वारा सेवन भी बताता है।

'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्' – हे सखियों ! अनुरक्त जन तुम लोगों का जिनके प्रति कटाक्षपात है, अथवा अनुरक्तजन तुम लोगों के प्रति जिनका कटाक्षपात है – इससे वदनचन्द्र के आस्वादन में पारस्परिक सुखसम्पत्तिविशेष प्रदर्शित हुई है। इसी प्रकार सेवन में ही इन्द्रियधारियों की इन्द्रिय की सफलता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। 'कृष्णावलोकन बिना नेत्रेर फल नाहि आन। जेइ जन कृष्ण देखे सेइ भाग्यवान्।।'' (चै. च.) गोपियाँ मात्र दो नयन पाकर खेद व्यक्त करती हैं–

**''कोटि नेत्र नाहि दिलो सबे दिलो दुइ ।**
**ताहाते निमेष, कृष्ण कि देखिबो मुइँ ।।''**

(वही)

चक्षु-कर्ण आदि समस्त इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण के रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि पाँच विषयों के आस्वादन में ही पञ्चेन्द्रिय की सार्थकता है। इस उक्ति में गोपियों का एक निगूढ़ अभिप्राय भी व्यञ्जित हुआ है। वे केवल दर्शन को ही फल नहीं मानतीं; अधरामृत पान ही सम्पूर्णरूप से वदनचन्द्र का सुधापान है। चक्षुओं द्वारा पान तो केवल चक्षुओं की सफलता है, जिन्होंने रसनेन्द्रिय (रसना) से पीने का सौभाग्य प्राप्त किया है - वही है 'निपीतं' या सम्पूर्णतः पान करना। श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर और उनका वदनचन्द्र देख कर गोपियों के हृदय में जिस विरहज्वाला की सृष्टि होती है, वह श्रीकृष्ण के अधरामृत को पीये बिना निर्वापित होनेवाली नहीं। रासलीला में प्रार्थना वाणी में कहा था -

''सिञ्चाङ्ग नस्तदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीत- जहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन यामः पदयोः पदवीं सखे ते ।।''

'हे कृष्ण ! तुम्हारे सहास-अवलोकन और मधुर वेणुनाद से हम लोगों के हृदय में जो मदन-अनल उद्दीप्त हुआ है, उसे अपने अधरामृत के सिञ्चन द्वारा निर्वापित करो, अन्यथा हे सखे ! हम सब तुम्हारी विरहाग्नि में दग्ध होकर ध्यान-योग से तुम्हारी चरणपदवी प्राप्त करेंगी। अधरामृत के स्मरणमात्र से ही कण्ठ वाष्परुद्ध हो गया और वे स्पष्टतः कुछ नहीं कह पाईं। अथवा विदग्धजनों द्वारा प्रपूज्य चरण इन लोगों की प्रेम-उक्ति का ऐसा ही गम्भीर स्वभाव है ।। 7 ।।

**चूतप्रवालबर्हस्तवकोत् पलाब्ज,**
**मालानु पृक्तपरिधान विचित्र वेशौ।**
**मध्ये विरेजतुरलं पशुपाल गोष्ठ्यां**
**रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ।। 8।।**

---

**अन्वयः** - चूतप्रवालवर्हस्तवकोत्पलाब्जमालानुपृक्त परिधान विचित्रवेशौ (आम्रस्य नवपल्लवः बर्हं मयूर पुच्छ, स्तवकः पुष्पगुच्छश्च चूड़ायाम्, उत्पलं कर्णिकार पुष्पञ्च कर्णयोः अब्जं लीलाकमलं दक्षिणकरे माला च तथा अनुपृक्ते ईषदन्तरान्तरतः संयुक्ते परिधाने नीलपीताम्बरे च ताभ्यां विचित्रः वेशः ययो तौः) क्वच (कदाचित च) गायमानौ (गायन्तौ रामकृष्णौ) रङ्गे नटवरौ यथा (तद्वत्) पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये अलं (अत्यर्थं) विरेजतुः (शुशुभाते) ।। 8।।

**अनुवाद**- व्रजराजनन्दन श्रीकृष्ण और बलदेव जब आम्रपल्लव, मयूरपुच्छ और कुसुमस्तवक से अपने चूड़े विभूषित कर कानों में कर्णिकार कुसुम, दायें हाथ में लीलाकमल, गलदेश में वैजयन्ती माला और अङ्गों पर नील-पीत वस्त्र धारण कर विचित्र वेश में सुसज्जित और गोपबालकों के बीच विराजित होकर नृत्य-गायन आदि करते हैं, तब रंगभूमि में स्थित नटवर की तरह उन दोनों की एक अतुलनीय शोभा विकसित होती है ।। 8।।

**गीतामृतलेश टीका —**

महाभाववती व्रजसुन्दरियों के मन-प्राण सर्वदा ही श्रीकृष्णमाधुर्यरस के सागर में निमग्न रहते हैं। पूर्वराग दशा में वे हर समय श्रीकृष्ण के चिन्तन, ध्यान और परस्पर श्रीकृष्ण-वार्ता में लगी रहती हैं। इस सबके बीच यदि उन्हें श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनने को मिलता है और कदाचित श्रीकृष्ण के दर्शन हो जाते हैं, तो वे भावावेग में अतिशय विवश हो जाती है और श्रीकृष्ण से मिलने की आकांक्षा से व्याकुल होकर अपनी-अपनी सखियों के आगे नाना प्रकार से श्रीकृष्ण की बातें करने लगती हैं। फिर भी परम भावगाम्भीर्यवती व्रजदेवियाँ अपने कृष्ण-अनुराग की बात किसी के आगे व्यक्त नहीं करती। यही कारण है कि उन्होंने पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी द्वारा सेवित वदनमाधुर्य के वर्णन की अभिलाषा से गूढ़ रूप से श्रीकृष्ण-बलदेव के वदनमाधुर्य के आस्वादन को ही चक्षुओं का फल बता दिया। किन्तु ऐसा करने से अर्थान्तर से उन लोगों के हृदय की बात थोड़ी-सी बाहर आ गई, तो अब इस श्लोक में वे पुनः स्पष्टतः श्रीकृष्ण-बलदेव का माधुर्य एक साथ बता रही हैं।

एक गोपसुन्दरी ने कहा - सखि ! श्रीरामकृष्ण जब अति अभिनव वेश में सजे वन-गमन करते हैं, तो उन के चूड़े नव-नव पल्लवों, मयूर पुच्छों और पुष्पगुच्छों से सुशोभित होते हैं। कानों में

कर्णिकार कुसुम, दाये हाथों में लीलाकमल, गलदेश में वैजयन्ती शोभा पाते हैं। वे जब अति विचित्र वेश धारण किये श्रीदाम-सुबल आदि गोपबालकों के बीच अति मनोहर नृत्य-गायन आदि करते हुए जाते है, तो उनकी भुवनमोहन नटवर मूर्ति देखकर सबके मन विमुग्ध हो जाते हैं। गोपबालक भी अनुरूप वेशभूषा से सजे नृत्य-गायन आदि करते हैं- तब किसी रङ्गमञ्च पर नटों की तरह ही शोभा देखते बनती है।

''चूड़ाचुम्बितचन्द्रकौ विलसितावालोलया मालया
दिव्यादिद्व्यतमालप त्ररचन वित्युज्ज्वलौ धातुभिः ।
प्रत्यङ्गं कृतमण्डनौ स्तवकिमिश्चि त्रैर्लताखण्डकै-
स्तन्तवाते नयनोत्सव नटवरौ रङ्गप्रविष्आविव ।।''

(आ. वृ. - 11/139)

'मयूरपुच्छ-चुम्बित चूड़ों से शोभित, दोलायमान मालाओं से विलसित, गैरिक आदि धातुओं की दिव्यातिदिव्य तिलक-रचना से उज्ज्वल, स्तवक (पुष्पमञ्जरी)- युक्त चित्रविचित्र लताखण्डों से प्रति अङ्ग अलंकृत - (इस रूप में सजे-सँवरे) श्रीराम-दामोदर रङ्गस्थल में प्रविष्ट नटवरों की तरह जनगण के नेत्रों को आनन्द प्रदान कर रहे हैं। मानो रङ्गस्थल में नटवर शोभित हैं - इस दृष्टान्त से श्रीराम कृष्ण का मनोहर नृत्य-गायन आदि स्वच्छन्द सुखविहार और गोपबालकों की भी अनुरूप वेशभूषा नृत्य-गीत-वाद्य आदि की वैदग्धी सूचित हुई है। इसके बिना नृत्य आदि की शोभा का सम्पूर्ण विकास नहीं होता। श्रीरामकृष्ण कभी क्रीड़ावेश में गोपबालकों के बीच, कभी मण्डली के बाहर अवस्थान करते हैं। 'अलं विरेजतु:' इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि व्रज में विविध भावों से युक्त व्यक्तियों के आगे संकोच आदि के कारण ऐसा स्वच्छन्द नृत्य-गायन आदि और असंकोच (खुली) वैदग्धी प्रकट नहीं होती।

इस श्लोक में गोपसुन्दरियों ने एक साथ श्रीकृष्ण-बलदेव का माधुर्य वर्णन कर अपने भाव को छिपाने का प्रयास किया, किन्तु उनकी वचन-भङ्गिमा और नेत्र-इंगित से उनके कृष्णानुराग की बात किञ्चित् व्यक्त हो ही गई। वे सब बोलीं - हे सखियों, इस व्रज में एकमात्र गोपबालक ही धन्य हैं, कारण - वे हर समय श्रीकृष्ण के पास रहकर जी भरकर श्रीवदन दर्शन और वेणु-श्रवण का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। विधाता ने हमें गोपी-जन्म देकर सभी प्रकार से वञ्चित कर दिया। ऊपर से हम लोग कुलवधु ठहरीं, जी भरकर श्रीकृष्णवदन-दर्शन नहीं कर सकतीं। हा विधाता ! यदि गोपी न बनाकर गोपबालक बनाता, तो हम हर समय उनके निकट रहकर उनके दर्शन और सेवा कर जीवन धन्य कर पातीं।

एक अन्य गोपसुन्दरी ने कहा – सखि ! चलो, सब चलती हैं। एक बार जी भरकर दर्शन कर आयें। नयनों की और जीवन की साध पूरी हो। दूर से देखकर तृप्ति नहीं होती, पास रहकर खड़ी-खड़ी देखेंगी। यह सुनकर किसी ने कहा – सखि ! जो कह रही हो, वह असम्भव है। उनके साथ आर्य बलदेव जो हैं; दर्शन तो होंगे ही नहीं, लांछन ही हाथ लगेगा। इससे तो कुञ्जवन की लतापताओं की आड़ में से गवाक्षरन्ध्रों से जितना कुछ दिखाई दे जाय, हम लोगों के लिये उतना लाभ ही ठीक। इस पर एक ने मत व्यक्त किया – सखि ! अब लाभ-हानि की बात क्यों करती हो ? हम लोगों का तो जीवन ही विड़म्बनामय हो गया है ! वृन्दावन में रहकर वृन्दावनचन्द्र को नहीं देखेंगी; हमारे बचे रहने का लाभ ही क्या ? पराधीन नारीजाति होने से ही यह सब अत्याचार सहना पड़ता है। नारी का और जन्म न मिले; गोपबालक होकर जन्म लेने का सौभाग्य न भी मिले, अगले जन्म में हम लोग वेणु बन जायें ।। 8 ।।

**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-**
**र्दामोदराधर सुधामपि गोपिकानाम।**
**भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो**
**ह्रष्यत्वचोहश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः।। 9।।**

---

**अन्वयः** – गोप्यः (हे सख्यः !) अयं वेणुः किं कुशलम (पुण्यं) आचरत् स्म, यद् (यस्मात्) गोपिकानामपि (गोपिकानामेव भोग्याम् अपि) दामोदराधरसुधां स्वयम् (स्वातन्त्र्येण यथेष्टं) अवशिष्टरसं (न वशिष्टः रसः किञ्चिन्मात्रोऽपि यत्र तथाभूतो तथा स्यात् तथा) भुङ्क्ते । (यतः) ह्रदिन्यः (यासां पयसा अयं वेणुः पुष्टः ताः माततुल्या ह्रदिन्यः) ह्रष्यत्वचः (विकशितकमलवनमिषेण रोमाञ्चिताः लक्ष्यन्ते) तरवः (येषां वंश अयं वेणुः जातः ते वृक्षा अपि) यथा आर्याः (कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं

दृष्टवा यथा हृष्यन्ति तथैव)। अश्रु मुमुचुः (मधुधारा-वर्षणमिषेण अश्रूणि मुञ्चन्ति) ।।9।।

**अनुवाद**- हे सखियो ! इस वेणु ने न जाने किस महापुण्यजनक कार्य का अनुष्ठान किया था, जिसके फलस्वरूप यह उस कृष्णअधरामृत की अन्तिम बूँद तक इच्छानुसार स्वतत्ररूप से पी रहा है, जो एकमात्र गोपियों द्वारा ही भोग्य है। वेणु के इस सौभाग्य पर मातृतुल्य व्रज के ताल-सरोवर कमलविकास के बहाने पुलकित हैं और वृक्ष मधुधारावर्षण के बहाने इस प्रकार आनन्द-अश्रु बहा रहे हैं जैसे वंश में भगवदभक्त के जन्म-ग्रहण करने पर कूल के वृद्ध लोग आनन्दित होते हैं ।।9।।

**गीतामृतलेश टीका —**

महाभाववती व्रजसुन्दरियाँ पूर्वराग की भूमि पर श्रीकृष्ण के साथ मिलन की आकांक्षा से व्याकुल होकर श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी वर्णन करने को प्रस्तुत हुई थीं, पर धैर्यगाम्भीर्यस्वभाव के कारण अवहित्था नामक सञ्चारी के उदित हो जाने से उन्होंने हृदय का भाव छिपाकर पहले श्रीकृष्ण-बलदेव दोनों की माधुरी का वर्णन किया। जैसे समुद्र छोटी-बड़ी तरङ्गों से सतत तरङ्गायित रहता है, वैसे ही व्रजदेवियों का महाभावसिन्धु भी विविध सञ्चारी भावों से तरङ्गायित रहता है। निर्वेद, विषाद, दैन्य आदि तेतीस प्रकार की सञ्चारी भाव हैं। फिर इनकी चार प्रकार की दशायें हैं - भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य एवं भावशान्ति।

प्रेमसिन्धु में जब कोई सञ्चारी भाव-तरङ्ग, उठती है, तब उसका नाम होता है 'भावोदय'। सजातीय से अलग दो भावों के मिलन को कहते हैं 'भावसन्धि'। अनेक भावों के एकत्र सम्मर्द (परस्पर घर्षण) को ही 'भावशावल्य' कहा जाता है। उत्थित (उदित, उठा हुआ) भाव जब प्रेमसिन्धु में विलीन हो जाता है, तो उसका नाम होता है 'भावशान्ति'। इस श्लोक में वेणु के सौभाग्य पर व्रजसुन्दरियों के मन में उसके प्रति असूया नामक सञ्चारीभाव जगा। "द्वेषः परोदयेऽसूयान्य सौभाग्यगुणादिभिः। तत्रेर्षानादराक्षेपा दोषारोपो गुणेष्वपि।।" (भ. र. सि. 2/4/164) 'अन्य के सौभाग्य और गुण आदि के कारण परम उन्नति देख कर द्वेष करने को असूया कहते हैं। श्रील रूपगोस्वामिपाद ने उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में व्रजदेवियों के असूया नामक सञ्चारी का दृष्टान्त देने के लिये वेणुगीत का यही श्लोक उद्धृत किया है। जैसे ही वेणु के सौभाग्य की बात हृदय में आई, असूया भाव प्रकट हुआ और गोपियों के अवहित्था भाव का अवसान हो गया। वे द्वेषवश वेणु के सौभाग्य और उसके श्रीकृष्णअधरामृत-पान की बात कहते-कहते अधरामृत के स्मरण मात्र से मदन-आवेश से अधीर हो उठीं; उनके हृदय का गूढ़ भाव थोड़ा-सा अभिव्यक्त हो गया।

एक गोपसुन्दरी बोली - सखियों ! गोपबालक श्रीकृष्ण के सखा हैं। श्रीकृष्ण के साथ ही

व्रज में गोपवंश में जन्मे हैं। वे सब बाल्यकाल से ही संगी हैं, हर समय सख्यभावापन्न और उनके खेल के गोष्ठलीला के साथी हैं। वे सतत उनकी वेणुमाधुरी और रूप-गुण-लीलामाधुरी आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त करेंगे, इसमें सन्देह क्या ? किन्तु वेणु है नीरस, निष्प्राण और काष्ठवंशजात शुष्क बाँस का टुकड़ा। उसने किस पुण्य के फलस्वरूप ऐसा सौभाग्य पाया ? सखियों ! उसका सौभाग्य देखकर तो लगता है कि गोपीजन्म से वेणुजन्म ही अच्छा, कारण - वेणु निरन्तर श्रीकृष्ण का सङ्ग-सुख आस्वादन किया करता है। व्रजेन्द्रनन्दन कितने आदर के साथ उसे हाथ में लिये रहते हैं। वह उनके हाथ का निविड़ आलिङ्गन प्राप्त करता है। वे उसे कभी वक्ष पर रखते हैं कभी काँख में और कभी फेंटे में खौंस लेते है; अपने लाल-लाल अधर पर रखकर उसमें फुत्कार देते रहते हैं।

सखियों ! वेणु परम सौभाग्यवान् है, इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं, पर इस सौभाग्य को लेकर वेणु इतना दुर्विनीत हो उठा है कि हम लोगों के लिये एकबारगी असहनीय है। एकमात्र गोपिकाओं की भोग्य कृष्ण-अधरसुधा पर यह वेणु स्वयं ही पूरा अधिकार कर बैठा है। कितनी धृष्टता है, देखो तो - हर समय हम लोगों को दिखा-दिखाकर उनके मुंह से मुंह लगाये अधरसुधा पीता रहता है।

श्रीकृष्ण पूर्वराग की अवस्था में व्रजदेवियों को देखकर बार-बार वेणुरन्ध्रों पर मुख रखते हैं। यह देखकर गोपिकाओं के मन में श्रीकृष्णवदन-चुम्बन की आकांक्षा जगे, इसीलिये श्रीकृष्ण की ऐसी चतुराई है। गोपबाला बोली - सखियों ! श्रीकृष्ण का और हम लोगों का इसी व्रज में एक ही गोपवंश में जन्म हुआ है, बाल्यकाल से ही हमने एक-दूसरे को देखा है, प्रेम किया है। जिस दिन माँ यशोमती ने श्रीकृष्ण को रज्जु से बाँधा, उसी दिन से उनका नाम पड़ गया 'दामोदर'। यशोदानन्दन दामोदर हम लोगों में से ही किसी गोपी का पाणिग्रहण करेंगे, अतएव दामोदर की अधर-सुधा पर एकमात्र हम लोगों का ही तो मुख्य अधिकार है। वह हम लोगों की ही भोग्य वस्तु है। वेणु नीरस, वंशखण्ड (बाँस का टुकड़ा), पुरुष जाति है; उसके कितने ही छिद्र हैं, वह अति लघु है। स्वभाव से ही कठोर और ग्रन्थियुक्त - जिसमें इतने दोष हों, उसका श्रीकृष्ण-अधरामृत पर क्या अधिकार ? वह उस अधर पर क्यों ? फिर भी वह निरन्तर श्रीकृष्ण की अधरसुधा पूरी-पूरी पी रहा है, जरा भी बाकी नहीं छोड़ता (वेणुवादन करते-करते श्रीकृष्ण के अधर पाण्डुवर्ण हो जाते हैं, इसीलिये गोपिका की यह उक्ति है)। यदि कहो कि सतत वेणुवादन करने पर भी श्रीकृष्ण के अधर तो सरस ही दीखते हैं, शुष्क नहीं दीखते, फिर वेणु ने श्रीकृष्णअधर पूरी तरह कैसे पीये ? इसका उत्तर देती हूँ। वह अधरसुधा तो पूरा ही पी जाता है, केवल द्रवमात्र (आर्द्रता ही) बचता है। श्रीकृष्णाधर-अमृत आस्वादन के लोभ में प्रमत्त गोपबाला का भाव इतनी दूर तक सम्प्रसारित हुआ कि वह बोली - "ह्रदिन्यो ह्रष्यत्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः।"

सखियों ! वेणु के पुण्यकार्य का एक अन्य लक्षण बताती हूँ, वेणु के अधरामृत-आस्वादन का अवशेष जो राग (वेणुध्वनि) के रूप में परिणत होता है, उसे व्रज की यमुना-मानसीगङ्गा आदि नदियाँ और ह्रदिनियाँ (सरोवर) सुनती हैं और यह सोचकर कि यह वेणु उन सबके रस से पुष्ट होता है वे परमानन्द के साथ कमल-विकास के बहाने अपना आनन्द व्यक्त करती हैं। श्रीकृष्ण जब वेणुनाद करते हैं, तो व्रज का स्थावर-जङ्गम पुलकित हो जाता है, नदी-तालाबों में कमल विकसित हो उठते हैं - तभी गोपिका ने यह उत्प्रेक्षा की है। वह आगे बोली - सखियों! नदी और ह्रदिनी तो स्त्री जाति हैं, इसलिये वेणु के आस्वाद्य श्रीकृष्णाधर-अमृत का अवशेष पीकर इतनी पुलकित हो ही सकती हैं, किन्तु उनके किनारों पर जो वृक्ष व्रजवास करते हुए तपस्या कर रहे हैं, वे भी अंकुर फुटाने के बहाने पुलकित होते हैं और मधुधारा-वर्षण के बहाने आनन्दाश्रु बहाते हैं। सो कैसे ? सुनो। श्रीकृष्ण इन नदीह्रदिनियों में स्नान करते हैं। उनके अधर पर वेणु का बचा हुआ एक कणिकामात्र रस लगा रहता है। ये वृक्ष उसी रस को अपनी जड़ों से खींच कर पी जाते हैं। इस प्रकार यह वेणु अकेला नहीं, इसके माता, पिता, कुल के बड़े बूढ़े - इसका पूरा समाज ही श्रीकृष्णाधरामृत पीकर प्रलुब्ध है। इसलिये सखियों ! हम इस वेणु का अपहरण कर ऐसे गुप्त स्थान पर छिपा देंगी कि यह फिर कभी कृष्णवदन न देख पाये।

"अत्यन्तसाहसवती मुरली यदेषा
कृष्णाधरं पिवति यः परकीयपेयः ।
किं सौभगं तदनयातनि येन रत्नं
यत्नं बिनापि पुरतः स्वयमेति यस्याः ।।
यत्पीतशेषरसशीकर सम्प्रयोगा-
न्नद्यः प्रफुल्लकमलावलिलोमहर्षाः ।
स्तभ्नन्ति रुद्धतरसस्तरवः प्रसून-
माध्वीकलोचनजलाः परितो रुदन्ति ।।"

(आ. वृ. 11/143 - 44)

अर्थात् सखियों ! मुरली अत्यन्त साहसी है, कारण - यह परकीय पेय अर्थात् गोपियों की ही भोग्य कृष्ण-अधरसुधा का पान कर रही है, इस मुरली ने किस सौभाग्य का विस्तार कर रखा है, जिससे बिना यत्न किये ही रत्न इसके सामने आ रहा है।

श्रीकृष्ण के स्नान के समय मुरली द्वारा पिये गये पेय के रसबिन्दु से मिल कर यमुना आदि नदियाँ प्रफुल्ल कमलश्रेणीरूपी रोमाञ्चभाव प्राप्त करती हैं, स्तम्भभाव से रुद्धवेग हो जाती हैं, और तटस्थित तरुराजि जड़ों के माध्यम से इस रसबिन्दु का संयोग पाकर पुष्पमधुरूपी प्रेमाश्रुओं से युक्त

होकर रोदन करते हैं।

श्री चैतन्यचरितामृत (अन्त्य. - 16) में देखने को मिलता है कि एक दिन श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथमन्दिर में श्री जगन्नाथदेव के गोपालवल्लभ भोग का प्रसाद पाकर श्रीराधाभाव से श्रीकृष्णअधरअमृत पर प्रलुब्ध होकर श्रील रामानन्द राय से श्रीकृष्णाधरामृत की माधुरी सुननी चाही। श्रील रामराय ने गोपिका-उक्ति इसी श्लोक का पाठ किया था। प्रभु ने गोपीभाव से इस श्लोक का जो अपूर्व आस्वादन किया, वह भाव-रसमाधुर्य की दृष्टि से अति अतुलनीय है -

**''एहों व्रजेन्द्रनन्दन, व्रजेर कोनो कन्यागण,**
**अवश्य करिबे परिणय।**
**से सम्बन्धे गोपीगण, जाँरे माने निजधन,**
**से सुधा अन्येर लभ्य नय।।**
**गोपीगण ! कहो सभे करिया विचारे।**
**कोन् तीर्थे कोन् तप, कोन् सिद्धमंत्र जप,**
**एइ वेणु कैलो जन्मान्तरे ?।**
**हेनो कृष्णाधर सुधा, जे कैलोअमृत मुधा,**
**जार आशाय गोपी धरे प्राण।**
**ए वेणु अयोग्य अति, ताते स्थावर पुरुष जाति,**
**सेइ सुधा सदा करे पान।।**
**जार धन ना कहे तारे, पान करे बलात्कारे,**
**पिते ताके डाकिया जानाय।**
**तार तपस्यार फल, देखो इहार भाग्यबल,**
**तार उच्छिष्ट महाजने खाय।**
**मानसगङ्गा कालिन्दी, भुवनपावन नदी,**
**कृष्ण जदि ताहे करे स्नान।**
**वेणुर झुटाधररस, हइया लोभे परवश,**
**सेइ काले हर्षे करे पान।।**
**एतो नारी रहु दूरे, वृक्ष सब तार तीरे,**
**तप करे पर-उपकारी।**

नदीर शेष रस पाइया, मूलद्वारे आकर्षिया,
केने पिये बुझिते ना पारि।।
निज़ांकुरे पुलकित, पुष्पहास्य विकसित,
मधु-मिषे बहे अश्रुधार।
वेणुके मानि निज जाति, आर्येर जैछे पुत्र नाती,
वैष्णव हैले आनन्द विकार।।
वेणुर तप जानि जबे, सेइ तप करि तबे,
ओ तो अयोग्य आमरा योग्य नारी।
जा ना पाइया दु:खे मरि, अयोग्य पिये सहिते नारि,
ताहा लागि तपस्या विचारि ।।" 9 ।।

**वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं**
**यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।**
**गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं**
**प्रक्ष्यादिसान्वपरतान्यसमस्तसत्वम्।। 10।।**

---

**अन्वय:** - (हे) सखि ! वृन्दावनं भुव: (पृथिव्या:) कीर्तिं वितनोति (वैकुण्ठेभ्योऽपि विशेषेण विस्तारयति) यद् (वृन्दावनं) देवकीसुत- पदाम्बुजलब्ध-लक्ष्मि (देवकीसुतस्य श्रीकृष्णस्य पदाम्बुजाभ्यां

लब्ध लक्ष्मी शोभा सम्पत् येन तत्) (किञ्च) गोविन्दवेणुम् अनु (श्रीकृष्णस्य वेणुनिनादं श्रुत्वा) मत्तमयुरनृत्यं प्रेक्ष्य (मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वा मत्ताः ये मयूराः तेषां नृत्यं दृष्ट्वा) अद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्वम् (अद्रिसानुषु अपरतानि उपरतानि अन्यक्रियाणि अन्याणि समस्तानि सत्वानि यस्मिन् तत् ।। 10।।

**अनुवाद**- हे सखि ! यह वृन्दावन वैकुण्ठ आदि धामों की अपेक्षा कहीं अधिक पृथ्वी की कीर्ति का विस्तार कर रहा है, कारण - वृन्दावनभूमि हर समय श्रीकृष्ण के पादपद्म-चिन्हों की शोभा से युक्त रहती है। फिर यहाँ मत्त मयूरों का नृत्य देखकर अन्यान्य समस्त प्राणी आनन्दजड़ अवस्था में पर्वत-शिखर पर अवस्थान करते हैं ।। 10 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण की संग-लालसा से भरी महाभाववती व्रजदेवियाँ श्रीकृष्ण के साथ जिसका भी कोई सम्पर्क देखती हैं, उसी के सौभाग्य की प्रशंसा कर अपने को वैसे सौभाग्य से वञ्चित जानकर भाग्यहीन समझकर खेद व्यक्त कर रही हैं। एक ने कहा - सखियों ! श्रीकृष्ण के वेणु के सौभाग्य की बात क्या कह रही हो, वह तो सब समय श्रीकृष्ण का सङ्गी है; उनका निविड़ करमर्दन, अधरामृत-सेवन आदि अशेष सौभाग्य पाकर सभी प्रकार से धन्य है। तुम तो यह देखो कि इस धरणी की कैसी महिमा है। वृन्दावन धरणी का सौभाग्य विस्तार कर रहा है। ''त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावन पुरी'' (पद्मपुराण) वृन्दावन धरणी पर विराजित हो श्रीकृष्ण के ध्वज-वज्र-अंकुश आदि पादपद्मचिन्हों से सतत सुशोभित होकर, स्वर्ग आदि लोकों की बात दूर, वैकुण्ठ से भी अधिक धरणी के यश का विस्तार कर रहा है। धरणी के वक्ष पर वृन्दावन श्रीकृष्ण के पादपद्म-चिन्हों से शोभित है। और धरणी भी समझती है कि श्रीकृष्ण के पादपद्म-चिन्ह मेरे वक्ष पर विराजित हैं, उन्हें मैं सतत धारणा करती हूँ, इसलिये मेरा नाम 'धरा' है। स्वर्ग आदि लोक तो अति तुच्छ है, वैकुण्ठ भी इन श्रीचरणचिन्हों की शोभा नहीं पाता, इस सौभाग्य को लेकर धरणी भी स्वयं को धन्य मानती है। विविध शास्त्रों और महाजन-वाणियों में वृन्दावन के वैकुण्ठ से भी अधिक श्रेष्ठ होने का परिचय मिलता हैं। पद्मपुराण पातालखण्ड में देखते हैं - 'अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी । दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते।' अहो, मधुपुरी अति धन्य है, वैकुण्ठ से भी अधिक गरीयसी है, कारण- वहाँ एक दिन वास करने से भी श्रीहरिभक्ति का उदय होता है। श्रीपाद रूपगोस्वामिचरण ने अपने उपदेशामृत में लिखा है - 'वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी', मधुपुरी वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ है, इत्यादि।

किसी-किसी की धारणा है - श्रीकृष्ण ने अपने पार्षदों के साथ इस व्रज में लीला की थी, वैकुण्ठ की अपेक्षा उसी व्रजधाम का श्रेष्ठत्व शास्त्र आदि में वर्णित है। श्रीकृष्ण के अप्रकट होने के

साथ ही साथ वह महामहिमासम्पन्न धाम भी अप्रकट हो गया। आज जो वृन्दावन हम देख रहे हैं, वह धरणी का अंशविशेष ही है, वह अप्राकृत चिन्मय वैकुण्ठ आदि से भी गरीयसी व्रजधाम नहीं है। फिर भी श्रीकृष्ण ने लीला की थी, इसलिये इस व्रजधाम में उपासना करने से वह शीघ्र सफल होती है, इसलिये वे लोग इसे 'उपासना क्षेत्र' समझते हैं। श्रील गोस्वामिवृन्द ने उन लोगों की ऐसी भ्रान्त धारणा दूर की है। श्रील जीवगोस्वामिपाद ने श्रीकृष्णसन्दर्भ - 107 में लिखा है - ''एषां स च प्रकाशः पृथिवीस्थोऽप्यन्तद्धनिशक्त्या तामस्पृशन्नैव विरजते। अतस्तया न स्पृश्यते पृथिव्यादिभूतमयै-रस्माभिवाराहोक्तमहाकदम्बादिरिव। यस्तु प्रापञ्चिकलोकगोचरो मथुरादिप्रकाशः सोऽयं कृपया पृथिवीं स्पृशन्नोवावतीर्णः। अतस्तयां च स्पृश्यते तादृशैरस्माभिर्दृश्यमानकदम्बादिरिव। अस्मिंश्च प्रकाशे यदावतीर्णो भगवांस्तदा तत्स्पर्शेनापि तत्स्पर्शात्तां स्पृशन्नेवास्ते स्म।'' तात्पर्य यह है कि इस पृथ्वी पर स्थित श्रीवृन्दावन आदि धामों का प्रकाश त्रिविध है - (1) अप्रकट प्रकाश (2) दृश्यमान प्रकाश (3) प्रकट प्रकाश।

(1) अप्रकट प्रकाश - श्रीकृष्ण इस समय इस धाम में जिस प्रकाश में विहार कर रहे हैं, वह प्रकाश पृथ्वी पर स्थित होते हुए भी अन्तर्धान शक्ति द्वारा पृथ्वी को स्पर्श किये बिना ही विराज रहा है, अतएव पाञ्चभौतिक देहधारी हम लोग जैसे वराहपुराणोक्त महाकदम्ब आदि वृक्षों को नहीं देख पा रहे, वैसे ही पृथ्वी उक्त प्रकाश को भी स्पर्श नहीं कर पा रही। यही कारण है कि हम लोग उस प्रकाश को चर्मचक्षुओं से भले ही न देख पायें, प्रेमिकगण प्रेम नेत्रों से उसका दर्शन कर लेते हैं। ''चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम।। प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश। गोपगोपीसङ्गे जाँहा कृष्णेर विलास।।'' (चै. च.)

(2) दृश्यमान प्रकाश - इस प्रपञ्चलोक में हम इस वृन्दावन में जिस प्रकाश को देख रहे हैं वह कृपापूर्वक पृथ्वी को स्पर्श करके ही अवतीर्ण है।

प्रापञ्चिक देहधारी हम लोग जैसे कदम्ब आदि वृक्षों को देख रहे हैं। (यह वह महाकदम्ब नहीं है, इसी प्रकाश का कदम्ब है), वैसे ही पृथ्वी भी इस प्रकाश को स्पर्श कर पा रही है। प्रापञ्चिक देहधारियों के प्रति यह श्रीधाम की परम करुणा है, (क्योंकि) स्वरूप में अवस्थान करने पर, हम उसके दर्शन न कर पाते, उसमें रह न पाते।

(3) प्रकट प्रकाश - इस दृश्यमान प्रकाश में जब श्रीकृष्ण ब्रह्मा के एक दिन में एक बार अवतीर्ण होकर प्रकट विहार करते हैं, तो वे इस प्रकाश में परिकरों के साथ विविध लीला-विलास आदि करते हैं। तब सब लीला स्थान भी यथायथ स्वरूप से प्रकाश प्राप्त करते हैं। इसी को 'प्रकट प्रकाश' कहा जाता है। श्रीकृष्ण जब प्रकट विहार करते हैं, तब इस दृश्यमान प्रकाश को स्पर्श किया करते हैं। इसीलिये वृन्दावन धरणी का सौभाग्य विस्तार कर रहा है- व्रजबालाओं की यह उक्ति तात्कालिक नहीं

है, सार्वकालिक है।

जो भी हो, श्रीकृष्ण अपने श्रीपादपद्म-चिन्हों से व्रजभूमि को भूषित करना चाहते हैं, इसलिये वे श्रीचरणों में पादुका आदि धारण नहीं करते। उन्मुक्त चरणों से ही वृन्दावन में विचरण करते हैं। (इससे) व्रजभूमि उनके परम शोभामय एवं महामहिमासम्पन्न उन्नीस श्रीचरणचिन्हों से हर समय विभूषित रहती है। इन उन्नीस चिन्हों का वर्णन गोविन्दलीलामृत में मिलता है -

**''चक्रार्द्धेन्दुयवाष्ट कोण-कलसैश्छत्रत्रिकोणाम्बरै-**
**श्चाप-स्वस्तिक-वज्रगोष्पद-दरैर्मीनोर्द्धरेखांकुशैः ।**
**अम्भोज-ध्वज-पंकजाम्बवफलैः सल्लक्षणैरंकितं**
**जीयाच्छ्रीपुरुषोत्तमत्व-गमकैं श्रीकृष्णपादद्वयम ।।''**

'चक्र, अर्धचन्द्र, यव (जौ), अष्टकोण, कलस, छत्र, त्रिकोण, अम्बर, धनु, स्वस्तिक, वज्र, गोष्पद, शंख, मीन, ऊर्ध्वरेखा, अंकुश, पद्म, ध्वज, पक्व जम्बुफल - इन उन्नीस प्रकार के स्वयंभगवत्ता परिचायक सुलक्षण-समन्वित श्रीकृष्ण-चरणों की जय हो।'

श्रीकृष्ण के श्रीचरणचिन्हों की शोभा-अतिशयता के अतिरिक्त भी महामहिमा की बात शास्त्र आदि में कही गई है। श्रीकृष्ण के पगतल में ध्वजवज्रांकुश आदि जो उन्नीस प्रकार के चिन्ह हैं, उनका उल्लेख नाना शास्त्रों में नाना तरह से मिलता है। स्कन्दपुराण में श्रीकृष्ण-चरणतल स्थित कुछेक रेखाओं का उल्लेख है, उन रेखाओं को धारण करने का कारण भी बताया गया है -

**''दक्षिणस्य पदोऽङ्गुष्ठमूले चक्रं विभर्त्यजः ।**
**तत्र नम्रजनस्यारिषड्वर्गच्छेदनाय सः ।।**
**मध्यभाङ्गुलिमूले तु धत्ते कमलमच्युतः ।**
**ध्यातृचित्रद्विरेफाणां लोभनायातिशोभनम् ।।**
**पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते सर्वानर्थजयध्वजम ।**
**कनिष्ठामूलतो वज्रं भक्तपापाद्रिभेदनम् ।।**
**पार्ष्णिमध्येहंकुशं भक्तचित्तेभवशकारिणम् ।**
**भोगसम्पन्मयं धत्ते यवमङ्गुष्ठपर्वणि ।।**
**तथा वापदाङ्गुष्ठमूलतस्तन्मुखं दरम् ।**
**सर्वविद्याप्रकाशाय दधाति भगवान सौ ।।**
**पद्मादीन्यपि चिन्हानि तत्र दक्षिणपादवत् । ''**

''श्रीकृष्ण ने अपने श्रीचरणों में प्रणत जनों के काम आदि षड़ रिपुओं के छेदन के लिये अपने दायें पदाङ्गुष्ठ (पैर के अँगूठे) के मूल में चक्र का चिन्ह धारण किया है। श्रीअच्युत ने अपने श्रीचरणों का ध्यान करने वाले के मन-भृङ्ग को प्रलुब्ध करने के लिये बीच की अँगुली के मूल में कमल-चिन्ह धारण किया है। कमल के नीचे ध्वज-चिन्ह धारण कर वे भक्त के समस्त अनर्थों को जीत कर विजयपताका उड़ा रहे हैं। कनिष्ठा-मूल में वज्र-चिन्ह भक्त के पापाद्रि (पाप-पर्वत) को चूर्ण करने के लिये है। पार्ष्णि (एड़ी) का अंकुश भक्त के चित्तरूपी मत्त हाथी को वशीभूत करने के लिये है। भक्त की भोगसिद्धि के लिये धारण किया है अङ्गष्ठमूल में यव-चिन्ह। भक्त की सम्पदा आदि माया द्वारा सृष्ट (रची) नहीं है, वह श्रीहरि की ही करुणा का दान है - इससे यही बात सूचित हुई है।

श्रीहरि के बायें पदाङ्गुष्ठ-मूल में जो शंख-चिन्ह है, वह आश्रित जनों की सर्वविद्यासिद्धि सूचित करता है। दक्षिण चरण की तरह वाम पद के पद्मादि, चिन्हों की भी वैसी ही महिमा समझनी होगी।

इस श्लोक में व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण के श्रीचरणचिन्हों की बात करते हुए श्रीकृष्ण को 'देवकीसुत' कहा है। श्रीगर्गमुनि ने श्रीकृष्ण के नामकरण के समय कहा है - ''प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः''''हे नन्द ! तुम्हारे इस पुत्र ने किसी समय वसुदेव के पुत्र के रूप में जन्म लिया है। गर्गाचार्य के वाक्य के अनुसार यहाँ श्रीकृष्ण के 'वासुदेव' 'देवकीनन्दन' आदि नामों का भी प्रयोग देखने में आता है। अथवा ''द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीत्यपि। अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया'' - वृहद्विष्णुपुराण के इस वचन के अनुसार यशोदा का भी दूसरा नाम देवकी है। इसीलिये नामसाम्य के कारण वसुदेव-गृहिणी देवकी के साथ उनका सख्य है। यशोदा यशोमती ये उनके 'डाक' (बंगला शब्द; पुकार या चलन के) नाम हैं। ये नाम व्रजवासियों को अतिशय प्रिय हैं, अतः वे प्रायः इन्हीं नामों का प्रयोग करते हैं। कदाचित् 'देवकी' नाम भी प्रयोग किया करते हैं। अतएव यहाँ देवकीसुत से यशोदासुत ही समझना होगा।

अनेक लोगों की धारणा है कि श्रीकृष्ण यशोदा के गर्भ से जन्मे हैं - इस विषय में श्रीमद्भागवत में शुकदेवमुनि का किसी प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। वसुदेव महाशय अपनी सन्तान को यशोदा के सूतिकागृह में रखकर यशोदा की कन्या को ले गये और नन्द-यशोमती ने वसुदेवनन्दन को अपना नन्दन समझकर लालन-पालन किया - ऐसी धारणा ही देखने को मिलती है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है - श्रीशुकदेव मुनि की बहुत-सी उक्तियाँ श्रीमद्भागवत में मिलती हैं, जो श्रीकृष्ण के नन्द-यशोदा के पुत्रत्व की ज्ञापक हैं, जैसे - 'नन्दात्मजः''गोपिकासुतः''पशुपाङ्गजाय' इत्यादि। फिर वे यशोदा-गर्भजात हैं, इसका स्पष्ट वर्णन भी श्रीशुकमुनि ने किया है -

''निशीथे तमउदभूते जायमाने जनार्दने ।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ।।''

(भा. 10/3/8)

भाद्र कृष्णा अष्टमी तिथि को अर्धरात्रि में घनतम अन्धकार होने पर भक्तजनों का दुःख-हरण करने वाले जनार्दन यशोदानन्दन ने पूर्व दिशा में चन्द्रोदय की तरह देवरूपिणी देवकी अर्थात् यशोदा के गर्भ से आविर्भूत होने की इच्छा की; उसी समय मथुरा में देवरूपिणी देवकी वसुदेवगृहिणी के गर्भ से सर्वगुहाशय विष्णु चतुर्भुजरूप से आविर्भूत हुए। इसी श्लोक में श्रीशुकदेव मुनि ने 'जनार्दन' और 'विष्णु' इन दो नामों से यशोदा और देवकी की दो सन्तानों के आविर्भाव का उल्लेख किया है। इस श्लोक को उद्धृत कर श्रील बलदेव विद्याभूषण ने अपने सिद्धान्तरत्न ग्रन्थ (2/15) में लिखा है - ''तम उद्भूतेऽन्धकाख्याप्ते निशीथे जनार्दने लीलापुरुषोत्तमे देव्यां यशोदायां जायमाने सति देवक्यां देवकसुतायां विष्णुराविरासीदिति योज्यम्।'' श्रीशुकदेव ने इस प्रकार गूढ़ रूप से यशोदानन्दन के आविर्भाव की बात कही, इसका कारण यह है कि उनके प्रधान श्रोता महाराज परीक्षित की यह धारणा थी कि श्रीकृष्ण वसुदेवनन्दन हैं। श्रीशुकदेव मुनि ने उनकी धारणा को किसी प्रकार का आघात न पहुँचाकर 'गूढ़' परंब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्' व्रजेन्द्रनन्दन की आविर्भाव-लीला का गूढ़रूप से ही वर्णन कर साथ ही साथ व्रजभक्तों को भी आनन्द प्रदान किया है। यह श्रीशुकमुनि की अद्भुत वाग्मिता का ही परिचायक है।

जो भी हो, वृन्दावन के सौभाग्य की बात बताते-बताते गोपिका के मन मे वनभूमि की शोभा और वृन्दावन के पशुपक्षियों के सौभाग्य की भी स्फूर्ति हुई, तो वह बोली - सखियों ! विचित्र क्रीड़ारसिक गोपाल चूड़ामणि श्रीगोविन्द वन्य वेशभूषा से विभूषित होकर गोपबालकों से घिरे जब गोचारण के लिये वृन्दावन में प्रवेश कर वेणु बजाते हैं, तो वृन्दावन के मयूरों के दल उन्हें मृदुमधुर गर्जन-समन्वित नीलमेघ समझकर परमानन्द में प्रमत्त हो नृत्य करने लगते हैं। उनके लावण्य को ही ज्योत्स्ना मान बैठते हैं। ''मुरलीर कलध्वनि, मयूर गर्जन शुनि, वृन्दावने नाचे मयूरचय। अकलंक पूर्णकल, लावण्यज्योत्स्ना झलमल, चित्र चन्द्रेर ताहाते उदय।।''

अथवा वृन्दावन के मयूर श्रीकृष्ण के प्रति स्वाभाविक रूप से ही प्रीति रखते हैं, कारण - श्रीकृष्ण उनके पंखों को चूड़े में धारण करते हैं। जब वे वेणुवादन करते हैं, मयूर प्रमत्त होकर नृत्य कर उठते हैं। उस समय उनके दो-चार पंख गिर पड़ते हैं, तो श्रीकृष्ण बड़े आदर से उन्हें अपने मस्तक पर धारण कर लेते हैं। श्रीकृष्ण सोचते हैं, ये मयूर मानो कह रहे हैं - 'हे प्रेम के देवता ! हम पक्षी जाति हैं, तुम्हारी किसी प्रकार की सेवा की योग्यता अथवा सौभाग्य हमारे पास नहीं, पर न जानें क्यों, मनुष्य मात्र

हमारे पंखों से प्रेम करता है; तभी ये तुच्छ दो-चार पुच्छ तुम्हें दिये, तुम कृपा कर इस क्षुद्र उपहार को ग्रहण करोगे ? यही सोचकर श्रीकृष्ण उनका वह प्रीति-उपहार सादर उठाकर चूड़े में लगा लेते हैं। प्रीतिपूर्वक दिया उपहार उन्हें इतना प्रिय जो है ! यह देखकर मयूरों के आनन्द की सीमा-परिसीमा नहीं रहती। सहस्र-सहस्र मयूर अपने पंख फैलाये उन्हें घेरकर नृत्य करने लगते हैं। तब श्रीकृष्ण भी परमानन्द से भरकर वेणु बजाते हैं। गोवर्द्धन के शिखर पर यह अद्‌भुत शोभा देखकर वहाँ के सब पशु-पक्षी स्थावर-जङ्गम गायें गोपबालक सभी आनन्दजड़ अवस्था में श्रीकृष्ण का वेणुनाद-श्रवण और मयूरों का नृत्य दर्शन करने लगते हैं।

व्रजसुन्दरी बोली - सखियों ! यह शोभा वृन्दावन को छोड़ और कहीं नहीं है। हाय ! हम लोगों का कैसा दुर्भाग्य है। यदि गोपियाँ न होकर व्रजभूमि होतीं, तो हम श्रीकृष्ण के श्रीचरणचिन्ह वक्ष पर धारण करने का सौभाग्य पाती, जीवन धन्य होता। यदि वृन्दावन के पशु-पक्षी होतीं, तो श्रीकृष्ण के मधुर वेणुगायन-श्रवण के साथ-साथ इन मयूरों का नृत्य देखने का सौभाग्य पातीं। विधाता ने हमें गोपी जन्म देकर सभी प्रकार से विड़म्बित किया है। कैसा दुर्भाग्य है हम लोगों का ! व्रज के पशु-पक्षी स्थावर-जङ्गम हमसे कोटि-कोटि गुने सौभाग्यशाली हैं। श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं - "तच्च तासां प्रेमविशेषस्वाभाविकयातृप्त्यार्तिक्षणमेवेति सर्वत्रोह्यम।" (लघुतो0) यह गोपिकाओं के महाभाव की स्वाभाविक अतृप्ति की परिचायिका उक्ति है - ऐसा सभी श्लोकों में समझना होगा। वस्तुतः महाभाव में ही श्रीकृष्णमाधुरी-आस्वादन की पराकाष्ठा है। व्रजसुन्दरी ने कहा - सखि !

**"धन्या जयत्ययि मही महिता महिम्ना कृष्णस्य यच्चरणचिन्ह-विचित्रवक्षाः ।**
**वंशीरवामृतरसैः सरसान्तरेव याजस्रभेव यवसांकुररोमहर्षा ।।**
**वृन्दावनस्य महिमा न हि मादृशीनां गम्यो यदत्र मुरभिन्मुरलीरवेण ।**
**स्ववान्तं विलास्य मृदुलास्यमयुर्मयुराः, स्यन्दं जहुस्तरुलता मरुता हताश्च ।।"**

(आ. वृ. - 11/145-46)

"यह धरणी धन्य है, महामहिमा-मण्डित है, कारण - श्रीकृष्ण ने उसके वक्षस्थलरूपी वृन्दावन को स्वाधीनभर्तृका कान्ता के वक्ष पर पत्रभङ्गरचना (चन्दन आदि से चित्रण) की तरह अपने श्रीचरणचिन्हों से चित्रित किया है। (स्वाधीनभर्तृका कान्ता कहने का तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण जहाँ भी विहार करते हैं, उनके श्रीचरण हर समय धरणी के वक्ष पर ही विद्यमान रहते हैं, कभी भी धरणी से अलग नहीं होते। धरणी का हृदय श्रीकृष्ण के वंशीरव-अमृत से निरन्तर सरस बना रहता है, कारण - सर्वत्र ही तृण और अंकुरों के बहाने शरीर पर उसका रोमहर्ष (पुलक, रोमाञ्च) बना रहता है।

वृन्दावन की महिमा मुझ- जैसे व्यक्ति के ज्ञान के अगोचर है। यहाँ मुरारि के मुरलीरव पर

मंयूर अपने-अपने हृदय के उल्लास से मृदु-मृदु नृत्य करते है। तरुलता - श्रेणियाँ मृदु मन्द मारुत से आन्दोलित होकर भी स्तम्भभाव से निस्पन्द हो अवस्थान करती है।'' 10 ।।

**धन्याः स्म मूढ़गतयोऽपि हरिण्य एता,**
**या नन्दनन्दन मुपात्तविचित्रवेषम्।**
**आकर्ण्य वेणुरिफितं सहकृष्णसाराः**
**पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः।। 11।।**

---

**अन्वयः** - मूढ़गतयः (तिर्यग्जातयः) एताः हरिण्यः अपि धन्याः (कृतार्थाः) स्म, याः (हरिण्यः) वेणुरिफितम् (श्रीकृष्णस्य वेणुनादम्) आकर्ण्यं (श्रुत्वा) सहकृष्णसाराः (स्वपतिभिः सह) उपात्तविचित्रवेषं (उपात्ताः गृहीताः विचित्राः वेषाः येन तं) नन्दनन्दनं प्रणयावलोकैः विरचितां पूजां दधुः विदधिरे ।। 11।।

**अनुवाद**- हे सखियों ! वन में विचरण करने वाली हरिणियाँ तिर्यग् जाति विवेकहीन होते हुए भी धन्य हैं, कारण - वे श्रीकृष्ण को वेणुनाद सुनते ही कृष्णसार (मृगों) के साथ श्रीकृष्ण के निकट पहुँचकर विचित्र वन्यवेशभूषा से भूषित श्रीनन्दनन्दन के प्रति सप्रेम दृष्टिपातरूपी उपचार अर्पण कर उनकी पूजा किया करती हैं ।। 11 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

व्रजसुन्दरियाँ अपने महाभाव के स्वभाव के वश परम आर्ति-अतृप्ति से भरकर श्रीकृष्ण के साथ जिनका सम्बन्ध-लेश भी देखती हैं, उनके सौभाग्य की प्रशंसा कर रही हैं और परम दैन्य के उद्रेक

से स्वयं को वैसे सौभाग्य से सभी प्रकार से वञ्चित जानकर खेद कर रही हैं। किसी व्रजसुन्दरी से वृन्दावन के सौभाग्य की बात सुनकर किसी गोपबाला ने कहा – सखियों ! वृन्दावन समस्त हरिप्रियजनों का परम समाश्रय है, उसका ऐसा सौभाग्य होगा, यह कहना ही बहुत है, किन्तु वृन्दावन में वनचारिणी हरिणियों का सौभाग्य देखकर आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहा जाता। वृन्दावन की ये हरिणियाँ कितनी धन्य हैं। ये 'मूढ़गतयः' अर्थात् मूढ़गति या विवेकहीन पशुजाति हैं। इन्हें नरनारी के रूपगुण आदि का कोई ज्ञान नहीं। विवेकहीन पशुजाति होते हुए भी ये श्रीकृष्ण-दर्शन के सौभाग्य से वञ्चित नहीं रहतीं। हम लोग मनुष्यजाति विवेक बुद्धिसम्पन्न होते हुए भी इन – जैसे सौभाग्य से वञ्चित हैं। कृष्ण सम्बन्धविहीन मानवजाति की अपेक्षा ये विवेकहीन पशु-जाति हरिणियाँ कोटि गुना श्रेष्ठ हैं। हरिणियाँ वृन्दावन-वनचारिणी होते हुए भी व्रजदेवी ने इन्हें दृश्यमान की तरह 'एता' कहा है। इन लोगों के महाभाव के दर्पण में श्रीकृष्णलीला के चित्र मानो प्रत्यक्ष की तरह ही प्रतिफलित हो उठे हैं।

इस श्लोक में व्रजदेवी ने श्रीकृष्ण का 'नन्दनन्दन' नाम लेकर श्रीकृष्ण के अखिलगुण महत्व की सूचना दी है। श्रीकृष्ण अशेष कल्याणगुण के समुद्र होते हुए भी व्रजवासियों के सविशेष चित्ताकर्षक हैं उनके चार असाधारण गुण, जो व्रज को छोड़ अन्यत्र प्रकट नहीं होते –

''सर्वाद्भुतचमत्कार-लीलाकल्लोलवारिधिः ।
अतुल्यमधुर प्रेममण्डित प्रियमण्डलः ।।
त्रिजगन्मानसाकर्षि- मुरलीकलकूजितः ।
असमानोर्द्ध-रूपश्री- विस्मापित-चराचरः ।।''

(भ. र. सि. – 2/1/41-42)

सभी के अद्भुत चमत्कार-जनक लीलारस के कल्लोलित समुद्र; अतुलनीय माधुर्ययुक्त महाभाव तक समस्त प्रेम द्वारा भक्तवृन्द के मण्डनकर्ता (अलंकृत करने वाले); मुरली के अव्यक्त कलनिनाद से त्रिजगत के चित्ताकर्षक और असाधारण रूपमाधुर्य से स्थावर – जङ्गमात्मक विश्व में विस्मय जगाने वाले – महाभाववती व्रजसुन्दरियों के चित्त में इस गुणचतुष्टय का सर्वाधिक चमत्कार है ! 'नन्दनन्दन' उक्ति से परमसुन्दर वेश और रसिकत्व आदि गुण भी सूचित किये गये हैं। 'श्लेषेण नन्दं साक्षादानन्दमप्यानन्दयतीति परमानन्द घनमूर्तिमित्यर्थः।'' (वृ0 तोषणी) 'नन्दनन्दन' उक्ति से यह भी सूचित हुआ कि वे आनन्द के भी आनन्ददाता अर्थात् परमानन्दघन मूर्ति हैं। चिदानन्द घनस्वरूप श्रीमन्नारायण (भूमापुरुष) ने श्रीकृष्ण-दर्शन की लालसा से द्वारका के ब्राह्मण बालकों का अपहरण किया था। (भा. 10/89 में यह आख्यान है) जो वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी आदि के मन का भी हरण करते हैं। जो स्त्री-पुरुष, स्थावर-जङ्गम सभी के चित्ताकर्षक साक्षात् मदनमोहन हैं। यहाँ तक कि दर्पण

आदि में अपना माधुर्य देखकर प्रलुब्ध होकर उन्होंने श्रीराधा-भाव अङ्गीकार कर श्रीगौराङ्ग महाप्रभुरूप में स्वयं ने स्वयं का ही आस्वादन किया है और इस परमानन्दघन मूर्ति के आस्वादन के सर्वोत्कृष्ट उपाय व्रजरससाधना की शिक्षा विश्वमानव को दी है। वे आनन्द के भी आनन्दस्वरूप परमानन्दघन मूर्ति होंगे, इसमें सन्देह क्या ?

"लक्ष्मीकान्त आदि अवतारेर हरे मन ।
लक्ष्मी आदि नारीगणे करे आकर्षण ।।
पुरुष-जोषित् किबा स्थावर जङ्गम ।
सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथमदन ।।
आपन माधुर्ये हरे आपनार मन ।
आपने आपना चाहे कर्गिने आलिङ्गन ।।"

(चै. च. मध्य0 8)

जो भी हो, व्रजदेवी बोलीं - सखियों ! हरिणियाँ श्रीनन्दनन्दन का वनमाला, मयूरपुच्छ का चूड़ा, गुञ्जाहार आदि से युक्त अति विचित्र भुवन मोहन वेश देखकर और उनका वेणुनाद सुनते ही उनके निकट छूटी आती हैं। हरिणियों की ओर देखकर समझ में आता है कि उनके प्रेम की तुलना नहीं। वे जाति से पशु हैं, ज्ञानबुद्धि है नहीं, अच्छा-बुरा समझने की क्षमता नहीं; पर इससे क्या, प्रेम से उनके हृदय भरे हैं। वे श्यामसुन्दर रूप को प्राणों से भी अधिक प्रेम करती हैं। जैसे ही श्रीकृष्ण वन में प्रवेश करते हैं, वे दौड़ी आती हैं। वेणु बजता है, तब तो बात ही नहीं। वेणुरव सुनते ही दूरदेश में होने पर भी छूटी आती है; चारों ओर से श्रीकृष्ण को घेरकर खड़ी हो जाती हैं। वे अपने पतियों (कृष्णसार मृगों) को भी ले आती हैं। सखि ! वे सत्य ही कृष्णसार हैं, उनका कृष्णसार नाम सार्थक है। उन्होंने कृष्ण को ही सार बना रखा है। ये कृष्णसार अपनी पत्नियों को कृष्ण अनुरागिनी देखकर आनन्द से आत्महारा हो जाते हैं। हरिणियाँ जब कृष्ण-दर्शन को जाती हैं, ये भी उनका अनुगमन करते हैं, कारण - ये भी कृष्णानुरागी हैं कृष्ण को सार कर रखा है। ऐसा कृष्णानुरागी पति पाना ही तो रमणी जीवन की सार्थकता है। हरिणियों का जीवन ही सार्थक है। वे परम मनोहर मूर्ति श्रीहरि के पार्श्व में खड़ी हो उनकी रूपमाधुरी दर्शन कर और वेणुनाद श्रवण कर धन्य होती हैं। यदि हम लोग भी इसी प्रकार गोपीजनवल्लभ के पार्श्व में जाकर खड़ी हो पातीं, तो हमारा गोपी नाम सार्थक होता। हमारा गोपी नाम वृथा है।

सखियों ! गृहस्थ के द्वार पर कोई सम्माननीय अतिथि आता है, तो गृहस्थ प्रीतिपूर्वक सादर स्वागत करता है। उसी प्रकार हरिणियाँ भी अपने गृहद्वार पर समागत प्राण-प्रियतम अतिथि श्यामसुन्दर को देखकर तरल नयनों से प्रणय-अर्घ्य लेकर उनका सादर अभिनन्दन किया करती हैं। उनके मुँहों में

भाषा नहीं है, किन्तु नयनों में राग (प्रेम) है। सखियों, राग के बिना क्या नयन इतने सुन्दर होते हैं ? उनके हृदय का प्रेम नयनों में अभिव्यक्त होता है। धन्य है हरिणियों का जीवन। प्रेम के देवता की पूजा कैसे की जाती है, यह वे अच्छी तरह जानती हैं। और धन्य हैं उनके पति कृष्णसारगण, जो पत्नियों की कृष्णोपासना में बाधा नहीं देते, अनुकूलता ही देते हैं। हम सब इतनी हतभागिनी हैं कि हमारे पतियों का अनुकूलता देना तो दूर, कृष्ण हमारे द्वारदेश पर आ खड़े हों तो एक बार देख भी नहीं सकतीं; तर्जन-गर्जन करते दौड़े आते हैं। हाय ! हमारा कैसा दुरदृष्ट है (हमारे साथ कैसा अन्याय हुआ है) ! इससे तो हरिण-जन्म सहस्र गुना अच्छा था। हा विधाता ! गोपीजन्म न देकर यदि वृन्दावन में हरिण का जन्म देते, तो श्रीहरि के दर्शन कर जीवन धन्य कर पातीं।

"किं दुश्चरं चरितमालि तपो मृगीभिः,
पश्यन्ति याः समुरलीकलमास्यमस्य ।
अक्ष्णोः प्रकामकमनीयगुणत्वमासां
मा साम्प्रतं भवति सम्प्रति सम्प्रतीहि ।।
सौभाग्यभागियमहो सखि कृष्णसारी,
सारीकरोति नयने सह-कृष्णसारा ।
वंशीनिनादमकरन्दभरं दधानं
कृष्णास्यपंकजमशंकितमापिवन्ती ।।"

(आ. वृ. - 11/147-48)

हे सखि ! मुरली के कलगायन से कमनीय (बने) कृष्ण-मुख का जो दर्शन कर रही हैं, उन हरिणियों ने कैसी कठोर तपस्या की थी। इनके नयनों की प्रचुर कमनीयता की बात तो प्रसिद्ध ही है। सम्प्रति वह पूरी तरह विश्वास योग्य है।

हे सखि ! कितने सौभाग्य की अधिकारिणी हैं ये कृष्णसारी (हरिणियाँ), जो वंशीनिनाद-मकरन्द- रसपूर्ण श्रीकृष्ण के मुखकमल का अपने पतियों कृष्णसारगण के साथ निःशंक होकर पान कर नेत्रों को सार्थक कर रही हैं। (वह सौभाग्य हम लोगों का नहीं है। हमारे पति तो विपरीतधर्मी हैं, कृष्ण को सार बनाना तो दूर, उल्टे दुष्ट प्रकृति हैं। शाम के समय कृष्ण घर लौटते हैं, तो हम लोग निःशंक होकर उनके दर्शन नहीं कर सकतीं। यही ध्वनित हुआ है - टीका श्रीलविश्वनाथ।)।" 11 ।।

**कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं**
**श्रुत्वा च तत् क्वणित वेणुविविक्तिगीतम्।**
**देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा**
**भ्रश्यत्-प्रसनकवरा मुमुहु र्विनीव्यः।। 12।।**

---

**अन्वयः** - वनितोत्सवरूपशीलं (वनिताः अनुरागयोग्याः स्त्रीजातयः तासाम् उत्सवो यस्मात् तद्रूपं शीलञ्च यस्य तं) कृष्णं निरीक्ष्य तत् क्वणितवेणुविविक्तगीतं (तत् क्वणितस्य वादितस्य विविक्तं शृङ्गारादि-रसलब्धविभागं वेणुगीतं) श्रुत्वा च विमानगतयः देव्यः स्मरनुन्नसाराः (स्मरेण नुन्नसाराः परिक्षिप्तधैर्याः) भ्रश्यत् प्रसूनकवराः (विगलित केशबन्धाः) विनीव्यः (विगता स्खलिताः नीव्यः यासां ताः) मुमुहुः (मूर्छां प्रापुः) ।। 12।।

**अनुवाद**- वनिताओं को परमानन्द प्रदान करने वाले रूपगुणशाली सर्वचित्ताकर्षक श्रीकृष्ण के दर्शन कर और उनका शृङ्गाररसमय रागयुक्त वेणुनाद श्रवण कर विमानचारिणी देवियाँ भी काममोहित हो जाती हैं, फलस्वरूप उनका केशबन्धन विगलित (ढीला) और कटिवस्त्र स्खलित हो जाता है। तब वे मूर्छित होकर अपने-अपने पति की गोद में ढल पड़ती हैं ।। 12 ।।

**गीतामृतलेश टीका –**

श्रीकृष्णसङ्ग की लालसा में परम व्याकुल कृष्णानुरागिनी व्रजदेवियों का किसी भी प्रकार श्रीकृष्ण का सङ्ग प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसलिये वे जिसके साथ भी श्रीकृष्ण का कोई भी सम्बन्ध देखती हैं, उसी को परम भाग्यवान् समझती हैं और महाभाव के स्वभाव के वशीभूत होकर हृदयविदारक आर्ति एवं तृष्णा से अधीर हो स्वयं को भाग्यहीन मानती हैं। ऐसा असाधारण दैन्य उनके प्रेम की परिपक्व दशा महाभाव से ही आता है।

**''दैन्यन्तु परमं प्रेम्नः परिपाकेन जन्यते ।**
**तासां गोकुलनारीणामिव कृष्ण-वियोगतः ।।''**

(वृ. भा. - 2/5/214)

परमप्रेम की परिपक्व दशा से ही ऐसे दैन्य का उद्रेक हुआ करता है। गोपबालाओं का श्रीकृष्णविरहजनित दैन्य ही उसका दृष्टान्त है।

जो भी हो, किसी गोपसुन्दरी ने पिछले श्लोक में वृन्दावन की हरिणियों के सौभाग्य की प्रशंसा की, तो एक व्रजबाला बोली - सखियों ! हरिणियाँ वृन्दावनवास कर सतत श्रीकृष्ण की वनविहार-लीला

दर्शन और वेणुनाद श्रवण का सौभाग्य पाती हैं, पतियों के साथ गृहद्वार पर आये प्राणों के अतिथि श्यामसुन्दर की दृष्टि-उपचार से पूजा करती हैं - इस प्रकार नित्य धन्य होती हैं। उन वृन्दावनवासियों का ऐसा सौभाग्य प्राप्त करना तो स्वाभाविक है, किन्तु दैवयोग से विमान में वृन्दावन के आकाश में आईं देवियों का सौभाग्य देखकर तो विस्मित होना पड़ता है। अकस्मात् आईं देववधुएं भी श्रीकृष्ण-दर्शन और उनके वेणुनाद-श्रवण से वञ्चित नहीं रहतीं। ''कृष्णं निरीक्ष्य'' इस अंश की व्याख्या में लिखा है - 'कृष्णमिति चित्ताकर्षकम्' (लघुतोषणी) अर्थात् इस श्लोक में कृष्णनाम लेकर व्रजबाला ने श्रीकृष्ण के चित्ताकर्षकत्व की सूचना दी है। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है- ''सर्वाकर्षणशक्तिविशिष्ट आनन्दात्मा कृष्ण इत्यर्थः सर्वाकर्षक सुखरूपोऽसौ ..... तदेवं स्वरूप गुणाभ्यां परमवृहत्तमः सर्वाकर्षक आनन्दः कृष्ण शब्द वाच्य इति ज्ञेयम्। ..... आकर्षति निखिल चराचरान् स्वमाधुर्यमहिम्ना स्वरूपानन्देप वेति कृष्णः। तेनाकर्षणपूर्वकानन्ददायिनराकृतिपर ब्रह्म कृष्णशब्दोऽर्थः। 'तमालश्यामलत्विषि यशोदास्तनन्धयो' रूढ़िरिति नामकौमुदी। (टीका ब्रह्मसंहिता, प्रथम श्लोक) अर्थात् कृष्ण हैं सर्वाकर्षणशक्तिसम्पन्न आनन्दात्मा। वे सर्वाकर्षक हैं, कारण - साक्षात् सुखस्वरूप हैं। सुख या आनन्द वस्तु का आकर्षण धर्म स्वतः सिद्ध है। अपने रूप-गुण लीलादि से सर्वाकर्षक परम वृहत्तम आनन्द ही 'कृष्ण' शब्द का वाच्य है, यह जानना होगा। जो अपने स्वरूपानन्द या अपनी माधुर्यमहिमा की सर्व-अनुरञ्जिनी शक्ति से विश्व के समस्त स्थावर-जङ्गम के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, वे ही कृष्ण हैं। अतएव आकर्षित कर आनन्द प्रदान करने वाला नराकृति परब्रह्म कृष्ण शब्द का अर्थ है। नाम कौमुदी ग्रन्थ में देखते हैं - तमालश्यामलकान्ति यशोदा का स्तन-पान करने वाला कृष्ण शब्द की रूढ़िवृत्ति है।

व्रजदेवी ने कहा - सर्वाकर्षक श्रीकृष्ण का 'वनितोत्सव-रूपशीलं निरीक्ष्य', जिनका रूप और सुस्वभाव अनुरागयोग्य स्त्री जाति मात्र के नयनों का और मन का 'उत्सव' अर्थात् परमानन्ददायक है। सभी के लिये आकर्षक होते हुए भी साक्षात् शृङ्गार रमणीमोहन मूर्ति है, अनुरागिनी स्त्रीजाति का चित्त समधिक रूप से आकर्षित करना ही श्रीकृष्ण का स्वभाव है।

रासलीला में श्रीकृष्ण की पतिव्रता धर्म-पालन विषयक उपेक्षावाणी सुनकर गोपियों ने कहा है-

''का स्त्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत-
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यदेगाद्विजदुममृगाः पुलकान्यविभ्रन् ।।''

'हे कृष्ण ! क्या त्रिभुवन में ऐसी कोई स्त्री है, जो तुम्हारे मधुर-अस्फुट अमृतमय स्वरावलीयुक्त वेणुगीत सुनकरऔर तुम्हारा त्रिभङ्ग ललित श्यामसुन्दर रूप देखकर आर्यपथ या पतिव्रता धर्म से विचलित न हो ? रमणियों की बात दूर, तुम्हारे इस त्रैलोक्य-सुन्दर रूप के दर्शन कर तो पशु-पक्षी, गायें, वृक्षलतायें तक परमानन्द से पुलकित हो जाते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु ने नीलाचल में गम्भीरालीला में कूर्माकृति अनुभाव के समय श्रीरामानन्द राय के मुख से उल्लिखित श्लोक सुनकर प्रलाप किया है -

**''नागर ! कहो तुमि करिया निश्चय।**
**एइ त्रिजगत् भरि, आछे जतो योग्या नारी,**
**तोमार वेणु काँहा ना आकर्षय।।**
**कैला जतो वेणुध्वनि, सिद्धमंत्रादि योगिनी,**
**दूती हैया मोहे नारीर मन।**
**महोत्कण्ठा बाढ़ाइया, आर्यपथ छाड़ाइया,**
**आनि तोमाय करे समर्पण।।**
**धर्म छाड़ाय वेणुद्वारे, हाने कटाक्ष कामशरे,**
**लज्जा-भय सकल छाड़ाय।**
**एबे आमाय करि रोष, कहि परित्याग दोष,**
**धार्मिक हइया धर्म शिखाय।।''**

(चै. च. अन्त्य. 17)

इस श्लोक के 'शीलं' शब्द की व्याख्या में लिखा है - 'सुस्वभावः'। प्रश्न हो सकता है, पतिव्रता रमणी का पातिव्रत्य ध्वंस कर देना क्या कृष्ण के सुस्वभाव का परिचय है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है - वस्तुतः यदि कभी कोई पतिव्रता रमणी वंशीध्वनि सुन पाती है, तो वह औपाधिक (उपाधि-दोषयुक्त) पति-पत्नी भाव त्यागकर निरुपाधिक परमपति आत्मा के आत्मा परमात्मा के परमस्वरूप श्रीकृष्ण के भजन में प्रवृत्त होती हैं, कारण - पति-पत्नी भाव तो मायिक है, और भगवत्-कैंकर्य (दासत्व) तुरीय अप्राकृत है। जब तक देह में अभिनिवेश रहता है, तभी तक पतिपत्नी आदिक मायिक भाव रहते हैं। तब तक पतिव्रता का पातिव्रत्य ही धर्म माना जाता है। किन्तु स्त्रीपुरुष-भाव तो जीव का स्वरूप नहीं है; जीव का स्वरूप है चिदानन्द-स्वभाव भगवद् दास। स्वरूप में स्थित हो सकें, तो कौन किसका पति, कौन किसकी पत्नी। 'के कस्य पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्'

(भागवत)। जीव का यह मोह अनादि है। इसका विनाश कर स्वस्वरूप के जागरण के लिये शास्त्रों में साधन-भजन का उपदेश है। ब्रह्मविद्या या पराविद्या इस मोह का नाश किया करती है। श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि वही पराविद्या है; परब्रह्म के अधर से नित्य संलग्न। वह वेणुध्वनि सुनकर केवल स्त्री जाति का क्यों, सभी जातियों का मायिक स्वभाव नष्ट हो जाता है। अपना परम स्वरूप परम स्वभाव जाग उठता है। इसलिये रासरजनी में व्रजगोपियों ने ही कहा है – ''कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ?'' हे कृष्ण ! तुम्हीं सबके परम बान्धव हो, आत्मा और नित्यप्रिय हो, इसलिये शास्त्रनिपुण सार-असार में विवेककुशल व्यक्ति तुमसे ही प्रीति करते हैं। पति-पुत्र आदि नाना प्रकार से सभी के दुःखप्रद हैं, इसलिये उनसे सम्बन्ध रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

जो भी हो, व्रजदेवी ने कहा – हे सखियों ! नभचारिणी देववधुओं का सौभाग्य तो देखो ! वे तो व्रज के आकाशमार्ग में विमान-चढ़ी पतियों की गोदों में ही बैठी श्रीकृष्ण-दर्शन और उनका वेणुनाद-श्रवण कर जीवन धन्य कर रहीं हैं। हाय ! हम कैसी हतभागिनी हैं, व्रज में गोपकुल में जन्म लेकर और व्रजवास करके भी श्रीकृष्ण के सभी सम्बन्धों से वञ्चित हैं। हरिणियों पशुजाति हैं, वे भी श्रीकृष्णदर्शन और वेणुनाद-श्रवण का सौभाग्य पाती हैं। उधर देवियाँ देव जाति हैं, वे भी अबाध रूप से श्रीकृष्ण दर्शन और वेणुनाद-श्रवण कर धन्य होती हैं। अतएव हमें लगता है कि निकृष्ट तिर्यग् जाति और उत्कृष्ट देवजाति श्रीकृष्णदर्शन एवं उनका वेणुनाद श्रवण कर धन्य होता है; केवल बीच की मनुष्य जाति, विशेषतः हम रमणियाँ, सभी प्रकार के सौभाग्य से वञ्चित हैं। यदि विधाता हमें निकृष्ट या उत्कृष्ट बनाता, तो हमारा जन्म इस तरह विफल न होता।

सखियों ! हमारे श्यामसुन्दर का रूप-गुण-स्वभाव आदि अनुरागिनी रमणियों के नयनमन का उत्सव या परमानन्ददाता है। वे एक तो परमानन्दघनमूर्ति श्यामचिक्कणकान्ति हैं, ऊपर से उज्ज्वल पीतवस्त्र परिधान, ललित त्रिभङ्ग मुद्रा, गले में वनमाल ! फिर अधरपल्लवों पर विश्वविमोहन हास्य, कानों तक फैले कुटिल नयनों में कैसा मनोहर कटाक्ष !! सबसे ऊपर भुवनमोहन वेणुनाद । इतना ही नहीं, विचित्र मधुर गोष्ठलीला भी तो है !! इससे रमणीजाति मात्र का चित्त-मन आनन्दरस में डूब जायेगा, इसमें आश्चर्य क्या ? पदकर्ता व्रजबाला के श्रीकृष्णरूपानुभव को व्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं –

**''विकच सरोज, भाणमुख मण्डल,**
**दिठि भङ्गिम नट खञ्जन जोर।**
**किये मृदु माधुरी, हास उगारइ,**
**पिबि आनन्दे आँखि पड़ल विभोर।।**

वरणि ना हय रूप वरण चिकनिया।
किये घन पुञ्ज, किये कुवलय-दल,
किये काजर किये इन्द्रनीलमणिया।।
अङ्गद वलया, हार मणि-कुण्डल,
चरणे नूपुर कटि किंकिणी कलना।
आभरण-वरण, किरणे अङ्ग ढरढर,
कालिन्दी-जले जैछे चान्दकि चलना।।
कुञ्चित केश, कुसुमावली तछु पर,
शिर-पर शोभे शिखि-चान्दकि छान्दे।
अनन्त दास पहुँ, अपरूप लावणि,
सकल युवती-मन पड़ि गेओ फान्दे।।''

व्रजदेवी ने कहा - हे सखियों ! शृङ्गाररसराज गोविन्द की मूर्ति वनिता मात्र की परमानन्दप्रद है। जिस रमणी ने उसे देखा है, वही विमोहित हो गई है। वन की हरिणी से आरम्भ कर स्वर्ग की देवी तक कोई नहीं छूटा। स्त्रीजाति मात्र ही उनके रूप पर मुग्ध है; वह देखते ही उन्मादिनी बनी दौड़ी आती है।

एक दिन की बात बताती हूँ, सुनो। स्वर्ग की देवियाँ देवताओं के साथ विमानों में चढ़कर आकाशमार्ग से जा रही थीं। रूप-यौवन के गर्व से छाती भरी है। पृथ्वी को हेय समझ रही थीं। सोचतीं, अमृतपान कर हम स्थिर यौवना हैं, और जगत् की नरनारियों का यौवन तो दो-तीन दिन का है - 'द्वित्रीण्येव दिनानि यौवनमिदम्'। इसलिये किसी को मुड़ कर नहीं देख रहीं। धरा के वक्ष पर वृन्दावन है और वृन्दावन में इस समय रमणीमोहन मूर्ति श्रीगोविन्द का आविर्भाव हुआ है, यह बात वे जानती न थीं। नहीं जानतीं कि धरा के वक्ष पर नवीन मदन का उदय हुआ है। सहसा श्रीकृष्ण का वेणुरव उनके कानों में पड़ा। श्याम के मोहन वेणुरव से यमुना-पुलिन, वृन्दावन भूमि, समस्त वायुमण्डल भर उठा था। वेणुरव सुनकर चौंककर देवियों ने जैसे ही धरणी की ओर देखा, श्याम की रमणीमोहन मूर्ति नयनगोचर हुई। अब जायेंगी कहाँ ? बस मंत्रमुग्ध की तरह ताकती रह गईं। अनङ्गरस से हृदय जर्जर हो उठा। स्वयं को सँभाले रखने की क्षमता नहीं रही। सिर का कवरीबन्धन (जूड़ा) खुल गया। मुक्त कवरी से मल्लिका की मालायें झरने लगीं। नीवि (नाड़ा) - बन्धन भी शिथिल हो गया। बन्धन भला रहेगा कैसे ? हृदय का बन्धन शिथिल जो हो गया ! देखते-देखते देवियाँ चेतना खोकर अपने-अपने पति की

गोद में ढुलक गईं। हाय ! कहाँ गया वेशभूषा और कहाँ उनका विमानविहार; श्रीकृष्ण की रूप की वन्या (बाढ़ प्रवाह) ने सब बहा दिया।

सखियों ! देवता भी अपलक नेत्रों से देवियों की अवस्था देखने लगे; उनकी वह अवस्था देख कर उन्होंने द्वेष नहीं किया; वे तो उल्टे कृष्णप्रेमवती रमणियों का स्वामी मानकर स्वयं को भाग्यवान् समझने लगे। यही कारण है कि वे उस दिन से नित्य पत्नियों के साथ वृन्दावन के आकाश में आकर गोविन्द के दर्शन करते हैं और उन पर कुसुम बरसा कर पूजा करते हैं। इधर हम लोग व्यर्थ ही घरों में रहती हैं, पलभर को भी गोविन्दवदन नहीं देख पातीं। सास-ननद-पति सभी विरुद्ध हैं। हाय ! हम लोगों का कैसा दुर्भाग्य है।

श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं, इस श्लोक में व्रजदेवियों के 'मोट्टायित' नामक भाव की अभिव्यक्ति हुई है –

''कान्तस्मरणवार्तादौ हृदि तद्भावभावतः ।
प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमितीर्यते ।।''

(उ. नी.)

अर्थात् 'कान्त के स्मरण, उसकी वार्ता आदि के समय आन्तरिक भावावेग में जब बाहर अभिलाषा की अभिव्यक्ति होती है, तब उस भाव को मोट्टायित कहा जाता है।' इस श्लोक में देवियों की बात करते-करते गोपियों के हृदय में कन्दर्पपीड़ा का उदय हुआ; केशबन्धन-नीविबन्धन-स्खलन आदि द्वारा आन्तरिक अभिलाषायें बाहर व्यक्त हो उठीं।

''धन्या विमानवनिता जनितानुरागा
द्रागात्तगाढ़रतिभिः पतिभिः परीताः ।
लीलाकलक्वणितवेणुमवेक्ष्य कृष्णं
धैर्यादथावरुरुहु र्मुमुहुर्मुहुश्च।।
विस्रंसमानचिकुराः श्लथमाननीव्यो
देव्यो धृतिव्यसनतो निखिला दिवीव ।
आरिप्स्यमानभमर द्रुमपुष्पवर्षं
विस्मृत्य हन्त ववृषुर्नयनाम्भ एव ।।''

(आ. वृ. - 11/149-50)

हे सखियों ! विमानवनिता देवाङ्गनायें धन्य हैं, कारण – ये श्रीकृष्ण में जातानुराग और गाढ़ रति से युक्त हैं। ये पतियों से घिरी अवस्था में श्रीकृष्ण का लीलाकलक्वणित (मृदुमधुर) वेणु श्रवण कर

और उनके दर्शन कर द्रुत धैर्यच्युत होकर बार-बार मोहित हुआ करती हैं।

धैर्यरूपी विघ्न का नाश होने पर आकाश में रहते-रहते ही देवाङ्गनाओं के केशबन्धन और नीविबन्धन ढीले हो गये, और हाय ! वे कल्पतरुपुष्पों की वृष्टि भूलकर अश्रु-वर्षण ही करने लगीं ।। 12 ।।

**गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-**
**पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिवन्त्यः।**
**शाखाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु-**
**गोविन्दमात्मानि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः।। 13।।**

---

**अन्वयः** - गावश्च (तथा) स्नुतस्तनपयः कवलाः शाखाः (केवलं स्तनेभ्यः क्षरित-क्षीर-ग्रासमुखेषु येषां ते गोवत्साश्च) उत्तभितकर्णपुटैः (क्षरणशंकया समुन्नतकर्ण रूपपानपात्रैः) कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत- पीयूषं पिवन्त्यः दृशा (नेत्रमार्गेण) गोविन्दम् आत्मनि (मनसि) स्पृशन्त्यः (आलिङ्गन्त्यः) अश्रुकलाः (अश्रुव्याप्तनयनाः सत्यः) तस्थुः (देहादिकं विस्मृतक्रिया वभूवु इत्यर्थः) ।। 13।।

**अनुवाद**- वृन्दावनचारिणी गायें और स्तनपानरत गोवत्स (बछड़े) गोविन्द का वेणुनाद सुनते ही अपने कर्णपात्र ऊपर किये कृष्णमुख से निकले वेणुगीतामृत का आस्वादन कर और नेत्रों के माध्यम से प्रविष्ट गोविन्द का हृदय में आलिङ्गन कर अश्रुकलाभरे नयनों से देह आदि को भूलकर निस्पन्दभाव से खड़े रहते हैं ।। 13 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

परम सुशील धैर्यगाम्भीर्यवती लज्जाशील व्रजदेवियाँ अपनी-अपनी समप्राण सखियों के आगे श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी, रूप-गुण आदि की माधुरी का वर्णन करने लगीं, तो पहले अवहित्था नामक सञ्चारी भाव का उदय हुआ, तो उन्होंने अपने भाव को छिपाकर एक साथ श्रीकृष्ण और बलदेव की माधुरी का वर्णन किया। बाद में भावावेग में अकेले श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी का वर्णन तो किया, पर वृन्दावन हरिणी आदि के सौभाग्य की बात बताकर अपने भाव को छिपाने का प्रयास किया। पर पिछले श्लोक में विमानचारिणी देवियों की बात करते-करते उनके हृदय का भाव बहुत-कुछ बाहर आ ही गया, कारण - देवियों की बात बताने में उनके प्रेमविग्रहों में मोट्टायित नामक भाव जग गया, देवियों के वेणुश्रवण और कृष्णदर्शन की बात करने से कन्दर्पपीड़ा का उदगम हुआ तो उनका कवरीबन्धन खुल गया, नीवि-बन्धन ढीला हो गया। इस प्रकार के लक्षणों से उनका मनोभाव बहुत-कुछ व्यक्त हो गया। तब तो सहसा इस श्लोक में वेणुश्रवण और, श्रीकृष्णरूप-दर्शन के फलस्वरूप वात्सल्यवती गायों और बछड़ों के भावोदय की बात करने लगीं।

प्रश्न हो सकता है : वात्सल्यभाव के साथ तो मधुरभाव का विरोध है, फिर परम रसविदग्धा मधुरभाववती व्रजसुन्दरियों ने सहसा वात्सल्यभाव से युक्त गोमाताओं की बात कहकर अपने प्रतिकूल भाव का उल्लेख क्यों किया ? इसके उत्तर में श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं - "प्रीतिसामान्यांशे विरोधाभावा- द्विवक्षितोपयोगार्थञ्च।" (लघुतोषणी) प्रीतिसामान्यांशे, अर्थात् व्रज में सभी रसों के भक्तों की श्रीकृष्णप्रीति है, इसी अंश में वात्सल्यवती गायों की श्रीकृष्ण के वेणुमाधुर्य और रूपमाधुर्य को लेकर आविष्टता के वर्णन में किसी प्रकार का रसविरोध नहीं है। जब श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी एवं रूपमाधुरी पर स्थावर-जङ्गम का विमोहन (मुग्धता) ही गोपबालाओं के वर्णन का अभिप्रेत विषय है, तो गाय-बछड़ों का भाववर्णन उपयोगी ही हुआ है। विशेषत: देवियों की बात में अभिव्यक्त हृदय का भाव भी छिप गया है। इसलिये यह गोपबालाओं के रस का बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

किसी गोपसुदरी ने कहा - सखियों ! देवियों की बात पर विचार करें, तो वे भाववैदग्ध्यनिपुणा रमणी जाति हैं। रमणीमोहन श्यामसुन्दर के दर्शन और उनके शृङ्गाररसोद्दीपक वेणुगान पर उन लोगों का काममुग्ध होना कोई विचित्र बात नहीं है। वे (श्रीकृष्ण) मानो चुम्बकमणि हैं और अङ्गना (रमणी, स्त्री) जाति मात्र लौहकणिका है। जैसे लौहकणिकायें स्वयं ही आकर्षित होकर चुम्बक से जा लगती हैं, वैसे ही श्यामसुन्दर की स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति से अखिल अङ्गनाजाति का चित्त लौहकणिका की तरह उनसे जा लगता है। इसलिये उनकी विचित्र भावभङ्गिमायुक्त वेणुनाद की मोहिनी शक्ति से भावमुग्ध रमणी जाति जो उन्हें देखेगी वह आत्महारा होगी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु

सखियों ! वृन्दावन में चरागाह में चर रही गायों की बात सोचकर विस्मित हुए बिना नहीं रहा जाता। गोजाति स्वभाव से ही सारासार-विचार-विवेक-विहीन है, ऐसी ख्याति है। आस्वाद्य वस्तु के विषय में उन्हें अच्छे-बुरे का विचार-विवेक नहीं है, यही जाना जाता है। किन्तु कैसा आश्चर्य है ! वृन्दावन - चरागाह में घास खाती इन गायों के कानों में जब परमानन्दघनमूर्ति श्रीकृष्ण का वेणुनाद प्रवेश करता है, तो ये अपने कान उठाये वेणुगीत की पीयूषधारा का पान करने लगती हैं। सिर झुकाये रखने पर वह नाद-अमृतधारा कहीं निकल न जाये, इसी आशंका से वे घास खाना छोड़ सिर उठाकर कान खड़े कर वेणुनादामृत-पान करती हैं। आधी चबाई घास दाँतों में ही लगी रहती है। वे निश्चल निस्पन्द हो जाती हैं। वे तृणकवल को न तो गले से उतार पाती हैं, न फेंक पाती हैं। मानो चित्रलिखित हैं। सखियों ! श्रीकृष्ण का वदन मानो पूर्णचन्द्र है, और वेणुनाद उसका अमृत। श्रीकृष्ण-वदन कोटि चन्द्रों से भी अधिक उज्ज्वल, सुशीतल और मधुर है इसलिये उस मुखचन्द्र से निःसृत वंशीनादामृत कोटि अमृतों से भी अधिक स्वादिष्ट सुशीतल और मधुर होगा, इसमें संशय नहीं। तभी तो विवेकहीन और मनुष्यों के अधीन रहने वाली, पशु जाति होते हुए भी इन गायों की वेणुनादामृत-पान से ऐसी विह्वल दशा होती है।

सखियों ! कोई सोच सकता है कि श्रीकृष्ण इन गायों को वृन्दावन में नित्य चराते हैं; ये हर समय श्रीकृष्णवदन-दर्शन और उनके वेणुनाद-श्रवण का सौभाग्य पाती हैं; इसलिये इनकी श्रीकृष्ण में स्वाभाविक प्रीति है। ये श्रीकृष्ण की परमानन्दघनमूर्ति के दर्शन कर, उनके मादकतापूर्ण वेणुनादामृत का आस्वादन कर ऐसी भावाविष्ट होंगी इसमें संशय नहीं। किन्तु सखियों ! जो दो-चार दिन पहले ही जन्मे है; देखो तो, उन गोवत्सों की अवस्था और भी आश्चर्यजनक है। श्रीकृष्ण जिन गायों को चराते हैं, उन्हें दुहने पर या वत्स जब स्तनपान करते हैं तब दुग्धधारा निःसृत नहीं होती। पर वे जब श्रीकृष्ण के दर्शन करती हैं, अथवा उनका वेणुनाद श्रवण करती हैं, तब उनके स्तनों से शतधार होकर दूध निकलता है। जैसे ही बछड़े स्तनपान को उद्यत होते हैं, वेणु बज उठता है; सुनते ही गायों की अजस्र स्तनधारायें बह निकलती हैं। वेणुनाद सुनकर बछड़ों की और शक्ति नहीं रहती कि वे दूध को गले से नीचे उतारें; दुग्धधार उनके मुँह से धरती पर गिरने लगती है। वे भी ऊर्ध्वकर्ण हो वेणुनादामृत-पान करने लगते हैं। सात्विक विकार से उनके नयन अश्रुकला-व्याप्त हो जाते हैं। वे वेणुवादनशील गोविन्द को अपने सामने नहीं देख पाते, किन्तु हृदय से उस श्यामलसरस कान्ति का पर्श प्राप्त करते हैं, अन्यथा वे देह को भूल प्रस्तरमूर्ति की तरह स्तब्ध क्यों खड़े रहेंगे ? जो वत्स तृण-भक्षण कर सकते हैं, वे भी दाँतों में आधे चबाये तृणकवल लिये स्तब्ध निश्चल हुए रहते हैं। वे गोविन्द, गोजाति के इन्द्र जो हैं। गोवत्स उनसे प्रगाढ़ आन्तरिक प्रीति रखते हैं। वे उन्हें देखकर, उन्हें स्पर्श कर, लेहन कर (चाट कर) परमानन्दसागर में निमग्न हो जाते हैं।

सखियों ! हाय, कैसा दुर्भाग्य है हमारा ! हम लोग श्रीकृष्ण के दर्शन कर, उनका वेणुगान श्रवण कर गोवत्सों की तरह देह-दैहिकादि भूलकर धैर्य लज्जा कुल शील आदि त्यागकर दौड़कर उनके निकट पहुँच कर उनके दर्शन और वेणुनाद श्रवण से धन्य नहीं हो पाईं। हाय ! हम लोगों के हृदय में श्रीकृष्ण को लेकर वैसा आवेश ही नहीं है। विधाता ने हमें नारीजाति देकर हमें सभी प्रकार से विड़म्बित किया है। ये गोवत्स पशुजाति होकर भी कितने धन्य हैं। हम लोग ही वृन्दावन में एकमात्र हतभागिनी हैं। श्रीकृष्ण के सभी प्रकार के सम्बन्धों से वञ्चित !!

''अर्द्धावलीढ़यवसांकुर शोभिदन्ताः
सोत्कण्ठमुन्मिषितनेत्रमुदीर्ण कर्णम् ।
चित्रार्पिता इव पतन्तमिवामृतौघं
वेणुध्वनिं श्रुतिपुटे गमयन्ति गावः ।।
चूषन्ति चुचुकमहो न न सन्त्यजन्ति,
वत्सा नयन्ति न पयःकवलं गलाधः ।
वंशीकलाहृतहृदां सखि नैचिकीनां
स्नेहस्नुतस्तनरसो धरयैव पीतः ।।''

(आ. वृ. - 11/151-52)

हे सखि ! अर्धचर्वित घास के अंकुरों से शोभित दन्तोंवाली, उत्कण्ठा से विकसित हुए नेत्रोंवाली और ऊर्ध्वकर्णोंवाली गायें चित्रलिखित की तरह अमृत-प्रवाह- जैसी वेणुध्वनि का श्रुतिपुटों से पान कर रही हैं।

अहा ! वत्स भी मातृस्तन न तो पी रहे हैं, न छोड़ रहे हैं और न दूध को गले के नीचे उतार पा रहे हैं। वंशी की कलकाकली (मन्द-मधुर स्वर) से अपहृतचित्ता गायों की स्नेहसिक्त दुग्धधारा धरा ही पिये लेती हैं ।। 13 ।।

**प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्**
**कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।**
**आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्**
**शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः।। 14।।**

---

**अन्वयः** - अम्ब (भो मातः !) अस्मिन् वने (ये) विहगाः वत प्रायः मुनयः (यतस्ते) कृष्णेक्षितं (यथावस्थाने कृष्णदर्शनं सम्पद्यते तथैव) रुचिरप्रवालान् (मनोहरपल्लवादियुक्तान्) द्रुमभुजान् (वृक्षशाखाः) आरुह्य मिलितदृशः विगतान्यवाचः तदुदितं (श्रीकृष्णेन प्रकटितं) कलवेणुगीतं शृण्वन्ति ।। 14।।

**अनुवाद**- ओ मां ! इस वृन्दावन में ये जो पक्षी बसते हैं, वे प्राय ही ऋषि मुनि हैं, कारण- वे विचित्र पल्लव आदि से शोभित वृक्षों पर, जहाँ से श्रीकृष्ण के दर्शन हों उस शाखा पर बैठकर अन्य सब शब्दों को त्यागकर आधी मुँदी आँखों से श्रीकृष्ण का मोहन वेणुनाद सुना करते हैं ।। 14 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

पिछले श्लोक में जिस व्रजदेवी ने वेणुनाद सुनने से गाय-बछड़ों के भावावेश की बात कही, वही पुनः कहती है- सखियों ! हम लोगों ने जिस-जिस के श्रीकृष्ण-दर्शन वेणुनाद-श्रवण विषयक सौभाग्य की बात कही, जैसे- धेनु, वृन्दावन, हरिणी आदि, इन सबका श्रीकृष्ण के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध है। फिर ये गायें और गोवत्स श्रीकृष्ण से प्रेम करते हैं, यही नहीं, श्रीकृष्ण भी उनके प्रति विशेष प्रीति रखते हैं। वे गोपाल हैं- गोविन्द, गोजाति के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रीति है। गाय बछड़ों को वे नित्य चराते हैं, उनका पालन करते हैं, गायों को दुहते हैं, उनके गलों में खुजली करते हैं, प्यार से उनके गलदेश में हाथ डालते हैं, कोमल सुगन्धित घास आदि उनके मुंह के आगे रख खिलाते हैं - इस तरह कितने-कितने प्रकार से प्रीति दिखाते है, कोई सीमा नहीं। तब वे श्रीकृष्णरूप-दर्शन कर, वेणु-श्रवण कर ऐसे भावाविष्ट होंगे ही। किन्तु हे मां ! वृन्दावन के पक्षी जो आत्माराम, आप्तकाम, स्वतःतृप्त, अन्यनिरपेक्ष मुनि-ऋषि हैं, उनमें भी श्रीकृष्ण-दर्शन और वेणुनाद-श्रवण से भावावेश प्रेमोदय देखकर चकित हुए बिना नहीं रहा जाता। यहाँ जो व्रजदेवियाँ एकत्रित होकर एक-दूसरे को श्रीकृष्णरूप और वेणुमाधुरी की बात बता रही हैं, उनमें मां सम्बोधन के योग्य कोई नहीं है। फिर भी जो 'अम्ब' अर्थात् 'ओ मां' कहा है, यह भावाविष्ट प्रमदाओं (रमणियों) का कथा-स्वभाव (शैली) है। विस्मय या आश्चर्य की बात पर वे 'ओ मां' 'हे मां' इस प्रकार कहा करती हैं। वस्तुतः इसे सखियों के प्रति उक्ति

जानना होगा। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने वृहत्तोषणी टीका में लिखा है - 'काञ्चिद् वृद्धां प्रति वा' अथवा बूढ़ी मां - जैसी किसी वृद्धा गोपी के प्रति भी 'अम्ब' सम्बोधन हो सकता है।

जो भी हो, व्रजदेवी ने कहा - सखियों ! वृन्दावन के पक्षियों का व्यवहार देखकर लगता है कि ये प्राय ही आत्माराम मुनि हैं। ''प्रायः इति बाहुल्ये। मयूरादीनां केषाञ्चित् प्रेमनृत्यादिना परमभक्तसाम्यात्''। (वै. तोषणी.) 'प्राय' का अर्थ है, वृन्दावन के अधिकांश पक्षी आत्माराम मुनि हैं, फिर भी सब नहीं। जैसे मयूर श्रीकृष्ण-दर्शन कर और वेणुध्वनि श्रवण कर पंख उठाये नृत्य करने लगते हैं। शुक-पिक आदि पञ्चम स्वर में गाते हैं। इनका व्यवहार देखकर लगता है कि ये श्रीकृष्ण के परमभक्त है, कारण - भक्तवृन्द ही श्रवण-कीर्तन आदि भजन के समय नृत्य-गीतादि कर परमानन्द में मग्न होते हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं भी श्रीबलदेव की स्तुति के प्रसङ्ग में कहा है -

**''नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः**
**कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।**
**सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय**
**धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ।।''**

(भा. 10/15/7)

हे स्तवनीय ! आपके दर्शन कर मयूर परमानन्द से भरकर नृत्य कर रहे हैं। हरिणियाँ गोपियों की तरह (व्रज में बलदेव की अलग प्रियागोपियाँ हैं) आपकी ओर सप्रेम दृष्टिपात कर रही हैं। कोकिलें श्रुतिसुखद (कर्णप्रिय) पञ्चम स्वर में आपका स्वागत-अभिनन्दन कर रही हैं। ये सब वनवासी होते हुए भी धन्य हैं। साधुभक्तों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे अभ्यागत का नाना प्रकार से स्वागत-सत्कार करते हैं। ये सब परमभक्त हैं। फिर श्रीकृष्ण ने भ्रमरों को मुनि कहा है -

**''एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं**
**गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते ।**
**प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या**
**गूढ़ं वनेऽपि न जहात्यनघात्म दैवम् ।।''**

(भा. 10/15/6)

''हे आदिपुरुष ! आप वृन्दावन में स्वयं को छिपाकर नरवत् क्रीड़ावेश में प्रमत्त हैं, किन्तु आपके प्रिय मुनिगण ने आपको पहचान लिया है। तभी तो वे भ्रमरों के रूप में हर मार्ग में आपका भुवनपावन यशोगान कर रहे हैं। वे अपने 'प्रभु' आपको छोड़ नहीं पा रहे।''

व्रजबालायें कहती हैं - मयूर, शुक, पिक आदि को छोड़ वृन्दावन के अन्यान्य पक्षी आत्माराम

मुनि हैं। जो वृक्ष सुन्दर पल्लव-अंकुरों से शोभित हैं (वृक्ष भी वेणु श्रवण कर अंकुरों के बहाने पुलक नामक सात्विक विकार प्रकट करते हैं), उनकी शाखाओं पर ये पक्षी ऐसे स्थान पर बैठे जाते हैं जहाँ से बिना किसी बाधा के आनन्दपूर्वक श्रीकृष्ण के दर्शन हो सकते हैं। वे श्रीकृष्ण के दर्शन और वेणुनाद-श्रवण करते हैं। भावावेश में उनके नयन अर्धनिमीलित (आधे बन्द) रहते हैं - महाप्रेम से भरी अलस दृष्टि ! मुरलीनाद सुनने में तन्मय। मुरलीध्वनि के आस्वादन को छोड़ श्रवण, मन और वागिन्द्रिय अन्य क्रियाओं से सर्वथा रहित । मुनियों की तरह ध्यान लगाये बैठे रहते हैं। कोई शब्द नहीं करते। मुंह के पास पका फल है, इच्छा करते ही खा सकते हैं, पर उससे मुंह नहीं लगाते। समाधिमग्न ऋषि-मुनियों की तरह बाह्यज्ञानशून्य होकर बैठे रहते हैं। किसी-किसी की आँखों से अश्रुधार बहती है। किसी के अधर-ओष्ठ थोड़े स्पन्दित होते हैं। वे अस्फुट स्वर से 'कृष्ण कृष्ण' नाम-कीर्तन करते हैं। अतएव ये भागवत-प्रवर मुनि, श्रीकृष्णअनुरागी हैं। व्रजबाला की उक्ति की व्यञ्जना यही है कि ये आत्माराम ऋषि-मुनि हैं, बहुत समय तक वेद-कल्पतरु की ब्रह्मज्ञान आदि शाखाओं पर परिभ्रमण किया है; वहाँ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का किञ्चित् अनुभव हुआ भी, सगुण-साकार परब्रह्म के दर्शन नहीं हुए। तभी वे उस वेदकल्पतरु की ज्ञान आदि शाखायें त्यागकर वृन्दावन की कल्पतरुशाखाओं का आश्रय ले रहे हैं, जहाँ बैठकर स्वच्छन्द रूप से साक्षात् नराकृति परमब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीगोविन्द के दर्शन और उनके भुवनमोहन वेणुगान-श्रवण का सौभाग्य प्राप्त कर सकें।

इस श्लोक की टीका में श्रील श्रीधर स्वामिपाद ने एक ध्यान देने योग्य बात लिखी है - ''तथाहि मुनयः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा वेदोक्त कर्मफल- परित्यागेन वेदद्रुमशाखारूढ़ा रुचिरप्रवालस्थानीयनि कर्माण्येवोपाददानाः सुखिनः सन्तः श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्ति; अतस्तु उवैते भवितु मर्हन्तीति भावः।'' अर्थात् जो भागवतप्रवर मुनि ब्रह्मज्ञान की साधना करते-करते भक्तमहत की कृपा से अथवा श्रीकृष्ण की कृपा से ब्रह्मज्ञान त्यागकर भक्त हो गये हैं, वे अनन्त शाखाओं से युक्त वेदकल्पतरु की उसी शाखा का परम आग्रहपूर्वक आश्रय लेते हैं, जिसका आश्रय लेने पर श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त होती है; फिर वे उसी शाखा के रुचिर (सुन्दर) पल्लव-अंकुरों (श्रीकृष्ण की लीलादि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन आदि भक्ति-अङ्ग रूपी कर्मों) को ही जीवन के परमकर्तव्य के रूप में अवलम्बन बना कर चलते हैं। अर्थात् वेद में बताये कर्मकाण्डीय शाखा के याग-यज्ञ आदि जो कर्म हैं, ये रुचिर तो हैं ही नहीं; उनके फलस्वरूप उल्टा संसारबन्धन और होता है, भव-रोग भी नष्ट नहीं होते। श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन आदि भी कर्म ही हैं, किन्तु ये साक्षात् भक्ति के ही अङ्ग हैं, स्वरूपशक्ति की वृत्तिविशेष हैं- इन्हीं से पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम प्राप्त होता है, आनुषङ्गिक रूप से (साथ ही साथ) भवबन्धन भी कटता है। अतएव ये ही वेदकल्पतरु की शाखा के यथार्थ सुन्दर पल्लवांकुर हैं। जो लोग

इस शाखा का आश्रय लेते हैं, उन्हें देह-दैहिकादि विषयों में कोई अभिनिवेश (आसक्ति) नहीं रहता। वे श्रीहरि के नाम-गुण-लीला के श्रवण कीर्तनादि में ही समय बिताते हैं। वृन्दावन के ये पक्षी भागवतप्रवर मुनि हैं, जो वृन्दावन के वृक्ष-शाखाओं का आश्रय लेकर साक्षात् श्रीकृष्ण-दर्शन और उनका वेणुगान-श्रवण कर धन्य हो रहे हैं। श्रीकृष्ण के गुणों का ऐसा ही प्रभाव है -

''आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भुतगुणो हरिः ।।''

(भा. 1/7/10)

'श्रीहरि के ऐसे चित्ताकर्षक गुण हैं कि अविद्याग्रन्थीहीन आत्माराम मुनि भी उन उरुक्रम श्रीहरि में अहैतुकी भक्ति रखते हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीचैतन्यचरितामृत (मध्य0 24) में श्री सनातन-शिक्षा में 'आत्मारामश्च' श्लोक की जो विस्तृत व्याख्या की है, उसमें कहा है - '' 'मुनि' शब्दे पक्षीभृङ्ग निर्ग्रन्थ मूर्खजन। कृष्णकृपाय साधुकृपाय दोंहार भजन।।'' यहाँ प्रभु ने श्री मद्भागवत के इसी आलोच्य 'प्रायो वताम्ब' श्लोक का ही दृष्टान्त दिया है। श्रील गोस्वामिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है- ''मुनय आत्मारामाः श्रीसनकादयोऽस्मिन् वने विहगा एव बभूवुरित्यर्थः।'' (वै. तोषणी) वृन्दावन-वासी पक्षी भागवतप्रवर मुनि हैं, या भागवतप्रवरमुनि ही वृन्दावन में पक्षीरूप में वृक्षशाखाओं का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी आस्वादन कर रहे हैं - यह निर्णय करना बड़ा कठिन है।

श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध में देखते हैं कि श्री सनक आदि मुनि श्रीमन्नारायण के दर्शनार्थ वैकुण्ठ जाते हैं, वहाँ द्वारपाल जय-विजय रोकते हैं तो वे उन्हें अभिशाप देते हैं। श्रीमन्नारायण मुनियों को सान्त्वना देने के लिये वहाँ आते हैं, तो उनके पादपद्मों में समर्पित तुलसी की गन्ध से मुनियों के हृदय भक्तिरसास्वादन से प्रलुब्ध हो उठते हैं और वे प्रार्थना करते हैं कि जीवन्मुक्ति की जगह संसार-बन्धन प्राप्त करें - यदि इससे उन्हें श्रीनारायण के श्रवण-कीर्तन आदि भजन का सौभाग्य मिले।

''कामंभवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च न तुलसीवद्यदि तेहङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ।।''

(भा. 3/45/49)

''हे प्रभो ! हम लोग भक्त के प्रति अपराधी हैं, इस अपराध के लिये हमारा नरक में या नीच योनी में जन्म हो - यदि इससे हमारे चित्तभृङ्ग तुम्हारे पादपद्मों के मकरन्दरस के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त करें, हमारे वाक्य तुलसी की तरह तुम्हारे श्रीचरणकमलों में शोभा प्राप्त करें, हमारे कान तुम्हारे

गुणों से भर उठें।'' अर्थात् उन मुनियों ने आत्मारामता या जीवन्मुक्त दशा त्याग कर श्रीहरि के रूप-गुण-लीलादि के श्रवण कीर्तन स्मरण आदि भजन का सौभाग्य पाने के लिये निकृष्ट योनि में जन्म लेने की कामना की। उन सनक आदि के लिये माधुर्यमूर्ति स्वयं भगवान् श्रीवजेन्द्रनन्दन की रूपमाधुरी के आस्वादन हेतु वृन्दावन की वृक्षशाखाओं पर पक्षी होना नितान्त स्वाभाविक है।

व्रजदेवियों ने परम दैन्य और आर्ति से भरकर कहा - सखियों ! यह गोपीदेह धारण कर हमारा जीवन सभी प्रकार से व्यर्थ हुआ। गोपी न होकर वृन्दावन के पक्षी होतीं, तो वृक्षों की डालों पर बैठ श्रीकृष्ण के दर्शन और उनका वेणुनाद श्रवण कर जीवन धन्य होता। विधाता से प्रार्थना करती हैं - मरकर वृन्दावन के पक्षियों के रूप में जन्म लें।

''वंशीकलं कलयतोऽस्य निपीय दृग्भ्यां
रूपामृतं पुनरमुष्य रसानुभूत्या ।
ध्यायन्ति मीलितदृशः सखि बद्धमौनं
बद्धासनं मुनय एव पतत् त्रिणोऽमी ।।
न स्पन्दते सखि न रौति न वीक्षतेऽन्य,
न्नान्यच्छृणोति न जिघत्सति पक्षीसङ्घः ।
रोमाञ्चवानिव मुदा गरुतं धुनानो
वंशीकलास्वदनमेव परं करोति ।।''

(आ. वृ. - 11/153-54)

हे सखि ! व्रज के पक्षी श्रीकृष्ण की वंशी का कलनाद कर्णपुटों में धारण किये, उनका रूपामृत नयन-चषकों से पीकर मुनियों की तरह नेत्र बन्द किये मौन होकर श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं।

वे समाधिस्थ मुनियों की तरह न हिलते-डुलते हैं, न कोई शब्द करते हैं, अन्य कुछ देखते नहीं, सुनते नहीं, खाने की भी इच्छा नहीं करते। रोमाञ्च से उनके पंख फूल उठते है; परम आनन्द के साथ वंशी के कलनाद आस्वादन में तन्मय हुए रहते हैं ।''। 14 ।।

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनो भवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगित मूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृन्हन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः।। 15।।

**अन्वयः** - तदा (श्रीकृष्णस्य वेणुवादनसमये) नद्यः (श्रीकालिन्दीमानसगङ्गाद्याः) तद् मुकुन्दगीतम् उपधार्य (श्रुत्वा) आवर्तलक्षितमनोभवमग्नवेगाः (आवर्तैः परिभ्रमैः लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नः वेगः यासां ताः) ऊर्भिभजैः (तरङ्गबाहुभिः) कमलोपहाराः (कमलान्युपहरन्त्यः) आलिङ्गनस्थगितं (आलिङ्गनेन स्थगितम् आच्च्छादितं यथा भवति तथा) मुरारेः (श्रीकृष्णस्य) पादयुगलं गृन्हन्ति (धारयन्ति) ।। 15।।

**अनुवाद**- कालिन्दी मानसगङ्गा आदि व्रज की नदियाँ श्रीकृष्ण का वेणुगान श्रवण कर मदन-आवेश में विमोहित होकर, फलस्वरूप आवर्तसमाकुल (भँवरयुक्त) और वेगविहीन होकर तरङ्गरूपी हाथों में कमल-उपहार लेकर श्रीकृष्ण को आलिंगन कर उनके श्री चरण धारण कर लेती हैं ।। 15 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण-अनुरागिनी व्रजदेवियाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपने प्रबल राग की अतिशयता के कारण जब व्रज के पशु-पक्षियों का श्रीकृष्ण के साथ किञ्चित सम्बन्ध देखती हैं, तो अपनी श्रीकृष्ण-सम्बन्धविहीन गोपीदेहों को लेकर निर्वेद व्यक्त कर उठती हैं, पशु-पक्षियों के रूप में जन्म लेने की इच्छा प्रकट करती हैं। यह इसी बात का लक्षण है कि उनका श्रीकृष्ण के प्रति प्रबल राग है। "दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते। यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्तते"।। (उ. नी.) प्रणय के उत्कर्ष के कारण अतिशय दुःख भी सुखरूप में अनुभूत हो, उस स्थिति को 'राग' कहते हैं। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध देखने में आता है, तो चेतन-अचेतन के रूप में जन्म लेने की आकांक्षा होती है। राधारानी ने अपने माञ्जिष्ठ राग में श्रीकृष्ण की वनमाला की मधुकरी (भ्रमरी) बनकर जन्म लेने की वासना प्रकट की है। (उ. नी., माञ्जिष्ठराग का दृष्टान्त देखिये)

जो भी हो, परम धीर-गम्भीर व्रजसुन्दरियाँ वंशीनाद श्रवण के फलस्वरूप आकाश में विचरनेवाली देवियों की मदनपीड़ा की बात करने लगीं, तो उनके स्वयं के भाव की किञ्चित् अभिव्यक्ति हो गई। तब वे तुरन्त ही अवहित्थाभाव का आश्रय लेकर वेणुनाद श्रवण के फलस्वरूप वात्सल्यवती गायों और आत्माराम मुनि व्रज के पक्षियों की आविष्टता का वर्णन करने लगी। तत्पश्चात् इस श्लोक

में यमुना मानसगङ्गा आदि व्रज की नदियों का वेणुनादजनित भावविकार बताते-बताते वंशीनाद-श्रवण के फलस्वरूप अचेतन जलमयी नदियों के कामविकार की बात उत्प्रेक्षा से कहने लगीं। ऐसा करने से उनके राग की उत्कटता के कारण अवहित्थाभाव का अपगम हुआ और आन्तरिक भाव की किञ्चित् अभिव्यक्ति हो गई।

यद्यपि जलमयी नदियों में वंशीनाद-श्रवण से किसी प्रकार की भावविकार-दशा सम्भव नहीं, तथापि व्रजदेवियों के महाभाव के प्रभाव से स्थावर-जङ्गम में उनका स्वयं का भाव अभिव्यक्त हुआ करता है। यहाँ तक कि जो साधनसिद्ध महाभागवत भक्त हैं, उनके भाव की अभिव्यक्ति भी स्थावर-जङ्गम में देखने में आती है।

**''महाभागवत देखे स्थावर-जङ्गम ।**
**ताँहा ताँहा हय तार श्रीकृष्ण स्फुरण ।।**
**स्थावर-जङ्गम देखे ना देखे तार मूर्ति ।**
**सर्वत्र हय निज इष्टदेव स्फूर्ति ।।''**

(चै. च.)

**''सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।**
**भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।''**

(भा. 11/2/45)

''श्रीहरि योगीन्द्र ने निमिराज से कहा - हे राजन् ! जो सभी प्राणियों में अपने उपास्य भगवान् की विद्यमानता देखते हैं और अपने उपास्य भगवान् में भी सभी प्राणियों को देखते हैं, अथवा जो अपने चित्त में स्फुरित होने वाले भगवान् में सभी प्राणियों के दर्शन करते हैं - अपने प्रेम के अनुरूप उन प्राणियों को भी प्रेमयुक्त देखते हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं।'' श्रीमन्महाप्रभु ने श्रील रामानन्द राय के आगे इस श्लोक का पाठ कर व्रजदेवियों का ही दृष्टान्त दिया है (चै. च. मध्य0 8) -

**''वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुंव्यजयन्त्य इव पुष्पफलाढ्या ।**
**प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ।।''**

(भा. 10/35/9)

'पुष्पफल-परिपूर्णता से नम्र और पुलकितदेह वनलतायें इस बात की अभिव्यक्ति-स्वरूप कि हमारे भीतर विष्णु विराजते हैं सानन्द मधुधारावर्षण करती हैं और उन लताओं के पति तरु भी लताओं की तरह आनन्द प्रकट करते हैं।' यही कारण है कि श्रीकृष्ण के वंशीनाद के श्रवण से यमुना-मानसगङ्गा का जलस्तम्भन देखकर व्रजदेवियाँ उत्प्रेक्षा के माध्यम से अपने हृदय का भाव ही नदियों के नाम से

वर्णन करने लगीं।

व्रजदेवियाँ बोलीं - सखियों ! श्रीकृष्ण जब यमुना-मानससगङ्गा के ऊँचे तट पर खड़े होकर नदी की शोभा देखकर हर्ष से भरकर वेणुवादन करते हैं, तो नदियाँ शत-शत आवर्तों से युक्त हो उठती हैं। तब देखकर लगता है कि श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर और उनकी रूपमाधुरी देखकर वे कामविकार से ग्रस्त हो उठी हैं। उनके आवर्तों को देखकर ही उनके हृदय के कामविकार का पता चल जाता है। तब अपने पति समुद्र की ओर उनकी स्वाभाविक गति रुक जाती है। वे तभी वक्ष तक उच्छलित होकर तरङ्गरूपी हाथों से श्रीकृष्ण को प्रगाढ़रूप से आलिङ्गन कर लेती हैं और आवर्तों से छिन्न हुए कमल श्रीकृष्ण के चरणों में उपहार-स्वरूप प्रदान कर देती हैं।

नदीमात्र ही समुद्र की पत्नी है। रमणी जाति कोई भी हो, श्रीकृष्ण का मोहन वेणुनाद सुनकर और उनकी रूपमाधुरी देखकर उसकी अपने पति की ओर स्वाभाविक गति रुद्ध हो जाती है, वह श्रीकृष्ण को प्रेम कर बैठती है। इससे उसे कोई दोष नहीं लगता, कारण- श्रीकृष्ण का नाम है मुरारि; वे नारायण के समान गुणशाली हैं। गर्गाचार्य ने नामकरण के समय श्रीकृष्ण को 'नारायणसमो गुणैः' कहा है। जैसे नारायण के भजन से पतिव्रता का पातिव्रत्यधर्म नष्ट नहीं होता, वैसे ही 'नारायणसमो गुणैः' श्रीकृष्ण का भजन करने से भी पतिव्रताओं को कोई दोष नहीं लगता। ''तत्र मुरारेरिति वामन पुराणोक्तस्य प्राचीनस्य दैत्यविशेषस्य मुरस्य हन्ता नारायणेन समोऽयमिति नास्य भजने पातिव्रत्य-भ्रंश इति भावयन्तीति च न'' (वै0 तोषणी टीका) श्रीमन्नारायण द्वारा मुर नामक असुर के विनाश का वृत्तान्त श्रीवामनपुराण में नारदपुलस्त्य-संवाद में वर्णित है -

**श्रीनारद उवाच -**

**''योऽसौ मुर इति ख्यातः कस्य पुत्रः स गीयते ।**
**कथं च निहतः संख्ये विष्णुना तद्वदस्व मे ।।''**

देवर्षि नारद ने पुलस्त्यजी से पूछा- मुर नाम से प्रसिद्ध असुर किसका पुत्र था और वह विष्णु द्वारा कैसे मारा गया, मुझे बताइये।

**पुलस्त्य उवाच -**

**''कश्यपस्यौरसः पुत्रो मुरो नाम दनूद्भवः ।**
**स ददर्श रणे भग्नान् दितिपुत्रान् सुरोत्तमैः ।।**
**ततः स मरणाद्भीतस्तप्ता वर्षगणान बहून् ।**
**आराधयामास विभुं ब्रह्माणमपराजितम् ।।**
**ततः स तुष्टो वरदः प्राह वत्स वरं वृणु ।**

स च वव्रे वरं दैत्यो वरमेव पितामहात् ।।
यं यं करतलेनाहं स्पृशेयं समरे विभो ।
स स मद्धस्तसंस्पृष्टस्त्वमरोऽपि म्रियेदज ।।
वाढ़मित्याह भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ततोऽभ्यगान्महातेजाः सुरं सुरगिरिं बली ।।
समेत्याह्वयते देवं यक्षं किन्नरमेव वा ।
न कश्चिद् युयुधे तेन समं दैत्येन नारद ।।''

पुलस्त्यजी बोले – हे नारद ! कश्यप ऋषि के औरस से उनकी पत्नी दनु के गर्भ से मुर का जन्म हुआ था। मुर ने देखा कि उसके भ्राता और अन्यान्य दानव रण छोड़ रहे हैं और बलहीन हो गये हैं। तब मुर ने मृत्युभय से डरकर बहुत वर्षों तक ब्रह्मा की आराधना की। आराधना से तुष्ट होकर ब्रह्माजी बोले – 'वत्स ! अभीष्ट वर माँगो।' तब उसने ब्रह्माजी से प्रार्थना की – मैं जिसे भी स्पर्श करूँ, भले ही वह अमर हो, उसकी तत्क्षण मृत्यु हो जाय। लोकपितामह ब्रह्माजी ने प्रार्थना स्वीकार कर ली, तो वह महातेजस्वी मुर सुमेरु पर्वत पर आया। उसने देव, यक्ष, किन्नर सबसे युद्ध करने की इच्छा व्यक्त की, पर किसी ने उसके साथ लड़ने का साहस न किया, क्योंकि सभी उसकी वर प्राप्ति की बात से अवगत थे।

ब्रह्मा के वर से बलवान हुआ मुर त्रिलोक में घूमा, पर उसे अपने समान योद्धा न मिला। अन्त में यमलोक जाकर, यम के साथ युद्ध करना चाहा, तो यमराज ने उसे नारायण के साथ युद्ध करने के लिये विष्णुलोक भेज दिया।

''तमागतं प्राह मुने मधुघ्नः प्राप्तोऽसि केनासुर कारणेन ।
स प्राह योद्धुं सह वै त्वयाद्य तं प्राह भूयोऽसुरपूगहन्ता ।।
यदीह मां योद्धुमुपागतोऽसि तत्कम्पते ते हृदयं किमर्थम् ।
जरातुरस्येव मुहुर्मुहुर्वै, तन्नैव योत्स्ये सह कातरेण ।।
इत्येवमुक्तो मधुसूदनेन, मुरस्तदास्याद्धृदये स्वहस्तम् ।
कथं क्व कस्येति मुरस्तदोक्त्वा निपतयामास विपन्नबुद्धिः ।।
हरिश्च चक्रं मृदुलाघवेन, मुमोच तद्धृतकमलञ्च शत्रोः ।
चिच्छेद देवाश्च तथा गतव्यथा, देवं प्रशसन्ति च पद्मनाभम् ।।
एतत्तवोक्तं मुरदैत्यनाशनं, कृतं हि युक्त्याशितचक्रपाणिना ।

अतः प्रसिद्धिं समुपाजगाम, मुरारिरित्येव विभुर्नृसिंहः ।।''

(श्रीवामन पुराणम्)

मुर नारायण के साथ युद्ध करने के लिये विष्णुलोक में आया, तो नारायण बोले - हे असुर ! यहाँ किस लिये आये हो ? मुर बोला - तुम्हारे साथ युद्ध करने। उसकी बात सुनकर असुर-विनाशन श्रीमन्नारायण बोले- हे मुर ! मेरे साथ युद्ध करने आये हो, तो ज्वराक्रान्त व्यक्ति की तरह तुम्हारा हृदय बार-बार काँप क्यों रहा है ? मैं तुम- जैसे भीत के साथ युद्ध करना नहीं चाहता। श्रीनारायण की बात सुनकर मुर गर्व के साथ अपना करतल अपने हृदय पर रखकर बोला - क्यों ? कहाँ ? किसका हृदय काँप रहा है ? इस प्रकार जैसे ही उसने अपना करतल अपने वक्ष पर रखा, वह छिन्नमूल वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़ा। तब श्रीनारायण ने मृदु गति से चक्र निक्षेप कर मुरदैत्य का हृदय- कमल छिन्न कर दिया। तब देवता निर्भय-निश्चिन्त होकर श्रीनारायण का स्तव करने लगे।

श्रीपुलस्त्य ऋषि बोले - हे नारद ! यही चक्रपाणि भगवान् की मुरदैत्य-विनाश लीला है। इस प्रकार नारायण ने मुर दैत्य का विनाश कर 'मुरारि' नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त श्रीब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीहरि के 'मुरारि' नाम की और भी व्याख्या मिलती है।

**''मुरः क्लेशे च सन्तापे कामभोगे च कर्मणाम् ।**
**दैत्यभेदे ह्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्त्यते ।।''**

क्लेश, सन्ताप, काम भोग और दैत्यविशेष- 'मुर' शब्द के चार अर्थ हैं। भगवान् इन चार प्रकार के मुरों का विनाश करते हैं। इसलिये उनका नाम 'मुरारि' है।

व्रजदेवियाँ बोलीं - हे सखियों ! यदि कोई नारायण तुल्य गुणशाली श्रीकृष्ण के आगे कामविकारग्रस्त हो जाती है, तो वे उसका काम विकार नष्ट कर उसे प्रेमसेवा का अधिकार देकर धन्य कर देते हैं। यमुना, मानसगङ्गा आदि नदियाँ इसका प्रमाण है। श्रीकृष्ण का वंशीनाद सुनकर यमुना-मानसगङ्गा में रह-रह कर भँवरें उठती हैं, देखकर उनके कामविकार का स्पष्ट परिचय मिलता है। वे अपने पति समुद्र की बात भूलकर तरङ्गरूप से भुजायें फैलाकर श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर लेती हैं। श्रीकृष्ण के स्पर्श से उनका कामविकार नष्ट हो जाता है, प्रेम प्राप्तकर कमल-उपहार देकर उनके श्रीचरणों में प्रणत होती हैं।

अचेतन जलमयी नदियों के प्रति ऐसी उत्प्रेक्षा से व्रजदेवियों के हृदय का यही भाव स्पष्ट होता है कि सखियों ! हमारे कृष्ण नारायण के समान गुणशाली हैं। पतिव्रता रमणियों के पातिव्रत्यधर्म त्याग कर उन्हें भजने में कोई दोष नहीं। चलो, हम लोग भी पतिगृह आदि त्यागकर उनके निकट चलें, उनके दर्शन कर और वेणुनाद श्रवण कर प्राणों की आकांक्षा पूरी करें। वे 'मुरारि' हैं। हमारे हृदय में जो काम

है, जिसने शत्रु या मार (कामदेव) बनकर हमें मार डाला है, वे उसका विनाश कर अपना 'मुरारि' नाम सार्थक करेंगे और हमारे तप्त हृदय को सुशीतल करेंगे।

श्रीकृष्ण के वेणुनाद को सुनकर व्रजमण्डलवाहिनी यमुना, मानसगङ्गा आदि नदियों में जो शत-शत आवर्त, जलस्फीति, जलस्तम्भ आदि उत्पन्न हुए, उन्हें देखकर महाभाववती व्रजदेवियाँ महाभाव के उद्दीपन से नदियों के नाना प्रकार के भावविकारों की कल्पना करने लगीं। उनका पति-वैमुख्य, तरङ्ग- बाहुओं से श्रीकृष्ण का आलिङ्गन, उनके श्रीचरणों में कमल-उपहार प्रदान, प्रणति - ये सब कहते-कहते उन लोगों के हृदय में विपुल दैन्य का उद्रेक हुआ। दैन्यजनित परम आर्ति से भरकर वे परस्पर खेद करने लगीं - सखियों ! इस व्रजमण्डल में हम सब ही एकमात्र हतभागिनी हैं, श्रीकृष्ण का वंशीनाद सुनकर नदियों की तरह भावावेग में पतिगृह आदि त्यागकर श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित न हो पाईं। गृहकारागार में आबद्ध हो हमारा जीवन विफल रहा। यदि विधाता हमें व्रजरमणी न बनाकर व्रजमण्डल-वाहिनी नदी बनाते, तो हम सब श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर फूलकर शत-शत दीर्घ तरङ्गबाहुऐं फैलाकर उन्हें प्रगाढ़ रूप से आलिङ्गन करतीं। उनके श्रीचरणों में कमलोपहार देकर उनकी अर्चना कर उन चरणों में प्रणत होकर जीवन धन्य कर पातीं। अब विधाता से यही प्रार्थना है कि वे अगले जन्म में व्रजमण्डलवाहिनी नदी का जन्म देकर हमें धन्य करें।

''स्रस्ते रथाङ्गकलहंसविचित्रचेले,
प्रव्यक्त सैकतनितम्बमुदीर्णफेनम् ।
आवर्तवर्तितघनभ्रमिभिः समीयेऽ-
पस्मार एव मुरलीनिनदैर्नदीभिः ।।
वीचीकरैः सरसिजाञ्जलिमर्पयन्त्यः,
कृष्णाङ्घ्रिपंकजयुगं बहुमानयन्त्यः ।
सच्छीकरैः शिशिरयन्ति रसेन वंशी-
नाद प्रहृष्टमनसः सखि शैवलिन्यः ।।''

(आ. वृ. 11/155-56)

हे सखि ! श्रीकृष्ण का वंशीनाद सुनकर यमुना, मानसगङ्गा आदि नदियों में शृङ्गाररस का विपुल उद्दीपन हुआ। वे रह-रह कर आवर्तों से आलोड़ित होकर काम-शरों के आघात से अपस्मार व्याधि (मिरगी रोग) से ग्रस्त हो गईं। फलस्वरूप उनके हंस-चक्रवाक (चकवा) रूपी वस्त्र स्खलित हो गये। बालू-तटरूपी नितम्ब निर्वस्त्र हो गये। मुंह से अजस्र फेन निकलने लगा। तत्पश्चात् वंशीनाद से आल्हादित इन नदियों ने तरङ्गरूपी हाथों से श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में कमलाञ्जलि अर्पित करते हुए

उन श्रीचरणों को ही सानन्द सादर शीतल जलकणों से सिक्त कर सुशीतल कर दिया ।। 15 ।।

**दृष्ट्वातपे व्रजपशून सह रामगोपैः**
**सञ्चारयन्तमनु वेणु मुदीरयन्तम्।**
**प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः,**
**सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्।। 16।।**

---

**अन्वयः** - (हे) सखि ! आतपे (रौद्रव्याप्तस्थाने) रामगोपैः (सह) व्रजपशून (गोमहिषादीन्) सञ्चारयन्तम् (तृणक्षेत्रेषु चारयन्तम्) अनु (पश्चात् स्थित्वा) वेणुम् उदीरयन्तं (वादयन्तं श्रीकृष्णं) दृष्ट्वा (विद्युन्मयचक्षुषा निरीक्ष्य) अम्बुदः (मेघः) उदितः (गगनमार्गे आविर्भूतः सन्) प्रेमप्रवृद्धः कुसुमावलीभिः (जलकणैः) स्ववपुषा सख्युः (श्रीकृष्णस्य) आतपत्रं व्यधात् ।। 16।।

**अनुवाद**- श्रीकृष्ण जब बलदेव और गोपबालकों के साथ प्रखर रौद्र में गो-महिष आदि को चराते हैं एवं वेणुवादन करते हैं, तब मेघ आकाश में उदित होकर पूरे गगन में व्याप्त हो जाते हैं और जलकण-वर्षण कर तथा अपने अङ्ग द्वारा छत्र धारण कर उन्हें सुशीतल करते हैं ।। 16 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

यद्यपि परम धीर-गम्भीर व्रजसुन्दरियाँ अवहित्था से अपने भाव को छिपाकर बड़ी सावधानी के साथ श्रीकृष्ण की वेणु-माधुरी का वर्णन कर रही हैं, भावोच्छ्वास के कारण बीच-बीच में उनके हृदय का भाव प्रकट हो ही जाता है। यमुना-मानसगङ्गा आदि में श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर जो भाव-विकार उत्पन्न होता है, उसकी बात करते-करते उनके हृदय का आवरण बहुत कुछ हट गया, तो

वे पुनः सावधान होकर सख्यरसमय मेघों की सेवा की बात करने लगीं।

एक गोपसुन्दरी बोली - सखियों ! यमुना, मानसगङ्गा आदि वृदावनवाहिनी भुवनपावनी नदियाँ हैं, विशेषतः श्रीकृष्ण के सुखविहार की स्थलियाँ हैं। वे सहचरों को लेकर नित्य इन सब नदियों में जलक्रीड़ादि, इनके स्वच्छ जल में स्नानपान आदि, इनके मनोरम तटप्रदेश पर सतत गोचारण गोष्ठक्रीड़ा आदि किया करते हैं। इसलिये इन सबके सौभाग्य का वर्णन ही नहीं किया जा सकता।

किन्तु आकाश के इन मेघों का भाग्य देखकर विस्मित हुए बिना नहीं रहा जाता। देखो, देखो सखियो ! ऊपर की ओर देखो। देख रही हो, ये मेघ आकाश में तैरते चले जा रहे हैं, जानती हो, कहाँ जा रहे हैं ? वहीं, उसी वन में जहाँ हमारे गोविन्द बलदेव और सखाओं के साथ गोचारण कर रहे हैं। आतपत्र (छत्र) की तरह छाया कर उन्हें सुशीतल करने के लिये। धूम (धुएं, वाष्प) से इनका जन्म हुआ है, आकाशमार्ग में इनका आवास है, पर आश्चर्यजनक है इनका प्रेम। इनका प्रेम देखकर अवाक् हुए बिना नहीं रहा जाता। शरतकाल है, सूर्य का प्रखर ताप, और सुकुमार शरीर। ऊपर से गोचारण का परिश्रम। इतनी-इतनी गाभीवत्स महिषी (भैंस) आदि वनों में दूर-दूर जाकर चरती घूमती हैं। उन सबको संयत करने में कितना कष्ट होता है। मुंह मलिन हो जाता है। उधर सखा तो खेलने में मस्त रहते हैं गायों को संयत करने के लिये वे वेणु बजाते हैं। उस वेणुवादन को सुनकर मेघमालायें प्रेम-विगलित हो आकाश में उनके मस्तक के ऊपर उदित हो जाती हैं। मेघ के ऊपर मेघ, सघन छाया का विस्तार कर उस सुकुमार देह की सेवा किया करते हैं। उनके अङ्ग को शीतल करने के लिये बिन्दु-बिन्दु जल भी गिराते हैं। कैसी आश्चर्यजनक है इनकी यह सेवा ! कौन कहता है इनके प्राण नहीं हैं ? जिनकी ऐसी निरुपाधि प्रीति है, यदि वे ही निष्प्राण हुए, तो प्राणवन्त कौन है ? इनका जलधर नाम सार्थक है। श्यामजलधर की सेवा कर ये धन्य हैं। ये श्रीकृष्ण के सखा हैं। ये सख्यरस से अपने प्रिय सखा की सेवा करते हैं। एक तो इनका वर्ण श्याम-जैसा, फिर जैसे श्याम वेणुवादन आदि लीलाओं से विश्व का ताप शान्त करते हैं - "मुक्ताहार वकपाति, इन्द्रधनु पिञ्छतति, पीताम्बर बिजुरी सञ्चार। कृष्ण नव जलधर जगत् शस्य उपर, वरिषये लीलामृत धार।।" (चै. च.) वैसे ही मेघमालायें भी वारि-वर्षण कर सूर्य के ताप से तप्त जगत् को शीतल करती हैं। इसलिये नाना दृष्टियों से श्रीकृष्ण के साथ इन मेघों का समुचित सख्य है।

श्रीकृष्ण गायें चराते-चराते जब यमुना आदि नदियों के तट पर या गोवर्धन तट प्रदेश में जा पहुँचते हैं, तो शरत् काल में मध्यान्ह सूर्य के प्रखर ताप में श्रीकृष्ण, बलदेव, सखा और गो महिष आदि पशु अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त हो उठते हैं। गोपबालक, गो-महिषादि पशु तप्त बालुका पर अथवा किसी तप्त शिला पर खड़े होकर श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर और रूपमाधुरी देखकर आत्महारा हो जाते हैं

उस समय उन्हें तप्त बालुका आदि की कोई अनुभूति ही नहीं होती। तब श्रीकृष्ण सभी की तपन दूर करने की कामना से वेणु पर मलाररराग अलापते हैं। उस राग से आकृष्ट होकर मेघ आकाश में छत्राकार उदित होकर सब का ताप दूर करते हैं, बिन्दु-बिन्दु जलकण बरसा कर सपार्षद अपने सखा श्रीकृष्ण की सेवा कर धन्य होते हैं।

व्रजदेवी ने कहा - सखियों ! श्रीकृष्ण के वेणुनाद के फलस्वरूप आकाशमार्ग में मेघों का सञ्चरण और उनसे बिन्दु-बिन्दु वारि-वर्षण देखकर लगता है जैसे वे मोतियों की लम्बी-लम्बी लड़ियों से युक्त सुवृहत् छाते हैं। मेघों ने अपनी देह और धनसम्पदा सभी कुछ श्रीकृष्ण-सेवा में लगा दी है, यह स्पष्ट समझ में आता है। ये मेघ जड़ वस्तु होते हुए भी हम लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक सौभाग्यशाली हैं। हम सब तो किसी भी दिन देह या धन से श्रीकृष्ण की कोई सेवा नहीं कर पाईं। यदि विधाता हमें गोपी न बनाकर आकाश का मेघ बना देते, तो हम श्रीकृष्ण-सेवा कर जीवन धन्य कर पातीं। श्रीकृष्ण की सेवा की बात तो दूर, उनके दर्शन तक हमारे लिये अति दुर्लभ हैं। हमसे तो व्रज के ये पशु-पक्षी, आकाश के मेघ तक कोटि-कोटि गुने सौभाग्यवान् हैं। गोपीदेह धारण कर धैर्य, लज्जा, कुल, शील आदि के बन्धनों को लेकर हमारा जीवन तो सभी प्रकार से व्यर्थ हुआ। महाभाव से उत्पन्न विपुल दैन्य के कारण गोपियाँ इस प्रकार खेद करने लगीं। वस्तुतः प्रेम ही कृष्ण-सेवा का एकमात्र उपचार है। प्रेमहीन सेवा श्रीकृष्ण को कभी भी सुखकर नहीं लगती। प्रेम की ही चरम परिपक्व अवस्था है महाभाव।

**''प्रेम क्रमे बाढ़ि हय - स्नेह, मान, प्रणय ।**
**राग अनुराग भाव महाभाव हय ।।''**

(चै. च. मध्य. 23)

एकमात्र व्रजगोपिकाओं में ही इस महाभाव की स्थिति है। इसीलिये गोपिकाओं की इस महाभाव की सेवा में ही श्रीकृष्ण को सबसे अधिक सन्तोष होता है। राधारानी के मात्र एक कटाक्ष से आनन्दसिन्धु श्रीगोविन्द में आनन्दमूर्छा का उदय हो जाता है। अतएव गोपियों की कृष्णसेवा की कोई तुलना नहीं और इस प्रेमसेवा से श्रीकृष्ण की वश्यता की भी तुलना अन्यत्र नहीं है।

**''कृष्णेर प्रतिज्ञा एक आछे पूर्व हैते ।**
**जे जैछे भजे कृष्ण तारे भजे तैछे ।।**
**से प्रतिज्ञा भङ्ग होइलो गोपीर भजने ।**
**ताहाते प्रमाण कृष्ण श्रीमुख वचने ।।''**

(चै. च. आदि 4)

"न पारयेऽहं निरवद्य-संयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः,
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।"

(भा. 10/32/22)

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण कहते हैं - हे व्रज देवियों ! मैं तुम लोगों के असाधारण पवित्र व्यवहार के प्रत्युपकार में कभी भी समर्थ नहीं हो सकता, कारण - मेरे साथ तुम लोगों का जो संयोग या मिलन है, वह निर्मल प्रेममय होने से निर्दोष है। मेरे प्रति अदम्य आकुल पिपासामय अनुराग के क्षेत्र में अखिल प्रियवर्ग की तुलना में तुम लोग ही निरुपम हो। प्रगाढ़ अनुराग के आवेश में तुम सबने कुलवधु के लिये अच्छेद्य लोकवेद- मर्यादा की श्रृङ्खला को पूरी तरह छिन्न कर मेरा भजन किया है। इधर मैं तो तुम लोगों के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रेमयुक्त हूँ, इसलिये मेरी प्रीति तो खण्डित है। तुम सबको एकमात्र मुझ में ही परम आवेश है, इसलिये मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति अखण्ड है। तुम्हारे अनुराग के अनुरूप प्रत्युपकार करने में मैं असमर्थ हूँ। इसलिये मैं तो ऋणी ही रहा। इसका प्रतिकार तुम्हारी सुशीलता ही है।

अतएव इस वेणुगीत में व्रजबालाओं के प्रत्येक श्लोक में ही जो दैन्य और निर्वेद देखने को मिलता है, वह केवल उनके महाभाव से उत्पन्न प्रगाढ़ पिपासा की ही परिणतिविशेष है।

"आच्छादयन् शरदशीतकरस्य तापं,
छत्रायितः स्ववपुषायमचेतनोऽपि ।
संसर्पति प्रतिपथं परितः प्रसर्पन
मैत्रीं विभावयति मेघरुचीह मेघः ।।
कर्पूरपूरपरमाणुसमेन वारां
शीतेन शीकरभरेण विसारिणां यः ।
गोचारणश्रममपाकुरुतेऽनुगायन्
वंशीममुष्य घन एव निसर्गबन्धुः ।।"

(आ. वृ. 11/157-58)

"हे सखि ! ये मेघ अचेतन होते हुए भी अपनी छत्र-जैसी देह से शारदीय प्रखर सूर्यताप को ढक कर चारों ओर जाकर पथ-पथ पर पहुँचकर मेघकान्ति श्रीकृष्ण के प्रति मैत्री प्रकट करते हैं।

श्रीकृष्ण वंशी बजाते-बजाते कर्पूर धूलिप्रवाह के परमाणुओं की तरह चारों ओर फैले इन मेघों के जलकणों से अपना गोचारण-श्रम दूर करते हैं। यह मेघ ही श्रीकृष्ण का सहज-स्वाभाविक बन्धु है'' ।। 16 ।।

**पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-**
**श्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।**
**तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन,**
**लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्।। 17।।**

---

**अन्वयः** - दयितास्तनमण्डितेन (कासाञ्चिद् दयितानां स्तनेषु मण्डितेन अनुलिप्तेन) उरुगायपदाब्जराग श्री कुंकुमेन (उरुगायस्य श्रीकृष्णस्य पदाब्जयोः रागेन आरुण्येन श्रीः कान्तिः यस्य तेन कुंकुमेन) तृणरूषितेन (तृणेषु रूषितेन लग्नेन) तद्दर्शन-स्मररुजः (तथाभूतस्य कुंकुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुक् तापः यासां तास्तेन कुंकुमेन) पुलिन्द्यः आननकुचेषुलिम्पन्त्यः तदाधिं (कामपीड़ा) जहुः (अतस्ता एव) पूर्णाः (कृतार्थाः) ।। 17।।

**अनुवाद**- श्रीकृष्ण की किसी प्रियतमा के स्तनमण्डलों पर लगा कुंकुम किसी प्रकार श्रीकृष्ण के पादपद्मों से लिप्त हो जाता है, फिर उन श्री चरणों से वन के तृणों से जा लगता है। पुलिन्द रमणियाँ उस कुंकुम को देखकर मदनपीड़ा से अधीर होकर उसे अपने मुखमण्डल और वृक्षस्थल पर लेप कर अपनी मदनपीड़ा शान्त करती हैं ।। 17 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

महाभाववती व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी बताते हुए भावावेग में व्रज के स्थावर-जङ्गम के सौभाग्य का वर्णन किया। श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी और रूपमाधुरी का आस्वादन करने का सौभाग्य ! साथ ही स्वयं को उस सौभाग्य से वञ्चित देखकर आक्षेप के साथ उन जन्मों के लिये विधाता से प्रार्थना की। पिछले श्लोक में आकाश के मेघों के सौभाग्य की बात सुनकर - यह जानकर कि मेघों को श्रीकृष्ण की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त है, एक गोपसुन्दरी ने कहा - सखियों ! मेघ तो श्रीकृष्ण के सखा हैं। वर्णसाम्य और स्वभावसाम्य में श्रीकृष्ण के साथ उनका सख्य है। अतएव वे इस प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा का सौभाग्य प्राप्त करेंगे, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। किन्तु वनवासिनी पुलिन्दरमणियों की बात सोचकर तो लगता है कि वे भी हम लोगों से अधिक सौभाग्यवती हैं।

वृन्दावन के वण्यप्रदेश में पुलिन्द शवर आदि जो अन्त्यज जातीय लोग रहते हैं, उनमें पुरुष वर्ग व्रज के गाँवों में श्रमसाध्य कार्य कर जीविकोपार्जन करते हैं और स्त्रियाँ वन-वन में लकड़ी, सागसब्जी फलफूल आदि आहरण किया करती हैं। इनमें से किसी का भी श्रीकृष्ण से कोई सम्पर्क नहीं, पर ये जब काष्ठ-फल आदि आहरण करती हुई इधर-उधर घूमती हैं, तो उस स्थान पर आ पहुँचती हैं जहाँ तृणों (घास) पर श्रीकृष्ण के चरणों का कुंकुम लगा होता है। उस कुंकुम को देखकर ये मदनपीड़ा से अभिभूत हो उठती हैं। तब ये उस कुंकुम को नाक के आगे रखकर उसका सौरभ ग्रहण करती हैं, उसे चेहरे पर लगा लेती हैं। अन्त में उसी कुंकुम को वक्ष पर लगाकर अपनी मदनज्वाला शान्त करती हैं।

व्रजदेवियाँ जिन-जिनकी बात कर रही हैं, उनमें से किसी की अवस्था देखकर उन्होंने यह सब नहीं कहा। फिर भी श्रीकृष्ण का वेणुनाद सुनकर भावावेग में उनके अन्तर में जो स्फूर्ति हो रही है, वही अपनी सखियों को बता रही हैं। श्रीमद्भागवत में देखते हैं (5/18/12) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" - जिनमें भगवान् के प्रति अकिञ्चन या निष्काम भक्ति है, उनमें सभी देवता समस्त गुणों अर्थात् अखिल धर्म-ज्ञान आदि के साथ नित्य वास करते हैं। यद्यपि निष्काम भक्त किसी गुण की आकांक्षा नहीं करते, तथापि सर्वज्ञत्व आदि गुण स्वयं ही कृतार्थ होने के लिये उनके चित्त में समुदित होते हैं ।

श्रीमद्भागवत (10/83/42-43) में श्रीकृष्ण की पट्टमहिषियों की उक्ति से भी पता चलता है -

"**कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः स्त्रियः ।**
**कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना बोढुं गदाभृतः ।।**
**व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृण वीरुधः ।।**"

'हम लोग कमलाजी के कुच-कुंकुम की गंध से युक्त श्रीकृष्णचरण-रेणु मस्तक पर धारण करने के लिये सर्वदा ही प्रार्थना कर रही हैं। व्रजरमणियाँ, पुलिन्द रमणियाँ, व्रज के तृणगुल्मलता आदि इसी चरणरेणु के लिये प्रार्थना किया करते हैं।'

व्रजदेवियों में प्रेमभक्ति की पराकाष्ठा है, इसलिये उनके भावाविष्ट चित्त में पुलिन्दरमणियों की जो बात स्वतः उदित हो रही है, उसी का वर्णन उन्होंने अपनी सखियों के आगे किया है।

व्रजदेवी ने कहा- हे सखियों ! वनचारिणी पुलिन्दरमणियाँ वन में तृणसंलग्न कुंकुम अपने अङ्ग पर लेप कर मदनपीड़ा को शान्त करती हैं। वह असाधारण गुण से युक्त कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणातल से ही तृण पर लगा है, इसमें सन्देह नहीं कारण - किसी साधारण कुंकुम के लेप से किसी में ऐसे परमानन्द का उद्रेक नहीं होता। किन्तु यह कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणों से लगा कैसे ? अलक्तक (महावर) आदि की तरह कुंकुम तो कोई पैरों में लगाता नहीं। इसलिये लगता है, किसी प्रेयसी के वक्ष से लगा कुंकुम ही किसी प्रकार श्रीकृष्ण के चरणों में लग गया, कारण- श्रीकृष्ण- जैसे सुरसिक नागर के लिये यह तो सम्भव नहीं कि वे वैसी किसी सुरसिका नागरी के साथ लीला-विहार आदि न करें और केवल वंशीवादन वा -भ्रमण आदि में ही समय बिता दें। इसलिये इस व्रजमण्डल में ही उनकी कोई प्रेयसी है, जिसका स्तनमण्डित कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणों में लगा है।

अब प्रश्न यह है कि वह प्रेयसी कौन है ? उसके वक्ष पर लगा कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणों में कैसे लग गया ? यहाँ व्रजबालाओं के पूर्वराग की भूमि - महारास से पूर्व व्रजबालाओं के साथ श्रीकृष्ण का मिलन कभी नहीं है। इसका कारण यह है कि महारास के प्रारम्भ में व्रजबालाओं के प्रति श्रीकृष्ण की जो उपेक्षावाणी और व्रजदेवियों की जो प्रार्थनावाणी है, वह मिलन के पश्चात् कभी सम्भव नहीं। अतएव महारास में ही गोपियों के साथ गोपीनाथ का नवसङ्गम हुआ है, यह पता चलता है। इसलिये इस पूर्वराग की भूमि पर उस कान्ता के साथ श्रीकृष्ण का मिलन कैसे हो सकता है ? और कैसे उस वक्ष का कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणतल से लिप्त हो सकता है ? इस प्रेयसी का परिचय देते हुए श्रील गोस्वामिपाद ने लघुतोषणी टीका में लिखा है - ''सा च दयिता श्रीपदेनानूदिता तदिदं वर्णयन्तीषु तास्वपि विशिष्टा। रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने इति मात्स्यादि प्रसिद्धया श्रीराधैव लभ्यते। श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुष इति ब्रह्मसंहिता दर्शनाद व्रजदेवी मात्राणां श्रीत्वे प्राप्तेऽपि, देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा इति वृहद्गौतमीये तु तदाधिक्यं दृश्यते। अन्यस्याः श्रियः कस्यानुभाववस्य न देव विद्महे इत्यादौ निरस्तत्वात्।।'' अर्थात् इस दयिता (प्रेयसी) के साथ 'श्री' जुड़ा हुआ है, इससे यही समझा जाता हैं कि वह उन सब गोपियों में विशिष्ट या श्रेष्ठ है, जो वेणुगीत के श्लोक बोल रही हैं। द्वारका में कान्ताओं में रुक्मिणी श्रेष्ठ हैं और

व्रजकान्ताओं में श्रीराधा ही सर्वश्रेष्ठ हैं - इस मत्स्यपुराण के वचन से यह समझ में आता है कि यह 'दयिता' श्रीराधा ही हैं। यद्यपि ब्रह्मसंहिता में सभी व्रजकान्ताओं को 'श्री' रूपिणी कहा गया है, तथापि व्रजकान्ताओं में श्रीराधा ही सर्वश्रेष्ठ हैं, यह बात वृहद्गौतमीय तंत्र के इस वचन से पता चलती है - 'देवी कृष्णमयी हैं, श्रीकृष्ण की श्रेष्ठ आराधिका हैं, तभी उनके नाम हैं राधिका, परदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी और परा'। श्रीराधा ही समस्त व्रजकान्ताओं की मुकुटमणि जयश्रीरूपिणी परा या सर्वश्रेष्ठ हैं। वैकुण्ठेश्वरी आदि अन्यान्य लक्ष्मियों ने व्रजेन्द्रनन्दन की चरणरेणु को स्पर्श करने का अधिकार प्राप्त नहीं किया, यह बात नागपत्निओं की श्रीकृष्णस्तुति 'कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे' इत्यादि में देखने को मिलती है। इस प्रसङ्ग में देवीकृष्णमयी श्लोक की श्रीचैतन्यचरितामृत की व्याख्या भी विशेष उल्लेखनीय है -

''देवी कहि द्योतमाना परमसुन्दरी ।
किम्बा कृष्ण पूजा क्रीड़ार बसति नगरी ।।
कृष्णमयी कृष्ण जाँर भितरे बाहिरे ।
जाँहा जाँहा नेत्र पड़े ताँहा कृष्ण स्फुरे ।।
किम्वा प्रेमरसमय कृष्णेर स्वरूप ।
ताँर शक्ति ताँर सह हय एकरूप ।।
कृष्णवाञ्छा-पूर्तिरूप करे आराधने ।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने ।।
अतएव सर्वपूज्या परम देवता ।
सर्व-पालिका सर्व-जगतेर माता ।।
सर्व-लक्ष्मी शब्द पूर्वे करियाछि व्याख्यान ।
सर्वलक्ष्मीगणेर तिंहो हय अधिष्ठान ।।
किम्वा सर्वलक्ष्मी कृष्णेर षड्विध ऐश्वर्य ।
ताँर अधिष्ठात्री शक्ति सर्वशक्तिवर्य ।।
सर्व-सौन्दर्य कान्ति बैसये जाँहाते ।
सर्व-लक्ष्मीगणेर शोभा हय जाँहा हैते ।।
किम्बा कान्तिशब्दे कृष्णेर सब इच्छा कहे ।
कृष्णेर सकल वाञ्छा राधातेइ रहे ।।
राधिका करेन कृष्णेर वाञ्छित पूरण ।

सर्वकान्ति शब्देर एइ अर्थ विवरण ।।
जगत-मोहन कृष्ण ताँहार मोहिनी ।
अतएव समस्तेर परा ठाकुराणी ।।''

(आदि. 4 परि.)

जो भी हो, श्रीराधा के वक्ष से लिप्त कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणों में लगा था, वह उन दोनों के मिलन -विलास आदि के कारण न था। यह श्लोक वेणुप्रकरण में आता है, इसलिये श्रीकृष्ण के वेणुवादन प्रसङ्ग में ही मूर्छित श्रीराधा के वक्ष पर श्रीकृष्ण के चरणों के रखे जाने से वक्ष पर लगा कुंकुम उनके श्रीचरणतल पर लग जाता है। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने अपने श्रीगोपालचम्पू ग्रन्थ में इस 'पूर्णा पुलिन्द्यः' श्लोक का अति सुन्दर सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या-कौशल दिखाया है। उस व्याख्या में यह बात अति सुन्दर रूप से प्रकट हुई है। हम यहाँ उसी व्याख्या का वर्णन कर रहे हैं।

वासन्ती पूर्णिमा पर राकाचन्द्र का अपूर्व सौन्दर्यमाधुर्य देखकर श्रीकृष्ण के हृदय में अभूतपूर्व आनन्द हुआ। उन्होंने चित्त को सभी विषयों से हटाकर मन ही मन सोचा - मैंने वेणुवादन में परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त की है। यह सोचकर उन्होंने वृन्दावन के गहन प्रदेश में प्रवेश कर मुरलीध्वनि द्वारा श्रीराधा आदि सभी व्रजसुन्दरियों को आकर्षित किया। श्रीराधा तो वेणुरव सुनकर दो-तीन पहर चित्रलिखित की तरह निष्पन्द बनी रहीं। उसी वेणुनाद के आकर्षण से असंख्य व्रजसुन्दरियाँ वृन्दावन की ओर चल पड़ीं; वेणुविलासी श्रीकृष्ण के दर्शन कर उन्होंने अतिशय आनन्द प्राप्त किया। श्रीकृष्ण-दर्शन से लज्जा का उदय हुआ, तो वे अपना-अपना मनोभाव छिपाकर श्रीकृष्ण के चरणस्पर्श कर उनके आगे नीरव खड़ी रहीं। उन लोगों के कहे बिना उनकी भाव-भङ्गिमा से उनका मनोभाव प्रकाशित हो ही गया। कुछ समय उन लोगों का असमोर्ध्व सौन्दर्य देखकर श्रीकृष्ण का चित्त मग्न हुआ, पर जब उन्होंने देखा कि श्रीराधा नहीं आईं, तो यह सोचकर कि मेरी अभिलाषा सिद्ध नहीं हुई, उन्होंने यह आश्वासन देकर कि भविष्य में अङ्गीकार करेंगे व्रजसुन्दरियों को घर भेज दिया। कहा -

**''मया स्वभावान्मुरली निनादिता तस्माद्भवत्यः किल सङ्गता इह ।**
**अतः परीयुर्वृत चेत् परे जनाः शङ्के ततः सुष्ठिवति नात्र तिष्ठत ।।''**

'मैंने स्वभावतः आनन्द से वेणुवादन किया था, उसे सुनकर तुम लोग यहाँ आ गईं। मुझे डर है, इस वेणुरव को सुनकर अन्य लोग भी यहाँ आ जायें इसलिये तुम लोगों का यहाँ रहना युक्तिसंगत नहीं, तुम सब घर चली जाओ।' श्रीकृष्ण की इच्छा देखकर वे भी चली गईं।

इधर श्रीराधा ने अपने घर में दो प्रहर तक मूर्छित रहकर प्रगाढ़ वेदना अनुभव की। उनकी सखियों ने उनके चैतन्यसम्पादन के विशेष यत्न किये पर उन्हें सफलता न मिली। तब पौर्णमासी देवी

वृन्दा के साथ वहाँ आईं; श्रीराधा की वह अवस्था देखकर अत्यन्त वेदना अनुभव कर बोलीं – यदि राधा को मेरे तृणनिर्मित घर के आँगन में एक प्रहर तक रखो, तो मैं इसका कोई उपाय करूँ। श्रीराधा को वहाँ लाया गया। पौर्णमासी देवी ने मधुमङ्गल को भेज कर श्रीकृष्ण को वहाँ बुलवाया और मृदु हास्य के साथ तिरस्कार करते हुए कहा – हे कृष्ण ! तुमने जो किया सो किया, अब इसका उपाय करो।

श्रीकृष्ण ने लजाकर कहा – हाय, सो कैसे, इसका समाधान कैसे होगा ?

पौर्णमासी बोलीं – हम लोग दु:खी हैं; बहुत कहने की आवश्यकता नहीं, तुम अपने अङ्गस्पर्श से राधा की मोहदशा दूर करो।

श्रीकृष्ण बोले – राधा कौन हैं ?

मधुमङ्गल ने प्रणयरोष से भरकर कहा – जिस नवीन मेघ के भीतर चपला वास करती है, यदि वह उसे न जाने, तो वही विद्युत अल्प मात्रा में भी प्रकाशित हो उठती है। उसे क्या बार-बार छिपाया जाता है ?

वृन्दा भी बोलीं – हे गोकुलपालक ! यदि श्रीराधा तुम्हारे स्पर्शमात्र से ही चेतना प्राप्त कर लेती हैं, तुम्हारी क्या हानि होगी ? विशेषत: श्रीराधिका ने अपने असीम सौन्दर्य से लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ दिया है। यदि तुम उनका परित्याग करते हो, तो 'श्रीवक्षा' नाम धारण नहीं कर सकते। अर्थात् जिसके वक्ष पर स्वर्णरेखा के रूप में श्री विराजती हैं, वही 'श्रीवक्षा' है। किन्तु श्रीराधा तो साक्षात् लक्ष्मी हैं। हम लोग ठहरीं सरला, तुम दोनों के मिलन को रोकने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हैं।

श्रीकृष्ण नीरव खड़े रहे।

तब पौर्णमासी बोलीं – हे व्रजजन-जीवन-स्वरूप श्रीकृष्ण ! तुम मौन धारण कर रहे हो, मेरी बात क्यों नहीं मान रहे।

श्रीकृष्ण ने कहा – इस विषय में अधर्म स्पर्श ही मेरे मर्मस्थान को विदीर्ण कर रहा है।

इस पर पौर्णमासी बोलीं – तुम्हारा अधर्म मैंने ग्रहण किया, तुम्हारा धर्म ही वृद्धि को प्राप्त हो।

श्रीकृष्ण स्पर्श करने में संकोच करने लगे, तो वृन्दा ने कहा – यदि दर्शन से ही कार्य हो जाय, तो स्पर्श की क्या आवश्यकता ?

तब श्रीकृष्ण ने मन ही मन विचार किया–

**''देहेन्द्रिय-मनोबुद्धि-प्राणादीनां प्रियं प्रिये, ।**
**त्वदनादरभाजो में जातं सर्वमनादृतम् ।।''**

अर्थात् हे प्रिये ! तुम्हारा अनादर कर मेरी देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि जो सब प्रिय

वस्तुएं हैं, वे सब तुच्छ हो गई हैं।

वे जब इस प्रकार विचार कर रहे थे, मधुमङ्गल उनके दोनों हाथ पकड़कर कुञ्जगृह में ले गये। वहाँ वृन्दा को छोड़कर बाहर आये और पूर्णिमा को भी अन्य स्थान पर बिठाकर स्वयं कुञ्ज के पास चित्रवत् निश्चल बैठ गये।

वृन्दा ने कहा - हे कृष्ण ! श्रीराधा परम प्रेमवती हैं। तुम्हारी युवावस्था में दुःखमय भोगतृष्णा का अनुमान कर इन्होंने तुम्हारा दुःख स्वयं लेकर अपने सुख का विसर्जन कर दिया है। इसलिये अपना हाथ इनके वक्ष पर रख दो।

श्रीकृष्ण बोले - यह अत्यन्त अनुचित है।

इसके उत्तर में वृन्दा ने कहा - चरण हृदय से लगा दो।

यह कहकर वृन्दा ने उनका श्रीचरण बलपूर्वक श्रीराधा के हृदय से लगा दिया। श्रीकृष्ण भी काँपते हुए चरण स्पर्श करा भावविवश हो गये। सञ्जीवन-पल्लव की तरह चरण के ईषत् स्पर्श मात्र से ही श्रीराधिका दीर्घ मोहदशा से उठ बैंठीं, आँखें खोलते ही श्रीकृष्ण के दर्शन किये। वे मानो स्वप्न देखते-देखते विवशता से उठीं; अस्पष्ट ईषत् रोदन करने लगीं। वृन्दा से सादर सान्त्वना पाकर, फिर पौर्णमासी को प्रणाम कर वृन्दा के साथ व्रज-गमन कर बड़े कष्ट के साथ कुछ समय बिताया। इस श्रीचरणस्पर्श से श्रीराधामाधव के हृदय में जो असमोर्ध्व अप्राकृत सुखोल्लास समुदित हुआ था, उसके अल्पांश का भी वर्णन करने में कौन-सा कवि समर्थ हो पाया ?

श्रीकृष्ण भी लजाकर वहाँ से शीघ्र चले गये। श्रीराधिका के वक्षस्थल पर श्रीचरण रखने से कुंकुम लग गया था। वही कुंकम तृण से जा लगा और उसी कुंकुम को प्राप्त कर पुलिन्दकन्याओं को आनन्दविशेष हुआ। श्रीमद्भागवत में 'पूर्णाः पुलिन्द' इत्यादि श्लोक में उसी का उल्लेख है। जिनके वक्ष का श्रीकुंकुम श्रीकृष्णचरण ने प्राप्त किया है, उन प्रियतमा राधिका की बात दूर, वह तृण भी धन्य है, जिससे वह कुंकुम लग गया था, कारण - वह साक्षात् सम्बन्ध को लेंकर श्रीकृष्ण के पदतल से ही आया है। श्रीमद्भागवत में श्रीराधिका आदि व्रजसुन्दरियों ने पुलिन्दरमणियों का सौभाग्य देखकर अपनी मर्मव्यथा और अपूर्णता ही व्यक्त की है। ऐसा अनुराग में ही होता है। यद्यपि श्रीराधा ही वे दयिताशिरोमणि हैं, तथापि अनुराग के कारण उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं। अनुराग में सर्वदा आस्वाद्य वस्तु भी अनास्वादित की तरह लगती है, कारण - इसमें प्रियतम का सौन्दर्य-माधुर्य आदि सब कुछ नवनवायमान रूप में प्रतीत होता है। उज्ज्वल नीलमणि में इस मादनाख्यभाव का अनुभाव विशेष रूप से ही लिखा है - "सदा भोगेऽपि तद्गन्धमात्राधारस्तवादयः" अर्थात् सर्वदा सम्भोग में भी उसके गन्धमात्र आधार का भी मादनभाव में स्तव आदि हुआ करता है। श्रील रूपगोस्वामिपाद ने इसके दृष्टान्त में यह 'पूर्णा

पुलिन्द्यः' श्लोक उद्धृत किया है, अतएव यह श्लोक मादन नामक महाभाव से परिपूर्ण राधारानी की ही श्रीमुखोक्ति है। उन्होंने इस श्लोक में मादनभाव के आवेश में खेद किया है - सखियों ! देखो तो, व्रज की पुलिन्दरमणियाँ कितनी धन्य हैं ! किसी नायिका के वक्ष का कंकुम श्रीकृष्ण के श्रीचरण से लग गया था, फिर वह तृण से लग गया। उसी कुंकुम को मुख से वक्ष से लगाकर उन्होंने अपनी मदनपीड़ा शान्त की। हाय, हम गोपिका न होकर पुलिन्दरमणी के रूप में जन्म लेतीं, तो वैसा सौभाग्य प्राप्त कर हम लोगों का जीवन धन्य होता।

''स्निग्धेषु शाद्वलतलेषु पदारविन्द-
स्यन्दीनि वल्लभतमाकुचकुंकुमानि ।
वक्षोरुहेषु च मुखेषु च रुषयन्त्यो,
धन्याः पुलिन्दसुदृशः सुरसा भवन्ति ।।
हन्ताधिकार्यनधिकारितया न भेदः,
सर्वाभिलाषसदने मधुरिम्नि तस्य ।
युक्तं पुलिन्दसुदृशो यदिहानुरक्ता
रागस्य च प्रकटने ह्ययमेव मार्गः ।।''

(आ. वृ. 11/159-60)

'वे पुलिन्दरमणियाँ ही धन्य हैं, जो श्रीकृष्णचरणकमलों से स्निग्ध तृण पर लग गये उनकी प्रियतमा के कुचकुंकुम को अपने वक्ष और मुख पर लेपकर सुरसा हो उठीं। (यद्यपि राधा स्वयं ही वह प्रियतमा हैं, तथापि अनुराग की अतिशयता के कारण अन्य नायिका की बात कर रही हैं)।

अहो ! श्रीकृष्णमाधुरी सभी की अभिलाषा का विषय है, इसमें अधिकारी अनधिकारी का कोई विचार नहीं। पुलिन्दरमणियाँ इसमें अनुरक्त हो जाती हैं, तो यह युक्तियुक्त ही है, कारण - राग प्रकट करने का यही एकमात्र पथ है' ।। 17 ।।

**हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो**
**यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।**
**मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्**
**पानीय-सूयवस-कन्दर-कन्दमूलैः।। 18।।**

---

अन्वयः - हन्त ! अबलाः (हे सख्यः !) अयम् अद्रिः (गोवर्द्धनगिरिः) हरिदासवर्यः (हरिदासेषु श्रेष्ठः) यद् (यस्मात् सः) रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः (रामकृष्णयौः चरणस्पर्शेन प्रमोदः हर्षाकुलः सन्) सहगोगणयोः (गोभिः गणेन सखिसमूहेन च वर्तमानयोः) तयोः (रामकृष्णयोः) पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः (पानीयैः सूयवसैः शोभनं तृणैः कन्दरैश्च कन्दमूलैश्च यथोचितम्) मानं तनोति (सपर्यां विदधाति) ।। 18।।

**अनुवाद**- हे सखियों ! यह गोवर्द्धनगिरि हरिदास श्रेष्ठ है, कारण - यह श्रीकृष्ण-बलदेव के श्रीचरणस्पर्श से प्रमोदित होकर स्वच्छ जल, सुगन्धित सुकोमल तृण (घास), विचित्र गुफा एवं नाना प्रकार के कन्दमूल आदि से गायों और गोपबालकों के साथ श्रीकृष्ण-बलराम की नाना प्रकार से सेवा किया करता है ।। 18।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण-अनुरागिनी व्रजदेवियों ने पुलिन्दरमणियों के सौभाग्य की बात की, तो भाव के आवेग में मन की बात भी बहुत-कुछ व्यक्त हो गई। प्रियतमा का स्तनमण्डित कुंकुम श्रीकृष्ण चरणों से लिप्त हो व्रज के तृण से जा लगा। पुलिन्दरमणियों ने उस कुंकुम को देखकर कन्दर्पपीड़ा से अधीर होकर उसे अपने मुख-वक्ष पर लेपकर कामपीड़ा शान्त की है। इन सब बातों से हृदय का आवरण हट गया। तब पुनः सावधान होकर गिरिराज गोवर्द्धन द्वारा सपार्षद श्रीश्रीरामकृष्ण की सेवा का उल्लेख कर उसके सौभाग्य की बात कह कर अपने भाव को छिपाने की चेष्टा की। श्री गिरिराज की महिमा का व्यञ्जक यह श्लोक भी श्रीराधिका की ही उक्ति है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने अपने श्रीश्रीगोवर्धनवास-प्रार्थना दशक में लिखा है -

**''गिरिनृप हरिदास-श्रेणिवर्येति नामा-**
**मृतमिदमुदितं श्रीराधिकावक्त्रचन्द्रात् ।**
**व्रजनवतिलकत्वे क्लप्त वे दैः स्फुटं मे**

**निजनिकट निवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ।।''**

'हे गिरिराज ! तुम्हारा 'हरिदासवर्य' नामामृत साक्षात् राधारानी के श्रीमुखचन्द से प्रकट हुआ है। वेदशास्त्र आदि ने व्रज-ललाट के अभिनव सौभाग्य-तिलक के रूप में तुम्हारा निरूपण किया है। तुम मुझे अपने निकट निवास प्रदान करो।'

श्रीमद् भागवत (3/28/22) में वर्णित है - ''यच्छौचनि:सृत-सरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्द्धन्यधिकृतेन शिव: शिवोऽभूदिति', अर्थात् (जिन) विष्णु-चरणों से निकली परमपवित्र गङ्गाजी का जल मस्तक पर धारण कर शिवजी 'शिव' हुए हैं। शिवजी 'शिव़' हुए हैं, इसका तात्पर्य यही है कि श्रीविष्णुपादोद्भवा गङ्गा को मस्तक पर रखकर श्रीमन्महादेव स्वयं भक्तिसुख में निमज्जित हुए हैं और विश्व के भी भक्ति-प्रदाता होकर वे यथार्थत: 'शिव' या मङ्गल-प्रदाता नाम को सार्थक कर रहे हैं। श्रील रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने गोवर्द्धनाश्रय दशकम् में लिखा है -

**''गङ्गाकोट्यधिकं वकारिपदजारिष्टारिकुण्डं वहन्**
**भक्त्या य: शिरसा नतेन सततं प्रेयान् शिवादप्यभूत ।**
**राधाकुण्डमणिं तथैव मुरजित् प्रौढ़-प्रसादं दधत्**
**प्रेय: स्तव्य तमोऽभवत् क इह तं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ।।''**

'जो भक्तिपूर्वक नतमस्तक होकर कोटि गङ्गाओं से भी श्रेष्ठ श्रीकृष्णपादपद्मसम्भूत अरिष्टकुण्ड (श्याम कुण्ड) और व्रजमुकुटमणि श्रीराधाकुण्ड को मस्तक पर धारण कर शिवजी से भी अधिक प्रिय - श्रीकृष्ण के अति प्रिय और कृपापात्र बने हैं, उन गोवर्द्धन का आश्रय भला कौन नहीं लेता ?'

माधुर्यमूर्ति स्वयं भगवान् श्रीवृजेन्द्रननदन के पार्ष्णिघात (एड़ी के आघात) से जो प्रकट हुआ है और श्रीकृष्ण की इच्छा से जिसमें ब्रह्माण्ड की समस्त तीर्थराजि का आविर्भाव हुआ है, वह श्यामकुण्ड कोटि गङ्गाओं से भी अधिक महामहिमा से अलंकृत होगा, इसमें सन्देह का और अवकाश ही नहीं।

उधर राधारानी ने सखियों के साथ अपने हाथों से खनन कर राधाकुण्ड प्रकट किया है और श्रीकृष्ण ने अपने कुण्ड से भी अधिक उसकी महिमा प्रकट की है। इन्हीं दोनों कुण्डों को गिरिराज ने परम भक्ति के साथ मस्तक पर सतत धारण कर रखा है, इसलिये गोवर्द्धन 'वैष्णवानां यथा शम्भु:' श्रीगङ्गाधर से भी अधिक श्रीकृष्ण-कृपापात्र होंगे, यह कहना ही पर्याप्त है। तभी तो श्रीकृष्ण ने व्रज की रक्षा के लिये गिरिराज को सप्ताहभर अपने हाथ पर धारण कर उन्हें महामहिमा से मण्डित किया है। गिरिराज की इसी भावी महिमा को जान कर ही श्रीमती ने पूर्वराग की भूमि पर ही अपने श्रीमुख से गोवर्द्धन को 'हरिदासवर्य' आख्या प्रदान की है। गोवर्द्धन के परम भागवतत्व की ऐसी महामहिमा अनेक

शास्त्रों और महाजन-वाणियों में कीर्तित है।

श्रीमती राधारानी ने यहाँ गोवर्द्धन की अतुलनीय कृष्णसेवा की बात सोचकर ही उन्हें 'हरिदासवर्य' आख्या दी है। साक्षात् गिरिराज को दिखा कर ही श्रीमतीजी सखियों से कह रही हैं - सखियों, ये जो गोवर्धन हैं, ये 'हरिदासवर्य' हैं। जो विश्व का अशेष दुःख और पापताप आदि हरते हैं, उनका नाम हरि है। ''हरि शब्देर बहु अर्थ दुइ मुख्यतम। सर्व अमङ्गल हरे प्रेम दिया हरे मन।।'' (चै. च.) ये हरि गोवर्धन के अधिष्ठाता या 'देव' हैं। इन हरिदेव को अपने अङ्ग में स्थान देकर इनकी सतत सेवा कर रहे हैं, इसलिये गोवर्धन हरिदासवर्य या हरिदासों में श्रेष्ठ हैं।

शास्त्र एवं लोकप्रसिद्ध ध्रुव प्रल्हाद, नारद, व्यास आदि बहुत-से भक्त श्रीकृष्ण के सेवक हैं, अतएव हरिदास हैं। सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में तीन जनों को ही 'हरिदास' आख्या दी गई है। श्रीमद्भागवत (10/75) में है 'हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम्' अर्थात् हरिदास युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ-महोत्सव देखकर सभी परम प्रसन्न हुए। श्रीयुधिष्ठिर को उनके राजसूययज्ञ-समापन के लिये हरिदास आख्या दी गई। श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त यागयज्ञ आदि नहीं करते। ये सब कार्य स्वर्गकामी कर्मियों द्वारा ही किये जाते हैं। हरिदास महाराज युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ केवल छलमात्र है। इस महा आडम्बर भरे कार्य के बहाने वे श्रीकृष्ण को हर समय अपने राज्य में रखकर सेवा करेंगे। दूसरी बात, जो द्वारका के विपुल वैभव के बीच परिसेवित हो रहे हैं, उनकी मनोमत सेवा करने के लिये वैसे ही विपुल वैभव की अपेक्षा है न ! हरिदास युधिष्ठिर का तो सभी कुछ श्रीकृष्ण सेवा के लिये है, अपनों के लिये कुछ नहीं । इसका प्रमाण है - उन्होंने जैसे ही अर्जुन से श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने की बात सुनी, वैसे ही पिशाच की तरह आकृति धारण कर महाप्रस्थान किया।

फिर श्रीमद्भागवत (10/17) में है 'कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्' । हरिदास उद्धवजी श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित होकर व्रज में आये; श्रीकृष्ण की लीला-कथाओं का वर्णन कर व्रजवासियों को श्रीकृष्ण का स्मरण करा उन सबकी सेवा की थी। श्रीकृष्ण की प्रिय सेवा ! उनके प्राणाधिक प्रिय व्रजवासियों, सबसे ऊपर महाभाववती गोपबालाओं के आगे श्रीकृष्णकथा वर्णन कर हरिदास उद्धवजी ने सेवा की है। उद्धवजी ने श्रीकृष्ण की कृपा से व्रजबालाओं के श्रीचरणों में परमा भक्ति भी प्राप्त की है। उन लोगों की श्रीचरणरज में अभिषिक्त होने के लिये वृन्दावन में तृण-गुल्म बनकर जन्म लेने की प्रार्थना की है, अतएव वे हरिदास ही तो हैं।

श्रीमती राधारानी बोलीं - सखियों ! किन्तु कोई भी हरिदास श्रीगोवर्द्धन की तरह अपनी देह को सपार्षद श्रीकृष्ण-बलराम का लीलाक्षेत्र नहीं बना सका। श्रीश्रीरामकृष्ण का श्रीचरणस्पर्श पाकर श्रीगोवर्द्धन जिस प्रकार आनन्दित होते हैं, उससे लगता है वे हरिदासवर्य नाम के ही योग्य हैं। वे नव-नव

तृणोद्गम (नई नई घास के प्रस्फुटन) के बहाने पुलक, आर्द्रता के बहाने स्वेद, निर्झर के बहाने अश्रु-प्रवाह प्रकट कर विविध सात्विक विकारों से विभूषित होकर परम शोभा को प्राप्त होते हैं। जो हरिदास हैं, वे अभीष्ट के दर्शपर्श से आत्मसुख में विभोर होकर अपनी सेवा को नहीं भूलते; वे सेवानन्द में ही सुखी होते हैं। श्रीगिरिराज सपार्षद श्रीश्रीरामकृष्ण के पीने के लिये अति स्वच्छ सुनिर्मल सुमिष्ट झरने का जल अर्पित करते हैं और गायों के खाने के लिये अति उत्तम सुगन्धी सुमिष्ट सुकोमल तृण। उस घास को खाने से उनके दूध से कमल की-सी सुगन्ध निकलती है। श्रीश्रीरामकृष्ण और सखाओं की सेवा के लिये अत्यन्त मीठे कन्दमूल, अच्छे पके हुए अमृत के-से स्वादवाले फल आदि प्रदान करते हैं। श्रीश्रीरामकृष्ण के विश्राम के लिये अति विचित्र मनोरम कन्दरायें प्रस्तुत करते हैं, जिनमें मनोरम मणिपर्यंक (मणि-जड़े पलंग), गद्दे, तकिये, मणिप्रदीप, मालाचन्दन, ताम्बूल आदि सुसज्जित रहते हैं। जैसे गृहस्थ भक्त विविध द्रव्यों से सपार्षद श्रीहरि की सेवा कर अपने को धन्य करते हैं, वैसे ही श्रीगोवर्द्धन भी विविध सेवासम्भार देकर सपार्षद श्रीरामकृष्ण की सेवा कर धन्य होत हैं। इसलिये उनका 'हरिदासवर्य' नाम सार्थक है। श्रील गोस्वामिपाद ने इस श्लोक की तोषणीटीका में लिखा है - 'अक्षन्वतां फलमिदं' इत्यादि श्लोक में अवहित्था भाव से व्रजदेवियों ने श्रीरामकृष्ण की बात कही है, फिर भी अन्य अर्थ की दृष्टि से अकेले श्रीकृष्ण के माधुर्य का ही वर्णन किया गया है। उसी प्रकार इस श्लोक में भी 'यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः' का अर्थ है - राम या परम रमणीय श्रीकृष्णचरणों के स्पर्श से गिरिराज परम प्रमोदित हुए रहते हैं। श्रीकृष्ण के परम रमणीय एवं सुकोमल श्रीचरणों के सेवासुख के लिये गिरिराज ग्रीष्म काल में सुशीतल शिला और शीतकाल में थोड़ी उष्ण शिला प्रस्तुत कर रमणीय श्रीकृष्णचरणों को सेवासुख पहुँचाते हैं। सखाओं के साथ श्रीकृष्ण को विविध क्रीड़ासुख देने के लिये गिरिराज सतत उत्सुक रहते हैं। अभी तो पूर्वराग की भूमि है। राधारानी के साथ अति निगूढ़ रसविहार की कन्दरा आदि भी हरिदासवर्य गिरिराज पर विराजित हैं। श्रील रघुनाथदास गोस्वामिपाद ने लिखा है -

**''प्रमदमदनलीलाः कन्दरे कन्दरे ते**
**रचयति नवयुनोर्द्वन्द्वमास्मिन्नमन्दम् ।**
**इति किल कलनार्थं लग्नकस्तद् द्वयोर्मे**
**निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ।।''**

(श्रीगोवर्द्धनवास-प्रार्थनादशकम्)

'हे श्रीगोवर्द्धन ! श्रीयुगलकिशोर तुम्हारी कन्दरा-कन्दरा में परम उन्मादनाभरी मदनलीला किया करते हैं। उन लीलामय युगल के दर्शन के लिये मैं अत्यन्त अधीर हो उठा हूँ। तुम मुझे अपने

निकट निवास प्रदान करो।'

राधारानी ने सखियों से कहा - हे अबलाओं ! हम लोगों के पास तो श्रीकृष्णसेवा करने का कोई बल या सौभाग्य नहीं। हरिदासवर्य श्री गोवर्द्धन श्रीकृष्ण की विविध मनोरम क्रीड़ाओं और सुखसेवाओं के परम आस्पद (स्थान, आश्रय) हैं, किन्तु हम लोग इस रमणीजीवन में उनकी कोई सेवा नहीं कर सकीं। गोपरमणी न होकर गोवर्द्धन की शिलाखण्ड होतीं, तब भी श्रीकृष्णचरणों की सेवा का सौभाग्य पाकर धन्य हो पातीं। उस सेवा सौभाग्य के बिना हमारा यह रमणीजीवन सभी प्रकार से व्यर्थ हुआ।

"यः कन्दकन्दरपयः फलधातुरागैः
क्रीड़ोपयोगिभिरसौ भजतेऽनुवेलम् ।
गोवर्द्धनो गिरिवरः स हि माधवस्य
लीलासखश्च सखि भागवतोत्तमश्च ।।
यस्याश्रयं कृतवतां सखि बद्धतृष्णः
कृष्णस्तनोत्यभिमतं मतमेतदेव ।
श्रेयः सिसाधयिषवो न बिना सहायं
योग्याश्च तद् घटयितुं कुशला भवन्ति ।।"

(आ. वृ. 11/161-62)

'हे सखि ! जो क्रीड़ा में काम आने वाली वस्तुओं कन्द, कन्दरा, जल, फल, धातुराग द्वारा निरन्तर भजन करते हैं, वे गोवर्द्धनगिरि माधव की लीला के सहायक और भागवतोत्तम हैं हे सखि ! जो श्री गोवर्द्धन का आश्रय लेते हैं, श्रीकृष्ण उनकी मनोभिलाष पूरी करने के लिये बद्धतृष्ण होते हैं, - हमारा यही मत है।'। 18 ।।

**गा गोपकैरनवनं नयतोरुदार-**
**वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।**
**अस्पन्दनं गतिमतां पुलस्तरूणां**
**निर्योगपाशकृत लक्षणयोर्विचित्रम्।। 19।।**
**एवम्विधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।**
**वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीड़ास्तन्मयतां ययुः।। 20।।**

---

**अन्वयः** - (हे) सख्यः ! गोपकैः (गोपबालकैः सह) अनुवनं (वने वने) गाः नयतोः (सञ्चारयतोः) निर्योगपाशकृतलक्षणयोः (निर्योगाः पादबन्धनरज्जवः पाशाः अधुष्यगवां धर्षणार्थाः पाशाश्च, तैः कृतं लक्षणं चिन्हं ययोः तयोः रामकृष्णयोः) कलपदैः (मधुरास्फुटध्वनियुक्तैः) उदारवेणुस्वनैः तनुभृत्सु (देहधारिषु मध्ये) गतिमताम् अस्पदनं तरूणां पुलकः (प्रकाशते इति यत् तत्तु) विचित्रं वृन्दावनचारिणः भगवतः एवम्विधाः याः क्रीड़ाः (ताः सर्वाः) मिथः (परस्परं) वर्णयन्त्यः गोप्यः तन्मयतां ययुः (प्रापुः) ।। 19-20।।

**अनुवाद**- हे सखियों ! श्रीदाम-सुबल आदि गोपबालकों के साथ वन-वन गोचारण करते निर्योग और पाश से सजे श्रीकृष्ण-बलदेव जब मधुर-अस्फुट ध्वनि निकालते हुए वेणु बजाते हैं, तो जङ्गम (सचल प्राणी) निस्पन्द हो जाता है और स्थावर (वृक्ष आदि) पुलकित हो उठता है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। इस प्रकार व्रजदेवियाँ अपनी-अपनी सखियों के आगे वृन्दावनविहारी श्रीव्रजराजनन्दन की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का वर्णन करते-करते तन्मय हो गईं ।। 19-20 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

गिरिराज गोवर्द्धन की सपार्षद श्रीकृष्ण की सेवा के सौभाग्य की बात सुनकर एक व्रजबाला ने कहा- सखियों ! गिरिराज गोवर्द्धन श्रीकृष्ण के परम प्रिय सेवक हैं। उनकी देह सपार्षद श्रीरामकृष्ण की विविध लीलाओं की भूमि है, और उनके प्राण नाना प्रकार के सेवाउपकरणों द्वारा उनकी सेवा में समर्पित रहते हैं। इसलिये उनके सौभाग्य की तो सीमा ही नहीं। एकमात्र हतभागिन हम गोपरमणियों को छोड़ इस वृन्दावन में स्थावर-जङ्गम ऐसा कोई प्राणी नहीं, जो श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी और लीलामाधुरी के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त न करे। इसलिये केवल हमें छोड़कर वृन्दावन के चराचर सभी परम धन्य हैं।

श्रीकृष्ण-बलदेव श्रीदाम सुबल आदि गोपबालकों के साथ असंख्य गो-महिष आदि पशुओं

को एक वन से दूसरे वन में चराते भ्रमण करते हैं, तब अति विस्तीर्ण अञ्चल-व्यापी वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम जीव उनकी रूपमाधुरी के दर्शन और मधुरास्फुट वेणुरव के श्रवण का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। हम लोगों के पास वैसे पुण्य का अभाव है, सो विधाता ने हमें गोपी बनाकर वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम जीवों की भी अपेक्षा सौभाग्यहीन कर दिया है। गोपबालक कितने धन्य हैं, सदा श्रीकृष्ण के साथ रहकर वनविहार के विविध दु:खों भय आदि से उनकी रक्षा करते हैं। वनगमन से पूर्व माता यशोमती वात्सल्य से भर कर श्रीदाम सुबल आदि को यह बात स्मरण करा देती हैं कि वे हर समय चञ्चल स्वभाव श्रीकृष्ण के साथ रहकर वनविहार के विविध दु:ख-भय आदि से उनकी रक्षा करें। श्रीकृष्ण को भी सतर्क कर देती हैं -

**''आमार शपति लागे, ना धाइहो धेनु आगे,**
**पराणेर पराण नीलमणि।**
**निकटे राखिहो धेनु, पूरिहो मोहन वेणु,**
**घरे बसि आमि जेनो शुनि।।**
**बलाइ धाइबे आगे, आर शिशु वाम भागे,**
**श्रीदाम सुदाम सब पाछे।**
**तुमि तार माझे रइयो, सङ्ग-छाड़ा ना हइयो,**
**माहे बड़ो रिपु भय आछे।।**
**क्षुधा हैले लइया खाइय, पथ पाने चाहि जाइय,**
**अतिशय तृणांकुर पथे।**
**कारु बोले बड़ो धेनु, फिराते ना जाइय कानु,**
**हात तुलि देहो मोर माथे।।**
**थाकिबे तरुर छाय, मिनति करिछे माय,**
**रवि जेनो नाहि लागे गाय।**
**जादवेन्द्रे सङ्गे लइयो, बाधा पानइ तार हाते थुइयो,**
**बुझिया जोगाबे राङ्गा पाय।।''**

सखियों ! गोपबालक धन्य हैं। हम लोगों में वैसी सेवा की कोई योग्यता ही नहीं। गोपरमणियाँ न होकर गोपबालक होतीं, तो नाना प्रकार की प्रेमसेवा पाकर धन्य हो सकती थीं। गोपबालक तो स्वच्छन्द रूप से श्रीकृष्ण के साथ-साथ सर्वत्र परिभ्रमण किया करते हैं। उनकी सभी प्रकार की

लीलाओं के माधुर्य-आस्वादन में वे सतत परमानन्द में मग्न होते हैं। सखाओं के मधुर सख्य-दास्यरसमय गोष्ठविहार की बात पदकर्ता की वाणी से भी ज्ञात होती है -

''राखाले राखाले मेला, खेलिते विनोद खेला,
अतिशय श्रम सभाकार।
ननीर पुतली श्याम, रविर किरणे घाम,
शोभे जेनो मुकुतार हार।।
श्रीदाम आसिया बोले, बैसहो तरुर तले,
कानाइ हइबे माठे राजा।
यमुना पुलिने भाइ, कंसेर दोहाइ नाइ,
केहो पात्र मित्र केहो प्रजा।।
वनफूल आनो जतो, सर्वत्र कदम्ब शत,
अशोक पल्लव आम्रशाखा।
शुनि श्रीदामेर कथा, सकल आनिलो तथा,
नवगुञ्जागुच्छ शिखिपाखा।।
गाँथिया फूलेर माले, कदम्बतरुर तले,
राजपाट करि निरमाण।
ए उद्धवदास भणे-, कक्षतालि घने घने,
आवा आवा बाजाय बयान।।
विविध कुसुम दिया, सिंहासन निरमिया,
कानाइ बसिला राजासने।
रचिया फूलेर दाम, छत्र धरे बलराम,
गदगद नेहारे वदने।।
अशोकपल्लव धरे, सुबल चामर करे,
सुदामेर करे शिखिपुच्छ।
भद्रसेन गाँथि माले, पराय कानाइर गले,
शिरे देय गुञ्जाफल-गुच्छ।।

स्तोककृष्ण पुति बाना, ठाइँ ठाइँ बसाइलो थाना,
आज्ञा बिने आसिते ना पाय।
श्रीदामादि दूत हैया, कानाइर दोहाइ दिया,
चारि पाशे घुरिया बेड़ाय।।
करजुग जुड़ि तथि, अंशुमान करे स्तुति,
राज-आज्ञा वचन चालाय।
वटु करे वेदध्वनि, पड़े आशीर्वाद-वाणी,
दाम-वसुदाम नाचे गाय।।
अति मनोहर ठाट, निरमिया राजपाट,
जतेक हइलो रसकेलि।
ए उद्धवदास कय, सख्य-दास्य रसमय,
सेवये सकल सखामेलि।।''

व्रजबालाओं के महाभाववभावित चित्तदर्पण में गोष्ठ लीलायें मानो साक्षात् की तरह ही उभरने लगती हैं। व्रजदेवी ने कहा - 'हाय ! इस व्रज में जन्म लेकर भी रमणी जीवन पाकर हमें सभी प्रकार के सौभाग्य से वञ्चित होना पड़ा। वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम सब श्रीकृष्ण के मधुरअस्फुट वेणुनाद - श्रवण का सौभाग्य प्राप्त किया करते हैं। वेणुनाद-माधुरी सब का मनहरण करती है, इसलिये मधुर ! विविध भावों के संकेत आदि से चित्त में नाना प्रकार के भावों का उद्‌गम कराती है, इसलिये अस्फुट। ''यद्वा नूपुरकलशब्दयुक्तैः पदैः पादविक्षेपैरिति तद्विलासस्मरणम्''। (वै. तोषणी टीका) अथवा 'कलपदैः' शब्द का एक अन्य अर्थ इस प्रकार है - श्रीकृष्ण के पगसंचालन से मणिकाञ्चन-निर्मित नूपुरों की जो अति मधुर अस्फुट ध्वनि होती है, वह श्रीचरणविलास-माधुरी का स्मरण करा देती है। ''नूपुरकिंकिणी-ध्वनि, हंस-सारस जिनि, कंकणध्वनि चटक लाजाय। एक बार जेइ शुने, व्यापि रहे तार काणे, अन्य शब्द से काणे ना जाय।।'' (चै. च.)

सखियों ! इस वृन्दावन में सभी भाग्यवान् भाग्यवती हैं। केवल हम ही हतभागिन हैं। हम लोगों को कोई अनुभव ही नहीं हुआ। श्रीकृष्ण-बलदेव जब वन में गोचारण करते हैं, तो उनके सुन्दर चरणों में मणिनूपुर बजते रहते हैं। आहा ! कितने सुमधुर ! कितने श्रुति-सुखकर ! किन्तु सुनने का उपाय नहीं अधरपल्लव पर जो मधुर वेणु बजता है, वह तो भुवनमोहन है। सब कान खड़े कर सुनते हैं, पर हमें सुनने का अधिकार नहीं। मधुर से भी सुमधुर वेणुध्वनि पर कानों के होते हुए भी नहीं सुन पातीं।

ऐसी अद्‌भुत वेणुमाधुरी कि प्राणीमात्र के धर्म में वैपरीत्य (विपरीत स्थिति) ला खड़ा करती है। स्थावर जङ्गम के भाव को, जङ्गम स्थावर-भाव को प्राप्त कर लेता है। वृक्ष अंकुर फुटाने के बहाने पुलकित हो जाते हैं, मधुरधारा-वर्षण के बहाने अश्रुधार बहाने लगते हैं। पवन की गति रुक जाती है। चन्द्र सूर्य खड़े-खड़े सुनते हैं, नदी की गति स्तम्भित हो जाती है। पर्वत गल कर द्रवत्व को प्राप्त हो जाते हैं। पशु-पक्षी सब चित्रलिखित की तरह निश्चल निस्पन्द हो वेणु सुनने लगते हैं। श्रीकृष्ण और बलदेव जब जिस वेश में रहते हैं; उनका माधुर्य परम परिपुष्ट होता है। श्रीगोविन्द कटितट पर पीतधड़ा, सिर पर मोहन चूड़ा, गलदेश में वनमाला धारण कर जब नाचते-नाचते वन को जाते हैं, तब वे कितने सुन्दर मधुमय होते हैं। उसी प्रकार वे जब रज्जु-निर्योग और रज्जुपाश मस्तक और कंधे पर रखकर वन-वन विचरण करते हैं, तब भी उनकी शोभा अतुलनीय होती है। (जब गायों को दुहा जाता है, तो उनके पैरों को बाँधने के लिये रस्सी का प्रयोग किया जाता है, चंचल गायों को बाँधने के लिये भी फंदा काम में लेते हैं।) स्वभाव-सुन्दर वस्तु की माधुरी ऐसी ही होती है। यह एक विचित्र रहस्य है। श्रील कवि कर्णपूर ने लिखा है-

**''माधुर्यसिन्धुमधि यस्य भवेन्निपात-**
**स्तत् केवलं मधुरिमाणमुरीकरोति ।**
**उष्णीष-सीमनि सहेलगता मुरारे-**
**र्गोच्छन्दरज्जुरपि मज्जति रम्यतायाम् ।।''**

(आ. वृ. 11/169)

'जो माधुर्यसिन्धु में गिरता है, वह केवल मधुरिमा ही अङ्गीकार करता है। कृष्ण के उष्णीष (पगड़ी) पर नोवना लापरवाही से लपेटा भी रमणीयता से भर उठा है।' ''ततश्चानेन मुक्तास्तवकजुष्टाग्रद्वयपट्टमयता तस्य ध्वनिता। सोऽयं चोष्णीषद्युपरि शोभां दधानो गोपवेशः सार्वेषां मनोऽर्त्तापि तासां श्रीगोपसुन्दरी नान्तु विशेषतो ज्ञेयः। स्वदेशजातिवयः सदृशं वेशादिकं हि सर्वेष्वतीव रोचकं स्यादिति।'' (वै. तो.) अर्थात् ये निर्योग और पाश पट्टडोरियों से बने होते हैं, इनके दोनों अग्रभाग मोतियों के गुच्छों से सजे होते हैं। श्रीकृष्ण इन दोनों वस्तुओं को पगड़ी और कंधे पर रख लेते हैं। यह गोपवेश सभी का मनहरण करता है, पर विशेषतः गोपसुन्दरियों के लिये अत्यन्त मनोहर हो उठता है, कारण - स्वदेश, स्वजाति और समान वयसोचित वेश आदि सभी के लिये अतिशय, रोचक, मनोहर और चित्ताकर्षक होता है।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने अपनी वृहत्तोषणी टीका में 'निर्योगपाशः' शब्द की एक अभिनव धारणा प्रस्तुत की है - ''निःशेषेण योगः सङ्गमो यस्मात्, किंवा निर्गतो योगः

प्रेमसम्पद्विरोधी निर्विकल्पक- समाधिर्यस्मात; स श्चासौ पाशश्च प्रेमलक्षण: तस्य कृतं लक्षणं मोहादिना निपातादिकं रोदनदिकञ्च याभ्याम् अनुभूत्स्चित्यस्यात्रैव वान्वय:।'' अर्थात् जिससे श्रीकृष्ण के साथ नि:शेष (सम्पूर्ण) रूप से योग या फिर मिलन होता है, जिससे प्रेमसम्पदा विरोधी योगियों की निर्विकल्प समाधि भी विच्छिन्न होती है, वह प्रेमलक्षण पाश या बन्धन ही 'निर्योग पाश' है। जिससे देहधारी मात्र के मोह आदि से उत्पन्न पतन रोदन आदि प्रकट होते हैं। अर्थात् जिस प्रेमबन्धन से श्रीकृष्ण भक्तों के चित्तमन को बाँधकर उन्हें सदा के लिये अपना बना लेते हैं, वही प्रेमपाश उनकी पगड़ी और कंधे पर निर्योगपाश के रूप में विराजता है।

श्रीकृष्ण के वंशीनाद के फलस्वरूप वृन्दावन के स्थावर - जङ्गम के धर्म-विपर्यय (स्वभाव की अदल बदल) की बात करते-करते व्रजदेवियों में 'ईर्ष्या' नामक सञ्चारी प्रबल हो उठा। वे एक-दूसरे से कहने लगीं - सखियों ! यह कृष्ण का वेणुनाद नहीं है, महामोहन मंत्रविशेष लगता है। वह वेणुनादरूपी मोहन विद्या द्वारा सबका मन मोहित कर उसे निर्योगपाश से बाँध लेता है। अत: जो वेणुगायन महामोहन मंत्रस्वरूप है, उसे सुनने की हमें आवश्यकता नहीं। चलो, हम सब ऐसे निभृत स्थान पर चलें, जहाँ यह मोहन वेणुनाद हमें कर्णगोचर न हो। गोपीभाव में महाप्रभु ने कहा है - ''कैला जतो वेणुध्वनि, सिद्धमंत्रादि योगिनी, दूती हैया मोहे नारीर मन। महोत्कण्ठा बाढ़ाइया, आर्यपथ छाड़ाइया, आनि तोमाय करे समर्पण।।'' (चै. च.)

श्रीपाद शुकदेव मुनि ने महाराज परीक्षित से कहा - हे राजन् ! महाभाववती व्रजदेवियों ने इस प्रकार वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण की कितनी ही मधुर लीलाओं का वर्णन किया। उन सबके वर्णन की सामर्थ्य ब्रह्मा-महेश्वर आदि में भी नहीं ! मैं तुमसे और क्या कहूँ, उन लोगों की उक्तियों का किञ्चित् ही वर्णन किया। व्रजेन्द्रनन्दन की ऐसी ही जगन्मोहिनी लीलायें हैं। वे स्वयं भगवान् हैं, वृन्दावनलीला अशेष ऐश्वर्य प्रकट करते हुए भी शुद्ध माधुर्यमय है। यह माधुर्य ही उनकी भगवत्ता का सार है - ''माधुर्य भागवत्ता-सार, व्रजे कैलो परचार, ताहा शुक व्यासेर नन्दन। स्थाने-स्थाने भागवते, वर्णियाछे जानाइते, जाहा शुनि माते भक्तगण।।'' (चै. च.) महाभाववती व्रजदेवियाँ महामाधुर्यमय वेणुगीतरूपी श्रीकृष्ण का वृन्दावनविहार वर्णन करते-करते उसकी मत्तता में तन्मय हो गईं, अर्थात् लीला का श्रवण कीर्तन कर वे लीलानुभव के आनन्द में लीलामयी हो उठीं। ''यद्वा तच्छब्देन प्रेमाग्निदाहदु:खविशेषो त्पत्ते:, साक्षात्तन्नामाग्रहणं पूर्ववत् सदैव प्रेमभरोदयेन परमार्ता वभूवुरित्यर्थ:। गोप्य इति तासां स एव स्वभाव:, इति सर्वथैव तासां प्रेमसम्पद् वृद्ध्या सर्वातिशायिसौभाग्यं वर्णितमिति।'' (वृ. तोषणी) अथवा 'तन्मयतां ययु:' - यह 'तत्' शब्द बताता है कि उनके हृदय में प्रेमाग्निज्वाला जलने से दु:खविशेष की उत्पत्ति हुई इसलिये उन्होंने साक्षात् श्रीकृष्णनाम उच्चारण नहीं किया। पहले

की तरह प्रेमविशेष के उदय होने से उनके चित्त में परम आर्ति का उद्रेक हुआ। वे 'गोपी' हैं न, यही उनके प्रेम का स्वभाव है। इस वेणुगीत के वर्णन में विपुल प्रेमार्ति की वृद्धि से उनका परम सौभाग्य ही प्रदर्शित हुआ है ।। 20 ।।

**श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध में इक्कीसवाँ अध्याय वेणुगीत पूरा हुआ। जय श्रीराधे !!**

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दौ जयतः।
श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

# श्रीश्रीगोपीगीत

सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत भगवान् की वाङ्मयमूर्ति है। सर्व लीलामुकुटमणि रासलीला प्रेममय श्रीमद्भागवत-विग्रह के पञ्चप्राण।"कृष्णेर जतेक लीला, सर्वोत्तम नरलीला, नरवपु ताँहार स्वरूप। गोपवेश वेणुकर, नवकिशोर नटवर, नरलीलार हय अनुरूप।।" (चै. च.) गोपवेश वेणुकर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की पूरी व्रजलीला परम माधुर्यमय है। भगवद्भाव की लीला में सम्भ्रम, संकोच के कारण माधुर्य ठीक से नहीं फूट पाता केवल नर भाव में लीला का गाम्भीर्य नहीं रहता, प्राकृत बुद्धि उत्पन्न होती है। जहाँ भगवद्भाव और नरभाव पास-पास अपनी विशिष्टता बनाये रखकर विरुद्ध धर्म का आश्रय लेकर विविध विचित्र रस की सृष्टि करते चलते हैं, वहीं लीला की चमत्कारिता होती है, वहीं सर्वाधिक माधुर्य होता है। यही व्रजलीला है। व्रज की बाल्य-पौगण्ड आदि अवस्थाओं की लीलाओं की तुलना में शृङ्गाररसराजमूर्ति किशोरशेखर श्रीकृष्ण की रासलीला सर्वलीलामुकुटमणि है।

श्रीकृष्ण हैं रसमय, प्रेममय और आनन्दमय। यह रसरूपता ही वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण का स्वरूप तत्व है। तैत्तिरीय श्रुति ने परब्रह्म का स्वरूपतत्व निरूपण करते हुए कहा है - 'रसो वै सः''रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति'। परब्रह्म रसस्वरूप हैं, उन्हें प्राप्त करके ही विश्वजीव आनन्दित होते हैं। श्रीकृष्ण परब्रह्म की परावस्था हैं, स्वयं भगवान् हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् यह त्रिविध परतत्वस्वरूप उन्हीं अद्वयज्ञानतत्व श्रीकृष्ण का त्रिविध प्रकाश है। श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं ऋग्वेद ने उन्हें भूरिशृंङ्गविशिष्ट गोगण अधिष्ठित प्रमोदजनक गोलोक का अधीश्वर बताया है। आनन्दचिन्मय-रसप्रतिभाविता, नित्यसिद्धा गोपबालायें उन्हीं की ह्लादिनी शक्ति की प्रोज्ज्वल प्रकट मूर्तियाँ हैं। साधनसिद्धा और कृपासिद्धा गोपबालायें भी अलौकिक गुणों से सम्पन्न हैं। उन्हीं शतकोटि व्रजविलासिनी उज्ज्वलरसचिन्तामणि गोपरमणियों के सौन्दर्य, माधुर्य, सौरभ्य, सौकुमार्य और रसवैदग्धी के आस्वादन के लिये उनके मधुर प्रेमरस पर मुग्ध साक्षात् शृंङ्गाररसराजमूर्ति नायकशिरोमणि श्रीकृष्ण ने अपनी अघटन-घटन-पटीयसी योगमाया द्वारा यह रसमयी रासलीला प्रकट की है। अपनी ह्लादिनी शक्ति प्रेयसियों को प्रेमानन्दरस-सम्भोग कराने के लिये और विश्व के प्रेमिक भक्तों को अप्राकृत रासरसमाधुरी का आस्वादन देने के लिये इस अपार्थिव उज्ज्वलरसमयी रासलीला का आविष्कार किया है। जो श्रुति के 'रसो वै सः' हैं, वे ही वृन्दावन लीला में शृङ्गाररसराजमयमूर्ति धारण कर अपनी अन्तरङ्गा शक्तियों के साथ निजानन्द में विभोर हैं। रसस्वरूप

होकर भी रसिक, सुखस्वरूप होकर भी सुख के आस्वादक। जो रस स्वरूप में नित्य ही अवस्थित है, उसी का विशेषरूप से आस्वादन कर जीवों को कृतार्थ करने के लिये जगत् में रासलीला का अवतरण है। नित्य चिन्मय आनन्दधाम में रासरसिक श्रीव्रजेन्द्रनन्दन अपनी ह्लादिनी शक्तिवरीयसी व्रजबालाओं के साथ जिस रस का नित्य ही आस्वादन कर रहे हैं, उसी रस की प्रसाद-कणिका आस्वादन कर विश्वजीव धन्य हों - भौमव्रज में उस रासरसमाधुरी के प्रकटन का यह भी अन्यतम कारण है। तभी श्रुति कहती हैं - ''एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'' (वृहदारण्यक)।

शरद पूर्णिमा की रात्रि में श्रीगोविन्द ने रासरसवासना से वृन्दावन वंशीवट जाकर रासरसनायिका व्रजबालाओं को रासरसमाधुरी आस्वादन के लिये अपने मोहन वंशीरव से सादर आमंत्रण दिया। उस दिन की वंशी थी अनङ्गवर्धन ! व्रजबालाओं के हृदय में जो अनङ्ग बीजरूप में निहित था, वही वंशीनाद से बाहर प्रकट हो उठा। उस दिन के वंशीनाद के महा आकर्षण से शतकोटि व्रजबालायें दौड़ी गईं वंशीधारी के श्रीचरणसान्निध्य में। रासरसिक श्रीगोविन्द ने उन सबकी ओर देखा। रासेश्वरी श्रीमती राधारानी अभी नहीं आईं। वंशीध्वनि सुनकर उनके अङ्गप्रत्यङ्ग आदि में भर गई अखण्ड विस्मृति। अखण्ड महाभावस्वरूपिणी राधारानी ही हैं रास की मूल स्तम्भ। उन्हें आस्वादन करने के लिये रासोत्सव है, अन्यान्य गोपियाँ उनकी सहायक हैं। उत्सव एक-दो लोगों से नहीं होता, उत्सवअनुष्ठान के लिये अनेक का समावेश आवश्यक है। पर यह भी सच है कि एक-दो जने ही उत्सव के मूल लक्ष्य होते हैं। रासोत्सव का मूल लक्ष्य ही हैं राधारानी। श्रीश्रीराधामाधव वस्तुतः एक ही अखण्ड तत्व है; यह शास्त्रों में ''शक्ति-शक्ति मतोरभेदः'' इत्यादि वाक्यों में कीर्तित है। ''तस्य ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्'' (सम्मोहन तंत्र) अर्थात् वही अखण्ड ज्योति राधामाधव दो रूपों में प्रकाशित हुई। ''राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान। दुइ वस्तु भेद नहे शास्त्र परमाण।।'' राधाकृष्ण एक आत्मा दुइ देह धरि। अन्योन्ये विलसे रस-आस्वादन करि।।'' इत्यादि (चै. च.) एक अखण्ड तत्व ही दो अभिमान भेदों के साथ पृथक पृथक दृश्यमान होता है; एक स्वरूप अभिमानी, दूसरा शक्ति अभिमानी। रासबिहारी श्रीगोविन्द श्री भानुनन्दिनी और उनकी कायव्यूहरूपा अनन्त गोपियों के साथ जिस महा आनन्दनृत्य में निगूढ़ लीलारस का आस्वादन करते हैं, वही रासलीला है। अखण्ड महाभावस्वरूपिणी राधारानी ही इस लीला की परम सहायिका हैं। वे श्रीकृष्ण की आनन्दरसास्वादन की वांछा की पूर्ति के रूप में आराधना करती हैं, तभी उनका नाम 'राधिका' है। वह रासलीला में ही उक्त हुआ है - ''अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।'' इसीलिये रासलीला की जय-घोषणा करते हुए कहा गया है -

''रासलीला जयत्येषा यया संयुज्यतेऽनिशम् ।
हरेर्विदग्धताभेर्या राधासौभाग्यदुन्दुभिः।।''

'रासलीला की जय हो। इस रासलीला द्वारा ही श्रीकृष्ण की विदग्धतारूपी भेरी के साथ श्रीराधा के सौभाग्य की दुन्दुभी तुमुल निनाद करती बजी है।'

जो भी हो, राधारानी के शुभागमन की प्रतीक्षा में श्रीकृष्ण कृत्रिम वाम्य और अवहित्था का आश्रय लेकर व्रजबालाओं के प्रति उपेक्षावाणी का प्रयोग कर उन्हें घर जाकर पतिव्रताव्रत-पालन का उपदेश देने लगे। अनुरागिनी व्रजबालाओं ने भी अपनी प्रार्थनावाणी में उनके साथ मिलन की कामना जताई। कुछ समय इस प्रकार बीता, तो सखियों के साथ श्रीमती राधारानी का शुभागमन हुआ। उनका आविर्भाव होते ही श्रीकृष्ण की उपेक्षावाणी का अवसान हुआ। ''ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः'' (भा. 10/29/43) इस श्लोक की व्याख्या में श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है - 'मा शोभा परम सौन्दर्य तया सह वर्तते समा परमासुन्दरी श्रीराधा, तया इताभिः प्राप्ताभिः। एतेन प्रथममुक्तिप्रत्युक्ति समये तासां मध्ये श्रीराधा नासीत्' अर्थात् 'मा' शब्द का अर्थ है शोभा या परमसौन्दर्य । श्रीराधा परमा सुन्दरी हैं, तभी उनका नाम 'समा' है। उन्हीं 'समा' या राधा को प्राप्त करते ही श्रीकृष्ण का सबसे मिलन हो गया। इससे समझ में आता है कि श्रीकृष्ण जब वंशीनाद से आकृष्ट व्रजदेवियों की प्रेम-परीक्षा के लिये कृत्रिम वाम्य और अवहित्था का प्रयोग कर उनके प्रति उपेक्षा-वचन बोल रहे थे और व्रजदेवियाँ श्रीकृष्ण से मिलन के लिये प्रार्थना कर रही थीं, तब वहाँ राधारानी उपस्थित न थीं, कारण - वे होतीं, तो उनके आगे कृत्रिम वाम्य का आश्रय लेना कृष्ण के लिये सम्भव न होता।

श्रीकृष्ण के साथ प्रथम मिलन में ही उनसे परम आदर प्राप्त कर राधारानी मानिनी बन गईं और अन्यान्य शतकोटि व्रजबालायें स्वयं को सौभाग्यवती समझने लगीं। श्रीशुकदेव ने कहा - ''तासां तद्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः। प्रशमाय प्रसादाय तत्रै-वान्तरधीयतः।।'' (भा. 10/29/48) श्रीकृष्ण राधारानी को मानवती और अन्यान्य व्रजबालाओं को सौभाग्य-गर्ववती देखकर श्रीराधा के मान-प्रसादन और उन व्रजबालाओं के सौभाग्यगर्व के प्रशमन के लिये सहसा श्रीराधा को लेकर अन्तर्हित हो गये। बाद में वे राधारानी को भी त्याग कर अन्तर्हित हो गये। रास के आरम्भ में अन्तर्धान होने का कारण यही है कि भाव-साम्य स्थापित न होने से रासक्रीड़ारस का आस्वादन नहीं हो सकता। राधारानी के निकट अन्तर्हित होने के कारण के सम्बन्ध में श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद के प्रेमसम्पुट ग्रन्थ में लिखा है - यदि श्रीकृष्ण राधा के साथ एकाकी वृन्दावन भ्रमण करते है, तो उनके हृदय में उतना सुख नहीं होगा, कारण- सखियों के लिये श्रीवृषभानुनन्दिनी की मनःपीड़ा की आशंका कर वे व्यथित

हो रहे हैं। और फिर अन्यान्य गोपियाँ भी वहाँ आकर ईर्ष्या से भरकर श्रीराधा के प्रति कुटिल कटाक्ष करेंगी, उनका तिरस्कार करेंगी। इससे आरम्भ में ही केलिरस भङ्ग होगा। इसीलिये क्षणभर के लिये श्रीराधा को भी त्याग दिया। उद्देश्य यही था - उन्हें विनयी और दोषरहित कर सारा दोष अपने ऊपर लेना तथा श्रीराधा के प्रति गोपियों को स्नेहान्वित करना। फिर जैसे सम्भोगरस श्रीराधा से ही अधिक सिद्ध होता है, वैसे विप्रलम्भरस भी उन्हीं में शतकोटि गुना अधिक है। अन्यान्य गोपियों की तुलना में श्रीराधा की विरहाग्नि की अधिकतर तीव्रता दिखाने के लिये उनसे अलग होना भी आवश्यक हो गया था। भगवान् निजजन के प्रेम का वर्धन करने में बड़े चतुर हैं। उत्कण्ठा के बिना प्रीतिरस का आस्वादन सम्भव नहीं। इसलिये क्षणिक विरह द्वारा व्रजसुन्दरियों की व्याकुलता और दर्शन के लिये उनका उत्कन्ठानल उद्दीप्त कर उनके हृदयों में स्थित निगूढ़ प्रीतिरस का वर्धन किया, साथ ही उन लोगों के बीच इच्छित साम्य लाकर रसनिर्यास का आस्वादन किया। श्री प्रेमसम्पुट ग्रन्थ में लिखा है -

''एवञ्च सेत्स्यति मदीप्सितमैक्यमासां
रासाख्यनाट्यमनु मण्डलतां गतानाम् ।
मध्ये मया सह रुचा तु विराजमाना-
मेनां विलोक्येन भवेदापे काचिदीर्ष्या ।।''

अर्थात् 'मैंने इन लोगों के जिस ऐक्य की अभिलाषा की है, वह इसी प्रकार सिद्ध होगा। फिर रासनृत्य में गोपियों के मण्डलाकार रहने से मण्डली के बीच मेरे साथ विराजमान श्रीराधा को देखकर भी किसी में ईर्ष्या आदि किसी भी प्रकार के सञ्चारी भाव की तरङ्ग रहने से रासक्रीड़ा- जैसी महारसक्रीड़ा सम्पन्न होना सम्भव नहीं। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद के मत में श्रीकृष्ण ने राधारानी का त्याग बिलकुल नहीं किया। वे तो श्रीकृष्ण-सम्मोहिनी एक ऐसी प्रेममूर्ति हैं कि उन्हें त्यागने की इच्छा ही श्रीकृष्ण के हृदय में नहीं जग सकती। यह श्रीमती राधारानी के ही प्रेमवैचित्त्यभाव की परिणति है। 'स्कन्द आरूह्यतामित्युक्तेः ।' प्रेमोत्कण्ठ्यकृतेन। वैचित्त्येन पुरो वर्तमानस्यापि कृष्णस्य तयानवलोकनात् 'अन्तर्दधे कृष्णः' इत्युक्तम्, वस्तुतस्तु कौतुकत्वादेव स तत्र तूष्णीं स्थितः, ततः प्रेमवैचित्यभाजस्तस्या अनुतापः, तथान्या गोपीः सन्निहिता दृष्ट्वा कृष्णेनान्तर्हितमेवेति ज्ञेयम्।'' (वृहत् तोषणी टीका) जब श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को निर्जन में ले जाने के लिये उन्हें कंधे पर बैठने को कहा, तो परम उत्कण्ठा के कारण श्रीराधा का प्रेमवैचित्य भाव प्रकट हो गया। वे सामने खड़े श्रीकृष्ण को नहीं देख पाईं। सोचने लगीं, कृष्ण अन्तर्हित हो गये। वस्तुतः श्रीकृष्ण उनका भाववैचित्त्य देख मुग्ध हो वहीं चुपचाप खड़े थे। प्रेमवैचित्त्यभाव से युक्त राधारानी 'हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज' कहकर विलाप करने

लगीं; तब अन्यान्य गोपियों को निकट देखकर श्रीकृष्ण अन्तराल में चले गये। श्रीकृष्ण निकट है, फिर भी प्रेमोत्कर्ष के स्वभाववश उन्हें न देख पाकर जिस विरहपीड़ा का उद्रेक हुआ है, उसी को प्रेमवैचित्य कहा जाता है।

"प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः ।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ।।"
(उ. नी.)

"श्यामक कोरे, जतने धनि शूतल,
मदन आलसे दुहुँ भोर।
भुजे भुजे बन्धन, निविड़ आलिङ्गन,
जनु काञ्चन-मणि जोड़।।
कोरहि श्याम, चमकि धनि बोलत,
कबे मोहे मीलब कान।
हृदयक ताप, तबहिं मझु मीटब,
अमिया करब सिनान।।
सो मुखमाधुरि, बन्क नेहारइ,
सोअँरि सोअँरि मन झुर।
सो तनु सरस, परश जब पाओब,
तबहिं मनोरथ पूर।।
एतो कहि सुन्दरि, दीघ निशासइ,
मुरछित हरल गेयान।
आकुल राइ, श्याम परबोधइ,
गोविन्ददास परमाण।।"

जो भी हो, अन्यान्य व्रजबालायें श्रीकृष्णविरह में श्रीराधा की महामूर्छित दशा देखकर अतिशय आश्चर्यान्वित हुईं। श्रीमती की सखियों की शुश्रूषा से उनकी मूर्छा दूर हुई, तो उनके श्रीमुख से श्रीकृष्ण का उनके साथ निर्जन में विविध विलास एवं उन्हें त्यागकर उनका अन्तर्धान-प्रसङ्ग सुनकर सभी चमत्कृत हुईं। उनके प्रति सभी गोपियों में, यहाँ तक कि विपक्षा चन्द्रावली आदि में भी पराश्रद्धा का उद्रेक हुआ। शतकोटि व्रजबालाओं में वे ही शिरोरत्न हैं, यह बात सभी की समझ में आ गई। अब वे

सब उन्हें लेकर श्रीकृष्ण को खोजने लगीं। वन-वन खोजते ऐसे स्थान पर पहुँचीं, जहाँ चन्द्रमा का प्रकाश भी प्रवेश नहीं कर सकता। वहाँ श्रीकृष्ण के पदचिन्ह देखकर उन्हें ऐसे गहनवन में प्रविष्ट समझकर वे चली आईं। यमुना-पुलिन पर जहाँ उनका श्रीकृष्ण से प्रथम मिलन हुआ था, वहाँ आकर यमुना को पीछे कर वृन्दावन की ओर मुंह कर वे सब प्रगाढ़ आर्ति से भरकर श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए उन्हें पुकारने लगीं। श्रीकृष्ण में निविष्ट चित्त, कृष्णकथा-आलापन में रत, कृष्ण-अन्वेषण में तत्पर, तन्मय व्रजदेवियों ने रोते-रोते कृष्ण का जो गुणगान किया है, वही रासलीला की मध्यमणि 'गोपीगीत' है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि रासपञ्चाध्याय श्रीमदभागवत-विग्रह के पञ्चप्राण- जैसे हैं। इस दृष्टि से यह तृतीय अध्याय समान वायु तुल्य होगा। जैसे देह में समानवायु का कार्य है भुक्त (खाये) और पीत (पीये) द्रव्यों का सामञ्जस्य करना, वैसे ही यह तृतीय अध्याय गोपीगीत शतकोटि गोपियों के भिन्न-भिन्न यूथगत अभिमान और पारस्परिक विरोध भुलाकर समवेत कातर प्राणों से श्रीकृष्ण-दर्शन और मिलन की प्रार्थना प्रस्तुत करता है।

'गोपीगीत' प्रेमिक और रसिक भक्तमात्र के लिये परम आस्वाद्य है। श्रीकृष्ण के निष्काम भक्तों में व्रजबालायें ही श्रेष्ठ हैं। वेद आदि शास्त्र एवं भक्तितत्व विषयक शिक्षा-उपदेश प्रदाता धर्माचार्य सभी का यही अभिमत है। यहाँ तक कि स्वयं श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भागवत में बहुत बार गोपीप्रेम का महामाहात्म्य प्रकट किया है। नारदीय भक्तिसूत्र में लिखा है 'अथ व्रजगोपिकानाम्' अर्थात् वजवालाओं की प्रेमभक्ति आदर्शस्वरूप है। श्रीकृष्ण के परमप्रिय भक्त श्रील उद्धवजी ने भी यह बताया है कि गोपियाँ ही प्रेमभक्ति की उच्चतम आदर्श हैं। उन्होंने व्रज में आकर विरह विधुरा व्रजबालाओं की अवस्था देखकर मुक्तकण्ठ से प्रार्थना की है - उन नन्दव्रजवासिनी गोपबालाओं की पगरज की निरन्तर वन्दना करता हूँ, जिनका उच्च हरिगुणगान त्रिभुवन को पवित्र कर रहा है।

**''वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।**
**यासां हरिकथोदगीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।''**

वेणुगीत, रासलीला का यह गोपीगीत, दिव्य विरहजनित युगलगीत, विविध जल्पनामय राधारानी का भ्रमरगीत इत्यादि ही उद्धवजी के इस वाक्य का लक्ष्य है।

श्रीमद्भागवत के सभी टीकाकारों ने इस गोपीगीत की सुविस्तृत व्याख्या लिखकर गोपीप्रेम का उत्कर्ष दिखाया है। वोपदेव से बहुत पहले श्रीमद्भागवत के प्राचीन सम्पादकगण गोपीगीत के उन्नत उज्ज्वल प्रेमभक्तिरस का अनन्त उत्स देखकर विमोहित हुए थे। श्रीवोपदेव, श्रील मधुसूदन सरस्वती आदि महामहोपाध्याय पण्डितगण ने अपने भक्तिविषयक ग्रन्थों को वेणुगीत एवं गोपीगीत के श्लोकों से

समलंकृत किया है। पण्डित प्रवर श्रीमद् हेमाद्रि ने श्रीवोपदेव के मुक्ताफल ग्रन्थ की व्याख्या कर अत्यन्त प्रणिधान के साथ गोपीगीत के प्रत्येक श्लोक में चित्रकाव्य के जो लक्षण देखे हैं, उन्हें पाठकों के आगे ला रखा है। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने भी अपनी तोषणीटीका में उसका उल्लेख किया है। हम श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्यों की टीकाओं का आश्रय लेकर ही इस गोपीगीत की व्याख्या के आस्वादन की यथामति चेष्टा करेंगे।

श्रीश्रीगीतपञ्चक
श्रीमद्भागवत
दशम स्कन्ध
अध्याय इकत्तीस

# श्रीश्रीगोपीगीत

## श्रीगोपिका ऊचुः

**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।**
**दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।। 1।।**

---

**अन्वयः** - दयित (हे प्रिय !) ते (तव) जन्मना (जन्मग्रहणेन) व्रजः अधिकं (यथास्यात् तथा) जयति (सर्वोत्कर्षेण वर्तते), हि (यतः) इन्दिरा (महालक्ष्मीः) अत्र (व्रजे) शश्वत (निरन्तरं) श्रयते (व्रजमेव आश्रित्य वर्तते) त्वयि धृतासवः (धृतेन्द्रियप्राणाः) तावकाः (त्वदीया एव गोपीजनाः) त्वां दिक्षु (चतुर्दिक्षु) विचिन्वते (मृगयन्ते, अतस्त्वया) दृश्यताम् (प्रत्यक्षीभूयताम्) ।। 1 ।।

**अनुवाद**- व्रजदेवियाँ बोलीं - हे प्रिय ! तुम्हारे जन्मकाल से यह व्रजधाम सबसे अधिक समृद्धिशाली हो गया है। महालक्ष्मीदेवी इस व्रज को अलंकृत कर सदा विराज रही हैं। यहाँ एकमात्र हम ही दुःखी हैं; हम सब, जिनके तुम प्राण हो, इस रात्रि में तुम्हें खोजती चारों ओर घूम रही हैं, अतएव हमें दर्शन दो ।। 1।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णप्रियाओं में प्रधान श्रीमती राधारानी को आगे कर तीन सौ करोड़ व्रजबालायें श्रीकृष्णदर्शन की लालसा से यमुनातट पर आकर श्रीकृष्ण की गुणावली का कीर्तन करते हुए रोते-रोते उन्हें पुकारने लगीं। यमुनातट-प्रदेश की अपूर्व शोभा देखकर श्रीकृष्ण-उद्दीपन के कारण उनके चित्त आलोड़ित हो उठे। आकाश में उदित है शारदीय पूर्णिमा का चन्द्र। उसकी शुचिशुभ्र किरणमालाओं से व्रजवन समालोकित है। वृन्दावन की तरुलतायें ज्योत्स्ना-आलोक में झिलमिला रही हैं। कोयलों की पंचमतान, विविध पक्षियों के कलकूजन से व्रजभूमि मुखरित है। मल्लिका, मालती, जूही, चमेली आदि पुष्पों की गन्ध से दिगन्त आमोदित है। उनके सौरभ से उन्मत्त मधुकरों का पुष्प-पुष्प पर रसविलास चल रहा है। नील यमुना की तरंग-तरंग पर चन्द्रमा की किरणें खेल रही हैं लगता है जैसे यमुना शुभ्र हास्य बिखेरे

''चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति।।''

कल-कल नाद करती गोपियों के साथ गोपीनाथ की लीलामाधुरी गाती तरंगों के रूप में नृत्य करती असीम की ओर दौड़ी जा रही है। अति अपरूप नैसर्गिक शोभा देखकर श्रीकृष्ण का विपुल उद्दीपन प्राप्त कर कृष्णविरहिणी व्रजबालाओं का हृदयसिन्धु उच्छवलित हो उठा। वे श्रीकृष्णदर्शन के लिये अधीर होकर कृष्ण- गुणगान करते हुए विलाप करने लगीं।

गोपियों ने श्रीकृष्णविरह में रोदन और विलाप किया है, पर उसका नाम है 'गोपीगीत'। गीत या संगीत आनन्दजनक होता है, रोदन दुःखमय। इसलिये इसे गोपीगीत न कहकर गोपीविलाप कहना ही संगत ? संसार में आत्मीय स्वजनों का वियोगजनित विलाप दुःखमय ही होता है, सही है, पर श्रीकृष्ण के लिये किया गया विलाप संगीत की तरह सुमधुर और सुखमय होता है। ''बहिर्विषज्वालाहय, अन्तर आनन्दमय, कृष्णप्रेमेर अद्भुत चरित'', ''एइ प्रेमा जार मने, तार विक्रम सेइ जाने, विषामृते एकत्र मिलन'' इत्यादि (चै. च.)।

श्रील गोस्वामिपादगण ने इस गोपीगीत की व्याख्या करते समय पहले व्रजदेवियों की करुणा की कामना की है, कारण- उनके महाभावसिन्धु से निकले इस गीतामृत के मर्म की उपलब्धि एकमात्र उन्हीं की कृपा पर निर्भर करती है। कहाँ महाभाव, और कहाँ क्षुद्र कीट जीव ! श्रील गोस्वामिपादगण व्रज की ही नित्यसिद्ध मञ्जरियाँ हैं, फिर भी उन्होंने इस करुणा के लिये प्रार्थना की है। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है -

**''कृष्णैकगम्यो वागर्थो यासां लेखितुमिष्यते ।**
**ज्ञात्वापराधं देव्यस्ता भक्तिं तन्वन्तु मे निजाम् ।।''**

(बृ. तोषणी-टीका)

'श्रीकृष्णप्रेयसी महाभाववती व्रजबालाओं के वाक्य का अर्थ एकमात्र कृष्ण ही जानते हैं। मैं इनके वाक्य का अर्थ लिखने में प्रवृत्त हुआ हूँ, व्रजदेवियाँ मेरे इस अपराध को जानकर भी अपने श्रीचरणों में भक्ति प्रदान करें।' श्रीजीव गोस्वामिपाद लिखते हैं -

**''कृष्णैकगम्यो वागर्थो यासां लेखितुमिष्यते ।**
**ता एव करुणामय्यः स्वीकुर्वन्तु मदाग्रहम् ।।''**

(लघु तोषणी-टीका)

'श्रीकृष्णप्रिया व्रजदेवियों के वाक्यों का अर्थ एकमात्र कृष्ण ही जानते हैं, फिर भी मैंने उनका अर्थ लिखने की इच्छा की है; करुणामयी व्रजदेवियाँ कृपा कर मेरा आग्रह स्वीकार करें।' ''स्वीकुर्वन्तु मदाग्रहम्' का तात्पर्य, लगता है यह है कि माता-पिता शिशु के अर्धस्फुट वाक्य सुनकर आनन्द पाते हैं। उसके मुंह में भाषा के न होने पर भी बोलने का जो आग्रह है, वही उनके आनन्द का कारण बनता है।

उसी प्रकार मैं उस अप्राकृत महाभावराज्य की भाव-भाषा इस संसार की भाव-भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ; मेरा यह आग्रह ही करुणामयी गोपिकाओं के आनन्द का हेतु हो।

इस श्लोक में गोपियों ने श्रीकृष्ण को 'दयित' या 'हे प्रिय!' कहकर सम्बोधित किया है। यह शब्द श्रेष्ठ, परम दयालु आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'दयते अनुकम्पते इति दयति' - जो दयालु दु:खनाशक और प्रेमास्पद है, वही दयित है। तत्र दयितेत्यनुकम्पां जनयन्ति दयतेऽनुकम्प्यते इति निरुक्त्या दैन्यात्। 'दयते चित्तमादत्ते दयित' इति क्षीरस्वामिनिरुक्त्यनुसारेण तु किञ्चिदुपालम्भतोऽपि' (वै. तो.) अर्थात् 'दयित' सम्बोधन से गोपियाँ अपने प्रति श्रीकृष्ण की अनुकम्पा उत्पन्न कर रही हैं। दैन्य से भरकर कह रही हैं, हम दु:खिया हैं, तुम्हारी अनुकम्पा के योग्य हैं। अथवा 'दय' - धातु लेकर, हे दयित ! तुमने ही हमारा चित्त-हरण किया है, अतएव तुम में हमारी ऐसी अनुरक्ति का कारण तुम्हीं हो। क्षीरस्वामी की इस निरुक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण के प्रति किञ्चित् अभियोग या तिरस्कार भी व्यञ्जित हुआ है।

व्रजदेवियाँ बोलीं - हे प्रिय ! तुम्हारे जन्म के समय से ही यह व्रजधाम सर्वोत्कर्ष के साथ विराज रहा है। व्रज सभी प्रकार की सम्पदा की आवासभूमि हो गया है। यहाँ किसी को किसी प्रकार का दु:ख-शोक आदि नहीं; सभी बड़े सुख से हैं। तुम्हारे जन्म से पूर्व व्रजधाम इतना समृद्धिसम्पन्न नहीं था। आज यह वैकुण्ठ से भी अधिक उत्कर्षयुक्त होकर विराजमान् है। वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी इसी व्रजधाम का आश्रय लेकर अवस्थान कर रही हैं। श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय ही श्रीपाद शुकदेव मुनि ने कहा है -

**''तत आरभ्य नन्दस्य व्रज: सर्वसमृद्धिमान् ।**
**हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीड़मभून्नृप ।।''**

(भा. 10/5/18)

'हे राजन् ! नन्द की व्रजपुरी श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय से ही सर्वसमृद्धिसम्पन्न हो गई। श्रीहरि का निवास-स्थान होने से निज गुणों से वह रमा की विहारस्थली हो गई।

व्रजदेवियों की उक्ति 'ते जन्मना' 'जन्मन' - शब्द की तृतीया का एकवचन है। यहाँ जन्म का अर्थ है आविर्भाव। 'जनी प्रादुर्भावे'। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् जन्मरहित हैं, फिर भी ऐश्वर्यज्ञान गन्धशून्य शुद्ध माधुर्यवती व्रजबालाओं ने श्रीकृष्ण के जन्मसमय से ही व्रज की समृद्धि की बात कही है। वैकुण्ठेश्वरी ने व्रजधाम का आश्रय लिया है, इसलिये यह समृद्धि हो, ऐसा नहीं। यह व्रज का स्वाभाविक ऐश्वर्य है। आरम्भ में 'जयति' क्रियापद के प्रयोग से यही जाना जाता है।

''वृन्दावने साहजिक जे सम्पदसिन्धु ।
द्वारका-वैकुण्ठ-सम्पद तार एक बिन्दु ।।
परमपुरुषोत्तम स्वयं भगवान् ।
कृष्ण जाँहा धनी ताँहा वृन्दावन धाम ।।
चिन्तामणिमय भूमि रत्नेर भवन ।
चिन्तामणिगण दासी-चरणभूषण ।।
कल्पवृक्षलता जाँहा साहजिक वन ।
पुष्पफल बिना केहो ना मागे अन्य धन ।।
अनन्त कामधेनु जाँहा चरे वने-वने ।
दुग्धमात्र देन, केहो ना मागे अन्य धने ।।
सहजलोकेर कथा जाँहा दिव्यगीत ।
सहजगमन करे नृत्य परतीत ।।
सर्वत्र जल जाँहा अमृत-समान ।
चिदानन्दज्योतिः स्वाद्य जाँहा मूर्तिमान् ।।
लक्ष्मी जिनि गुण जाँहा लक्ष्मीर समाज ।
कृष्णवंशी करे जाँहा प्रियसखी-काज ।।''

(चै. च. मध्य 14)

''श्रियः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथागानं नाट्यं गमनमपि वंशीप्रियसखी ।।
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ।।''

(ब्रह्मसंहिता 5/56)

'इन्दिरा' ने व्रजधाम का आश्रय लिया है, 'इदि'- धातु से 'इन्दिरा' शब्द निष्पन्न हुआ है। परम ऐश्वर्य के लिये 'इदि' - धातु प्रयुक्त होती है। अमरकोष में लक्ष्मी के पर्याय के रूप में इन्दिरा शब्द लिया गया है, यथा -

''लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीहरिप्रिया ।
इन्दिरा लोकमाता मा क्षीराब्धितनया रमा ।।
भार्गवी लोकजननी क्षीरसागर-कन्यका ।।''

वही इन्दिरा 'व्रजः श्रयते', श्रयते के अर्थ सेवा और आश्रय दोनों ही लिये जायेंगे। ''इन्दिरा महालक्ष्मीः शश्वत् सेवते '' श्रञि् सेवायां'' वैकुण्ठे तु सा एव सेव्यत इत्यतो वैकुण्ठादपि व्रजः सर्वसमृद्धि पूर्ण इति भावः'' (सारार्थदर्शिनी टीका) - वैकुण्ठेश्वरी महालक्ष्मी व्रज की निरन्तर सेवा कर रही हैं। वे वैकुण्ठ में सेव्य हैं, पर व्रजधाम को वैकुण्ठ की अपेक्षा सर्वसमृद्धिपूर्ण जानकर ही वे निरन्तर व्रज की सेवा कर रही हैं। उन्होंने सर्वमाधुर्यसार श्रीहरि का विशेष प्रादुर्भाव देखकर व्रज का आश्रय लिया। 'श्रिएं' धातु भ्वादिगणीय उभयपदी है। यहाँ उभयपद के अर्थ में ही क्रियापद का प्रयोग हो सकता है। पतिव्रता शिरोमणि महालक्ष्मी ने स्वयं भगवान् का व्रज में विशेष आविर्भाव देखकर उनकी माधुर्यलीला के दर्शनार्थ व्रज में आश्रय लिया - यह स्वकीय कार्यार्थ। इसलिये 'श्रयते' ऐसा पद प्रयुक्त हो सकता है। फिर सभी के हित में व्रज का आश्रय लेने के लिये महालक्ष्मी का व्रज में आगमन और अधिष्ठान हुआ- इस अर्थ में परस्मैपदी 'श्रयति' प्रयुक्त हो सकता है।

यहाँ 'लक्ष्मी और सम्पत्ति' दोनों की अभिन्नता ली गई है। लक्ष्मी के अधिष्ठान से सम्पदा की वृद्धि। प्रचुर सम्पदा देखकर सभी कहते हैं कि यहाँ कमला का अधिष्ठान है। व्रजदेवियों ने उसी भाव से महालक्ष्मी का व्रज में अधिष्ठान बताया है। व्रजदेवियाँ बोलीं - कमला के अधिष्ठान से यहाँ सभी का सभी प्रकार का मंगल हुआ है। इस परम समृद्धिसम्पन्न व्रज में दैव की मारी केवल हम ही दुःखी हैं। फिर वह दुःख इस समय पराकाष्ठा पर है। तुम सर्वज्ञ, परम दयालु, हमारे प्राणवल्लभ होकर भी यह नहीं समझ रहे। हे दयित! तुम एक बार हमारा दुःख देखो; तुम परदुःखकातर हो, देखकर अवश्य ही हम पर करुणा करोगे - यही निगूढ़ अभिप्राय है।

यदि श्रीकृष्ण कहें - तुम लोगों का दुःख क्या है ? तो इसका उत्तर देती हैं - हम सब रात के समय गहन वन में तुम्हें खोजती फिर रही हैं। इससे बहुत परिश्रम, परिभ्रमण एवं अन्वेषण आदि सूचित हुआ। यदि श्रीकृष्ण कहें - मुझे खोजने की आवश्यकता क्या ? तो उत्तर देती हैं - 'तावकाः हम तुम्हारी ही हैं। हमें तुमने ही अपने बल पर अंगीकार किया है। 'हम तुम्हारी हैं' यह अभिमान तुमने ही हमारे हृदय में जगाया है। तभी तो हम सब वन-वन में तुम्हें इतना खोजती फिर रही हैं, बड़ी दुःखी हो रही हैं। तुम सर्वानन्द-निकेतन हो। तुम्हारे चरणों में तन-मन-प्राण समर्पित करके भी हमें इतना दुःख भोगना पड़ रहा है, यह केवल हमारा ही दुर्भाग्य नहीं, तुम्हारे लिये भी विशेष लज्जाजनक है।

**''निषेव्य सरितां पत्युस्टटः पक्षिगणाश्चिरम् ।**
**यत् पिवन्ति सरस्तोयं सैव लज्जा महोदधे ।।''**

(प्राचीन श्लोक)

'सरितपति सागर के तट पर चिर दिन वास करने पर भी पक्षी को पिपासा शान्त करने के लिये

सरोवर का जल पीना पड़े, तो यह महासागर के लिये बड़ा ही लज्जाजनक है।'

मानो श्रीकृष्ण कह रहे हैं - तुम लोग मुझे 'दयित' कह रही हो, दयित के विरह में तो दयिता का प्राण धारण करना ही सम्भव नहीं -

''कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके ।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ।।''

नरलोक में निष्कपट प्रेम नहीं होता। यदि होता है, तो उसमें विरह नहीं होता। विरह होने पर कोई भी प्राण-धारण नहीं कर सकता। इस श्लोक का अनुवाद-

''अकैतव कृष्णप्रेम, जेनो जाम्बुनद हेम,
हेनो प्रेम नृलोके ना हय।
यदि हाय तार योग, ना हय तार वियोग,
वियोग हैले केहो ना जीवय।।''

(चै. च. मध्य 2)

फिर तुम लोग प्राण-धारण किस तरह किये हो ? इसका उत्तर देती हैं - 'त्वयि धृतासवः यह सत्य है, पर हम लोग तुम्हारे लिये मर नहीं सकतीं। तुम्हारी प्राप्ति की आशा से ही बची हुई हैं। अथवा, हमारे प्राण-इन्द्रिय आदि तुम्हें समर्पित हैं लाख बार तपाये सोने की तरह निर्मल और विशुद्ध कृष्णसुखभावनामय, आत्मेन्द्रिय-सुखवासनाशून्य है गोपियों का प्रेम।

''आत्मसुख-दुःख गोपीर नाहिक विचार ।
कृष्ण-सुख हेतु चेष्टा मनो व्यवहार ।।
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग ।
कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग ।।
×× ×× ××
तबे जे देखिये गोपीर निजदेहे प्रीत ।
सेहो तो कृष्णेर लागि जानिहो निश्चित ।।
एइ देह कैलुँ आमि कृष्णे समर्पण ।
ताँर धन ताँर एइ सम्भोग-साधन ।।
ए देह दर्शन-स्पर्शे कृष्णसन्तोषण ।
एइ लागि करेन देहेर मार्जन भूषण ।।''

(चै. च. आदि 4)

वे इस गहन रात्रि में कृष्ण के वंशीनाद के आकर्षण से आत्मीय, परिजन, वेदधर्म, लोकधर्म सब त्यागकर अनुराग से भरकर श्रीकृष्णसेवा के लिये वृन्दावन दौड़ी आई हैं, और श्रीकृष्ण उनके साथ मिलन-आनन्द से विरत होकर गहन वन में इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं। वे उनकी सेवा कर उन्हें सुखी नहीं कर पा रहीं, यही सबका दु:ख है। यह दु:ख ही वे श्रीकृष्ण चरणों में निवेदन कर रही हैं। महाभाववतियों के हृदय में आत्मसुखवासना की गन्धमात्र नहीं है। इसलिये इस रस में 'मृति' नहीं है। मृति की बस चेष्टा ही व्यक्त होती है। उन लोगों की देहें तो श्रीकृष्णसेवा के उपकरण हैं, मन-प्राण सब श्रीकृष्णचरणों में समर्पित हैं, इसलिये मृत्यु उनके पास नहीं आ सकती। उन लोगों की उक्ति है -

''विरहार्त्यग्निभीतोऽयं मृत्युश्येनो विमुञ्चति ।
प्राणपक्षिणमतद्धि निश्चेतव्यं दयानिधे ।।''

(प्राचीन श्लोक)

'हे दयानिधे ! हमारे प्राणपक्षी तुम्हारे विरह में प्रज्ज्वलित हो उठे हैं। मृत्युरूपी बाज ने विरह दु:खाग्नि से डरकर हमारे प्राणपक्षी को त्याग दिया है। मृत्युरूपी बाजपक्षी के लिये इस निदारुण सन्ताप के निकट आना अति भयावह है।'

श्रीमद् वोपदेव ने अपने मुक्ताफल ग्रन्थ में पूरे गोपीगीत को विप्रलम्भ शृङ्गाररस प्रकरण के अन्तर्गत लिया है। मुक्ताफल के टीकाकार श्रीमद् हेमाद्रि ने गोपीगीत की टीका के प्रारम्भ में लिखा है - 'उन्मत्तवदित्युक्तं तमेव विचित्र प्रलापादिहेतुरुन्मादं प्रपञ्चयति' अर्थात् अध्याय तीस के श्लोक बीस में कहा गया है, गोपियों ने उन्मादिनियों की तरह वन-वन में कृष्ण का अन्वेषण किया था। इस गोपीगीत में भी उसी प्रकार विचित्र प्रलाप आदि द्वारा गोपियों की उन्माद-अवस्था ही ज्ञात होती है। इसलिये गोपीगीत के पद्य गोपिकाओं के महाभाव के उन्मादनामय हृदयों के प्रेममाधुर्य के ही उच्छ्वास हैं। कृष्ण उनकी दृष्टि के अन्तराल में हैं, फिर भी वे उन्हें प्रत्यक्ष की तरह सम्बोधित कर रही हैं, अपने उन्मादप्रलाप वचनों से अपने हृदयों की आकुलता उनके चरणों में निवेदन कर रही हैं। ये गोपीगीत एक ओर विरहविधुरा व्रजबालाओं के हृदय के गहन भावोच्छ्वास हैं, दूसरी ओर प्रेमिक भक्तों के प्राणों की प्रार्थना हैं। इसीलिये ये गीत अति सरस, सुमधुर और नर-नारियों के चित्त-प्रसादक हैं वाक्य थोड़े हैं, पर इन स्वल्प वाक्यों के अन्तराल में भावों का विशाल विपुल तरङ्गसमाकुल महासागर विद्यमान है। इनके श्रवणकीर्तन से उस भावसिन्धु के तरङ्गाघात साधक के चित्त को भावाकुल कर डालेंगे।

इस पद्य में व्रजगोपियों की उक्ति का मर्म यह है - हे कृष्ण ! तुम हमारे प्राणों के प्राण, हृदयवल्लभ और परमप्रिय हो। तुम्हारे प्रादुर्भाव से यह व्रजधाम वैकुण्ठ से भी अधिक समृद्धिशाली हो गया है। तुम्हारे प्रादुर्भाव के दिन से ही पख्योमनाथ की अंकलक्ष्मी इस व्रजधाम का निरन्तर आश्रय ले

रही हैं। उनके आविर्भाव से यह व्रजधाम सर्वसमृद्धि से भर उठा है। प्रत्येक घर में धन, सम्पदा, आल्हाद, आनन्द विराज रहा है। इंतने आनन्द में भी हम तुम्हारे विरह में दु:ख-अनल में जली जा रही हैं। और इस निदारुण विरह में हमारा मरण भी नहीं हो रहा। केवल इस आशा में कि तुम्हें देख पायेंगी, देह में प्राण बने हुए हैं। जैसे ही यह आशा भङ्ग होगी, मृत्यु हो जायेगी। हे दयित ! कृपा कर एक बार दर्शन दो। श्रीपाद माधवेद्रपुरी की प्रार्थना भी इसी के अनुरूप है –

"हे दीनदयार्द्रनाथ हे मथुरानाथ कदाव-लोक्यसे ।
हृदयं त्वदालोक-कातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम् ।।"

'हे दीनदयार्द्र ! हे नाथ ! हे मथुरानाथ ! मैं तुम्हें कब देख पाऊँगा ? तुम्हें देखे बिना हृदय अत्यन्त कातर हो गया है; मुझे चित्तविभ्रम हो गया है, अब मैं क्या करूँ ? इस प्रार्थना श्लोक के विषय में श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य 4 में लिखा है –

"घषिते घषिते जैछे मलयज-सार ।
गन्ध बाढ़े तैछे एइ श्लोकेर विचार ।।
रत्नगणमध्ये जैछे कौस्तुभमणि ।
रसकाव्यमध्ये तैछे एइ श्लोक गणि ।।
एइ श्लोक कहियाछेन राधाठाकुराणी ।
ताँर कृपाय स्फुरियाछे माधवेन्द्रवाणी ।।
किबा गौर चन्द्र इहे करे आस्वादन ।
इहा आस्वादिते आर नाहि चौठजन ।।"

मुक्ताफल ग्रन्थ के टीकाकार श्रीपाद हेमाद्रि ने गोपीगीत के श्लोकों का उल्लेख चित्रकाव्य के सम्बन्ध में किया है। इस श्लोक के प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर 'य' है। प्रत्येक चरण का प्रथम अक्षर और सप्तम अक्षर एक हैं। श्रील सनातन गोस्वामिपाद और श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी टीकाओं में यह उल्लेख किया है। चित्रकाव्य निर्णय के विषय में हेमाद्रि ही प्रथम पथप्रदर्शक लगते हैं।

"जयति प्रिय तेऽवतारतो, व्रज एव श्रयते यमिन्दिरा ।
वत तत्र वसन्नयं जनः, कथमेव लभते पराभवम् ।।
अनुरागिणमङ्गनागणं वनभूमावपहाय तावकम् ।
कथमन्तरधाः कृपानिधे, प्रिय दृश्यो भव तस्य चक्षुषाम् ।।"

(आ. वृ. 19/4-5)

'हे प्रिय ! तुम्हारे आविर्भाव के दिन से इन्दिरा ने इस व्रजधाम का आश्रय ले रखा है। तभी

व्रज सर्वोत्कर्ष के साथ विराजमान है। व्रजवासीमात्र यहाँ परम सुख से वास कर रहा है, फिर यहाँ रहनेवाली तुम्हारी इन दयिताओं, का ऐसा पराभव या ऐसी दुर्दशा क्यों ?

निजजन इन अबलाओं को इस वनभूमि में त्याग कर तुम अन्तर्धान क्यों हुए ? हे प्रिय ! कृपा कर इन अबलाओं के नयनगोचर होओ ।। 1 ।।

**शरदुदाशये साधुजातसत् सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।**
**सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः।। 2।।**

**अन्वयः** - सुरतनाथ (हे सम्भोगपतेः) वरद (हे अभीष्टप्रद !) शरदुदाशये (शरत्कालीने स्वच्छसरसि) साधुजात सत्सरसिजोदर श्रीमुषा (साधुजातं सम्यग् जातं यत् सत्सरसिजं सुविकशितं पद्मं तस्य उदरे गर्भे या श्रीः तां मुञ्चाति हरतीति तथा तया) दृशा (नेत्रेण) अशुल्कदासिकाः (अशुल्कं मूल्यं विनैव दासिका (अस्मान्) निघ्नतः (मारयतः) ते (तव) इह (लोके) किं वधः न (भवति) ? ।। 2।।

**अनुवाद**- हे सुरतनाथ ! हे वरद ! तुम्हारे नयन शारदीय स्वच्छ सरोवर में सम्यक रूप से उत्पन्न और सुविकसित कमल के अन्तर्दल की सुषमा का हरण करनेवाले हैं। तुम इन्हीं नयनों से इन बिना मूल्य की दासियों का वध कर रहे हो - यह क्या वध नहीं है ? ।। 2 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

रासरजनी में यमुनापुलिन पर समवेत शतकोटि गोपियों ने एक साथ मिलकर श्रीकृष्ण से ये सब प्रार्थनायें की हों, ऐसा नहीं, कारण - ऐसा होने पर तो बड़ा कोलाहल उत्पन्न होगा। एक-एक यूथ में बहुत गोपियाँ हैं, उनमें से मुख्य या यूथेश्वरियों ने ही ये प्रार्थनायें कीं हैं। फिर भी सभी श्लोकों में

परस्पर सुन्दर सङ्गत देखने को मिलती है, कारण - सबकी हृदय-वीणा श्रीकृष्ण के विरहस्वर से ही झंकृत हुई है। सभी गोपियों की प्रार्थनावाणियों का वर्णन करना कभी सम्भव नहीं। श्रीपाद शुकदेव मुनि ने कतिपय मुख्य गोपियों की वाणियों का ही उल्लेख किया है।

गोपियों ने प्रथम पद्य में अपना मनोदु:ख ज्ञापित कर श्रीकृष्ण-दर्शन की प्रार्थना की है। यदि श्रीकृष्ण कहें - मैं तुम्हें क्या दु:ख दे रहा हूँ, तो वे उत्तर देती हैं - और क्या दु:ख दोगे ? हमारा वध कर रहे हो। तुम दृष्टि द्वारा सम्भोग की कामना करते हो, दृष्टि से ही अभीष्ट सुख प्रदान करते हो; उसी दृष्टि से अब प्रेमाग्निपुञ्ज निक्षेप कर वध कर रहे हो। व्रज के इस उत्कर्ष के बीच, विशेषत: इन्दिरादेवी के अधिष्ठान-स्थान में स्त्रीवध अनुचित है। यदि श्रीकृष्ण कहें - क्यों, मेरे पास तो कोई अस्त्र नहीं, तो उत्तर देती हैं - क्या अस्त्र से किया वध ही वध होता है ? नयनों से किया वध वध नहीं होता ? तुम नयनों से हमारे चित्त आकृष्ट कर हमें बिना मोल की दासी बनाकर फिर विरहयंत्रणा देकर वध कर रहे हो । कहीं भी किसी भी जीव का वध करना पाप है। पुण्यस्थल में जीवहत्या तो महापाप। तुम तो इन्दिरा द्वारा सेवित वृन्दाजी की भजनस्थली प्रेम के महातीर्थ इस वृन्दावन में नारीवध कर रहे हो। और ये नारियाँ भी सरला हैं, सर्वदोषवर्जिता हैं; ऊपर से तुम्हारे प्रति विश्वस्त, तुम्हारी बिना मूल्य की दासी ! व्याध के गायन पर मुग्ध हुई हरिणियों की तरह उन्हें तुम मोहनवंशी से वन में आकर्षित कर वृन्दावन में नयनों द्वारा मार रहे हो। तुम पाप से नहीं डरते ?

और फिर तुम सुरतनाथ हो - तुमने ही हमारी वह इच्छा जगाई है। वरद हो - वर देकर उस वासना को दृढ़ कर दिया है। सुरतनाथ और वरदाता द्वारा किया वध, इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है ? इन सब पापों से उद्धार पाना चाहते हो, तो एक बार हम लोगों को दर्शन दो।

भगवान् तत्वमय हैं, तभी लीलामय एवं रसमय हैं। तत्व की भित्ति पर लीलारस की प्रतिष्ठा है। जो परम तत्वमय स्वयं भगवान् हैं, जिनके नाम के आभास मात्र से जीवजगत् के कोटि-कोटि जन्मों के अतिपातक महापातक प्रज्ज्वलित अग्नि में तुलापिण्ड (रुई) की तरह तत्क्षण भस्म हो जाते हैं, उन्हीं कृष्ण को उन्हीं की अपनी आनन्दिनी शक्ति व्रजवधुएं लीलाक्षेत्र या रस-भूमि पर आकर पाप का भय दिखा रही हैं। व्रजवासियों ने उस परमतत्वमय वस्तु को अपने प्रेम के साँचे में ढालकर किस तरह मनोमत निजजन बना रखा है, यही यहाँ विशेष प्रणिधान के योग्य है।

तोषणी टीका का तात्पर्य ऐसा है - इस पद्य में जो 'मुषा' शब्द है, वह 'मुष्' धातु से निकला है, इसका अर्थ है चोरी करना। यह पद श्रीकृष्ण के चक्षुओं का विशेषण है। इससे श्रीकृष्ण के नेत्रों का तस्करत्व समझा जाता है। इस भाव को सुप्रतिपन्न करने के लिये श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं - शरत्कालीन गहन और निर्मल सरसी में साधुजात पद्म, अर्थात् जो किसी भी प्रकार के प्रतिबन्धक के

बिना स्वाधीन रूप से अपने तेज से उत्पन्न होता है ऐसा सत् सरसिज, उत्तम देश-काल में जन्मा सुलक्षण शोभान्वित पद्म ! 'सरसिज' पद्म का ही रूढ़ अर्थ है। सरोवर में जो कुछ भी जन्मे, उसी को 'सरसिज' कहा जा सकता है, पर रूढ़ि अर्थ में पद्म को ही सरसिज कहा जाता है। यहाँ यौगिक अर्थ की प्रधानता नहीं है। पद्म के अन्य बहुत-से नाम अभिधान में मिलते हैं- अमरकोष में निम्नलिखित पर्याय हैं -

"वापुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् ।
सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् ।।
पंकेरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम् ।
विसप्रसूनराजीव-पुष्कराम्भोरुहाणि च ।।
पुण्डरीकं सिताम्भोजमथ रक्तसरोरुहे ।
रक्तोत्पलं कोकनदम् ।।"

पद्मवाचक - पद्म, नलिन, अरविन्द, महोत्पल, सहस्रपत्र, कमल, शतपत्र, कुशेशय, पंकेरुह, तामरस, सारस, सरसीरुह, विसप्रसून, राजीव, पुष्कर, अम्भोरुह, पुण्डरीक। श्वेतपद्मवाचक - सिताम्भोज। रक्तपद्मवाचक - रक्तसरोरुह, रक्तोत्पल, कोकनद।

जो भी हो, शरत्काल की गहन सरसी में साधुजात सत पद्म के अरुणिम अन्तर्दल की शोभा पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण के नयनों ने उसी शोभा का हरण कर अपनी शोभा का सम्वर्धन किया है। जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण के नेत्र पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ कमल की शोभा देखने में नहीं आती। लगता है मानो उस कमल-शोभा का अपहरण करके ही श्रीकृष्ण ने अपने नेत्रों की शोभा का सम्वर्धन किया है। इससे श्रीकृष्ण-नयनों की चौर्यवृत्ति ही सूचित हुई। कमल गहन प्रशान्त सुनिर्मल सरसी के जल में विकसित होता है। वह कमल अपने अन्तःकोष में अपनी शोभा का संरक्षण किये रहता है। श्रीकृष्ण के नेत्र उसी जलदुर्ग के साधुजात कमल की सुसंरक्षित शोभा का भी अपहरण कर लेते हैं। फिर इन दुःसाहसी चोरों के लिये सरला-अबला व्रजबालाओं का चित्त-मन अपहरण कर उनका प्राणवध करना क्या विचित्र ?

श्रीकृष्ण-नयनों की चौर्य-अभिनिवेशशक्ति (हर समय चोरी के चिन्तन में ही लगे रहने की शक्ति) अत्यन्त बलवती है। साधुजात कमल जल दुर्ग में अपने अन्तःकोष में बड़े गुप्त रूप से अपनी महाशोभा को यत्नपूर्वक संरक्षित किये रखता है। वहाँ प्रवेश कर उसका हरण करना अति दुःसाहसी चोर का ही कार्य है। ऐसे चोर का अभिनिवेश तीन प्रकार का देखने में आता है। पहला, साधुओं की गुप्त रूप से संरक्षित सम्पत्ति को लेना एक उत्कट अपराध है, यह चोर इस बात को कुछ गिनता ही नहीं। एक प्रकार का चोर ऐसा है जो साधुओं के धन का अपहरण न कर अन्यत्र धन-अपहरण कर लाता है और

साधुओं को दे देता है। वह सोचता है साधुसेवा से उसके पाप-ताप कुछ कम हो सकते हैं। पर जो दुर्वृत्त चोर होते हैं, वह साधु-असाधु किसी को नहीं छोड़ते मूल्यवान वस्तु देखते ही चोरी कर लेते हैं। श्रीकृष्ण के नेत्र इसी प्रकार के चोर हैं।

दूसरा, सरसी के गहन महाजल में अन्तः प्रस्फुटित कमल के उदर में गुप्तरूप से संस्थित शोभा को ज्ञानगम्य करना या जानना - यह भी चोरी का एक महा अभिनिवेश है। दूसरे के अतिगुप्त धन का ज्ञान सब चोरों को नहीं होता। जिसे ऐसे गुप्त धन की बात ज्ञानगोचर होती है, वही पक्का चोर होता है। श्रीकृष्ण के नेत्र ऐसे ही पक्के चोर हैं।

तीसरा, वर्षा के अन्त में लबालब भरे जलाशय के दुर्गम मध्यभाग में स्थित सहस्रदल सत्कमल के भीतर दुरधिगम्य स्थान में संस्थित है कमलश्री। उसका अपहरण करना अति सुदक्ष और दुःसाहसी चोर का ही कार्य है। सभी चोर दुर्लंघनीय दुर्ग के भीतर प्रवेश कर चोरी करने का साहस नहीं रखते; अति दुःसाहसी चोर ही ऐसा दुःसाहस पोषण करते हैं। तुम्हारे जो नयनचोर ऐसा कर सकते हैं; वे हम जैसी अबला अखला सरला व्रजबालाओं के चित्त चुरायेंगे, यह कोई बड़ी विचित्र बात नहीं। हे गोपीचित्त-चोर चूड़ामणि ! तुम्हारे उन नयनों ने हमारे चित्त का बलपूर्वक हरण कर हमें दासी के रूप में तुम्हारे चरणों में लगा दिया है। ये साधारण दासियाँ नहीं हैं, इन्हें कोई वेतन नहीं देना पड़ता। तुम्हारे नयनों ने हमें बिना मूल्य की दासी बना दिया है। इसे लेकर हमारे मन में कोई ईर्ष्या नहीं। हम तो तुम्हारी सेवा में ही प्रवृत्त हैं। कमलिनी की अति दुर्लंघनीय स्थान में गुप्तरूप से रक्षित शोभा नायिका का हरण कर उसे तुमने नयनों में स्थान दिया है। हम लोगों के सहजलभ्य चित्तमन का अनायास हरण कर चरणों में भी थोड़ा स्थान नहीं दे रहे ! उल्टे विरह-सागर में निमज्जित कर वध कर रहे हो। यह वध क्या वध नहीं ? तुम गुप्तरूप से हमारा प्राणसंहार कर रहे हो; लोगों को पता नहीं चल रहा, क्या इसीलिये तुम सोचते हो यह वध स्त्रीवध में नहीं गिना जायेगा ?

श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं - ''वस्तुत-श्चैवं दृशः परमसौन्दर्यमुक्तम्'' (वृ. तो. टीका)। गोपियाँ श्रीकृष्ण के आगे जो अभियोग कर रही हैं, इसका मौलिक तात्पर्य श्रीकृष्ण के नयनों के सौन्दर्य-माधुर्य के आकर्षण का वर्णन करना ही है। इस श्लोक में उनके नयनों के परमसौन्दर्य के प्रभाव का वर्णन किया है। गोपियों ने तिरस्कार के साथ श्रीकृष्ण के नयनों के सौन्दर्य और आकर्षण का जो वर्णन किया है, वैसा शत-शत कविवाक्य भी स्तवस्तुति के साथ श्रीकृष्ण का सौन्दर्य भी वर्णन नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण के तो अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही परम सुन्दर हैं, नयन सबसे अधिक सुन्दर हैं। मधुररसनायिका व्रजगोपिकाओं के लिये साक्षात् शृङ्गाररसराजमूर्ति श्रीकृष्ण के त्रिवमय नयनों का सौन्दर्य अवर्णनीय है। महाजन कहते हैं -

''अत्यायते सुविपुले मसृणे सुशोणे सुस्निग्धपीन घनचञ्चल पक्ष्मरम्ये ।
तारुण्यसारमदघूर्णनमंथरे च नेत्रे हरर्मम हृदि स्फुरतां सदा ते ।।''
(गोविन्दलीलामाधुरी 16/101)

'जो नयन अति विस्तृत, सुविपुल, चिक्कण, रक्तवर्ण, सुस्निग्ध और स्थूल, निविड़ एवं चञ्चल पलकों से शोभित होने के कारण अति रमणीय हैं और जो तारुण्यसारजनित (तरुणाई के कारण) मदवश विघूर्णित एवं मंथर हो गये हैं, श्रीकृष्ण के वही नयन मेरे हृदय में निरन्तर स्फुरित हों।' इन नयनों की सरस चितवन व्रजबालाओं की दृष्टि में जितनी आकर्षक है, उतनी ही विषम है। पूर्वरागवती व्रजबाला की उक्ति हैं -

''मरकत दरपण वरण उजोर ।
हेरइते प्रति अङ्ग अनङ्ग आगोर ।।
ना बूझल कि कहल अरुण नयाने ।
हानत अतये कुसुमशर वाणे ।।
ए सखि ! काहे भेटलुँ नन्दनन्दना ।
मन्दिर गहन दहन भेलो चन्दना ।।
तैखने दखिन पवन भेलो वाम ।
सहइ ना पारिये हिमकर नाम ।।
साजह शेज कमलदल पाति ।
कुलवती युवति लेउ निज शाति ।।
ताहि रहल मन लोचन लागि ।
धैरज लाज गेलो दुहुँ भागि ।।
की फल एकल विकल पराण ।
गोविन्द दास कह मीलव कान ।।''

श्याम का मरकत दर्पण की तरह उज्ज्वल वर्ण है। देखते ही अनङ्ग ने मेरे हर अङ्ग पर अधिकार कर लिया। अपने अरुण नयनों की कटाक्ष-भङ्गिमा से क्या कहा, समझ नहीं पाई। वह तभी से मुझे मदनवाण से विद्ध कर रहा है। अरी सखि ! नन्दनन्दन से साक्षात्कार क्यों हुआ ? तभी से गृह अरण्य और चन्दन अग्नि तुल्य लग रहे हैं। दक्षिण (मलय) पवन वाम्य भाव लिये है (सुखद स्पर्शवाला मलय पवन विष की तरह असह्य लगता है)। चन्द्र की किरणों की बात तो दूर, चन्द्र का नाम तक नहीं सह पाती। कमलदलों की शय्या रचना करो। कुलवती युवती (अपने कर्म के अनुरूप) दण्ड भोगे।

(प्रिय के सङ्गके बिना कमलदल-शय्या मुझे वृश्चिक दंशन की तरह ज्वाला प्रदान करेगी, यही मेरा उपयुक्त दण्ड है)। मेरे नयन-मन तो उसी में लगे रहे। धैर्य-लज्जा दूर भाग गये। अकेली इन व्याकुल प्राणों को रखकर क्या करूँगी ? गोविन्ददास कहते हैं, कानु के साथ मिलन होगा।

इस श्लोक में दो सम्बोधन हैं - सुरतनाथ और वरद। इन दोनों से यह सूचना मिलती है कि वध का औचित्य नहीं। सुरतनाथ का अर्थ है - जो सुष्ठु रूप से रत हैं या भक्त हैं, उनके नाथ। इस सम्बोधन का अर्थ है भक्त को अभीष्ट देनेवाले। दूसरा सम्बोधन वरद। दोनों से पता चलता है कि तुमने हमारे हृदयों में अपने प्रति भक्ति की वृद्धि की है और वर देकर उसे दृढ़ किया है। अतएव इसमें हमारी कोई धृष्टता नहीं। अथवा 'दृशा सुरतनाथ', तुम दृष्टि द्वारा सम्भोगसुख प्रदान करते हो, पर, कार्य रूप से वैसा आचरण नहीं करते, इससे जो पाप होता है, वह वध तुल्य है।अथवा 'तादृशदृशैव तद्रूपेण शुल्केन दासिकाः', 'दृश' शब्द का अर्थ 'रूप', वह रूप ही शुल्क है। तुमने हम लोगों को सौन्दर्य शुल्क से खरीद लिया है, अर्थात् तुम्हारा रूप देखकर ही हम तुम्हारे चरणों की दासी हो गई हैं । व्रजबाला की उक्ति है -

''कि हेरिलाम नव जलधरे ।
सेइ हते पराण केमन करे ।।
गुरु गरवित नाहि माने ।
निझरे झरये दु-नयाने ।।
सदाइ विकल मोर प्राण ।
अन्तरे जागिया रैल श्याम ।।
हिया दुरु दुरु ताहे हेरि ।
विरले स्मरि रूप झुरि ।।
पासरिते करि तारे मन ।
पासरिले नहे पासरण ।।
कदम्बतलाय श्याम-चाँदे ।
हेरि कुलवती पैल फाँदे ।।
ए यदुनन्दन मन भोर ।
हेरि रूपेर ना पाओल ओर ।।''

श्रील गोस्वामिपाद ने इन दो सम्बोधनों का अर्थ प्रणयकोप या विरह दुःख में भी किया है। यथा सुष्ठुरतानां जनानां नाथ -उपतापक''। ''याचञोपतापै - श्वर्यशीःषु'' नाथृ धातु याचञा उपताप,

ऐश्वर्य और आशीर्वाद के अर्थ में व्यवहृत होती है। यहाँ उपतापक अर्थ लिया गया है। हे कृष्ण ! जो (गोपियाँ) सुष्ठु रूप से तुममें निरत हैं, उनके तुम उपतापक (सतानेवाले) हो। वरद का अर्थ वरच्छेदक। 'वरद' शब्द में जो 'द' पद है, वह जैसे दानार्थक 'दा' धातु से उत्पन्न होता है, वैसे ही अवखण्डनार्थक 'दो' धातु से भी उत्पन्न होता है, "दो अवखण्डने"। हे कृष्ण ! तुम हमें वर देकर भी उसका खण्डन कर रहे हो। इसलिये अपने इन दोषों के परिहार के लिये हम सबको दर्शन दो।

इस पद्य में 'शरदुदाशये' 'साधुजात' 'सत्' इत्यादि उक्तियों से पद्म का जन्मकाल, स्थान का सद्गुण, जाति और व्यक्ति का गुण प्रकाशित हुआ है। इसका तात्पर्य यही है - गोपियाँ कहती हैं - हे कृष्ण ! ऐसा कोई स्थान नहीं जो तुम्हारे चक्षुओं के लिये अगम्य हो - कुलाकुल, धर्माधर्म, पाप-पुण्य किसी भी विषय में तुम्हारे नयन कोई विचार नहीं करते। हम सब निर्विकार चित्त से अपने घरों में बाल्यक्रीड़ाओं में दिन-यापन कर रही थीं। तुम्हारे नयनों ने हमारा गृहधर्म त्याग कराया, कुलधर्म से भ्रष्ट किया, घर से निकाल वन में बुला लिया। अब हमारे। वध करने को उद्यत हैं। तुम्हारे एक नयन की ऐसी शक्ति है (दृशा-दृक् शब्द का तृतीया का एकवचन), दोनों नयन कार्य करते तो क्या होता, कहना ही कठिन। अब दर्शन देकर स्त्रीवध रूपी अपराध से विमुक्त होओ।

**"निशितेन दृगञ्चलेन हे सविषेणेव शरेण नो मनः ।**
**विनिकृन्तसि हन्त योषितां तदयं किं वत नैव नो वधः ।।"**

(आ. वृ. 19/4-5)

श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं - मैंने ऐसा क्या अन्याय कर दिया कि तुम लोगों को इतना दुःख हुआ ? इसका उत्तर देती हैं - हे प्रिय ! क्षुरधार कटाक्ष-शर से हाय ! इन रमणियों के मन को बुरी तरह छेद रहे हो; यह क्या हम लोगों का वध नहीं है ? ।।" 2 ।।

**विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसा द्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।**
**वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः।। 3।।**

**अन्वयः** – ऋषभ (हे सर्वश्रेष्ठ !) विषजलाप्ययात् (विषमयात् जलात् यः अप्ययः विनाशः तस्मात्) व्यालराक्षसात् (अघासुरात्) वर्षमारुतात् (वर्षात् मारुताच्च) वैद्युतानलात् (अशनिपातात्) वृषमयात्मजात् (वृषः अरिष्टः तस्मात् मयात्मजात् व्योमासुरात्) विश्वतोभयात् (अन्यस्मात् अपिः सर्वतः भयात् मुहुः ते (त्वया) वयं रक्षिताः ।। 3।।

**अनुवाद**– हे सर्वश्रेष्ठ ! तुमने कालीयह्रद के विषजल से, महासर्परूपधारी अघासुर के कवल से, इन्द्र के प्रबल वर्षण आँधी–तूफान और व्रजपात से, अरिष्टासुर–व्योमासुर आदि अनेक असुरों के कवल से, दावानल आदि बहुत–सी विपदाओं से हम सब व्रजवासियों की बार–बार रक्षा की है ।। 3 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णविरहकातर व्रजसुन्दरियाँ उनके दर्शन की लालसा से विलाप करते–करते कहने लगीं – हे पुरुष श्रेष्ठ ! तुमने हम शतकोटि व्रजबालाओं की अनेक प्रकार के मृत्युभय से रक्षा की; अब नयनों से पञ्चशर विद्ध कर वध कर रहे हो। यदि हमारा वध करना ही उद्देश्य था, तो इतनी बार मृत्यु–कवल से रक्षा करने की तो कोई आवश्यकता ही न थी। जिन आसन्न मृत्यु–भयों से तुमने रक्षा की है, उन्हें लेकर यदि उदासीन रहते, तो हम सब बहुत पहले ही मर जातीं। तब हमें यह मरण से भी अधिक यंत्रणा न भोगनी पड़ती, जो आज तुम्हारी असह्य विरहज्वाला में भोग रही हैं। अपने हाथों रोपे और पाले तो विषवृक्ष को भी नहीं काटते – इस नीतिवचन का स्मरण कर देखो। श्रीकृष्ण ने जिन विपदाओं से व्रजवासियों की रक्षा की है, उनसे व्रजबालाओं की भी रक्षा हुई है। यह दो प्रकार से – एक परम्परा के अनुसार, दूसरी सर्वसाधारण भाव से। जैसे अघासुर गोवत्स और गोपबालकों को निगल गया था, उस शोक में सब व्रजवासी प्राण गँवाते, गोपियाँ भी प्राण गँवाती – यह परम्परा के अनुसार। उधर इन्द्र के आँधी तूफान वज्रपात में गोप–गोपी सब प्राण गँवाते – यह सर्व साधारण भाव।

श्रीकृष्ण के द्वारा व्रजवासियों के जो उपकार हुए हैं और अब भी हो रहे हैं, उन्हें बताने के लिये इस श्लोक में 'मुहुः' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे उन लोगों के प्रति श्रीकृष्ण का औदासीन्यराहित्य (उदासीनता का न होना) और परमकृपालुत्व ही सूचित हुआ है। अर्थात् व्रज में जब भी कोई उत्पात या उपद्रव हुआ है, तभी श्रीकृष्ण ने मुहूर्त भर का भी विलम्ब न कर या कुछ भी अपेक्षा न कर तत्क्षण व्रजवासियों की रक्षा की है। तभी उन लोगों ने 'मुहुः' शब्द का प्रयोग किया है।

पूतनावध, शकटासुर निधन, तृणावर्त वध आदि – श्रीकृष्ण की व्रजलीला का यह भागवतीय क्रम है। पर इस पद्य में पहले विषजल की बात ही कही गई है। श्रीकृष्ण-विरह में व्रजबालायें अतिशय प्रेमविवश हो उठी थीं, सम्भवत: उस विरह-विवशता के कारण ही उनसे लीलावर्णन में क्रम-भङ्ग हो गया। या इस क्रम-भङ्ग का एक ऐसा कारण भी हो सकता है कि भय की प्रधानता के अनुसार ही क्रमविन्यास की प्रधानता ली गई है। कालिय द्वारा यमुना का जल इतना विषाक्त हो गया था कि ऊपर से निकलते पक्षी भी विषवाष्प के स्पर्श से मृत हो जाते। जलसीकर युक्त वायु के स्पर्श से तट के उद्भिद (पौधे) तक मर जाते। उन्होंने ऐसे भीषणतम उत्पात से रक्षा की है; व्याल-राक्षस आदि की तो बात ही क्या ? अथवा जातीयता-निर्देश को लेकर भी ऐसा क्रम स्थापित हो सकता है। व्याल – कालिय अजगर आदि। राक्षस- पूतना, अघ, वक आदि। शङ्खचूड़ भी है, कारण – यक्ष और राक्षस एक जाति के हैं, ध्रुव उपाख्यान में यह बताया गया है। इनकी जातीयता में एकत्व और द्वन्द्व की एकता स्पष्ट रूप से ही निर्दिष्ट है।

जो भी हो, श्रीकृष्ण ने जिन विपदाओं से व्रजवासियों की रक्षा की है, उनका उल्लेख करते समय गोपियों ने पहले ही कहा – ''विषजलाप्ययात्''। 'विषजल' पद मध्यपदलोपी कर्मधारय समास है। अर्थात् विषमिश्रित जल। 'मिश्रित' शब्द लोप होकर 'विषजल' हुआ है। उसके पश्चात् पञ्चमी तत्पुरुष में 'विषजलाप्ययात्' पद रचित है। इसका अर्थ यही है कि कालियसर्प द्वारा विषाक्त कालिन्दी के जल से तीरवर्ती और ऊपर स्थित प्राणी मात्र की मृत्यु हो रही थी। तुमने उससे हम सबकी रक्षा की है। श्रीहरिवंश में इस भीषण विषह्रद का वर्णन है –

''दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि ।
गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम् ।।
तोयजै: श्वापदैस्त्यक्तं शून्यं तोयचरै: खगै: ।
अगाधेनाम्भसापूर्णं मेघपूर्णमिवाम्बरम् ।।
दु:खोपसर्प्यं तीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलै: ।
विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम् ।।
आकाशादप्यसञ्चार्यं खगैराकाशगोचरै: ।
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु जलन्तमिव तेजसा ।।
समन्ताद योजनं साग्रं देवैरपि दुरासदम् ।
विषानलेन घोरेण ज्वालाप्रज्वलितद्रुमम् ।।''

अर्थात् कालियह्रद एक योजन (चार कोस) दीर्घ विस्तृत है। उसे अतिक्रम करना देवों के

लिये भी दु:साध्य है। उसका जल सागर की तरह गहन अतलस्पर्श और ह्रासवृद्धिहीन है। उसमें कोई भी जलजन्तु वास नहीं कर सकता, न कोई जलचर पक्षी वहाँ जा सकता है। उस अगाध जलराशि को देखकर यही भ्रम होता है कि मेघाच्छन्न आकाश है। उसके किनारे असंख्य गर्त हैं, जिनमें असंख्य विषधर सर्प वास करते हैं। उनके विषधूम से कालियह्रद का तटप्रदेश सर्वदा आवृत रहने के कारण अगम्य है। वहाँ के आकाशपथ पर आकाशचारी पक्षियों की गमनागमन की सामर्थ्य नहीं। यदि तृण-पत्र आदि वायुचालित होकर कालियह्रद में गिर पड़ते हैं, तो उसी क्षण विषतेज से प्रज्वलित हो उठते हैं। ह्रद के चारों ओर एक योजन तक का स्थान सर्वदा विषज्वाला से ऐसा जलता-सा रहता है कि देवता भी निकट नहीं जा सकते।

एक बार ग्रीष्मकाल में गायें तृष्णार्त हो जलपान की इच्छा से कालियह्रद के निकट पहुँच गईं। श्रीकृष्ण के श्रीदामसुबल आदि ने उन्हें संयत किया, तो वे उस भयावह ह्रद के किनारे चली गईं। विषदाह के कारण सभी प्राण गँवा बैठीं। श्रीकृष्ण ने अमृतदृष्टि सञ्चार कर उन्हें जीवित कर ह्रद को विषमुक्त करना चाहा। श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली स्वयं भगवान् हैं। उनकी इच्छा मात्र से ही या कलिय के हृदय में प्रेरणा करते ही वह यमुनाह्रद त्यागकर जा सकता था। पर इस माधुर्यमयी लीला में वे प्रियजनों का अनिष्ट करने वाले इस ह्रद में स्वयं कूद पड़े, उन्होंने कालिय का भयावह दंशन और भोगवेष्टनी सही, कालिय का दमन कर उसे ह्रद से भगाकर यमुना को अमृतजल से परिपूर्ण किया। व्रजदेवियाँ बोलीं - हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुमने स्वयं इतना कष्ट सहन कर कालियविष से हम लोगों की प्राण-रक्षा की, पर इस समय तो तुम्हारे विरह में शत-शत कालियविषों से भी अधिक भयावह ज्वाला (मदनदहन-ज्वाला) में हमारे प्राण जा रहे हैं; दर्शन देकर प्राण-रक्षा करो।

फिर बोलीं - 'व्यालराक्षसात्'। श्रीधर स्वामी ने इसका अर्थ लिखा है - 'व्याल राक्षसाद् अघासुरात्' अर्थात् अजगररूपधारी अघासुर के कवल से हमारी रक्षा की है। टीकाकारों में बहुतों ने व्यालराक्षस पद को कर्मधारय समास में निबद्ध कर (व्याल: एव राक्षस:) इसका अर्थ किया है अघासुर। कंसप्रेरित दुरात्मा अघासुर श्रीकृष्ण का निधन करने की अभिलाषा से व्रज में आया। वृन्दावन में गोवत्सों को चराने वाले श्रीकृष्ण और गोपबालकों को देख कर सोचने लगा कि इस कृष्ण ने ही मेरी बहन पूतना और भाई वकासुर के प्राण लिये हैं; आज मैं सदलबल कृष्ण का विनाश कर अपने भाई-बहन के प्रेतात्माओं को तृप्त करूँगा। इन लोगों की मृत्यु से सभी व्रजवासी प्राण गँवायेंगे, कारण - पुत्र प्राणीमात्र को ही प्राणों की तरह प्रिय होता है। ऐसा सोचकर अजगररूपधारी अघासुर योजन के बराबर विशाल पर्वत की आकृति धारण कर उस मार्ग पर निश्चेष्ट हो पड़ गया, जिस पर श्रीकृष्ण और गोपबालक गोवत्स चराते आ रहे थे। गोपबालकों ने अजगररूपी पर्वताकृति अघासुर को पर्वत ही

समझा। वे उसे वृन्दावन की शोभाविशेष समझकर गिरिगुहा के भ्रम से उसके वदन-विवर (मुंह) में प्रवेश कर गये और तुरन्त ही प्राण गँवा बैठे। श्रीकृष्ण गोवत्स और गोपबालकों को अघासुर के कवल में गया देखकर स्वयं भी उसके मुंह में प्रवेश कर गये। वे अघासुर का निधन कर अमृतवर्षिणी दृष्टि सञ्चार कर उन सबको जीवित कर बाहर ले आये। गोपसुन्दरियाँ बोलीं - हे प्रिय ! तुमने स्वयं अघासुर के वदनविवर में प्रवेश कर गोवत्स-गोप बालकों को बचाकर हम सब व्रजवासियों की प्राणरक्षा की। तुम्हारा विरह-असुर तो अघासुर से सौ-सौ गुना दुरात्मा और सद्य प्राणनाशक है। यह निगल कर हमारा निधन कर रहा है; दर्शन देकर प्राणरक्षा करो।

फिर बोलीं - ''वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्'' हे कृष्ण ! तुमने इन्द्र के वारिवर्षण, प्रबल झंझावात और विद्युत-अनल अथवा वज्रपात से हम सब व्रजवासियों की रक्षा की है। इन्द्र अपने ऐश्वर्यगर्व और मूढ़ता के कारण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के भी पिता और परमपूज्य श्रीनन्द आदि गोपों की महिमा न समझ कर उन कृष्णपार्षदों से भी पीढ़ियों से चली आ रही विहित पूजा ग्रहण कर रहे थे। श्रीकृष्ण ने इन्द्र के कल्याण के लिये और श्रीगिरिराज गोवर्धन की महिमा आराधना का प्रवर्तन कर जगजीवों के मङ्गल के लिये इन्द्रयज्ञ खण्डन कर गोवर्धन यज्ञ का सूत्रपात किया। इन्द्र ने मूढ़तावश श्रीकृष्ण और उनके पार्षदों की महिमा न जानकर श्रीनन्द आदि गोपों के प्रति कुपित होकर गोकुल ध्वंस करने के लिये साम्वर्तक आदि प्रलयंकर मेघों को नियुक्त किया। विपुल वर्षण, प्रबल झंझावात और बार-बार के वज्रपात से त्रस्त होकर गोकुलवासियों ने श्रीकृष्ण की ही शरण ली श्रीकृष्ण ने अपने वायें हाथ की कनिष्ठ अङ्गुली पर गिरिराज गोवर्धन धारण कर उसके नीचे अतिशय निरापद स्थान की रचना कर सभी व्रजवासी गोप-गोपियों और गाय आदि पशुओं को आश्रय प्रदान किया। उनकी ऐसी महिमा को देखकर भी ऐश्वर्यमदमत्त इन्द्र सात अहोरात्र लगातार वर्षण झंझावात और वज्रपात आदि उपद्रव करते रहे। श्री गिरिधारी की कृपा से गोकुलवासियों का किसी प्रकार का अनिष्ट होना तो दूर की बात, वे लोग सात दिन-रात आहार-निद्रा भूलकर श्रीगिरिधारी के वदनारविन्द की शोभामाधुरी का आस्वादन करते हुए परम आनन्द-सागर में निमग्न रहे। बाद में डर कर इन्द्र भाग गये, तो उपद्रव शान्त हुआ। गिरिधारी ने भी गिरिराज यथास्थान स्थापित कर दिये। व्रजबालायें कह रही हैं - हे पुरुषश्रेष्ठ ! यदि अपनी विरह-ज्वाला में हम लोगों के प्राणों का संहार करना ही तुम्हारा उद्देश्य था, तो इन सब विपदाओं से हमारी रक्षा क्यों की। अब इन्द्र के वज्राघात से भी कोटि-कोटि गुना दु:खदायी सद्य प्राणहर मदन का पञ्चबाण विद्ध कर हमारे प्राण लेने को क्यों उद्यत हो ? दर्शन देकर प्राण-रक्षा करो।

श्रीकृष्ण ने तृणावर्त के चक्रवात (बवंडर) से भी व्रजवासियों की रक्षा की है। यहाँ भी एकजातीयता के कारण द्वन्द्वसमास में 'वर्षमारुतात' पद निष्पन्न हुआ है। जैसे इन्द्र के वज्रपात से रक्षा

की है, वैसे ही दो बार दावानल से भी रक्षा की है। यहाँ भी एकजातीयत्व के कारण द्वन्द्व समास में 'वैद्युतानलात्' पद बना है, यह जानना होगा।

इसके बाद व्रजदेवियों ने कहा - 'वृषमयात्मजात्' अर्थात् 'वृषासुर' या अरिष्टासुर के, और 'मयात्मज' व्योमासुर के कवल से हम लोगों को बचाया है। एक बार प्रदोषकाल में, भोजन-विश्राम के बाद श्रीकृष्ण रास के लिये प्रस्तुत हो रहे थे। तभी वृषभ-आकृति दुष्ट अरिष्टासुर विशाल खुरों से धरणी विदीर्ण और कम्पित करता गोष्ठ में आया। अति विशाल, अति उच्च कूबड़वाला। वृषभ की तरह अति भयंकर शब्द करता सींगों से प्राचीरतट (दीवार के किनारे की जगह) विदीर्ण कर रहा था, थोड़ी-थोड़ी विष्ठा मूत्र त्याग रहा था। उसका अति निष्ठुर शब्द सुनकर गोप-गोपियाँ बड़े भयभीत हए। गाय आदि पशु गोकुल त्यागकर इधर-उधर भागने लगे। अरिष्टासुर से डरकर जब सबने श्रीकृष्ण की शरण ली, तो वे उन्हें अभयदान कर असुर को युद्ध के लिये आह्वान कर बोले - अरे दुष्ट ! तुझ- जैसे दुरात्मा का दमनकारी मैं विद्यमान हूँ, निरीह (बेचारे) पशुपालकों को डर दिखाने से क्या लाभ ? यह सुनकर अरिष्टासुर महाक्रोध से खुरों से धरणी विदीर्ण करता और पूँछ से भेड़ों को चलाता श्रीकृष्ण की ओर दौड़ा। श्रीकृष्ण ने उसके सींग पकड़कर धरणी पर गिरा दिया और जैसे गीला वस्त्र निचोड़ते हैं वैसे ही उसका निधन कर दिया। (श्रीमद्भागवत 10/36) अरिष्टासुर-निधन प्रसङ्ग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी सारार्थदर्शिनी टीका में श्रीश्रीराधाकृष्ण और सखियों के परस्पर अति मधुर हास-परिहास रस के माध्यम से बीस श्लोकों में श्रीश्रीश्यामकुण्ड-राधाकुण्ड की उत्पत्ति और महिमा का वर्णन किया है।

एक बार श्रीकृष्ण ने गोपबालकों के साथ पर्वत-शिखर पर पशुओं को चराते-चराते निलायन क्रीड़ा आरम्भ की। कुछ गोपवालक बने मेषपालक, कोई बना चोर, कुछेक मेष (भेड़) बन गये। चोरों का अभिनय करने वाले गोपबालक मेष बने गोपबालकों को चुराकर अन्यत्र छिपा देते। जो मेषपालक बने थे, वे उन्हें खोजने लगते। व्योमासुर गोपबालक का वेश धारण कर उन सबके साथ खेलने लगा। वह मेष बने गोपबालकों का अपहरण कर उन्हें पर्वत-गुफा में छिपाकर रख देता और गुफा के आगे पत्थर लगा देता। श्रीकृष्ण ने उसकी दुरभिसन्धि (बुरी नीयत) जानकर सिंहविक्रम दिखाते हुए उस पर आक्रमण कर दिया। तब व्योमासुर ने अपना असली रूप धारण कर श्रीकृष्ण के हाथों से मुक्त होने की चेष्टा की, तो श्रीकृष्ण ने उसका पशु की तरह वध कर दिया। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है - "तत्र वृषमयात्मजादिति भाविसूचनम् सहज-सार्वज्ञाद्विशेषतश्च विरहार्त्या प्रेम- विशेषोच्छलनात् स्वत एव तत्तत् परिस्फूर्तेः, तस्य भावित्वेऽपि भूतनिर्देशः, सुनिश्चितत्वात्।" अर्थात् इस पद्य में वृषासुर और व्योमासुर के उपद्रवों से रक्षा करने की बात कही गई है; इससे प्रश्न उठ सकता है कि इन दोनों भावी

घटनाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत में रासलीला के बाद किया गया है, फिर गोपबालाओं ने रास से पहले उल्लेख कैसे किया ? इसका उत्तर है - गोपियाँ श्रीकृष्ण का स्वरूपशक्ति हैं, इसलिये उनमें सहजसर्वज्ञता आदि गुण अवश्य ही हैं। विशेषत: विरह-आर्ति में प्रेमविशेष के उच्छलन से भावी घटना की स्फूर्ति होना विचित्र बात नहीं। इस लिये भावी घटना में भी अतीत काल का निर्देश दोषजनक नहीं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी सारार्थदर्शिनी टीका में लिखा है - ''अरिष्ट व्योमवधस्य भावित्वेऽपि गर्गभागुर्यादिमुखत: कृष्णजन्मपत्र्यां श्रवणस्य भूतत्वेनैव भूतनिर्देश:।'' गर्गाचार्य और भागुरी आदि मुनियों ने व्रजवासियों को श्रीकृष्ण की जन्मपत्री सुनाई थी। गोपियों ने भी उसे बहुत पहले सुना था। इसलिये श्रीकृष्ण की अरिष्टासुर और व्योमासुर वध- लीलायें भविष्य की होते हुए भी, उन्हें अतीत में सुन लिये जाने के कारण व्रजदेवियों की बात में भी अतीत निर्दिष्ट हुआ है। जो भी हो, व्रजदेवियों ने अन्त में कहा - 'विश्वतोभयात्' - हे कृष्ण ! तुमने कितने-कितने दु:खों से हमारी रक्षा की है, और कितना कहें ? पूतना, शकटासुर, तृणावर्त, यमलार्जुन, वक, वत्स, दावानल, केशी आदि के भय से तुमने बारबार परम्पराक्रम से और सर्वसाधारण रूप से हम लोगों की रक्षा की है। इसलिये इस समय हमारी उपेक्षा कर अपने विरह में हमारा निधन करना उचित नहीं। दर्शन देकर प्राण बचाओ। यदि श्रीकृष्ण कहें - ''तुम लोगों के गर्व के कारण ही मैंने तुम्हारी उपेक्षा की है'' तो ? नहीं, तुम यह बात नहीं कह सकते, कारण - आश्रित जनों के गुण-दोष का विचार करना अनुचित है। नीति शास्त्र कहता है -

''दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि कलंकितोऽपि,
मित्रावसानसमये विहितोदयोऽपि ।
चन्द्रस्तथापि गिरिश: शिरसा विभर्ति,
नैवाश्रितेषु गुण दोष-विचारणा स्यात् ।।''

'चन्द्रमा चाहे बहुत-से दोषों का आकर (दोषाकर, रजनीकर) हो, चाहे कुटिल हो, चाहे कलंकित हो, मित्रावसान के समय (सूर्यास्त के पश्चात्) अभ्युदित ही क्यों न हो, गिरिश (शिवजी) उसे सदा सिर पर धारण किये रहते हैं। आश्रित जन के गुण-दोषों का विचार नहीं किया जाता।' अतएव हे गोपीजनवल्लभ ! तुम्हारी श्रीचरणाश्रिता गोपियाँ शत-शत दोषों से दूषित ही क्यों न हों, उनका परित्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं।

इस श्लोक की व्याख्या में श्रील बलदेव विद्याभूषणपाद ने एक अति प्रयोजनीय बात का उल्लेख किया है। किसी-किसी का मत है कि अघासुरवध प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है। जब श्रीमद्भागवत के सारात्सार गोपीगीत में गोपिकाओं की उक्ति में ही अघासुर-वध का उल्लेख है, तो प्रक्षिप्त होने की बात

स्वत: उत्सारित हो गई।

''अथ नो वध एव ते मतो यदि हा हन्त वृथास्म रक्षिताः ।
विषवारिदावानलादितो घनवर्षाकरकादिपाततः ।।
अथवा सकला वनेऽविता वत यूयञ्च तथेति भाष से ।
परुषैरुदितैर्विनाश्य किं पुनरस्माकम-सूनपालयः ।।
न तवेहित हेतुरीक्ष्यते परमस्वेच्छ कुतूहलात् परः ।
न वत व्यतिरिक्तमिष्यते मृतसंजीवनतः कुतूहलम् ।।
न हि जीवयितुं परिश्रमस्तव दूरस्थितजीविता हि नः ।
तव दर्शन तद्भवेत्त्वदृते नो न हि जीवितं परम् ।।''

(आ. वृ. 19/8-11)

हे पुरुषश्रेष्ठ ! यदि हमारा वध करना ही तुम्हारा अभिप्रेत है, तो विषजल, दावानल, इन्द्र के वर्षा-तूफान वज्रपात आदि से व्यर्थ ही रक्षा क्यों की ? और यदि कहो कि मैंने तुम लोगों की अलग से तो रक्षा की नहीं, व्रजवासियों की रक्षा करने में तुम सबकी भी रक्षा हो गई, तो हम कहती हैं- इससे पूर्व तुम्हारे उपेक्षा वचनों से हम मृतप्राय हो गई थीं, तो तुम्हीं ने मधुरहास्ययुक्त वचनों का प्रयोग कर हमें जीवनदान किया था। हे परम स्वतंत्र ! एकमात्र कौतूहल को छोड़ तुम्हारे किसी भी कार्य का कोई कारण देखने में नहीं आता। और तुम्हारा कौतूहल भी क्या है - मृतक को जीवित करना और जीवित का जीवनान्त करना। बस, अन्य कुछ नहीं। तभी कहती हैं, हे व्रजजीवन ! हमें जीवनदान करने में तुम्हारा कोई परिश्रम नहीं होगा, कारण- तुम्हें छोड़कर हमारा जीवन अन्य कुछ भी नहीं। तुम्हारे दर्शन से ही हम लोगों को जीवन प्राप्त हो जायेगा ।। 3 ।।

**न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिना-मन्तरात्मदृक।**
**विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले।। 4।।**

**अन्वयः** - (हे) सखे ! भवान् खलु (निश्चितं) गोपिकानन्दनः (यशोदासुतः) न (नैव भवति किन्तु) अखिलदेहिनां (सर्वप्राणिनां) अन्तरात्मदृक् (बुद्धिसाक्षी), विखनसा (ब्रह्मणा) अर्थितः (प्रार्थितःसन्) सात्वतां (भक्तानां यादवानां) कुले उदेयिवान् ।। 4।।

**अनुवाद**- हे सखे ! आप निश्चय ही यशोदा के पुत्र नहीं हैं, आप तो सर्वजीवों के अन्तर्यामी हैं। ब्रह्माजी की प्रार्थना पर विश्वपालन के लिये यदुकुल में अवतीर्ण हुए हैं ।। 4 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण की विरहविवश व्रजसुन्दरियों ने पूर्व पद्य में श्रीकृष्ण के कालियदमन असुर-संहार आदि द्वारा अपनी प्राण-रक्षा की बात कही, तो उनके प्रेमभावित चित्तों में श्रीकृष्ण के माधुर्यज्ञानमण्डित ऐश्वर्यज्ञान का स्फुरण हो गया। व्रजधाम में श्रीकृष्ण का माधुर्य-मिश्रित ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य प्रायशः मधुर नहीं होता, कारण - ऐश्वर्यज्ञान के उदय से चित्त में सम्भ्रम-संकोच उत्पन्न होता है और सम्बन्धज्ञान शिथिल होता है। किन्तु व्रज का ऐश्वर्य मधुमय है -

**''मधुरैश्वर्य माधुर्य कृपादि भाण्डार ।**
**योगमाया दासी जाँहा रासादि लीला सार ।।''**

(चै. च.)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी रागवर्त्मचन्द्रिका में माधुर्यज्ञान का लक्षण बताया है - ''ईश्वरोऽयमित्यनु- सन्धानेऽपि हृत्कम्पजनक सम्भ्रमगन्धस्या- नुद्गमात् स्वीयभावस्यातिस्थैर्यमेव यदुत्- पादयति तन्माधुर्यज्ञानम्''। ये ईश्वर हैं ऐसा जानकर भी जिसमें अपने भाव की (मेरा पुत्र, मेरा सखा, मेरे प्राणपति - इस भाव की) अति स्थिरता रहती है, वही 'माधुर्यज्ञान' है। इस पद्य में श्रीकृष्ण के विशाल ऐश्वर्य की बात कही है, किन्तु गोपियों ने उन्हें 'सखे' कहकर ही सम्बोधित किया है।

श्रीधरस्वामिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या में कहा है - हे सखे ! आप जब विश्वपालन के लिये आविर्भूत हुए हैं, तो भक्तगण की उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है। हे सखे ! आप निश्चय ही यशोदानन्दन नहीं हैं, सभी प्राणियों के बुद्धिसाक्षी हैं। यदि इस बात पर वितर्क हो कि बुद्धिसाक्षी तो दृश्य वस्तु नहीं, तो इसका उत्तर है - ब्रह्मा की प्रार्थना पर आप विश्वपालन के लिये इस प्रपञ्च में मूर्तिमान् हो अवतीर्ण हुए हैं।

श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद की व्याख्या में कहा गया है - व्रजगोपियाँ कहती हैं, हे सखे ! तुम्हारा यह जो प्रत्यक्ष परिदृश्यमान् विचित्र क्रीड़ाकारी वर्तमान रूप है, केवल इस रूप को लेकर तुम बाहर क्रीड़ा करते हो, ऐसा नहीं है। तुम समस्त जीवों के हृदयों में भी विद्यमान हो। इसलिये हमारे हृताप की बात तुम अवश्य ही जानते हो। हम अधिक कहें, इसकी क्या आवश्यकता ? श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं - 'जानता हूँ, तुम लोगों का यह कहना सत्य है, किन्तु मैं अपने कर्तव्य-अकर्तव्य अवसर देखकर ही सम्पन्न करता हूँ।' हम लोग तुम्हारी इस उक्ति को स्वीकार नहीं कर सकतीं, कारण- तुम ब्रह्मा की प्रार्थना पर भक्त-कुल में भक्त रक्षार्थ अवतीर्ण हुए हो। भक्त पालन में तुम्हारा अवसर-अनवसर विचार नहीं चलता। भक्तगण तो अनवसर में भी तुम्हारे प्रतिपाल्य हैं। हम सब तुम्हारी भक्त हैं, इसलिये तुम्हारे विरह में हमारे प्राण कण्ठागत हैं (गले में आ गये हैं)। हमारी प्राणरक्षा के लिये अवसर की अपेक्षा करना अनुचित है। इस परम करुणाघन अवतार में भक्त के लिये अवसर की अपेक्षा करना तो दूर, भक्त के लिये अपने वचन का भी लंघन कर तुम अपने गुरुदेव के मृत पुत्र तक को ले आये थे - यह बात मथुरालीला में बताई जायेगी।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं भक्त के लिये अवसर आदि की अपेक्षा नहीं करता, पर तुम सब तो मेरी भक्त नहीं हो। इसके उत्तर में हमारा कहना है - भक्त न भी सही, प्रतिपाल्य तो निश्चय ही है। विश्वपालन के लिये ही तो तुम्हारे अवतरण हेतु ब्रह्मा की प्रार्थना है - 'विश्वगुप्तये' और उसी प्रार्थना से ही तुम्हारा अवतरण हुआ है। हम सब तुम्हारी भक्त न सही, ब्रह्मा तो तुम्हारे भक्त हैं। इनकी प्रार्थना पूरी करना तुम्हारा अवश्य कर्तव्य है। इस दृष्टि से भी हम लोग अवश्य ही तुम्हारी प्रतिपाल्य हैं। इसके अतिरिक्त, तुम्हारे साथ हमारा विशेष भाव भी है, क्योंकि तुम हमारे सखा हो, अतएव हम तुम्हारी सविशेष प्रतिपाल्य हैं।

और फिर तुम अन्तरात्मद्रष्टा होकर भी क्या गोपिकानन्दन नहीं हो ? तुम अवश्य ही गोपिकानन्दन हो, कारण - तुम ब्रह्मा की प्रार्थना पर सारवरकुल (भक्त के कुल) में जन्म लेकर गोप-गोपियों का आनन्दवर्धन कर रहे हो । इसलिये हम लोग भी तुम से आनन्द प्राप्त करने के योग्य ही हैं।

अथवा अन्य प्रकार का अर्थ भी हो सकता है। गोपियाँ अत्यन्त दु:ख के साथ ज्ञानपक्ष का आश्रय लेकर कहती हैं - निश्चय ही तुम कारुण्य आदि गुणरूपलीला-ऐश्वर्य आदि अपना माधुर्य प्रकट करने में परायण गोपिकानन्दन श्रीकृष्ण नहीं हो, तुम तो निर्विकार परमात्मा हो, इतने दिनों बाद यह जान पाईं। अन्यथा तुम क्या हमारा इतना दु:ख देखकर स्थिर रह सकते थे ? दूसरी बात, तुम अविश्वगुप्ति के लिये। (''विखनसार्थितोऽ विश्वगुप्तये'' - अकार प्रश्लेषण द्वारा) अर्थात् विश्वसंहार के लिये

अवतीर्ण हुए हो। तुम्हारा जो अवतरण है वह गोपकुल में नहीं, यादव कुल में है। गोपकुल में अवतीर्ण होते, तो स्वजाति के दु:खमोचन के लिये तुम्हारा आग्रह अवश्य होता।

एक अन्य प्रकार की व्याख्या भी हो सकती है। 'हे सखे !' ऐसा सम्बोधन सोल्लुण्ठ भावात्मक है (स्तुतिपूर्वक किये गये दुर्वाद अथवा वैसी व्यंग्य उक्ति को 'सोल्लुण्ठ' कहा जाता है)। ऐसा अर्थ करने के लिये सभी पदों के आगे 'नञ' रखना होगा, कारण श्लोक के आरम्भ में ही 'नञ' प्रयोग हुआ है। जैसे हे सखे - असखे इत्यादि। हे सखे, अर्थात् हे असखे ! तुम सभी प्रकार से हमारे प्रतिकूल आचरण करने वाले हो। तुम यशोदानन्दन नहीं हो, होते तो दामोदर भक्तवश्यता आदि गुण होते, हमारी उपेक्षा न कर पाते। अथवा गोपिकानन्दन होते तो गोपियों का आनन्द वर्धन ही करते, किन्तु तुम वह नहीं हो। तुम्हें अखिल विश्व का अन्तर्द्रष्टा भी नहीं कहा जा सकता, वह होते तो तुम अवश्य ही हमारा दु:ख समझते। ब्रह्मा ने तुम्हें विश्वपालन के लिये भी अवतीर्ण नहीं कराया, ऐसा होता तो तुम अवश्य ही हमारी रक्षा करते। तुम सात्वतकुल में भी नहीं जन्मे, यदि जन्मे होते तो तुम में निरुपाधि कृपालुता आदि गुण होते।

एक और प्रकार की भी व्याख्या सम्भव है। तुम वही सुप्रसिद्ध अखिलान्तरद्रष्टा हो। ब्रह्मा ने तुम से भक्त कुल में अवतीर्ण होने के लिये प्रार्थना की। किन्तु तुमने उस आकाश में उदित होकर आकाश का असङ्गत्व उदासीनता आदि गुण प्राप्त किये हैं, तुम गोपिकानन्दन नहीं हो। 'सखे' पद का स: और खे (आकाश में) इस प्रकार के अर्थ में पदच्छेद कर ऐसी व्याख्या की गई है।

अन्य व्याख्या है - 'विखनस्' शब्द का अर्थ पितामह। तुम्हारे पितामह ने व्रज वासियों की रक्षा के लिये तुमसे अवतीर्ण होने के लिये प्रार्थना की थी। उसके लिये तुम गोपकुल में अवतीर्ण हुए हो। अब हमारी रक्षा करना तो दूर, तुम हमारे हृदय के दु:ख तक को नहीं समझते। हमारे हृदय अन्तर्दाह से दग्ध हो रहे हैं। यदि यह बात तुम्हारे ज्ञानगोचर होती, तो हमारा यह दु:ख नाश हो गया होता। श्री नन्द के पिता पर्जन्य ने वंश में सर्वोत्तम सन्तान हो, इस उद्देश्य से विष्णु की आराधना की थी, ऐसा प्रसिद्ध है।

श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने लघुतोषिणी टीका में लिखा है - ''ऐश्वर्यज्ञानमिदं मुन्यादिमुखत: तन्माहात्म्यश्रवणेन ततो निजभावानुरूप्येण श्रीगोपिकानन्दतामय-केवलमाधुर्यानुभवेऽपि तदेतदैश्वर्यं याचक-रीत्या निजाभीष्ट साधनमात्राय प्रयोजितमिति ज्ञेयम्। एवमुत्तरत्रापि।'' व्रजदेवियों का यह ऐश्वर्यज्ञान उनका स्वयं का नहीं है; उन्होंने श्रीकृष्ण की यह सब महिमा गर्ग-भागुरी आदि मुनियों के मुख से सुनी है। वे अपने भाव के अनुरूप गोपिकानन्दनत्व से युक्त शुद्ध माधुर्य-अनुभव के होते हुए भी विरह के समय अपना अभीष्ट पूरा करने के लिये या श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये याचक-रीति से ऐश्वर्यज्ञान का

प्रयोग किया करती हैं। याचकरीति क्या है ? भिक्षुक जिससे भिक्षा माँगता है, उस दाता की प्रसन्नता के लिये उसका अधिक माहात्म्य कीर्तन करता है। जैसे- 'दीजिये राजा जी, कुछ भिक्षा दीजिये', इत्यादि। याचक जानता है कि वह राजा नहीं हैं; दाता भी जानता है कि मैं राजा नहीं फिर भी याचक जब माहात्म्यसूचक वाक्य बोलकर दीनता दिखाता है, तो दाता प्रसन्न होता है, यथासम्भव भिक्षा भी देता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिये गोपियाँ उनकी दर्शन-कामना से मुनियों की कही गई श्रीकृष्ण की महिमा (जगदीश्वरत्व आदि) का कीर्तन तो करती हैं, पर वे जानती हैं कि श्रीकृष्ण उनके प्रिय और सखा ही हैं। श्रीकृष्ण जगदीश्वर होने पर भी उन लोगों के आगे उनके भाव के अनुरूप स्वयं को नन्दनन्दन और गोपीजनवल्लभ ही समझते हैं।

श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद यह भी कहते हैं - गोपियाँ बोलीं, किसी के मत में तुम गोपिकासुत हो, कोई तुम्हें सभी प्राणियों का अन्तर्यामी कहता हे, कोई अन्य कहता है कि तुम विश्व की रक्षा के लिये अवतीर्ण हुए हो। यह त्रिविध मत सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। किन्तु हम लोगों के प्रति तो तुम्हारा व्यवहार इन तीनों प्रसिद्ध मतों से ही अलग है (उन मतों से मेल नहीं खाता)। भला यह तुम्हारी कैसी लीला ? हे कृष्ण ! तुम गोपिकानन्दन नहीं हो, होते तो हम स्वजातीयों के प्रति तुम्हारी कृपा रहती। तुम अखिल विश्व के अन्तरात्मा-दर्शी भी नहीं हो, होते तो हमारे हृदयों का दु:ख तुम्हारे ज्ञानगोचर होता। ब्रह्मा की प्रार्थना पर तुम विश्व-रक्षा के लिये भी सारत्वत कुल में अवतीर्ण नहीं हुए, यदि हुए होते तो हमारी रक्षा करना भी तुम्हारे कार्य के अन्तर्गत होता। (वृहत् क्रम सन्दर्भ टीका का तात्पर्य)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस श्लोक पर जो बात कही है, वह अति अद्‌भुत रसिकता और चातुर्य से भरी है। उनकी व्याख्या का संक्षिप्त मर्म यही है - श्रीकृष्ण गोपियों से कहते हैं - "अरी सतत असमीक्षभाषिणी (बिना सोच-विचार के बोलने वाली) ग्वालिनो ! बस करो। मैं सर्वानन्दकन्द नन्दनन्दन हूँ। तुम लोग मुझे स्त्रीवध-पातकी विश्वासघाती न जानें क्या-क्या कह रही हो ! यह सब सुनकर मैं यहाँ से चला जाता हूँ, कहीं निर्जन में जाकर रहूँगा जिससे तुम लोगों को जीवन में एक बार भी मेरे दर्शन न हों।

श्रीकृष्ण के इस भीषण वाक्य को सुनकर गोपबालायें अत्यन्त अनुतप्त होकर उन्हें प्रसन्न करने के लिये उनकी स्तुति कर रही हैं - "तुम निश्चय ही गोपिकानन्दन नहीं हो, अखिल विश्व के जीवों के अन्तरात्मा, अन्त:करण-प्रेरक, द्रष्टा और अन्तर्यामी हो। भागुरी, गार्गी, पौर्णमासी आदि से हमने यह बात सुनी है। जब हमारी अन्तरात्माओं के प्रेरक हो, तो हमसे जो बुलवाओगे, हम वही बोलेंगी। हम गोपबालायें क्या तो जानें और कितना-सा समझें ! हमारी बात पर क्रोध मत करो, प्रसन्न होओ। सुना है, तुम ब्रह्मा की प्रार्थना पर विश्वरक्षा के लिये यशोदा के गर्भ से उदित हुए हो। तुम कह सकते हो,

अच्छा, यदि यह जानती हो, तो इतनी रूखी बात क्यों करती हो ? इसका कारण सुनो, तुम हम लोगों के सखा हो, तुमने हमें सौख्यरस-सागर में निमज्जित कर रखा है।

विश्व-रक्षा के लिये तुम्हारा आविर्भाव है, हम लोग भी विश्व में आती हैं, दोषी होने पर भी रक्षणीय हैं; इसलिये कृपा कर हमारी रक्षा करो। इस जगत् में पशु-पक्षी, मनुष्य, राजा, देवता कोई भी अपनी प्रेयसियों का दु:ख नहीं देख सकता। आश्चर्य की बात यह कि तुम हमारा दु:ख देखकर सुख पाते हो। इससे हमारे मन में संशय उत्पन्न होता है कि श्रीमती यशोदा तो दया की सागर हैं, परदु:खकातर हैं लगता हे उनके गर्भ से तुम्हारा जन्म नहीं हुआ, क्योंकि जन्म हुआ होता तो तुम्हारे लिये इतना निष्ठुर होना सम्भव न था। उनके गर्भ से तुम्हारा जन्म हुआ है - इसका कोई लक्षण हम नहीं देखतीं।

तुम कह सकते हो, यदि यही सोचती हो, तो मैं कौन हूँ ? हमारे मन में यही वितर्क जगता है कि तुम सभी प्राणियों के अन्तर्यामी - परमात्मा हो। वे सभी प्राणियों का दु:ख देखकर भी अन्त:सुख के साथ विराजते हैं। सम्भवत: तुम जीव के वैसे ही अन्तर्यामी हो। हे उदासीन शिरोमणे ! तुम्हारे आविर्भाव का कारण क्या है, हम यह भी तो नहीं जानतीं। सुनने में आया है, ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि के विस्तार की कामना से विश्वपालन के लिये तुमसे प्रार्थना की। लोग तुम्हारी भक्ति कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। कोई तुम्हें जान न पाये, तुम्हारी भक्ति कर कोई जीव-प्रवाह के रक्षण में बाधा न उत्पन्न करे, इसलिये तुम गुप्तरूप से रहते हो। जो तुम्हें ईश्वर के रूप में नहीं जानेंगे, जरासन्ध आदि की तरह वे असुरत्व प्राप्त करेंगे। इसके फलस्वरूप ब्रह्मा की सृष्टि की वृद्धि होगी। इस प्रकार ब्रह्मा की वांछित फलसिद्धि के लिये तुमने आत्मगोपन के लिये परदारसेवा परद्रव्य-चोरी मात्सर्य हिंसा दम्भ आदि प्रतिकूल धर्म स्वयं ही अंगीकार कर लिये हैं और तुम दुस्त्यज सुस्वधर्म का त्याग न कर सात्वतकुल में उदित हुए हो। हमारी सहायता के बिना तो परदार (परायी स्त्री) - ग्रहणधर्म स्वीकार करना सम्भव नहीं, लगता है तभी तुम हमारे सखा हो। श्रील विश्वनाथ की यह रस व्याख्या जययुक्त हो।

**''न हि वल्लववंशजो भवान, गतभीर्वल्लवयोषितां वधे ।**
**सहवाससगोत्रसम्पदे वत यः कोऽपि भवेदनुग्रही ।।**
**द्रुहिणेन न विश्वगुप्तये त्वमभिष्टुत्य भुवि प्रकाशितः ।**
**अथ विश्वगता हि मादृशीर्वत गोपायसि किं न मुह्यतीः ।।''**

(आ. वृ. 19/12-13)

''हे कृष्ण ! गोपरमणी का वध करने में तुम्हें कोई भय नहीं लगता, यह देखकर लगता है कि तुम गोपवंश में नहीं जन्मे। जगत में कोई भी क्यों न हो, सहवासी और स्वगोत्री की सम्पदा के वर्धन में उसका हार्दिक आग्रह देखा जाता है। हमें यह भी नहीं लगता कि ब्रह्मा ने जगत् पालन के लिये आराध

द्वारा तुम्हें प्रकाशित किया है, क्योंकि ऐसा होता तो हमारा प्रबल दुःख देखकर तुम हमारी रक्षा करने में कभी शिथिलता न दिखाते ।। 4 ।।

**विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।**
**करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्।। 5।।**

**अन्वयः** - (हे) वृष्णिधुर्य ! कान्त ! संसृतेः भयात् (संसारभयात्) ते ( तव) चरणम् ई युषां (शरणं प्राप्तानां) विरचिताभयं (विरचितं दत्तम् अभयं येन तत् तथा) कामदं (वरदं) श्रीकरग्रहं (श्रियः करं गृह्णातीत तथा तत्) करसरोरुहं (करकमलं) नः (अस्माकं) शिरसि धेहि (अर्पय) ।। 5।।

**अनुवाद**- हे व्रजकुलतिलक ! हे कान्त ! संसार-भय से भीत होकर तुम्हारे चरणों की शरण लेनेवालों के अभय-दाता ! सर्वाभीष्ट-दाता ! लक्ष्मीदेवी के पाणिग्रहणकर्ता ! अपने करकमल हमारे मस्तकों पर रखो।। 5 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

पिछले पद्य में व्रज देवियों ने गर्ग-भागुरी आदि मुनियों से सुनी श्रीकृष्ण की महा महिमा का याचकरीति से वर्णन किया। इस श्लोक में भी वे वैसी ही ऐश्वर्य-सम्भावना को लेकर श्रीकृष्ण के निकट प्रार्थना ज्ञापन कर रही हैं। एक-एक कर चार श्लोकों में प्रार्थना करती हैं। प्रस्तुत श्लोक में अपने विरह-ताप की शान्ति के लिये अपने सिरों पर करकमल रखने के लिये कहती हैं। जो संसार से भयभीत होकर तुम्हारे चरणों में शरण लेते हैं, तुम्हारे करकमल उन्हें अभयदान करते हैं। तुम्हारे करकमल स्वाभीष्ट प्रदान करते हैं, लक्ष्मीजी का कर-ग्रहण करते हैं। श्रीकृष्ण के करकमल शरणागत के ही अभयप्रद हैं। श्रीजीव गोस्वामिपाद ने भक्तिसन्दर्भ (अनु. 237) में लिखा है - "अस्याश्चापूर्वत्वं तां

बिना तदीयत्वासिद्धेः'' - इस शरणागति की अपूर्वता इसीलिये है कि शरणापत्ति के बिना तदीयत्व सिद्ध नहीं होता। ''षड्वर्गाद्यविकृत संसारभयबाध्यमान एव हि शरणं प्रविशत्यनन्यगतिः भक्तिमात्रकामोऽपि तत्कृतभगवद्वै मुख्यबाध्यमानः।'' (वही, अनु. 236) अर्थात् लोग कामक्रोधादिविकृत संसारभयबाध्य होकर ही अन्य उपाय न देख भगवान् के चरणों में शरण लेते हैं। जो केवल भक्ति प्राप्त करने की कामना करते हैं, वे भी कामक्रोधादिकृत भगवद् विमुखतादोष से बाध्य होकर ही श्रीहरिचरणों की शरण लेते हैं।

''नरोत्तमदास बोले, पड़िनु असत् भोले,
परित्राण करो महाशय।।
तुमि तो दयार सिन्धु, अधम जनार बन्धु,
मोहे प्रभु करो अवधान।
पड़िनु असत् भोले, काम-तिमिङ्गिले गिले,
ओहे नाथ ! करो मोरे त्राण।।
यावत् जनम मोर, अपराधे होइनु भोर,
निष्कपटे ना भजिनु तोमा।
तथापि तुमि से गति, ना छाड़िहो प्राणपति,
आमा सम नाहिक अधमा।।''

(प्रेमभक्ति चन्द्रिका)

श्रील नरोत्तम ठाकुर ने रागानुगीय प्रेमिक भक्त होते हुए भी भक्तिसुलभ दैन्य के कारण स्वयं को काम-क्रोध आदि रिपुओं द्वारा बाध्यमान (पीड़ित) मानकर अपने प्राणवल्लभ से रक्षा की प्रार्थना की है - यही विशुद्धभक्त की शरणागति है। श्रीकृष्ण के प्रिय भक्त उद्धवजी ने भी उनके आगे शरणागति की प्रशंसा की है -

''तापत्रयेणाभिहितस्य घोरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रिद्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्।।''

(भा. 11/19/9)

''शरणागतानां सर्वदुःखदूरीकरणं - निज माधुरीणां सर्वतो वर्षणञ्चाभिहितम्।'' (भक्ति सन्दर्भ) - हे नाथ ! इस संसार-पथ पर मुझ- जैसे त्रिताप-ताप से सन्तप्त व्यक्ति के लिये राशि-राशि अमृत-वर्षण करने वाले तुम्हारे श्रीचरणयुगलरूपी आतपत्र (छत्र) को छोड़ और कोई शरण या आश्रय नहीं दीखता। जो लोग एकान्तभाव से तुम्हारे चरणों की शरण लेते हैं, तुम्हारे चरण असाधारण

माधुर्य-वर्षण कर उनके सभी दु:ख दूर कर देते हैं। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या के आरम्भ में लिखा है - ''विरचिताभयमिति मोक्षदत्वमुक्तम। कामदमर्थिनां सर्वाभीष्टप्रदमिति त्रिवर्गदत्वं भक्तिदत्वञ्च, श्रीकरग्रहमिति प्रेमणा भक्तवश्यत्वं रसिककत्वञ्च, एषा यथोत्तरं श्रेष्ठ्यमूह्यम्।'' व्रजदेवियाँ श्रीकृष्ण के करकमलों की महिमा का कीर्तन कर रही हैं - 'विरचिताभयं अर्थात् मोक्षप्रदत्व, 'कामद' अर्थात् प्रार्थी को सर्वाभीष्टप्रद, त्रिवर्गद एवं भक्तिद। श्रीकृष्ण के करकमल मुक्तिकामी को मोक्षप्रदान कर संसारभय का नाश करते हैं। जो धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग के लिये प्रार्थना करते हैं, उन्हें उनका प्रार्थित अभीष्ट देते हैं। मुक्तिकामी और त्रिवर्गकामी दोनों ही सकाम हैं। मोक्षप्रदत्व गुण से त्रिवर्गप्रदत्व गुण श्रेष्ठ है, कारण - मोक्ष की वासना को प्रधान कपटता कहा गया है। श्रीकृष्ण कृपामय हैं, वे सकाम प्रार्थी को उसका अभीष्ट फल देकर भक्ति भी दिया करते हैं। तभी कहा गया है -

**''अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।**
**तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।।''**

(भा. 2/3/10)

'निष्काम, सर्वकाम या मुक्तिकाम - ये लोग यदि उदारबुद्धि होते हैं, तो प्रगाढ़ भक्तियोग के साथ श्रीकृष्ण का भजन किया करते हैं।'' कारण -

**''अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन ।**
**ना मागिलेओ कृष्ण तारे देन स्वचरण ।।**
**कृष्ण कहे- आमा भजे मागे विषय सुख ।**
**अमृत छाड़ि विष मागे एइ बड़ो मूर्ख ।।**
**आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय केने दिबो ?**
**स्वचरणामृत दिया विषय भुलाइबो ।।''**

(चै. च. मध्य - 22)

**''स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छ तामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्''**

(भा. 5/19/27)

'जो श्रीकृष्ण का भजन करते है, पर श्रीकृष्णचरण-प्राप्ति की इच्छा नहीं करते, उन्हें श्रीकृष्ण स्वयं अन्य कामनाओं को नष्ट करने वाले अपने पादपल्लव प्रदान करते हैं।' ''काम लागि कृष्ण भजे पाय कृष्ण रसे। काम छाड़ि दास हैते हय अभिलाषे।।'' (चै. च. वही)

मोक्षप्रदत्व गुण से त्रिवर्गप्रदत्व गुण श्रेष्ठ है, और उससे भक्तिप्रदत्व गुण श्रेष्ठ है। सर्वश्रेष्ठ गुण 'श्रीकरग्रहम्'। भक्त के प्रेम में वश्यता और रसिकत्व। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने प्रीतिसन्दर्भ में

श्रीकृष्ण के सभी गुणों में दो गुणों की श्रेष्ठता बताई है - (1) प्रेमवश्यत्व (2) प्रेमार्द्रचित्तत्व। रसिकत्व भगवत् स्वरूप मात्र का ही असाधारण लक्षण है। इस रसिकत्व-धर्म के बिना भगवान् की कोई भी लीला सिद्ध नहीं हो सकती। भगवान् आत्माराम आप्तकाम होते हुए भी भक्ति का प्रीतिरस आस्वादन करते हैं, इसलिये वे रसिक हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण व्रजवासियों के ऐश्वर्यज्ञान-गन्धशून्य शुद्धमाधुर्यमय प्रीतिरस का आस्वादन करते हैं, इसलिये वे 'रसिकशेखर' हैं। ''रसिकशेखर कृष्ण परम करुण। एइ दुइ हेतु हैते इच्छार उद्‌गम।।'' (चै. च.)

'करसरोरुहं' शब्द से श्रीकृष्ण के हाथों के सहज शीतल मधुरत्व आदि गुण समझ में आते हैं। वे स्वतः फलदायक हैं। व्रज बालायें कहती हैं - तुम अपने उस श्रीकर को हमारे मस्तकों पर रखो। ऐसा करने से हमें धर्म अर्थ काम मोक्ष यह चतुर्वर्ग स्वतः सिद्ध हो जायेगा। इसके अतिरिक्त तुम्हारे श्रीकर की स्वाभाविक शीतलता और मधुरता हमें सभी सन्तापों से विमुक्ति प्रदान करेगी। ''तत्र मोक्षो नाम निर्विघ्न प्रेमसम्पद् वृद्धये विविध संसार दुःख निवृत्तिरूपो ज्ञेयः, त्रिवर्गो भक्तिसाधनोपयोग्येव, अन्यच्च भक्तानुमुपेक्ष्यमेव एतच्च भक्तिसिद्धान्तमते ज्ञेयम्, तासाञ्च मते शिरसि श्रीहस्तधारणमेव परमफलमनन्यच्च तत्स्वभावमात्रस्तोत्रम्।'' (वृ. तोषणी टीका) यहाँ निर्विघ्न प्रेमसम्पदावृद्धि और विविध संसार-दुःखों से निवृत्ति को ही मोक्ष कहा गया है। श्रीमद् भागवत पञ्चम स्कन्ध में प्रेम को ही अपवर्ग (मोक्ष) आख्या दी गई है।

**''जीवन्मुक्त अनेक, सेओ दुइ भेद जानि ।**
**भक्त्ये जीवन्मुक्त ज्ञाने जीवन्मुक्त मानि ।।**
**भक्त्ये जीवन्मुक्त-गुणाकृष्ट कृष्ण भजे ।**
**शुष्कज्ञाने जीवन्मुक्त - अपराधे मजे ।।''**

(चै. च. मध्य - 24)

प्रेमसम्पदा प्राप्त करना ही यथार्थ जीवन्मुक्ति दशा पाना है। इसका आनुषङ्गिक फल है विविध सांसारिक दुःखों की निवृत्ति। यहाँ का त्रिवर्ग भी भक्तिसाधन में उपयोगी है, कारण - धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि की तो भक्तगण स्वतः उपेक्षा किया करते हैं। ''धर्म अर्थ काम मोक्ष आपनि आइसे। तथापि ना चाय ना लय मोर दासे।।'' (चै. च.) भक्तिसिद्धान्त-मत से श्री कृष्ण के श्रीहस्त के 'विरचिताभयं' और 'कामदं' इन दो गुणों की यह व्याख्या है। गोपियों के मतानुसार उनके विरहतप्त मस्तकों पर श्रीकृष्ण का करकमल स्थापन ही परम फल है । उन्होंने अन्य बातें कहीं, वे स्तोत्रमात्र हैं।

यदि श्रीकृष्ण कहें - तुम लोग इसके योग्य नहीं हो। तो वे उत्तर देती हैं - सत्य ही हम इसके योग्य नहीं; तुम अपने गुण (उदारता) से ही हमारे मस्तक पर हाथ रख दो। तभी सम्बोधन करती हैं -

हे वृष्णिधुर्य ! जो वृष्णियों में धुर्य अर्थात् श्रेष्ठ है - षष्टीतत्पुरुष समास निष्पन्नपद । श्रीपाद सनातन ने व्याख्या की है -वृष्णिपद का अर्थ इन्द्र, जो उसके दमन में समर्थ है, अर्थात् जो सुरेश्वर को भी दमन करने में समर्थ है। किन्तु यहाँ कृपा करने की सामर्थ्य ही दिखाई है। 'यद्वा वृष्णिधुर्य हे निजाशेषमाधुरी-प्रकटनाय यदुकुलेऽवतीर्णेत्यर्थः।' जो अपनी अशेष गुणमाधुरी प्रकट करने के लिये यदुविशेष के कुल में या व्रजराज के कुल में अवतीर्ण हैं। श्रीकृष्ण अखिल रसामृतमूर्ति हैं। उनमें सभी रस सम्यक रूप से सुविकसित हैं, कारण - उनमें कुछ रसपोषक गुण हैं। वे समस्त गुण अन्य किसी भगवत् स्वरूप में दिखाई नहीं देते। गोस्वामिगण ने उसी को उनकी 'माधुरी' कहा है। माधुरी स्वरूपतः अनन्त है। भगवान अनन्त हैं, इसलिये उनका माधुर्य भी अनन्त है। फिर भी गोस्वामिपादगण ने उसे चार भागों में विभक्त किया है - लीलामाधुरी, प्रेममाधुरी, वेणुमाधुरी और रूपमाधुरी। यही माधुरी-चतुष्टय व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण का असाधारण गुण है। इसी गुण में वे सर्वातिशायी हैं। 'वृष्णि धुर्य' सम्बोधन की व्याख्या में श्रील गोस्वामिपाद ने इसी का संकेत किया है। अथवा हे व्रजराजकुलतिलक। अतएव भावविशेष के कारण ही तुम हमारे मस्तकों पर हस्त रखो। इसलिये सम्बोधन किया है - हे कान्त ! हे प्रिय!

यहाँ श्रीकृष्ण के हस्त की तुलना की है सरोरुह के साथ। तात्पर्य यही है कि कमल स्वभावतः सुशीतल होता है। इससे तापहारित्व द्वारा दुःखों का नाश और सुखदान आदि सर्वार्थप्रदत्व, सहज शीतलता आदि गुण ध्वनित हुए हैं। इससे परमफलत्व भी प्रदर्शित हुआ है। 'विरचिताभयं' पद का अर्थ यही है कि जो संसार-भय से सर्वदा भीत हैं, उनके लिये तुम्हारा यह श्रीहस्त सर्वदा अभयप्रद है। किन्तु गोपियों को तो संसार-भय नहीं है, उनके लिये श्रीकृष्णविरह ही महाभय है। वे श्रीकृष्ण से यही प्रार्थना करती हैं कि उन्हें और विरहभय न हो।

**''देहस्मृति नाहि जार, संसारकूप काँहा तार,**
**ताहा हैते ना चाहे उद्धार।**
**विरह-समुद्र जले, काम-तिमिङ्गिले गिले,**
**गोपीगणे लहो तार पार।।''**

(चै. च.)

हमें संसार का भय नहीं है, कोई रिपु भी नहीं है। तुम्हारा विरह ही हमारा महा रिपु और महाभय है। अपना श्रीकर हमारे मस्तक पर रखकर यही अभयदान करो कि हमें पुनः तुम्हारे विरहभय से भीत न होना पड़े।

यदि कहो कि मैं तो संसारभय से भीत परमहंसो का ध्येय हूँ; मेरे लिये कामिनीस्पर्श शोभनीय

नहीं। तो इसके उत्तर में हमारा यह वक्तव्य है कि कामताप और संसार ताप दोनों ही प्रकार के तापों को हरने की तुम्हारी सामर्थ्य है। इसलिये तुम्हारा वैसा लीलाविहार परमहंसों का भी ध्येय है। तभी कवि ने कहा है –

**''चौरो यो नवनीतस्य जारो वल्लभयोषिताम् ।**
**ध्येयः सदैव साधूनां चौरजारशिरोमणिः ।।''**

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या का तात्पर्य : श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं – अरी प्रियंवदाओं ! तुम लोगों की प्रणय-कोपोक्ति का पीयूष-पान करने के लिये मैं अन्तर्हित हुआ था। मेरा वह अभीष्ट सिद्ध हो गया; अब तुम यथेष्ट वर माँगो। श्रीकृष्ण के ऐसे प्रसाद-वाक्य से आश्वस्त होकर गोपबालायें पृथक् अभीष्ट की प्रार्थना कर रही हैं। हे निजकुलकमल-प्रभाकर ! हमारे मस्तकों पर अपना करकमल रखो। हे कामद ! हम कामशर के प्रहार से डरकर तुम्हारी शरण में आई हैं। तुम कामद होकर भी कामखण्डनकारी हो। तुम्हारा जो श्रीहस्त संसारभय-भीत शरणागत की रक्षा करने में समर्थ है, वह कामभय से रक्षा करने में अवश्य ही समर्थ होगा, इसके लिये विशेष आयास (परिश्रम) क्या ?

यदि कहो – 'तब तो मैं अपना हाथ तुम्हारे मस्तकों पर न रख वक्षों पर रख दूँ, मेरी ऐसी इच्छा भी है।' तो इस समय हम इसके लिये राजी नहीं। लक्ष्मीजी अपने हाथों से तुम्हारे हाथ पकड़ लेती हैं, तुम उनका वक्ष स्पर्श करो, इसमें बाधा देती हैं। तो हमारा भी वैसा ही अभिप्राय है। इसलिये इस समय तुम हमारे मस्तकों पर ही अपना श्रीकर रखो।

**''भवतीतिजुषां कृताभयं रतिभाजामभिलाषवर्षुकम् ।**
**कमलाकरलालितं प्रभो कुरु नः शीर्षणि पाणिपल्लवम् ।।''**

(आ. वृ. 19/14)

'हे प्रभो ! भवभय से भीत जनों को अभय प्रदान करनेवाला, प्रीतिमज्जन की अभिलाषा बरसाने वाला और लक्ष्मीदेवी के हाथों लालित अपने करपल्लव हमारे मस्तकों पर अर्पित करो ।।'' 5।।

**व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।**
**भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय।। 6।।**

**अन्वयः** - व्रजजनार्तिहन् (हे व्रजजनानाम् आर्तिहन्) वीर (हे समर्थ) निजजनस्मयध्वंसनस्मित (निजजनानां यः स्मयः गर्वः तस्य नाशकं स्मितं यस्य हे तथाभूत) (हे) सखे ! स्म (निश्चितं) भवत्-किंकरीः नः (अस्माकं) भज (अस्मद् दुःखं प्रतिकुर्वन्निकटे तिष्ठ) चारु जलरुहाननं (तव वदनकमलं) योषितां (अस्माकं) दर्शय ।।6।।

**अनुवाद**- हे व्रजजन के आर्तिनाशन ! हे वीर ! हे निजजन-गर्वनाशन ! हे सखे ! अपनी इन दासियों का दुःखनाश कर निकट रहो। एक बार हमें अपना सुन्दर वदनकमल दिखाओ ।। 6 ।।

**गीतामृतलेश टीका** —

व्रजदेवियों ने पिछले पद्य में अपने विरहतापित मस्तकों पर हाथ रखने के लिये श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी। श्रीकृष्ण उनके विरहतप्त मस्तकों पर हाथ रखकर मानो आशीर्वाद की तरह कहते हैं - उन्हें ऐसी विरहज्वाला और न भोगनी पड़े। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या में कहा है - व्रजदेवियाँ कहती हैं - ऐसा नहीं हे कि हमारे मस्तकों पर हाथ रखते ही तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जायेगा, हमारा कामपूरण भी करना होगा। बड़ी उत्सुकता के साथ यही इस श्लोक में कहा है। सम्बोधन किया है - हे व्रजजनार्तिहन् ! तुम व्रजजनों की आर्ति का नाश करने वाले हो। शत-शत आसन्न मरण संकुल आर्तियों या महा आपदा-विपदाओं का विनाश कर तुमने व्रजजनों की रक्षा की है। हम लोग भी तो व्रजजन ही हैं। इस समय तुम्हारे विरह में हमारा मरण आसन्न (निकट, आने ही वाला) है। यदि अन्तर्दशा आ गई, तो फिर हमारी आर्ति का विनाश नहीं कर पाओगे। यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैंने व्रजजनों की आर्ति का विनाश किया है, यह ठीक है, किन्तु तुम्हारी आर्ति तो अन्य प्रकार की है। तुम व्रजबाला तो रात्रि के समय मेरे सान्निध्य की कामना करती हो, ऐसी आर्ति का विनाश करने की सामर्थ्य मुझ में कहाँ ? तो इसका उत्तर देती हैं - हे वीर ! तुम्हारी सामर्थ्य तो अदेय वस्तु को देने की भी है। तुम अन्तर्हित (अदृश्य) होकर हमें ऐसी विरहपीड़ा प्रदान कर रहे हो। तुम्हारा सान्निध्य पाकर हम लोग सौभाग्य-गर्व से भर गई थीं, तो क्या हमारा गर्व नष्ट करने के लिये ही तुम अन्तर्हित हो गये ? तुम्हारे मृदुमधुर ईषत् हास्य से ही हमारा सारा गर्व नष्ट हो जाता है, उसके लिये अन्तर्धान की क्या आवश्यकता ? यदि मीठी औषधि से ही व्याधिनाश हो जाय, तो विष देने की क्या आवश्यकता ? श्रीपाद लीलाशुक ने व्रजबालाओं के भाव से श्रीकृष्ण के मृदु हास्य की माधुरी का वर्णन किया है -

''माधुर्यवारिधि-मदाम्बु-तरङ्गभङ्गी-
शृङ्गार-संकुलित-शीत-किशोरवेशम् ।
आमन्द-हास-ललितानन-चन्द्रबिम्ब-
मानन्द-संप्लवमनु प्लवतां मनो मे ।।''

(श्रीकृष्णाकर्णामृत - 14)

'माधुर्य-सागर की मत्ततारूपी तरङ्गभङ्गिमाओं ने तुम्हारा शृङ्गार किया है, वेशरचना की है, फलस्वरूप तुम्हारा किशोर वपु हुआ है सर्वतापहर। फिर ईषत् हास्य से अति सुललित है तुम्हारा मुखचन्द्रबिम्ब ! इस उच्छ्वलित आनन्दप्रवाह में मेरा मन उन्मज्जित-निमज्जित हुआ (डूबता-निकलता) क्रीड़ा करे।'

उल्लिखित श्लोक की सारङ्गरङ्गदा टीका का तात्पर्य है : श्रीकृष्ण के चेहरे पर रसहास्य छिटका है। वह हास्य कैसा है ? आमन्द अर्थात् मृदुमन्द। वैसे ललित मुखचन्द्रबिम्ब के मृदुहास्य के रूप में जो किरणें छिटकी हैं, उनसे माधुर्यसिन्धु उछलने लगा है और वह विपुल तरङ्गमालाओं से भर उठा है। पूर्ण चन्द्र की किरणों को देखकर सिन्धु उच्छ्वलित हो उठता है, मदमत्त हो जाता है और विशाल तरङ्गे उद्वेलित होने लगती हैं। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की मृदुहास्य-किरणें देखकर श्रीकृष्ण का माधुर्य-सिन्धु उच्छ्वलित हो उठता है। उसी माधुर्यसिन्धु में कन्दर्पमदरूपी तरङ्गें प्रकट हो रही हैं। यह राधारानी और व्रजसुन्दरियों को ही गम्य है (अन्य किसी के अनुभव की वस्तु नहीं) पूर्वराग में वे कहती हैं -

''किशोर वयेस-वेश, आर ताहे रसावेश,
आर ताहे भातिया चाहनि।
हासिर हिल्लोले मोर, पराण-पुतली दोले,
दिते चाइ जौबन निछनि।।''

फिर -

''एके से कालिन्दीकूल, त्रिभङ्गिम तरुमूल,
सजल-जलद श्यामतनु।
जल भरिया जाइ, फिरिया फिरिया चाइ,
हासि हासि पुरे मन्दवेणु।।
जल फेलिया जाइ, कुल-लाज-भय पाइ,

आपना खाइया सइ मनु।
ज्ञानदासेते कय, मोर मने हेनो लय,
भजि गिया ओ चरणरेणु।।''

व्रजदेवियाँ बोलीं - एक बार अपनो परम मधुर वदनकमल दिखाओ - ''जलरुहाननं चारु दर्शय।'' श्रीपाद लीलाशुक ने अपनी चित्त-सरसी (सरोवर) में श्रीकृष्ण का वदनकमल विकसित होने के लिये प्रार्थना की है-

''मुकुलायमान-नयनाम्बुजं विभो-
र्मुरलीनिनाद-मकरद-निर्भरम् ।
मुकुरायमान-मृदुगण्डमण्डलं
मुखपंकजं मनसि मे विजृम्भताम् ।।''

(श्रीकृष्णाकर्णामृत - 6)

'श्रीकृष्ण का मुखकमल मेरी मानससरसी में सतत विकसित हो। उनके नयन मानो कमलकलिकायें हैं; वंशीनिनाद ही इस कमल का मकरन्द है। मृदु गण्डद्वय मानो मुकुर सदृश हैं विभु का यह मुखकमल मेरी चित्त-सरसी में शोभा प्राप्त करे। श्रीश्रीलीलाशुक सखीभाव से अनुभव कर रहे हैं - वंशीनिनाद ही श्रीकृष्ण के मुखकमल का अपूर्व मकरन्द है। नयन भावोद्गार और स्मर (कन्दर्प) मद से आधे बन्द हैं, लगता है मानो दो मुकुलित कमल हैं। उनके मनोहर गण्डद्वय मानो इन्द्रनील मणिदर्पण की तरह झिलमिला रहे हैं; उनमें व्रजवधुओं के भावोद्गार भरे मुकुलायमान (आधे बन्द) नयन-कमल समूह का प्रतिबिम्ब पड़ा है। लगता है जैसे वे सख्य (मित्रता) करने के लिये ही श्रीकृष्ण के मुखकमल के निकट आये हैं। राधारानी के नयनद्वय श्रीकृष्ण के गण्डमुकुरों में प्रतिफलित होकर मानो श्रीकृष्ण के मुखकमल पर खञ्जन की तरह शोभा पा रहे हैं। अहा ! कैसा अपूर्व दृश्य है ! (सारङ्गरङ्गदा व्याख्या)

पूर्वराग में व्रजबालायें श्रीकृष्णमुख की माधुरी का अनुभव इस प्रकार करती हैं-

''शरद पूर्णिमा, इन्दु मुखमण्डल,
तनु घनश्यामरकाँति।
नयन कमल अलि, भुरुजुग भङ्गिमा,
लागि रहल मधुमाति।।
सजनि ! हेरिलुँ नागर नन्द किशोर।

भङ्गिम आलसे, अलप अवलोकन,
तरलित चित्त भेलो मोर।।
चन्द्रक चारु, चूड़े बनि वनमाल,
मण्डित मधुकर पाँति।
चन्दन तिलक, अलका आध झाँपल,
हेरि नव इन्दुक भाँति।।
हिये मणिहार, श्रवणे मणिकुण्डल,
सहजइ सुमुरति सेह।
ज्ञानदास कह, ओरूप हेरइते,
को धनी धरु निज देह।।''

व्रजदेवियों के 'सखे' सम्बोधन में उनके भजन का प्रकार-विशेष सूचित हुआ। हे सखे ! इस समय तुम हम लोगों का भजन न करोगे, तो हमारी दुर्दशा देखकर तुम्हें भी दु:ख होगा, कारण - तुम हमारे सखा हो। अथवा विश्वासघाती होने का दोष लगेगा। मानो श्रीकृष्ण कह रहे हैं - तुम जो कह रही हो, उस बात में इस समय मेरा आग्रह नहीं है। इसीलिये दैन्य के साथ कहती हैं - हम सब तुम्हारी किंकरियाँ है। दीन शरणागत श्रीचरणदासियाँ हैं, हमारी उपेक्षा करना उचित नहीं।

यदि कहो कि अन्य किसी का आश्रय ग्रहण करो ! नहीं, यह मत कहो। हम तुम्हारी ही दासियाँ हैं - 'भवत्किंकरी:' हम और किसी को नहीं जानतीं। तुम्हें छोड़ अन्य किसी की नहीं हो सकेंगी। अपना वह सुचारु मुखपद्म दिखाओ। अथवा तुम चारु भाव से हमारे प्रति दृष्टिपात करो। तुम्हारा श्रीमुखमण्डल सुकोमल कमल की तरह सुशीतल है। हम लोग सरला अबला व्रजबालायें हैं, अपनी चेष्टा से तुम्हारा दर्शन करने में समर्थ नहीं होंगी। तुम कृपाकर स्वयं हमारे निकट आगमन करो। तुम्हारा वह श्रीमुखकमल दर्शन कर हमारा सर्वसन्ताप दूर हो जायेगा।

तुम्हें छोड़ हमारे जीवन की अन्य गति नहीं। तुम्हारे अदर्शन में यह जीवन नहीं रहेगा। निश्चय ही हमारी मृत्यु होगी। हे सखे ! एक बार दर्शन दो। तुम्हारा दर्शनसुख ही हमारा एकमात्र काम्य है। हम लोग और कुछ नहीं चाहतीं।

अथवा प्रणयकोप जनित परम आर्ति में ऐसी व्याख्या भी हो सकती है - तुम वीर हो, वध करने में समर्थ ! हम लोग तुम्हारे विरह में मृतप्राय हैं, इसलिये मरे को और क्या मारोगे ? जब मारना ही तुम्हारा काम है, तो यह वीरत्व अन्य दासियों के प्रति दिखाओ। हमें यह चारु जलरुहानन (वदनकमल)

और मत दिखाना।

श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद की व्याख्या का मर्म ऐसा है – गोपियाँ कहती हैं – कृष्ण ! यदि तुम कहो कि सिर पर हाथ रखने से ही तुम लोगों को जीवन प्राप्त हो जायेगा, तो तुम सब आँखें बन्द कर लो, मैं तुम लोगों के सिरों पर हाथ रखता हूँ। नहीं, तुम ऐसा नहीं कह सकते, कारण– तुम व्रजजनों के दु:खविनाशक हो और वीर हो, सभी बातों में समर्थ हो, इसलिये हमें आँखें बन्द करने की क्या आवश्यकता ? हम तुम्हारे सुन्दर मुखकमल की मृदुमधुर हँसी देखेंगी। उस हास्ययुक्त मुख को देखते ही हमारा सारा दर्प नष्ट हो जाता है। विशेषत: हम तो तुम्हारी किंकरियाँ हैं, तुम हमारा भजन करो। श्रीकृष्ण कहते हैं – भजन कैसा ? तुम्हारी सेवा करना ? तो बोलो, किस प्रकार सेवा करूँ ? गोपियाँ बोलीं – सुनना चाहते हो, तो सुनो। अपना मुख हम लोगों को दिखाओ, हमें मुख दिखाना ही भजन है। श्रीकृष्ण कहते हैं – क्या सभी व्रजबालाओं को मुंह दिखाना होगा ? गोपियाँ उत्तर देती हैं – हम सबकी बात नहीं करना चाहतीं; जो तुम्हारी किंकरियाँ हैं, वे ही तुम्हारा मुखकमल देखने के योग्य हैं ।

श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से अर्जुन से कहा है – ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्'' (गीता 4/11) अर्थात् जो जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं उसका उसी भाव से भजन करता हूँ। यहाँ भजन करने वाले का श्रीकृष्ण द्वारा किया जानेवाला भजन है – भजन का फल प्रदान करना। 'भजनफलं ददामि' (टीका – विश्वनाथ) गोपीप्रेम के अनुरूप श्रीकृष्ण भजन करें या उन्हें भजन का फल प्रदान करें – यह सामर्थ्य श्रीकृष्ण की नहीं।

**''कृष्णेर प्रतिज्ञा एक आछे पूर्व हैते ।**
**जे जैछे भजे कृष्ण तारे भजे तैछे ।।**
**एइ प्रेमेर अनुरूप ना पारे भजिते ।**
**अतएव ऋणी कृष्ण कहे भागवते ।।''**

(चै. च.)

(यह अगले अध्याय के अन्तिम श्लोक में विशेषरूप से व्यक्त होगा)। विरहिणी गोपियों के मत में उन्हें अपना सुन्दर वदनकमल दिखाना ही उन लोगों को भजना या भजनफल प्रदान करना है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या का तात्पर्य यह है – व्रजबालायें कहती हैं – कन्दर्प-शर के प्रहार के कारण व्रजबालाओं को जो दु:ख हो रहा है, तुम उसे दूर करते हो। तुम्हारी यह दया देवी आदि अन्य किसी के प्रति नहीं दीखती। तुम वीर हो, दुर्वार कन्दर्प-प्रहार में महाविजेता हो, किन्तु एक आश्चर्य की बात है। तुम हमें प्रेम करते हो, इसलिये हमारे हृदय में किञ्चित् सौभाग्य-गर्व उत्पन्न हो जाता है और फलस्वरूप वाम्यलक्षण मान भी जग उठता है। तुम उसी से अस्थिर हो जाते हो।

कन्दर्पप्रहार में महा जिष्णु (विजेता) होकर भी अबला व्रजबालाओं के मान को लेकर असहिष्णु और चञ्चल हो उठते हो। तुम्हारी यह सहिष्णुता नहीं रहती, यह अति आश्चर्य की बात है। किन्तु तुम जान लो, तुम्हारे इस मुख की मृदुमधुर हँसी गोपियों का मान-गर्व नाश करने को यथेष्ट है। तुम्हारा मृदुमन्द हास्ययुक्त मुख देखते ही हम सब पिघल जाती हैं। हम तुम्हारी किंकरियाँ हैं, निजजन हैं, हमारी परिचर्या करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं - यह कैसी बात ? तुम लोग स्वयं ही कह रही हो, मेरी किंकरी हो । किंकरी होकर परिचर्या का आदेश दे रही हो, भला यह कैसी बात ? गोपियाँ उत्तर देती हैं - तुम हमारे सखा जो हो ! हमारी परिचर्या में तुम्हारे अपमान की कोई बात ही नहीं। श्रीकृष्ण कहते हैं - अच्छा, समझा। तो आज्ञा दो, क्या करना है। गोपियाँ कहती हैं - वह बड़ा गुरुतर काम है कालाचाँद ! एक बार अपना मृदुमधुर हास्यभरा वदनकमल दिखाना होगा। हम तुमसे यही परिचर्या चाहती हैं, और कुछ नहीं।

**''स्वजन-स्मय-खण्डनप्रिय व्रजदुःखक्षयवीर धीर नः ।**
**भज निर्गत-शंक किंकरीर्मुखचन्द्रं द्रुत मेव दर्शय ।।''**

(आ. वृ. 19/15)

'हे स्वजन-गर्वखण्डनप्रिय ! व्रजदुःखक्षयवीर, हे धीर ! हम लोगों में अब भी गर्व है, यह शंका मत करो। हमारा भजन करो। इन किंकरियों को अपना मुखचन्द्र एक बार दर्शन कराओ।।'' 6 ।।

**प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।**
**फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्।। 7।।**

---

**अन्वयः** - प्रणतदोहिनां (सकृत् प्रणामकारिणामपि) पापकर्षणं (पापहन्तृ) तृणचरानुगं (पशून्

अपि अनुगच्छति तं) श्रीनिकेतनं (श्रियः निकेतनं) फणिफणार्पितं (फणिनः फणासु अर्पितं) ते (तव) पदाम्बुजं नः (अस्माकं) कुचेषु कृणु (निधेहि) हृच्छयं (हृत्तापं) कृन्धि (छिन्धि) ।। 7।।

**अनुवाद**- हे कृष्ण ! प्रणत जनों के पापनाशक, गायों का अनुगमन करने वाले, लक्ष्मी के विलास-आस्पद कालीयनाग के फन पर अर्पित - अपने ऐसे पादपद्म हमारे स्तनमण्डल पर अर्पित करो, हमारे हृदय ताप का प्रशमन करो ।। 7 ।।

**गीतामृतलेश टीका** —

इस श्लोक की व्याख्या में श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है - इस श्लोक में श्रीकृष्णविरहपीड़ित व्रजदेवियों के महाभावभावित चित्तों में श्रीकृष्णचरणों के असाधारण गुणचतुष्टय की स्फूर्ति हुई है। पहले 'प्रणतदेहिनां पापकर्षणं' - प्रणतजन का पापनाश, यहाँ पापनाश का अर्थ है पाप-ताप आदि के मूल उत्स (स्रोत) उत्कट संसार-दुःख का विनाश। यथा नारदीय में -

**''एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो,**
**दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः ।**
**दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म,**
**कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।।''**

दस बार किये अश्वमेध यज्ञों का फल भी श्रीकृष्ण के चरणों में एकबार किये प्रणाम की तुलना नहीं हो सकता, कारण - दशाश्वमेधी को पुनः जन्म-मरण-संकुल संसार में आना पड़ता है, किन्तु कृष्ण को प्रणाम करने वाले को संसार-दुःख और नहीं भोगना पड़ता। संसार-दुःख का विनाश तो श्रीकृष्णचरणों में प्रणत होने वाले को आनुषङ्गिक फल के रूप में मिल जाता है; मुख्य फल श्रीकृष्णप्राप्ति है। श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त अर्जुन को इस प्रणाम की महिमा बताई है -

**''मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।''**

(गीता 18/65)

'हे अर्जुन ! तुम मुझे चित्त समर्पित करो, मेरे भक्त होओ, अर्थात् श्रवण-कीर्तनादि के रूप में मेरा भजन करो; मेरे सेवा-परायण होओ और मुझे प्रणाम करो। ऐसा करने से मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं तुमसे प्रतिज्ञा कर कहता हूँ, कारण- तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो।' 'ऐषां चतुर्णां मच्चिन्तन सेवन पूजन प्रणामानां समुच्चयमेक तरं वा त्वं कुरु।' मेरा चिन्तन, सेवन, पूजन और प्रणाम करो, अथवा किसी भी एक बात का अनुष्ठान करो, तुम मुझे प्राप्त करोगे। इससे समझ में आता है कि श्रीकृष्ण को प्रणाम करने से भी श्रीकृष्ण-चरणों की प्राप्ति होगी।

दूसरे 'तृणचरानुगं'। असंख्य गायों के पीछे-पीछे श्रीचरण भ्रमण करते हैं, इससे श्रीचरणों का परम कृपालुत्व गुण सूचित किया गया है। ये श्रीचरण आश्रित जन मात्र को, शरणागत जन को आत्मदान करते हैं। श्रीकृष्ण अपने श्रीचरणतल में उन्नीस चिन्ह धारण करते हैं; इसका उद्देश्य है आश्रित या शरणागत जन के प्रति प्रभूत करुणा का प्रकाश। यह बात शास्त्र और महाजन वाक्य से जानी जाती है।*

तीसरे 'श्रीनिकेतनं'। श्रीकृष्ण के श्री चरण परम सौन्दर्य-माधुर्य के समाश्रय हैं। श्रीपाद लीलाशुक ने लिखा है-

''निखिलभुवनलक्ष्मी-नित्यलीलास्पदाभ्यां
कमलविपिनवीथी-गर्व-सर्वंकषाभ्याम् ।
प्रणमदभयदान-प्रौढि-गाढादृताभ्यां
किमपि वहतु चेतः कृष्णपादाम्बुजाभ्याम् ।।''

(श्रीकृष्णकर्णामृत - 12)

जो श्रीकृष्णपादपद्म निखिल भुवनों की शोभा के नित्यलीलास्थल हैं (जिन श्रीचरणों में प्राकृत-अप्राकृत समस्त लोकों की शोभा नित्य क्रीड़ा करती है), जो श्रीचरण कमल-श्रेणी की शोभा के गर्व को खर्व करते हैं, जो प्रणत जनों को आश्रय देने की असाधारण सामर्थ्य रखने के कारण आदृत (पूज्य, आदरणीय) हैं- मेरा चित्त उन्हीं श्रीचरणों से सदा कोई अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करे।

श्रील यदुनन्दन ठाकुर कहते हैं -

''कृष्णेर चरण शोभा, पद्मगण करे लोभा,
मधु हय लावण्य ताहार।
जतो पदाङ्गुलिगण, हय पद्मपत्र सम,
गोपीचक्षु भृङ्ग सुधासार।।
नखर निकर जतो, पद्मेर केशर मत,
सौरभतरङ्ग सदा बहे।
सेइ कृष्णचन्द्र पाये, सदा जेनो मति रहे,
कखनओ विच्छेद जेनो नहे।।''

चौथे 'फणिफणार्पितं'। वे चरण कालियनाग के मस्तक पर अर्पित हैं। श्रीचरणकृपा से कालिय का विष-नाश हुआ, उसे भक्ति-प्राप्ति के रूप में अमृतत्व प्राप्त हुआ। विषदूषित यमुना भी

---

* वेणुगीत के ''वृन्दावनं सखि ! भुवो वितनोति कीर्तिं'' आदि श्लोक की गीतामृतलेश टीका

अमृतजला हुई। यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम लोग क्या ऐसा ही कुछ फल प्राप्त करना चाहती हो, तो वे उत्तर देती हैं - हम तो केवल यही प्रार्थना कर रही हैं कि तुम हमारे तापित हृदयों को शीतल करने के लिये अपने श्रीचरणकमल हमारे वक्षों पर रख दो। हमारी और कोई आकांक्षा नहीं। अपने असाधारण श्रीचरणकमल हमारे स्तनमण्डल पर स्थापित करो। हम तुम्हारी ही हैं, और किसी की नहीं।

श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं - अरी निर्भयाओ ! तुम्हें पाप का भय नहीं ? पर मैं तो पाप से डरता हूँ। इसके उत्तर में गोपियाँ बोलीं - पाप का भय क्या ? तुम्हारे श्रीचरण तो शरणागत जन के सारे पापों के नाशक हैं, उत्कट संसार दु:खनाशक हैं। नलकूवर-मणिग्रीव कालियनाग आदि तो तुम्हारे श्रीचरण पाते ही सभी पापों से विमुक्त हो गये थे। तुम्हारे श्रीपादपद्मों से पाप की आशंका क्या ? यदि कहो कि तुम लोग गर्विता हो, गर्वमद के कारण अपराधिनी हो, इसलिये ये चरण तुम्हारे प्राप्य नहीं, तो ऐसा मत कहो, देखो, हम लोग तुम्हारे श्रीचरणों में प्रणत हैं, तुम्हारी ही शरणागत हैं। तुम्हीं ने तो कहा है -

**''सकृदेव प्रपन्नो य स्तवस्मीति च याचते ।**
**अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम ।।''**

अर्थात् कोई एक बार भी मेरी शरण में आकर कहता है कि हे गोविन्द ! मैं तुम्हारा हुआ, तो मैं उसे सर्वदा अभय-दान करता हूँ, यह मेरा व्रत है। ''कृष्ण तोमार होउँ जदि बोले एक बार। भवबन्ध ा हैते कृष्ण तारे करेन पार।।'' (चै. च.) शरणागत जन की रक्षा में भगवान् को विलम्ब सहन नहीं।

**''अतन्द्रितचमूपतिप्रहितहस्त मस्वीकृत-**
**प्रणीतमणिपादुकः किमिपिविस्मृतान्तःपुरम् ।।**
**अवहानपरिष्क्रियं पतगराजमारोहतः ।**
**करिप्रवरवृंहिते-भगवतस्तरायै नमः ।।''**

(पद्यावली)

''गजेन्द्र ने स्तव किया तो भगवान् श्री हरि सतर्क सेनापति के फैले हाथों और मणिपादुकाओं को स्वीकार न कर - 'एकाएक किसने मुझे पुकारा, मुझे वहाँ शीघ्र पहुँचना है, यह कहते हुए अन्त:पुर को भूलकर वाहन-परिच्छद आदि त्यागकर त्वरा (शीघ्रता) के साथ गरुड़ पर जा बैठे - श्रीहरि की उसी त्वरा को मैं प्रणाम करता हूँ।'' व्रजबालायें बोलीं - हम तुम्हारे श्रीचरणों में शरणागत हैं। क्या हमारा पाप अब भी नष्ट नहीं हुआ ?

श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं - सो तो ठीक है, किन्तु परम क्रूर और कठोर स्थल पर चरण स्थापित करना मेरे लिये सम्भव नहीं। गोपियाँ कहती हैं - यह कैसी बात ? तुम पशुओं के साथ वन-वन भ्रमण करते हो। वनभूमि तो कंकर-कण्टकमय है। हमारे वक्षस्थल क्या उससे भी अधिक दु:खप्रद हैं।

और फिर तुम तो गो-गोप आदि के साथ वन-वन भ्रमण करते उनकी रक्षा करते हो, तुम्हारी परम कृपालुता का परिचय तो इसी से मिलता है। अतएव कृपा कर थोड़ा कष्ट स्वीकार करके ही हमारे विरह-ताप का प्रशमन कर दो।

मानो श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं - तुम लोग अज्ञ अशिक्षित हो, तुम्हारा संग पाकर मुझे आनन्द नहीं आता। गोपियाँ इसका उत्तर देती हैं - तुम्हारी यह बात भी सुसंगत नहीं। जो वन-वन पशुओं के साथ गमन करता है, उसे भला ऐसा कहना शोभा पाता है ? पशु तो अज्ञ हैं; जो शर्करा त्यागकर तृण-भक्षण करते हैं, वे अज्ञ नहीं तो क्या ? तुम उनका सौभाग्य भी तो हमें दे सकते हो ?

यह कहते-कहते विरह-विधुरा व्रजबालायें स्फूर्ति में देखने लगीं - कृष्ण मानो मृदुमधुर हास्य करते हुए कह रहे हैं - अरी सुन्दरियो ! यह बात नहीं, सो नहीं, मैं तुम्हारे इन शोभामय स्तनमण्डलों पर अपने वनभ्रमणरत धूलिधूसरित, कर्दम (कीचड़) आदि से युक्त चरण कैसे रखूँगा ? गोपियाँ उत्तर देती हैं - तुम्हारा यह कैसा शोभा-बोध है ? तुम्हारे पादपद्म तो 'श्रीनिकेतन' हैं - स्वयं लक्ष्मी ठाकुरानी के विलास-आस्पद (स्थल) परम सौन्दर्य-माधुर्यमय हैं। हम लोग हैं वनवासिनी गोपबाला ग्वालिन। हमारे वक्षों की क्या शोभा ? तुम वह आशंका मत करो। श्रीकृष्ण मानो कहते हैं - अच्छा ठीक है, यह तो मान लो समझ गया, पर एक अन्य बड़ी आशंका भी है । जानती तो हो, मैं बड़ा भीरुस्वभाव हूँ। पग-पग पर डरता हूँ। यदि तुम्हारे पतियों को इस बात का पता चल गया, तो मेरे लिये गुरुतर भय का कारण बन जायेगा, और तब तुम लोगों की भी क्या अवस्था होगी ?

गोपियाँ बोलीं - अच्छा ! भय, और तुम्हें ? जो भीषण कालियनाग के फण पर आनन्द से नृत्य करता है, उसे थोड़े-से कापुरुष गोपों का भय ? हम तुम्हारी इस बात पर विश्वास नहीं करतीं। तुमने विषमय यमुना के जल से व्रजवासियों की रक्षा की है, अपने वे चरण हमारे वक्षस्थल पर स्थापित कर हच्छय (कन्दर्प) - विषताप नष्ट कर हमारी भी रक्षा करो।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या का तात्पर्य यह है - अन्य गोपियाँ कहती हैं - हे कृष्ण ! हमारे वक्षों पर अपने श्रीचरण अर्पित कर हमारा हच्छय या काम नाश करो। ये समर्थारतिमती, महाभाववती व्रजगोपिकायें हैं, इनके मन में अपने दुःखनाश की अथवा सुखप्राप्ति की कोई अभिलाषा नहीं। "आत्मसुख - दुःख गोपीर नाहिक विचार। कृष्णसुख हेतु चेष्टा मनो-व्यवहार।। कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग। कृष्णसुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग।।" (चै. च.. आदि 4) इन लोगों की कायमनोवाक्य विषयक सभी चेष्टायें श्रीकृष्ण के सुख के लिये होती हैं। श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में इनकी समर्था रति की विशेषता बताई गई है-

**"सर्वोद्भुत विलासोर्मिचमत्कारकरश्रियः ।**

सम्भोगेच्छाविशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते ।।
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ।।''

'समर्था रति में श्रीकृष्ण को वशीभूत करने का गुण होता है, जो सभी प्रकार से अद्‌भुत होता है। उसी वशीकारित्व की विलासलहरी से यह रति आश्चर्यजनक रूप से सुशोभित होती है। यह रति सम्भोग-इच्छा से कभी भिन्न नहीं होती, इसलिये इसमें केवल श्रीकृष्ण के सुख के लिये ही उद्यम देखने में आता है।' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका में लिखा है – नन्दपुरवासिनी और निकटवर्तिनी गोपियों का बाल्यकाल में ही श्रीकृष्ण के साथ परिचय हो गया। धूल-मिट्‌टी में खेलने के समय ही इस स्वरूप सिद्धा रति का आविर्भाव हो गया। सामान्य आकार में प्रादुर्भूत रतिमतियों की सर्वेन्द्रिय वृत्ति श्रीकृष्ण को ही समर्पित थी, श्रीकृष्ण के सुखतात्पर्य में ही पर्यवसित थी। वयसन्धिकाल में कन्दर्प का उद्‌गम होने पर उन लोगों के चित्त में जो सम्भोग इच्छा जन्मी, वह अग्नितादात्म्य प्राप्त लोहे की तरह रति के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुई। उसी समय से अपना अङ्ग-सङ्ग देकर श्रीकृष्णसुख-उत्पादन का संकल्प जन्मा और उस रति ने भी 'मधुरा रति' नाम पाया। सम्भोगतृष्णा रति से अलग प्रकट नहीं होती, इसलिये मूल श्लोक में 'विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तभी से इन लोगों की सारी चेष्टा-कायमनोवाक्य की जितनी भी चेष्टा है, वे चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक, सब श्रीकृष्ण के सुख के लिये ही नियोजित है। श्रीकृष्ण के सौरतसुख के उद्‌दीपन के लिये ही ये लोग अपने रूप-यौवन और कामपीड़ा का वर्णन करती हैं, प्रार्थना करती हैं। ये सब परम विदग्ध हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण को सुख प्रदान करना ही इन सब प्रार्थनाओं का तात्पर्य है, तथापि लगता है कि वे अपने लिये ही प्रार्थना कर रही हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने भोजनप्रिय मित्र को निमंत्रण देकर चर्व्य- चोष्य चारों प्रकार के भोज्यपदार्थों की व्याख्या करता है। यदि मित्र कहे – 'मेरे लिये इतना सब क्यों', तो वह व्यक्ति कहता है – तुम्हारे लिये क्यों करूँगा, यह सब हम लोगों ने अपने ही लिये किया है। 'मेरा यह विपुल प्रयास तुम्हारे सुख के लिये है' – यदि वह ऐसा कहता है, तो प्रेम लघु हो जाता है। श्रील चक्रवर्ति महाशय ने स्वरचित प्रेमसम्पुट ग्रन्थ से इसका उदाहरण दिया है –

''प्रेमा द्वयोः रसिकयोरपि दीप एव
हृदयवेश्म भासयति निश्चलमेव भाति ।
द्वारादयं वदनतः बहिः कृतश्चेत्
निर्वाति शीघ्रमथवा बहिः लघुतामुपैति ।।''

अर्थात् दोनों प्रेमिकों के हृदय में स्थित प्रेम दीपक की तरह हृदय के निभृत निकेतन में निश्चल और समुज्जवल रूप से प्रकाशित होता है। किन्तु 'मैं तुम्हें बहुत प्रेम करता हूँ' ऐसी बात से प्रेम का वह

आलोक वदनरूपी द्वार से बाहर निकल पड़े, तो सम्भवत: वह शीघ्र ही बुझ जाता है या फिर चंचल होकर क्षीण रूप से जलता रहता है। गोपियों का प्रेम कभी भी स्वसुखमूलक या स्वार्थ-तात्पर्य से युक्त नहीं। भगवान् ने गोपीप्रेम की सारवत्ता का स्वयं ही अनुभव कर रहा है - "मैं तुम्हारे प्रेम का ऋण चुकाने में असमर्थ हूँ।" वे शुद्ध प्रेम के ही वश हैं, कभी भी काम के वशीभूत नहीं।

**"भजतामघखण्डनं गवा-मनुगं श्रीभरभूरिलाञ्छनम् ।**
**फणिमौलिमणिप्रभाञ्चितं स्तनयोरर्पय नः पदाम्बुजम् ।।"**

(आ. वृ. 19/16)

'भजनशील जनों के पापनाशक, गायों के पीछे चलने वाले, परम सुन्दर भूरि चिन्हों से युक्त और कालियनाग के सिर की मणि-प्रभा से पूजित अपने चरणकमल हमारे स्तनों पर अर्पित करो ।।'7 ।।

**मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।**
**विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुना-प्याययस्व नः।। 8।।**

---

**अन्वय:** - पुष्करेक्षण (हे कमललोचन !) हे वीर ! मधुरया (अमृतवत् मिष्टया) वल्गुवाक्यया (वल्गुनि वाक्यानि यस्यां तया) बुधमनोज्ञया (बुधानां मनोज्ञया) गिरा (तव वाचा) इमा विधिकरी: (किंकरी:) मुह्यती (मोहं प्राप्नुवती:) अधरसीधुना: न: आप्यायस्व (संजीवय इत्यर्थ:) ।। 8।।

**अनुवाद**- हे कमलनयन ! हे वीर ! अमृत की तरह मीठी, पण्डितों के लिये मनोज्ञ तुम्हारी मधुर वाणी श्रवण कर तुम्हारी ये किंकरियाँ मोहदशा को प्राप्त हो गई हैं । इन्हें अपनी अधरसुधा से संजीवित करो ।। 8 ।।

गीतामृतलेश टीका —

श्रीकृष्णविरहकातर व्रजबालायें एक के बाद एक चार श्लोकों में प्रार्थना कर रही हैं। पहले कामना की कि श्रीकृष्ण उनके विरहतप्त मस्तकों पर आशीर्वाद की तरह अपना करकमल स्थापित कर दें। तत्पश्चात् कहा कि उन्हें ऐसी कृष्णविरह-ज्वाला पुनः न भोगनी पड़े। फिर श्रीकृष्ण के श्रीमुखकमल दर्शन के लिये प्रार्थना-ज्ञापन किया। पिछले श्लोक में प्रार्थना की कि श्रीकृष्ण उनके विरहतप्त हृदयों पर अपना श्रीचरण स्थापित कर दें। इस श्लोक में पेय औषध की तरह श्रीकृष्ण के अधरसुधारस के लिये प्रार्थना कर रही हैं। श्रीकृष्ण के श्रीमुखकमल सुरभित अधरों से उच्चारित अमृतमधुर वचनविशेष सुनकर व्रजदेवियों की श्रीकृष्ण-अधर-सुधा पान करने की इच्छा इतनी प्रबल हो उठी है कि उनके भीतर मोहदशा लाने वाला तीव्र ताप उत्पन्न हो गया है। इसकी चिकित्सा तो कठिन है, अन्य किसी प्रकार चिकित्सा सम्भव नहीं। व्याधि सामान्य होती है, तो प्रलेप औषध से दूर हो जाती है। किन्तु व्याधि जब गुरुतर हो और लम्बे समय तक रहे, तो प्रलेप औषध के साथ-साथ पेय औषध की भी आवश्यकता पड़ती है। इन लोगों के कुचमण्डलों पर श्रीकृष्णचरणों की स्थापना से ही इनकी विरह-व्याधि का नाश नहीं होगा; तभी ये इस श्लोक में प्रार्थना कर रही हैं कि प्रलेप औषध के साथ श्रीकृष्ण के मुख-चन्द्र का सुधारस भी प्राप्त हो, जो हृदय तक पहुँच सके।

श्रीकृष्ण के नाना प्रकार के प्रेमभावपूर्ण मधुमय वाक्य सुनकर, उनका आस्वादन कर व्रजबालाओं को परम आनन्द प्राप्त हुआ था। श्रीकृष्ण के विरह में अब वही बातें उनके स्मृति-पथ पर समुदित होकर उन्हें मोह से भरे दे रही हैं। इसके प्रतिकार का अन्य कोई उपाय नहीं दीखता, तो वे उनके अङ्ग-सङ्ग के पश्चात् पेय औषध के रूप में उनके अधर-सुधारस के लिये भी प्रार्थना करती हैं। हे सखे ! तुम अपना अधरसुधारस पान करा हमें संजीवित करो, अन्यथा शीघ्र ही हमारी मृत्यु हो जायेगी। तुमने कहा था - "तुम लोगों- जैसी मेरी प्रियतमा इस जगत् में और कोई नहीं।" तुम्हारे उन सब वाक्यों ने हमारे चित्त में समुदित होकर हमें मोहाच्छन्न कर डाला है। तुम्हारा अधरामृत ही हमारी जीवनरक्षा की महौषधि है। उसी अधरामृत के अभाव में विरह में हमारी मूर्छादशा आ पहुँची है। तुम अधरामृत-दान कर हमें संजीवित करो। हम लोग तुम्हारी आज्ञाकारिणी दासियाँ हैं। पहले श्रीकृष्ण के उपेक्षावचन सुनकर मर्माहत होकर व्रजदेवियों ने जो प्रार्थना-वाक्य कहे थे, उनमें भी श्रीकृष्ण के अधरामृत को ही अपनी जीवन-रक्षा का एकमात्र उपाय बताया था -

"सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्त देहा

ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ।।''

(भा. 10/29/35)

'हे सखे ! तुमने अपने सहास अवलोकन और मधुर-अस्फुट वेणु-रव द्वारा हमारे हृदयों में जो कामानल उद्दीप्त कर दिया है, उसे अपने अधरामृत के सिञ्चन से ही निर्वापित करो (बुझाओ), अन्यथा तुम्हारी विरहाग्नि से दग्धदेह हम सब अचिरात् ध्यानयोग द्वारा तुम्हारी चरणपदवी प्राप्त कर लेंगी।'

यहाँ भी वही बात कह रही हैं - तुम्हारे वचन अमृत की तरह मीठे अथवा परम मादक हैं; शब्दालंकार अर्थालंकार में पण्डितों के चित्त को भी आकर्षित करने वाले हैं। हम तो अबला हैं, हम उन मनोज्ञ वचनों की सुधा पर विमुग्ध होंगी इसमें क्या आश्चर्य ? पूर्वराग अवस्था में श्रीकृष्ण की वाणी सुनकर मोहग्रस्त व्रजबाला की उक्ति है -

''कतो जे अमिया, प्रति बचने उगारइ,
कुलवति मोहन मन्त।
सो हिय लागि, रजनी दिन जारइ,
उहु उहु जीउ करु अन्त।।
निशि दिशि सोउँरि, सोउँरि चित आकुल,
ओ गति आध आध पाय।
हठ करि मरमे, मरमे मझु पैठल,
कहो सखि ! कोन उपाय।।''

व्रजबाला अपनी सखी को श्रीकृष्ण की वचन-माधुरी बता रही है - अरी सखि ! श्रीकृष्ण का प्रत्येक वाक्य कितना अमृत उद्गीरण करता है (उगलता है) ! कुलवतियों के लिये तो मानो मोहनमंत्र है। वह वाणी मेरे हृदय से ऐसी लगी कि दिनरात हृदय को दग्ध करने लगी। उह उह ! मेरे जीवन का अन्त ही कर दिया। अहर्निश स्मरण करते-करते चित्त व्याकुल हो गया। वह स्मृति धीरे-धीरे अग्रसर हुई, बलपूर्वक मर्मस्थल में प्रवेश कर गई। बताओ सखि ! अब क्या उपाय है ? श्रीमन्महाप्रभु को श्रीकृष्ण की वाणी श्रवण कर आवेश हुआ। गोपीभाव से उन्होंने उसका जो रसपान किया, उसका उद्गार देखिये -

''कण्ठेर गम्भीर ध्वनि, नवघन ध्वनि जिनि,
तार गुणे कोकिल लाजाय।

तार एक श्रुतिकणे, डुबे जगतेर काणे,
पुन काण बाहुड़ि ना आय।।
कहो सखि ! कि करि उपाय ?
कृष्णेर जे शुब्दगुणे, हरिले आमार काणे,
एबे ना पाय तृष्णाय मरि जाय।।

× × × × × ×

से श्रीमुखभाषित, अमृत हैते परामृत,
स्मितकर्पूर ताहाते मिश्रित।
शब्द-अर्थ दुइ शक्ति, नाना रस करे व्यक्ति,
प्रत्यक्षरे नर्म विभूषित।।
से अमृतेर एक कण, कर्णचकोर-जीवन,
कर्णचकोर जीये सेइ आशे।
भाग्यवशे कभु पाय, अभाग्ये कभु ना पाय,
ना पाइले मरये पियासे।।''

(चै. च. अन्त्य0 17)

व्रजगोपियाँ बोलीं - तुमने हम लोगों से कहा था - ''स्वागतं वो महाभागा प्रियं किं करवाणि वः'' इत्यादि, तुम्हारे वाक्य की माधुरी हमारे स्मृतिपथ पर उदित हो रही है। श्रीमती राधारानी कहती हैं - तुमने मुझे से कहा था - ''कठोरा भव मृद्वी वा प्राणास्त्वमसि राधिके अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां बिना गतिः।।'' 'हे राधे ! तुम कठोर होओ चाहे मृदुल, तुम्हीं मेरे प्राण हो। चन्द्रलेखा को छोड़ चकोर की अन्य गति नहीं।' पदकर्ता के पद में देखने को मिलती है राधारानी के प्रति श्रीकृष्ण की वश्यता की वाणी -

''शुनो राधे एइ रस- आमि से तोमार वश,
तोमा बिने नाहि भाय मने।
जपिते तोमार नाम, धैरज ना धरे प्राण,
तुया रूप करिये धेयाने।।
श्रीराधे श्रीराधे वाणी, जेदिगे जार मुखे शुनि,
सेइ दिके धाय मोर मन।

चातक फुकारे जेनो, घन चाहे वरिषण,
तेनो हेरि ओ चाँदवदन।।
खेने खेने मुख तुलि, घन डाकि राधा बुलि,
तबे प्राण हय निवारण।
तोमा अनुसारे आसि, कुञ्जेर भितरे बसि,
तोमा लागि एइ वृन्दावन।।
करेते मुरली थाके, घन 'राधा' बोलि डाके,
जतक्षण ना पाय देखिते।
तोमार नूपुरध्वनि, आपन श्रवणे शुनि,
तबे मोर क्षमा हय चिते।।
राधा कृष्ण दुटि नाम, ताहे तुमि आगुयान,
आमि करि तोमार भरसा।
तबे से सफल होबो, तुया पद परशिबो,
दास वृन्दावनेर एइ आशा।।''

गोपियाँ बोलीं - तुम्हारे वाक्य तो स्वरविशेष और वर्णविन्यास विशेष के कारण प्रेममृदुल प्राणीमात्र के लिये रुचिकर है, रमणीजाति की तो बात ही क्या ? फिर वल्गुवाक्य - आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति सौष्ठवयुक्त वाक्य। (भाव और अर्थ को पूरा करने के लिये आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति तीन आवश्यक तत्व हैं - अनुवादक) यदि निराकांक्ष पदसमष्टि ही वाक्य हो जाय, तब तो अग्नि, जल, गौ, अश्व इत्यादि को भी वाक्य कहना होगा। 'जल लाओ' में क्रिया - कारक, के बीच 'आकांक्षा' है। प्रतिपाद्य वस्तुओं में एक-दूसरे के बीच बाधा का न रहना ही 'योग्यता' (संगति) है। 'अग्नि द्वारा सिञ्चन करो' - अग्नि द्वारा सिञ्चन में बाधा होने से यह वाक्य नहीं कहा जायेगा। बुद्धि का अविच्छेद, अर्थात् जिस पदार्थ के साथ जिस पदार्थ का अन्वय अपेक्षित है, उन पदों की बिना व्यवधान के उपस्थिति ही 'आसत्ति' (मेल) है। यदि ऐसा न हो, तो आज 'देवदत्त' कहें और तीन दिन बाद 'चला गया' कहें, इन पदों में भी संगति माननी होगी।

तुम्हारे वाक्य बुध जनों (पण्डितों) के लिये मनोज्ञ हैं - अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि वृत्तियों से युक्त। प्रतिपादित वस्तु रस, भाव, अलंकार और अर्थगाम्भीर्य के कारण आनन्दप्रद। शब्द को सुनते ही अर्थ समझ में आये, इसी शब्दवृत्ति को अभिधा कहते हैं। अभिधावृत्ति द्वारा अर्थ ग्रहण न कर

जिस वृत्ति द्वारा मुख्य अर्थयुक्त एक अन्य अर्थ का बोध होता है - प्रसिद्धि और आवश्यकता के कारण - उसे लक्षणा कहते हैं। जैसे, 'यमुना यां घोषः' - यमुना में घोष लोग रहते हैं। जलमयी यमुना में किसी का रहना असम्भव है, इसलिये यहाँ यह अर्थ करना होगा कि यमुना के तट पर घोषगण वास करते हैं। यही लक्षणा है।

जब अभिधा शक्ति और लक्षणा शक्ति शब्दार्थ बोध से विरत होती हैं, तो एक अन्य वृत्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है। उस अन्य (व्यंग्य) अर्थ को प्रकाशित करने वाली वह वृत्ति (शक्तिविशेष) ही व्यञ्जना है। जैसे - वृन्दावन में राधारानी ने सखी से कहा है - 'सखि ! यहाँ निर्जन विहारी पक्षी विचरण कर रहा है।' इससे सखी समझती है - स्थान निर्जन है, इसलिये श्रीमती यहाँ श्रीकृष्ण अभिसार के लिये उसे इङ्गित कर रही हैं। व्रजदेवियाँ कह रही हैं - जब तुम्हारे वाक्य पण्डितो के लिये ही मनोज्ञ हैं तब उन्हें सुनकर हम लोग विमोहित होंगी, इसमें आश्चर्य क्या ? अब तुम्हारी अधरसुधा ही हमारी प्राणरक्षा का उपाय है।

श्रीकृष्ण कहते हैं - अपना यह अदेय अमृत तुम लोगों को क्यों दूँगा ? नहीं, तुम यह बात नहीं कह सकते। तुम तो दानवीर, दयावीर हो। फिर कमललोचन स्वभावतः परम सुन्दर और उदार हैं । 'पुष्करेक्षण' या कमललोचन सम्बोधन की सार्थकता है। तुम जब बात करते हो, ईषत् हास्यविलास के साथ मनोहर दृष्टिभङ्गिमा से तुम्हारी बातों की विमोहनशक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। श्रीलीलाशुक ने कहा है -

**''पर्याचितामृत-रसानि पदार्थभङ्गीवल्गूनि बलित-विशाल-विलोचनानि ।**
**बाल्याधिकानि मदवल्लभ-भाविनीभिर्भावे लुठन्ति सुकृतां तव जल्पितानि ।।''**

(श्रीकृष्णकर्णामृतम् - 33)

- हे कृष्ण ! सभी प्रकार से अमृतरस-भरी तुम्हारे सुन्दर विशाल नेत्रों की भङ्गिमा और मदमत्त गोपस्त्रियों के साथ तुम्हारी कैशोररञ्जित रसवार्ता पुण्यवानों के भावआक्रान्त चित्तों में स्फूर्त हुआ करती है।*

श्रीकृष्ण की निर्वाक् (मूक) नयनभङ्गिमा भी व्रजबालाओं के लिये बड़ी मोहक और चित्ताकर्षक होती है -

**''ढल ढल सजल, जलद तनु शोहन,**
**मोहन आभरण साज।**

---

* श्रीमद्भागवत - 10/21 के वेणुगीतवाले श्लोक देखिये।

अरुण नयन गति, बिजुरि चमक जिति,
दगधल कुलवती लाज।।
सजनि ! जब धरि पेखलु कान।
तब धरि जगभरि, भरल कुसमशर,
नयने ना हेरिये आन।।
मझु मुख दरशि, विहसि तनु मोड़इ,
विगलित मोहन वंश।
ना जानिये कोन, मनोरथे आकुल,
किशलय दले करु दंश।।
अतये से मझु मन, ज्वलतहि अनुखन,
दोलत चपल पराण।
गोविन्द दास, मिछइ आशोयासल,
अबहुँ ना मिलल कान।।''

'सजल मेघ की तरह झिलमिलाती श्याम की सुन्दर देह, ऊपर से मनोहर अलंकारों की साजसज्जा। विद्युत-चमक को लजाती आरक्त नेत्रों की गति-भङ्गिमा ने कुलवतियों की लज्जा को दग्ध कर दिया। सखि ! कानु को देखा है, तभी से मदन-वाण से विश्व छा गया है। आँखों से कानु को छोड़ और कुछ भी नहीं देख पाती। मेरा मुंह देखकर हँसकर उसने अपनी देह मटकाई; हाथ में लगी वंशी गिर पड़ी। न जानें किस कामना से व्याकुल होकर (मेरे अधरदंशन का संकेत कर ?) कोपलें काट बैठा। अतएव मेरा मन हर समय जल रहा है। चञ्चल प्राण काँप रहे हैं । गोविन्ददास का आश्वासन व्यर्थ हुआ। कानु तो अभी तक नहीं आया।'

व्रजदेवियाँ बोलीं - और भी सुनो, हम लोग तुम्हारी बातों से मोहित हो गई हैं। तुमने जो कहा हमने वही किया; अच्छा-बुरा समझने का तो ज्ञान नहीं। (अथवा आकार प्रश्लेष से) हम लोग तो निर्बोध हैं, कुछ समझ नहीं पातीं, तुम्हारी बातों में आ गईं; जो लोग तुम्हारी बातों की रसमयता आदि समझ सकते हैं, उनकी बात अलग। अथवा, ज्ञानी ही तुम्हारी बातों से विमुग्ध होते हैं, भक्त जनों का क्या कहना ? हम लोग तो तुम्हारे प्रेम में विचार शक्तिहीन हो गई हैं। अब तुम हमें मार डालो, हम-जैसी अविवेकी स्त्रियों की यही उचित सजा है। यह उन लोगों की प्रेमार्ति से भरी उक्ति है।

**''वचसा मधुनोऽपि मञ्जुना, मधुरार्थेन सुकोमलेन नः ।**

चिरकालमुपोषिते इव, श्रवणे जीवितनाथ तर्पय ।।
दर-हाससुधानुधाविना, मधरेणाधर-बिम्बसीधुना ।
त्वददर्शनशोकशोषिणा, दयिताप्याययितुं त्वमर्हसि ।।''
(आ. वृ. 19/17-18)

'हे जीवितनाथ (प्रिय) ! सुनने में मधु से भी मधुर, अर्थ में भी मधुर और सुकोमल वचनावली का प्रयोग कर हमारे चिरउपोषित (उपवासी) कानों को तृप्त करो। हम लोग तुम्हारे अदर्शन से महाशोक में शुष्कप्राय हो गई हैं, अपने मन्दहास्ययुक्त मधुर अधरामृत से हमें परिपुष्ट कर दो ।।' 8 ।।

**तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीड़ितं कल्मषापहम्।**
**श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः।। 9।।**

**अन्वयः** - तप्तजीवनं (तप्तान जीवयति मृत्युपर्यन्तदशातो रक्षतीति तत्) कविभिरीड़ितं (ब्रह्मशिवचतुः सनादि ब्रह्मविदभिः अपि ईड़ितं स्तुतं) कल्मषापहं (पापनाशकं) श्रवणमङ्गलम् (श्रवणमात्रेणैव मङ्गलप्रदं) श्रीमत् (सर्वत उत्कर्षयुक्तं) आततं (सर्वव्यापकं च) तव कथामृतं ये (जनाः) गृणन्ति (कथनरूपेण ददति ते) भूरिदाः (सर्वार्थ-प्रदातारः भवन्ति) ।।9।।

**अनुवाद**- तुम्हारा कथामृत तापदग्ध जन को जीवन प्रदान करने वाला, ब्रह्मा-शिव-सनक आदि आत्माराम जनों द्वारा संस्तुत, पाप-ताप आदि का नाशक, श्रवण करते ही मङ्गलप्रद, सर्वोत्कृष्ट सर्वव्यापक है। जो लोग इस कथामृत का कीर्तन करते हैं, उन-जैसा परमदाता और कोई नहीं ।।9 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण मानो गोपियों से कह रहे हैं - तुम लोग कह रही हो कि मेरे विरह में तुम मरणापन्न

दशा में आ पहुँची हो। तो अब तक जीवित कैसे हो ? इसका उत्तर देती हैं - हे प्रिय ! तुम्हारे विरह में तापित इन देहों में अब तक प्राण कैसे विद्यमान है, हम नहीं समझ पा रहीं। हमें लगता है, तुम्हारी कथा के प्रभाव से ही विद्यमान है, अन्यथा इस उत्कट विरह में जीवन का अन्त कब का हो गया होता। इस श्लोक की व्याख्याभूमिका में श्रीमत् जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है - ''प्रेममयस्वानुभवप्रमाण-निर्णीततत्कथामहिमवर्णनेन तत्र कारणमाहुः तवेति।'' (लघुतोषणी टीका) अर्थात् गोपियों ने अपने प्रेममय अनुभव के आधार पर श्रीकृष्णकथा की महिमा का वर्णन किया है और उसी को अपनी विरहतप्त देहों में प्राणों की अब तक विद्यमानता का कारण निरूपित किया है। प्रेम के द्वारा ही श्रीकृष्ण के रूप, गुण, लीलामाधुरी का अनुभव होता है। प्रेम की प्रगाढ़ता के अन्तर से उस अनुभव में भी अन्तर आ जाता है। गोपियाँ महाभाववती हैं। 'प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।' (चै. च.) गोपिकाओं के हृदय में प्रेम की पराकाष्ठा महाभाव विद्यमान है। इसलिये गोपीगीत के इस श्लोक में उन्होंने अपने प्रेममय अनुभव से श्रीकृष्णकथा की जो महिमा गाई है, उसकी तुलना विश्व में अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं। अतएव हम गोपिकाओं की कृपा से धन्य परम अनुभवी व्याख्याकारों के आश्रय में ही इस श्लोक की भावगम्भीर व्याख्या की माधुरी की यथामति चर्चा करेंगे।

श्रील श्रीधरस्वामीपाद ने इस श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में जो लिखा है, उसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है - व्रजगोपियाँ कहती हैं - हम लोग तुम्हारे विरह में मृतप्राय हो रही हैं, ऊपर से जो पुण्यवान व्यक्ति तुम्हारे कथामृत का पान कराते हैं, उनके द्वारा भी वञ्चित हैं। तुम्हारा कथामृत साधारण अमृत या स्वर्गीय अमृत की अपेक्षा सभी प्रकार से उत्कृष्ट है, कारण - देवभोग्य अमृत को, यहाँ तक कि मोक्षामृत को भी तुच्छ करने वाले ब्रह्मा, शिव, नारद, चतुःसन आदि आत्मारामगण भी तुम्हारे कथामृत की स्तुति करते हैं, उसका माहात्म्य कीर्तन करते है। यह कथामृत काम्य कर्म आदि का निवर्तक, पापताप आदि का नाशक और नित्य आनन्द दायक है। तुम्हारा कथामृत सुनते ही मङ्गल करता है, इसलिये इसके दिये मङ्गल के साथ स्वर्गामृत और मोक्षामृत की कोई तुलना ही नहीं। उनसे जो मङ्गल होता है, वह भी अनुष्ठानसापेक्ष है। इसमें किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं; सुनते ही सभी प्रकार के मङ्गल का उदय होता है। श्रीमद्भागवत कथा के प्रारम्भ में श्रीपाद सूतजी ने शौनक आदि मुनियों को वह फल-प्राप्ति बताई है जो एकमात्र श्रीकृष्णकथा श्रवण करने से ही होती है; जीव के काम्य कर्मों का नाश, कर्मवासना और प्राकृत रज-तम आदि गुणों का उपशम, निष्ठा-रुचि-आसक्ति-भाव-प्रेम का उदय, भगवत्साक्षात्कार और भगवत् माधुर्य के अनुभव तक जीव के समस्त मङ्गल का उदय ! यथा -

**''शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।**
**हृद्यन्तः स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ।।**

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्वे प्रसीदति ।।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ।।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।''

(भा. 1/2/17-21)

'श्रीकृष्ण अपनी कथा का श्रवण करने वाले भक्तों के हृदय में विराज कर उनकी अशुभ वासनाओं का विनाश करते हैं। दुर्वासना-समूह के नष्टप्राय होने पर भगवद्भक्त और भागवत्शास्त्र की नित्यसेवा करने पर उत्तमश्लोक भगवान् में नैष्ठिकी भक्ति का उदय होता है। तब रज और तम गुणों से उत्पन्न होने वाले काम-लोभ आदि से और भगवत् चिन्तन में बाधक लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति, कषाय, रसास्वाद आदि से चित्त विद्ध नहीं होता। शुद्ध सत्व के उदय होने से चित्त सतत प्रसन्न रहता है। ऐसे प्रसन्नचित्त मुक्तसङ्ग भक्त के हृदय में भगवत् भक्तियोग के प्रभाव से भगवत् तत्व का अनुभव होता है। ईश्वर का साक्षात्कार होने पर देह आदि के प्रति हृदय की अहंकारग्रन्थि मुक्त हो जाती है, सारा संशय मिट जाता है, सारे कर्मों का क्षय हो जाता है - ये सब भगवत्साक्षात्कार के आनुषङ्गिक फल हैं; मुख्य फल है भगवत् सेवा और भगवत् माधुर्य के आस्वादन की प्राप्ति।'

व्रजदेवियों ने कहा - तुम्हारा कथामृत 'श्रीमत् शुशान्तं तत्तु मादकं' परम सुशान्त श्रीमान् व्यक्तियों का ही प्राप्य है, किन्तु प्रसिद्ध स्वर्गामृत तो मादक है। जो लोग इस कथामृत का दान या प्रचार इस प्रकार करते हैं कि यह सभी ओर व्याप्त हो, उन जैसा बहुलदाता विश्व में और कोई नहीं। उन्होंने पूर्व पूर्व जन्मों में भी इस कथामृत का दान किया है, तभी इस जन्म में दे रहे हैं और आगे भी देंगे। तभी वे ही जगत् में यथार्थतः 'भूरिदा' हैं। अथवा जो तुम्हारा कथामृत उच्चारण करते हैं, वे ही अति धन्य हैं। फिर जो तुम्हारा दर्शन प्राप्त करते हैं, उनके भाग्य की तो सीमा ही क्या ? हम लोग उसी सौभाग्य के लिये प्रार्थना कर रही हैं, अतएव हमें दर्शन दो।

''कथैवामृतम् अमृतवत् स्वतः फलं फलान्तरसाधनञ्च। तत्तद्रूपत्वं दर्शयन्ति तप्तान् त्वद्विरहतापखिन्नान् किमुत संसारतापखिन्नान् जीवयन्ति मृत्युपर्यन्त दुर्दशातो रक्षतीति तत्'' (लघुतोषणी टीका) स्वर्ग का अमृत स्वतः फल है अर्थात् देवभोग्य और परम सुस्वादु है। वह अन्य फलों जैसे

आरोग्य, पुष्टि और अमरत्व का साधन है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का कथामृत स्वतः फल है। भगवान् और उनकी कथा में कोई भेद नहीं।

"कृष्णनाम कृष्णगुण कृष्णलीला वृन्द।
कृष्णेर स्वरूप, सम सब चिदानन्द।।
ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।
ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश।।
ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द कृष्णगुण।
अतएव आकर्षये आत्मारामेर मन।।"

(चै. च. मध्य. 17)

भगवान् आनन्दस्वरूप और रसस्वरूप हैं – कथा के रूप में ही उस आनन्द या रसरूपता की अभिव्यक्ति है। अतएव कृष्णकथा स्वतः ही फल है और अन्य फलों का साधन है – 'तप्तजीवनं' श्रीकृष्ण विरह-खिन्न प्रेमिकों को बचाये रखती है। विरह के विषम दिनों में जब प्रेमिकों के प्राण कण्ठ में आ जाते हैं, तब यह कथा ही विरहतापित प्राणों की रक्षा का एकमात्र उपाय बनती है। कृष्णविरह-कातर व्रजदेवियों को सखियाँ ही कृष्णकथा सुना कर उनकी प्राण-रक्षा करती हैं। व्रजदेवियों का श्रीकृष्णविरह-ताप इतना प्रबल होता है कि उसके आगे संसारताप कुछ नहीं। राधारानी के मोहनभाव का अनुभाव ब्रह्माण्ड में क्षोभ उत्पन्न कर देता है। इस सन्दर्भ में श्रील रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है –

"और्वस्तोमात् कटुरपि कथं दुर्बले-नोरसा मे
तापः प्रौढ़ो हरिविरहजः सह्यते तन्न जाने।
निष्क्रान्ता चेद्भवति हृदयाद् यस्य धूमच्छटापि
ब्रह्माण्डानां सखि कुलमपि ज्वालया जाज्वलीति।।"

(उ. नी.)

राधारानी ने कहा – 'सखि ! श्रीकृष्ण की विरहज्वाला वाडवानल से भी अधिक ज्वालामय है। मैं इसे कैसे सहन करती हूँ, मैं नहीं जानती। लगता है, इस ताप की धूमच्छटा भी किसी प्रकार मेरे हृदय से निकल जाय, तो यह ब्रह्माण्डसमूह ही उससे भस्म हो जायेगा। सखियाँ इतनी तीव्र श्रीकृष्णविरह ज्वाला को भी कृष्णकथा द्वारा प्रशमित कर विरहिणी की प्राणरक्षा करती हैं। गम्भीरा लीला में राधाभाव-विभावित श्रीमन्महाप्रभु के श्रीकृष्णविरह में प्राणरक्षा का उपाय यही कृष्णकथा था।

"उत्कट वियोगदुःख जबे बाहिराय।
तबे जे वैकल्य प्रभुर वर्णन ना जाय।।

रामानन्देर कृष्णकथा, स्वरूपेर गान ।
विरहवेदनाय प्रभुर, राखये पराण ।।
दिने प्रभु नाना रङ्गे हय अन्यमना ।
रात्रिकाले बाढ़े प्रभुर विरहवेदना ।।
ताँर सुखहेतु सङ्गे रहि दुइ जना ।
कृष्णरसश्लोक-गीते करेन सान्त्वना ।।''

(चै. च. अन्त्य0 6)

जब यह कृष्णकथा इतने विशाल कृष्णविरहताप से ही प्रेमिक विरही के प्राणों की रक्षा करती है, तब वह संसारताप से सांसारिक लोगों की रक्षा करेगी, इसमें क्या आश्चर्य ? विरही के कृष्णविरह-ताप के आगे संसार-ताप अति तुच्छ है। संसारतापदग्ध विश्व के जीवों की भवताप-शान्ति और परमानन्द-प्राप्ति के लिये कृष्णकथा अल्प-स्वल्प अमृत नहीं, मानो अमृत की प्रवाहिनी है। देवर्षि नारद ने महाराज प्राचीनबर्हि से कहा है -

''तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूष-शेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिवन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोक मोहाः ।।''

(भा. 4/29/40)

'हे राजन् ! साधुसमाज में महापुरुषों के मुख से मधुसूदन-चरित्र के रूप में अमृतसार की सरितायें चारों ओर प्रवाहित होती हैं। जो लोग अलम्बुद्धिशून्य होकर (यह मानकर कि हम कुछ नहीं जानते) अतृप्त चित्त से श्रवणतत्पर कर्णकुहरों से उसका छक कर पान करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय-शोक-मोह आदि संसारधर्म स्पर्श भी नहीं कर सकते।' श्रीमद्रूपगोस्वामिपाद ने भी संसार-नाशक कृष्णकथा को अमृत-तरङ्गिनी आख्या दी है -

''मूलोत्खातविधायिनी भवतरोः कृष्णान्य-तृष्णाक्षयात्
खेलद्भिर्मुनिचक्रवाकनिचयैरा चम्यमाना मुहुः ।
कर्णानन्दिकलस्वना वहतु मे जिह्वातटीप्राङ्गणे
घूर्णत्तुङ्गरसावलिस्तव कथा पीयूष-कल्लोलिनी ।।''

(स्वतमाला)

'हे श्रीकृष्ण ! आपकी कथामृत-तरङ्गिनी संसार-तरु को जड़ से उखाड़ने वाली है, आपसे इतर तृष्णाओं को नाश करनेवाली है, मुनिरूपी चक्रवाक (चकवे) इसके जल में रह-रहकर आचमन करते है; यह नदी कानों को आनन्द देने वाले कलनाद के साथ प्रवाहित होती है, उत्तुङ्ग रसावली के रूप

में भँवरों से परिपूर्ण है। यह कथामृत-तरङ्गिनी मेरी जिह्वातटी के प्राङ्गण में प्रवाहित हो।' श्रीमद्भागवत (12/4/39) में कहा गया है कि श्रीहरिकथा - निषेवण (सेवन) के अभाव में अन्य कोई साधन संसारताप नष्ट नहीं करता।

**''संसारसिन्धुमतिदुस्तर मुत्तितीर्षोर्नान्यः पलवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।**
**लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य ।।''**

'विविध दुःख-दावानल से प्रपीड़ित, अति दुस्तर संसार-सागर को पार करने के इच्छुक मनुष्यों के लिये पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के लीलाकथारस के निषेवण (श्रवण) को छोड़ अन्य कोई नौका ही नहीं।' त्रितापदग्ध जीवों के लिये श्रीकृष्णकथा जीवनस्वरूप है; यह मृत्युदशा से भी रक्षा करने में समर्थ है।

**कविभिरीड़ितं —**

प्राचीन और आधुनिक तत्वज्ञ व्यक्ति मात्र ने ही श्रीकृष्णकथा की महिमा का कीर्तन किया है। ब्रह्मा, शिव, नारद, चतुःसन आदि आत्माराम जनों ने तुम्हारी कथा के माहात्म्य का वर्णन किया है। ''अस्मद व्रजवासिभिर्यद्वर्ण्यते तदेवानुद्य श्लाघ्यते न तु स्वयं वर्णयितुं शक्यत इत्यर्थः रहस्याज्ञानात्'' (तोषणी टीका) अर्थात् हमारे व्रजवासी कृष्णकथा की महिमा का जो वर्णन करते हैं, ये आत्माराम उसी का अनुवाद कर बस उसकी श्लाघा प्रकट कर देते हैं। स्वयं कृष्णकथा-वर्णन करने में असमर्थ हैं, कारण - वे कृष्ण कथा का रहस्य जानते नहीं। व्रजवासी ही कृष्णलीला का यथार्थ रहस्य जानते हैं, कारण - उनका माधुर्यज्ञान है। परम ऐश्वर्य-माधुर्यमयी व्रजलीला परम रहस्यमय है; व्रजजन ही इस माधुर्यमण्डित व्रजलीला को अपने माधुर्यज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं, उसका वर्णन भी करते हैं। अन्य सब महत् कविगण तो उनकी कथा का अनुवाद कर श्रीकृष्णकथा के महिमा-कीर्तन द्वारा स्वयं को धन्य समझते हैं। श्रीपाद शुकमुनि ने इन गोपीगीतों का वर्णन किया है, इन्हें वे अपनी कथा (भाषा) में भी बता सकते थे कारण - वे मायामुक्त आत्माराम मुनि हैं। किन्तु उन्होंने गोपिकाओं के श्रीमुख की वाणी का ही अनुवाद किया और वे उन लोगों की कृपा, उनकी वाणी की कृपा प्राप्त कर धन्य हुए। जिन-जिन ने कृष्णकथा का वर्णन किया है, जो कर रहे हैं और करेंगे - वे सभी इस वाणी का अनुवाद करके ही धन्य या कृतार्थ हैं। कृष्णकथा-वर्णन की किसी की स्वयं की सामर्थ्य नहीं।

**कल्मषापहं —**

''तथा कल्मषं सर्व रोचकत्वादि प्रभावमयत्वात् स्वान्तरायमपि किमुत संसार हेतु, पापपुण्यरूपं हन्तीति तत्'' (तोषणी टीका) 'कल्मष' शब्द का साधारण अर्थ है पाप। 'कल्मषापहम्' का अर्थ है

पापनाशक कृष्णकथा। उनके नाम के आभास मात्र से कोटि-कोटि जन्मों में महापातक अतिपातक ज्वलन्त अग्नि में रुई की तरह भस्म हो जाते हैं और शुद्ध नाम से प्रेम का उद्रेक होता है। नाम का ऐसा फल सर्वत्र दिखाई नहीं देता, इसका एकमात्र कारण है अपराध आदि।

"एक कृष्ण नामे करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश।।
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद-कम्प पुलकादि-गदगदाश्रुधार।।
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फल पाइ एतो धन।।
हेनो कृष्णनाम जदि लय बहुबार।
तबु जदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार।।
तबे जानि, अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्णनाम-बीज ताहे ना हय अंकुर।।"

(चै. च. आदि 8)

श्रीकृष्णनाम के फल के बाधक हैं एक मात्र अपराध आदि, जिनके कारण नाम की प्रसन्नता के अभाव में नाम में रुचि का उदय नहीं होता। इसीलिये कहा गया है, 'अन्तराय नाहि जाय एइ से परमभय'। यहाँ कृष्णकथा को 'कल्मषापहं' कहने में कल्मष शब्द का अर्थ है 'अन्तराय' (अवरोध)। कृष्णकथा स्वभाव से ही इतनी मधुर और स्वाभाविक रूप से ऐसी रोचकताशक्तिसम्पन्न है कि उसे सुनने से कथा-रुचि के बाधक अवरोध को वही नष्ट कर श्रोता के श्रवण-मन में अपने रोचकत्वप्रभाव का विस्तार कर देती है। इसीलिये कहा गया है, 'श्रोत्रमनोहेभिरामात्' (भा. 10/1/4) कृष्णकथा कानों और मन के लिये अभिराम है। श्रीशौनक आदि मुनियों के प्रति श्रीसूतजी की उक्ति है -

"तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते।।"

(भा. 12/12/49)

'कृष्णकथा अति रम्य, अत्यन्त रुचिर, पद-पद में नव-नवायमान, निरन्तर मन के लिये महामहोत्सव, शोक-समुद्र को सोखने वाली है। इसमें उत्तमश्लोक श्री कृष्ण का यशोगान विवृत होता

है।' इसलिये श्रीकृष्णकथा की सर्वरोचकता के कारण इस साधना-पथ पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं। फिर संसार के पाप-पुण्य तो अति तुच्छ विषय हैं।

**श्रवणमङ्गलं —**

'श्रवणमात्रेणैव मङ्गलं तत्तत् सर्वार्थसाधकं किमुतार्थविचारेण' (वै. तोषणी) श्रीकृष्णकथा तो सुनते ही अर्थात् वह जैसे ही श्रवणेन्द्रिय को स्पर्श करती है, (इस श्लोक में वर्णित) सर्वार्थ सिद्ध करती है, अर्थ विचार की भी अपेक्षा नहीं। फिर अर्थबोध होने पर सर्वार्थ-साधक होगी, इसमें और सन्देह क्या ? श्रीकृष्णकथा-श्रवण की इतनी शक्ति है कि वह श्रवणेन्द्रिय को छूते ही सर्वार्थसाधक हो जाती है। इसलिये श्रीकृष्णकथा-वर्णनमय श्रीमदभागवत के आरम्भ में ही कहा गया है - ''सद्योहृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रू षुभिस्तत्-क्षणात्' (भा. 1/1/2) - श्रीकृष्णकथा सुनना तो दूर रहा, श्रवण करने की इच्छा मात्र से ही श्रीकृष्ण तत्क्षण श्रवणेच्छुक व्यक्ति के हृदय में अवरुद्ध हो जाते हैं। इस श्लोक की टीका में श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है - ''ईश्वराकर्षिविद्या-रूपत्वाच्च' - कृष्णकथा ईश्वर को आकर्षित करने वाली महाविद्यास्वरूप है। ऐसा न हो, तो सुनने की इच्छा करते ही श्रीकृष्ण हृदय में अवरुद्ध क्यों होंगे ? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है - ''तत्क्षणादेव शुश्रूषभिरिति तत्क्षण-मारभ्य तेषां श्रवणेच्छा च भवेदिति। श्रद्धातः पूर्वमेव श्रवणे प्रेमा भवेत्।'' जिन लोगों के हृदय में जिस मुहूर्त में ईश्वर अवरुद्ध होते हैं, उनके मन में तभी से श्रीकृष्णकथा सुनने की इच्छा सर्वदा विद्यमान रहती है। अर्थात् श्रद्धा से पूर्व ही श्रीकृष्णकथा-श्रवण से प्रेमोदय होता है, यह पता चलता है। इसीलिये ईश्वर उनके हृदय में अवरुद्ध होते हैं। प्रेम-रिक्त हृदय में श्रीहरि का अवरोध सम्भव नहीं।

**''जे बा नाहि बुझे केहो, शुनिते शुनिते सेहो,**
**कि अद्भुत चैतन्य चरित।**
**कृष्णे उपजिबे प्रीति, जानिबे रसेर रीति,**
**शुनिलेइ हय बड़ो हित।।''**

(चै. च. मध्य. 2)

**श्रीमत् —**

'अतएव श्रीमत सर्वत उत्कर्षयुक्तम्' (तोषणी टीका) श्रीकृष्ण का कथामृत ही सभी प्रकार के साधनों और सिद्धियों से अधिक उत्कर्षयुक्त है। ''कथारुचेः सर्वत्रैवाद्यत्वात् श्रेष्ठताच्च'' (धर्मःस्वनुष्ठितः पुंसां'' इत्यादि भा. 1/2/8 श्लोक की क्रमसन्दर्भ टीका - श्रीजीवपाद) अर्थात्

कृष्णकथा में रुचि भजन का प्रारम्भ है, भजन में श्रेष्ठ भी है। 'बिनाप्यन्यैस्तेनैव कार्यसिद्धेरित्यलम्' (श्रीजीवपाद) अन्य कोई भजन न भी हो, एकमात्र श्रीकृष्णकथा-श्रवण से ही कार्यसिद्धि अर्थात् प्रेम-प्राप्ति और श्रीकृष्ण के चरणों में प्रेमसेवा की प्राप्ति होती है, यह कहना ही पर्याप्त है। श्रीवृहद्भागवतामृत (2/3/127) में वैकुण्ठपार्षदों ने श्रीगोपकुमार से कहा है –

''तज्ज्ञापकञ्च भज भागवतादि शास्त्रं
लीलाकथा भगवतः शृणु तत्र नित्यम् ।
ता एव कर्णविवरं प्रणयात् प्रविष्टा
सद्यः पदं भगवतः प्रभवन्ति दातुम् ।।''

'भक्ति-ज्ञापक भागवत आदि शास्त्रों का भजन करो; श्रीहरि की लीलाकथा नित्य श्रवण करो। इस कथा के प्रीतिपूर्वक सुनने वाले के कर्णविवरों में प्रविष्ट होने पर तुरन्त ही भगवत् पद प्राप्त होता है।

''पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।''
(भा. 2/2/37)

'हे राजन् ! जो लोग भक्तों के परममित्र श्रीहरि के कथामृत का श्रवणपुटों से पान करते हैं, वे विषय-विदूषित अन्तःकरण को पवित्र करते हैं और भगवान् के पादपद्मों के समीप गमन करते हैं।' इससे समझ में आया कि कृष्णकथा का उत्कर्ष सभी प्रकार के भक्तिसाधनों से अधिक है। उसी प्रकार कृष्णकथा सभी सिद्धियों से अधिक उत्कर्षयुक्त है। ध्रुवजी ने भगवान् का साक्षात्कार पाकर भी उनसे उनके चरणों में प्रेम या प्रेमसेवा की प्रार्थना न कर महत् पुरुषों के मुख से हरिकथा -श्रवण करने का वर माँगा–

''भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ।।''
(भा. 4/9/11)

'हे अनन्त ! जो लोग निरन्तर आपका भजन कर निर्मल-आशय हो गये हैं, मुझे उन्हीं महत्

जनों का सङ्ग प्राप्त हो - मैं उनके साथ आपका गुणकथामृत-पान कर मत्त होकर इस महादुःखमय संसार-सागर को अनायास पार करुँगा।' यहाँ सत्सङ्ग में हरिकथामृत-पान ही मुख्य फल है, मोक्षफल आनुषङ्गिक है। (श्रीहरिभक्तिविलास - 10/290 में इस श्लोक की टीका देखिये) इससे समझा गया कि कृष्णकथा का उत्कर्ष सभी सिद्धियों से भी अधिक है।

**आततं —**

'सर्वव्यापकञ्चेति प्रसिद्धा मृताद्वैलक्षणमप्युक्तम्' (वै. तो.) यह कृष्णकथामृत सर्वत्र विस्तृत होने के कारण सर्वव्यापक है। साधुभक्तगण कादम्बिनी (बादलों की पंक्ति) की तरह विश्व में कृष्णकथामृत का वर्षण निरन्तर किये जा रहे हैं। यह अमृत प्रसिद्ध स्वर्ग के अमृत और मोक्षामृत की तरह ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं।

**''एइ अमृत अनुक्षण, साधु-महान्त-मेघगण,**
**विश्वोद्याने करे वरिषण।**
**ताते फले प्रेमफल, भक्त खाय निरन्तर,**
**जार शेषे जीये जगजन।।**
× × × × × ×
**एइ लीलामृत बिने, खाय जदि अन्नपाने,**
**तबु भक्तेर दुर्बल जीवन।**
**जार एक बिन्दु-पाने, उत्फुल्लित तनु-मने,**
**हासे-गाय करये नर्तन।।**
**ए अमृत करो पान, जाहा सम नाहि आन,**
**चित्ते करो सुदृढ़ विश्वास।**
**मा पड़ो कुतर्क गर्ते, अमेध्य कर्कशावर्ते,**
**जाते पड़िले हय सर्वनाश।।''**

(चै. च. मध्य. 24)

**भूरिदा —**

गोपियों ने कहा - जो लोग कृष्णकथामृत विश्व में कथन रूप में दान करते हैं, वे भूरिदा हैं। सभी से अलग और अधिक सर्वार्थ-प्रदाता। विशेषतः इस गोकुल में जो लोग कृष्णकथा का वर्णन करते हैं, उन-जैसा भूरिदा तो और कोई नहीं। सबसे ऊपर हैं हमारी सखियाँ, जो हम कृष्णविरहतप्ताओं को

कृष्णकथा सुनाकर हमें जीवन-दान करती हैं। उनके दान की सीमा-परिसीमा नहीं।

राधाभाव-आविष्ट श्रीमन्महाप्रभु ने पुरीधाम में यही गोपीगीत श्रवण कर आनन्द-आवेश में महाराज प्रतापरुद्र को आलिङ्गन के बहाने आत्मदान कर दिया था। प्रभु ने प्रतिज्ञा की थी कि राजदर्शन नहीं करूँगा, राजा ने भी प्रतिज्ञा की थी प्रभु की कृपा न मिली तो प्राण त्याग दूँगा। प्रतापरुद्र की उक्ति है -

"ताँर प्रतिज्ञा ना करिबो राजदरशन ।
मोर प्रतिज्ञा- ताँहा बिना छाड़िबो जीवन ।।
जदि सेइ महाप्रभुर ना पाइ कृपाधन ।
किबा राज्य किबा देह, सब अकारण ।।"

(चै. च. मध्य. 11)

अन्त में रथयात्रा के दिन बलगण्डी पर जगन्नाथदेव को भोग-निवेदन किया जा रहा था, तो रथ के आगे नृत्य करने के बाद क्लान्त होकर महाप्रभु प्रेमावेश में पुष्पोद्यान में विश्राम करने लगे। तभी सार्वभौम भट्टाचार्य के परामर्श पर महाराज प्रतापरुद्र ने यह गोपीगीत सुनाकर ही प्रभु की कृपा प्राप्त की थी -

"एइ मत प्रभु आछे प्रेमेर आवेशे ।
हेनो काले प्रतापरुद्र करिला प्रवेशे ।।
सार्वभौम-उपदेशे छाड़ि राजवेश ।
एकला वैष्णववेशे आइला सेइ देश ।।
सब भक्तेर आज्ञा लैलो जोड़हाथ हैया ।
प्रभुपद धरि पड़े साहस करिया ।।
आँखि बुजि प्रभु प्रेमे भूमिते शयन ।
नृपति नैपुण्ये करे पाद-सम्वाहन ।।
रासलीलार श्लोक पढ़ि करेन स्तवन ।
'जयति तेऽधिकं' अध्याय करेन पठन ।।
शुनिते शुनिते प्रभुर सन्तोष अपार ।
'बोल बोल' बुलि उच्च बोले बार बार ।।
'तव कथामृतं' श्लोके राजा जे पढ़िलो ।
उठि प्रेमावेशे प्रभु आलिङ्गन दिलो ।।

तुमि मोरे बहु दिले अमूल्य रतन ।
मोर किछु दिते नाहि, दिनु आलिङ्गन ।।
एतो बोलि सेइ श्लोक पढ़े बार बार ।
दुइ जनार अङ्गे कम्प, नेत्रे जलधार ।।
'भूरिदा भूरिदा' बोलि करे आलिङ्गन ।
इहा नाहि जाने एहो हय कोन जन ।।

× × × × × ×

प्रभु कहे- के तुमि करिले मोर हित ।
आचम्बिते आसि पियाओ कृष्णलीलामृत ।।
राजा कहे - आमि तोमार दासेर अनुदास ।
'भृत्येर भृत्य करो मोरे' एइ मोर आश ।।"

(चै. च. मध्य. 14)

इस श्लोक में गोपिकाओं की जो परम आर्तिभरी उक्ति है, उसकी अन्य प्रकार की व्याख्या का भी तोषणीटीका में श्रील गोस्वामिपाद ने आस्वादन किया है। गोपियों के भाव के अनुरूप इस प्रेमार्तिमयी व्याख्या की कोई तुलना ही नहीं। गोपियाँ त्रास के साथ कहती हैं - 'सखे ! यदि तुम यह कहो कि अरी परम व्याकुल गोपियो, जब तक मैं तुम्हें दर्शन देकर आप्यायित (तृप्त, प्रसन्न) न करूँ, तब तक तुम लोग मेरी कथा में समय व्यतीत करो, तो सुनो, ऐसी बात मत कहो। तुम्हारी कथा ही हमारे लिये मृत्युस्वरूप है - 'तव कथामृतं' तुम्हारी कथा ही मरण है। तुम्हारी कथा से ही हमारा जीवन प्रतप्त होता है। जैसे तप्त तेल में जल डालने से वह प्रज्वलित हो उठता है, तुम्हारी कथा से हमारी भी वही अवस्था हो जाती है - 'तप्तजीवनम्' । स्तावकों (प्रशंसकों) ने व्यर्थ ही तुम्हारी कथा को पापनाशक कहकर प्रशंसा की है। वह चाटुकारों (चापलूसों) की बात है - 'कल्मषापहम्'। तुम्हारी कथा सुनने में ही मङ्गल है, व्यवहार में ऐसा कुछ अनुभव नहीं होता - 'श्रवणमङ्गलम्'। जो उसका उच्चारण करते हैं या हमारे आगे वर्णन करते हैं, वे 'भूरिदा' महा प्राणघातक हैं। हम लोग तुम्हें छोड़कर क्षणभर भी प्राण-धारण नहीं कर सकतीं। 'भूरि' शब्द की उत्तर अवखण्डन अर्थ वाली 'दो' धातु से निष्पन्न भूरिदा का अर्थ है महाप्राणघातक। पौराणिक लोग श्रीमद में अन्धे राजाओं के बीच कहा करते हैं, अथवा धनीलोग ही तुम्हारी कथा नाट्य -गीत आदि द्वारा सर्वत्र प्रचार करते हैं - 'श्रीमदाततम्'। हम लोगों के लिये तो तुम्हारी कथा सुनते ही जीवन-धारण करना कठिन हो जाता है - हम लोग केवल तुम्हें ही चाहती हैं।

अथवा गोपियाँ कहती हैं - हे कृष्ण ! यदि तुम यह कहो कि तुम लोग कुछ समय प्रतीक्षा

करो, मैं तुम्हारे कहे अनुसार ही कार्य करूँगा, तो हमारा उत्तर यह है - हम तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं कर सकतीं। तुम्हारी कथा (बात) ही अमृत है, पर कार्य ठीक उल्टा है। तुम केवल मुंह की बात से हमें तृप्त करना चाहते हो, किन्तु व्यवहार में कुछ नहीं करते, इससे हमारा जीवन और भी प्रतप्त हो उठता है। तुम्हारी कथा से जीवन तप्त होता है, इसलिये शास्त्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं, किन्तु प्रेमिकगण तुम्हारी कथा की प्रशंसा नहीं करते। तुम्हारी कथा पापघ्न (पापहर) हो सकती है, हृत्तापघ्न (हृदय के ताप को हरने वाली) निश्चय ही नहीं। इससे हृदय का ताप दूर हो भी जाय, यह चित्त को सुख देनेवाली नहीं। इसलिये तुम्हारी कथा ऐश्वर्यमद से विस्तृत होती है। जगत् में जो लोग तुम्हारी कथा का उपदेश देते हैं, वे भूरिच्छेदक हैं। अतएव 'तप्तजीवनं' 'कविभिरीडितं' 'कल्मषापहं' इत्यादि केवल अप्रस्तुत प्रशंसा मात्र है। प्रत्येक पद से पूर्व एक अकार लगाकर इस प्रकार की व्याख्या का अर्थ लेना होगा।)

श्रीपाद हेमाद्रि कहते हैं, इस पद्य के प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर 'व' कार है। उसके अतिरिक्त प्रत्येक चरण के अर्थ में वर्णसमानता दिखाई देती है।

"अयहन्त नुतं कविश्वरैः श्रुतिकान्तं वत तप्तजीवनम् ।
कथयन्ति भवत्कथामृतं मृतसञ्जीवनमन्वहं बुधाः ।।
अनुरागवतान्तु चेतसाममृतं वा किमु वा हलाहलः ।
सुखदञ्च सुदुःखदञ्चं तन्न हि विद्मस्तव कीदृशं वचः ।।
अमृतेन निषेवितं बहिः क्षुरसारोद्धत-धारमन्तरे ।
चरितञ्च वचश्च ते समां रतिमन्तो हि विदन्ति तत्वतः ।।"

(आ. वृ. 19/19-21)

'पण्डितजन तुम्हारी कथा को पापनाशक, श्रवणसुखद, तप्तजन के लिये जीवनप्रद और मृतसञ्जीवन बताया करते हैं। किन्तु जो लोग तुम में अनुराग रखते हैं, उनके लिये तुम्हारी कथा अमृत है या हलाहल (विष), सुखद है या सुदुःखदायी यह समझना कठिन है। तुम्हारी कथा और चरित्र बाहर से आपततः (प्रथमदृष्टया, आरम्भ में) अमृत की तरह मधुर लगती है; पर उसके भीतर निहित होती है क्षुरधार - तुम्हारी कथा के इस प्रकृत तत्व को वे लोग ही जानते हैं, जो तुम्हारे प्रति रति रखते हैं ।।"9 ।।

**प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।**
**रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि।। 10।।**

**अन्वयः** - (हे) प्रिय ! कुहक ! (हे कपट-शिरामणे !) ते (तव) प्रहसितं (प्रकृष्ट-हसितं) प्रेमवीक्षितं (प्रेम्ना वीक्षितं यत्र तादृशं) विहरणं (सखिभिः सह क्रीड़ाविशेषः) याः हृदिस्पृशः (हृदसङ्गमाः) रहसि संविदः (स्वयं निर्जने गत्वा वेणुनादादिना नर्मोक्तयः ताः) नः (अस्माकं) मनः क्षोभयन्ति हि (व्याकुलयन्ति एव) ।। 10 ।।

**अनुवाद**- हे प्रिये ! हे कपट शिरोमणे ! तुम्हारा मृदु हास्य, सप्रेम कटाक्षपात, सखाओं के साथ विहार के समय तुम्हारी विविध अङ्गभङ्गिमायें देखकर और निर्जन में वंशीनाद के साथ तुम्हारे परिहास वचन सुनकर हमारे चित्त व्याकुल हो उठे हैं ।। 10 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णविरहिणी व्रजदेवियों ने पिछले पद्य में श्रीकृष्णकथा की मधुरता और महिमा नाना प्रकार से बताई। यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम लोग मेरी कथा की स्वादुता और महिमा सभी जानती हो, तो फिर अरी विचार लब्धाओ, मुझे दुर्लभ जानकर भी मेरे प्रति इतना अनुराग क्यों दिखा रही हो ? और जब अनुराग कर ही बैठी हो, तो मेरी कथा सुनकर ही शान्त निश्चिन्त हो जाओ, मेरे दर्शन के लिये इतनी व्याकुलता क्यों ? तो श्रीकृष्ण की इस बात के उत्तर में व्रजबालायें इस श्लोक की अवतारणा कर पूर्वराग-अवस्था में श्रीकृष्ण के व्यवहार को लेकर दोष लगा रही हैं। हे प्रिय ! तुम्हारे प्रति हम लोगों के ऐसे अनुराग का एकमात्र कारण तो तुम्हीं हो। तुम हमें देखकर ऐसी भावमय हँसी क्यों हँसे ? 'प्रहसितं' तासां दर्शनमात्रेण भावोल्लासात् प्रकृष्टं 'सहजस्मितात् किञ्चिदुद्भटहसितं' (तोषणी-व्याख्या) गोपियों को देखते ही श्रीकृष्ण में भावोल्लास का उदय हुआ और स्वाभाविक हास्य की अपेक्षा किञ्चित् उद्भट हास्य दिखाई दिया। माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण की प्रत्येक चेष्टा परम माधुर्यमय होती है, पर प्रेमिक के भाव के अनुसार ही उस माधुर्य की अभिव्यक्ति होती है। शृङ्गाररसराजमूर्ति श्रीकृष्ण का हास्य मधुरभाव की आश्रय इन व्रजबालाओं के लिये मदनरस-उद्दीपक बन जाता है।

**''प्रपन्नजनता-तमः-क्षपण-शारदेन्दुप्रभा**
**व्रजाम्बुजविलोचना-स्मरसमृद्धिसिद्धौषधिः**
**विडम्बित-सुधाम्बुधि-प्रबलमाधुरी-डम्बरा**
**विभर्तु तव माधव ! स्मितकदम्बकान्तिर्मुदम् ।।''**

(गोविन्दविरुदावली)

'हे माधव ! शरणागत जन के हृदय के अन्धकार का नाश करने वाली, व्रजरमणियों के अनङ्ग को बढ़ाने वाली, सुधा-सिन्धु के माधुर्य का तिरस्कार करनेवाली, शारदीय चन्द्र कान्ति की तरह तुम्हारी यह स्मितकान्ति या ईषत् हास्य मुझे असीम आनन्द प्रदान करे।'

व्रजबालाओं के पूर्वराग की दशा में श्यामसुन्दर के मृदुहास्य के आकर्षण का प्रभाव वर्णन किया है श्रील ज्ञानदास ने -

"श्यामरूप हियार माझे जागे ।
कतो अनुरागिनी झुरे अनुरागे ।।
किये रूप मनोहर राय ।
जाचिया जौवन दिते कुलवती धाय ।।
ओइ रूपे आछे कि माधुरी ।
मदनमुगधि कतो मरे झुरिझुरि ।।
ताहे आर धरे नाना वेश ।
कि करिबे जुवती मजिलो सब देश ।।
रूपे आछे औषध मोहिनि ।
पराणे पराण सह करे उमतिनि ।।
ताहे हासि कय कथाखानि ।
आमिया वमिया विधु पड़लो अवनि ।।
ज्ञानदास कहे शुनि धनि ।
कुलेर घुछाइलो मूल भजो रसिकमणि ।।"

श्रील विद्यापति वर्णन करते हैं राधारानी के पूर्वराग में श्यामसुन्दर के मृदुहास्य की माधुरी -

"हमे हसि हेरला थोरा रे ।
सफल भेलो सखि कौतुक मोरा रे ।।
हेरि तहि हरि भेलो आने रे ।
जनु मनमथे मन बेधल वाणे रे ।।
लखल ललित तसु गाते रे ।
मन भेलो परसिअ सरसिज-पाते रे ।।
वर तनु पसरल बिन्दु रे ।
नेउछि नड़ाओल सनखत इन्दुरे ।।

काँपल परम रसाले रे ।
मनसिज गलतहि जपेलु तमाले रे ।।
विद्यापति कवि भाने रे ।
करत कमलमुखि हरि सावधाने रे ।।''

'सखि ! हरि ने हँसकर मेरी ओर थोड़ा देखा, इससे मेरा कौतूहल सफल हुआ। मुझे देखकर हरि अनमने हुए, लगा जैसे मन्मथ ने उनका मन बाण से विद्ध कर दिया। उनका ललित अङ्ग लक्ष्य किया। लगा जैसे पद्मपत्र छू रही हूँ। उनके वरतनु से धर्मबिन्दु निकलने लगे। लगा जैसे निर्मञ्छन (आरति) के बाद सनक्षत्र चन्द्रमा को फेंक दिया। हरि परम रसाल होकर काँपने लगे, लगा जैसे मदन जप में लगे तमाल को गला रहा है। विद्यापति कहते हैं - हरि कमलमुखी को चेतनायुक्त कर रहे हैं, अर्थात् उसके मन में कामचेतना जगा रहे हैं।

वह हास्य कैसा है ? जिसके साथ नयनों का सप्रेमदृष्टिपात मिला हुआ है। ''कीदृशं ? ततः प्रेम्ना वीक्षितं यत्र तादृशं'' (तोषणी टीका)

श्रीपाद लीलाशुक ने कहा है -

''**मधुरतर-स्मितामृत-विमुग्ध-मुखाम्बुरुहं**
**मदशिखिपिच्छ-लाञ्छित-मनोज्ञ-कचप्रचयम् ।**
**विषयविषामिष-ग्रसन-गृध्ननि चेतसि मे**
**विपुल-विलोचनं किमपि धाम चकास्तु चिरम् ।।''**

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्-5)

'जिसका मुखकमल मधुरतर हास्यामृत अति मनोहर हो रहा है, जिसका मनोज्ञ केशकलाप शिखिपिच्छ द्वारा सुशोभित है - विशाल नयनों से युक्त वही कोई अपूर्व ज्योति मेरे इस चित्त में चिर काल प्रकाशित हो, जो विषयविषरूपी आमिष (मांस) -ग्रास का लोभी है।' इस श्लोक का श्रील कृष्णदास कविराज की सारङ्गरङ्गदा टीका का मर्म यह है कि अन्तर्दशा में श्रीलीलाशुक राधारानी की सखी के भाव में उनकी वाणी का अनुवाद कर रहे हैं - 'सखियों यह अपूर्व अनिर्वचनीय ज्योति मेरे हृदय में सदा ही विराजे। सखियों ! तुम लोग कह सकती हो कि जब सन्ताप देना ही श्रीकृष्ण का कार्य है, तो उसे स्मरण करने से क्या लाभ ? यह बात ठीक ही है, पर मैं क्या करूँ बताओ ? मेरा चित्त तो मेरे वश में नहीं। वह तो 'विषयविषामिषग्रसनगृध्नु' है '- विषयविषरूपी आमिष-ग्रास का लालची है। जो विशेषरूप से चित्त को स्नेहासिक्त करे, अर्थात् अपने माधुर्य-मधु से मनोभृङ्ग को बाँधकर रखे, वही 'विषय' है। श्रीकृष्ण को छोड़ ऐसा विषय और क्या है ? यह विषय विष की तरह दाहक है, इसलिये

यह विष भी है। यदि तुम सब कहो कि विष-जैसा दाहक है, तो इसमें आसक्ति पोषण करने से क्या लाभ ? तो सुनो, ये (श्रीकृष्ण) आमिष की तरह लोभनीय हैं। इनमें जो आसक्ति है, वह छोड़ी नहीं जा सकती। मेरा चित्त सतत श्रीकृष्णरूपी विषयविष-आमिष के प्रति आकृष्ट है।' फिर गोपियों को देखकर श्रीकृष्ण के उन विशाल लोचनों के कटाक्ष वाण –

''अजर्जर-पतिव्रता-हृदयवज्र भेदोद्धुराः
कठोर-वरवर्णिनीनिकर-मानवर्मच्छिदः ।
अनङ्गधनुरुद्धत-प्रचल-चिल्लिचापच्युताः
क्रियासुरधविद्विषस्तव मुदं कटाक्षेषवः ।।''

(गोविन्द विरुदावली - 13)

'अघारि श्रीहरि के वे कटाक्षरूपी शर तुम लोगों को असीम आनन्द प्रदान करें, जो कामधनु की तरह उद्धत (खिंची, उन्नत) भ्रूकार्मुक (धनुष-सी भौंहों) से निकल कर पतिव्रताओं के हृदय-वज्र को भेदने में और वर वर्णियों के कठोर मान-कवच को छेदने में समर्थ हैं पदकर्ता कहते हैं –

''किशोर वयस मणि-, काञ्चन आभर,
भाले चूड़ा चिकण वणान।
हेरइते रूप-, सायरे मन डुबल,
बहुभाग्ये रहल पराण।।
सखि हे, पेखलुँ पन्थक माझ।
हाम नारी अबला, एकला जाइते पथे,
बिछुरल सब निज काज।।
नयानसन्धान-, वाणे तनु जर जर,
कातर बिनि अवलम्बे।
वसन खसये घन, पुलके पुरल तनु,
पानि ना पूरलुँ कुम्भे।।
घर नहे घोर जेनो, जागिते स्वपन हेनो,
आरति कहने ना जाय।
ज्ञानदास कहे, मने अनुमानिये,
वास करब नीपछाय।।''

इसके बाद गोपियों ने कहा - 'विरहणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्' ''ततो विहरणं सखिभिः सह क्रीड़ाविशेषः। तच्च कीदृशं ध्याने मङ्गलं तदनुचिन्तने आशाबन्धकारकं निजभावा- भिव्यञ्जनामयत्वात्'' (टीका वैष्णवतोषणी) सखाओं के साथ तुम्हारी क्रीड़ाविशेष। हमें देखकर सखा को आलिङ्गन आदि करना - यह हम लोगों के साथ मिलन आदि भावों का द्योतक है। इस प्रकार कितने शत सखाओं के साथ मिलन विहार और अङ्ग-भङ्गिमा इत्यादि, जो हमारे हृदय में तुम्हारे साथ मिलन आदि भावों के अभिव्यञ्जक हैं। तुम्हारी उन्हीं सब भाव-चेष्टाओं ने हम लोगों के हृदयों में तुम्हारे साथ मिलन की आशा को बद्धमूल कर दिया है।

फिर 'रहसि संविदो या हृदिस्पृशः' - निर्जन में जाकर वेणुवादन आदि द्वारा नर्म उक्ति। यह हमारे लिये सबसे अधिक मर्मस्पर्शी है। तुम्हारे साथ हमारे मिलन आदि भावों का सुस्पष्ट इंगित है इसमें। व्रजगोपियों का चित्त आकर्षित करने के लिये जो सब दूतियाँ रहती हैं, उनमें यह वंशीध्वनि श्रेष्ठ है। यथा -

''ह्रियमवगृह्य गृहेभ्यः कर्षति राधां वनाय या निपुणा ।
सा जयति निसृष्टार्था वरवंशज-काकली दूती ।।''
(उ. नी.)

गार्गी ने कहा - आहा ! सद् वंशज वंशी-ध्वनिरूपा दूती की कैसी आश्चर्यजनक शक्ति है। वह कुलकामिनियों की लज्जा का उच्छेद करती है और उसे श्रीराधा को घर से वन में आकर्षित करने का भार प्राप्त है, अतएव उसकी जय हो।

''सजनि ! कि मधुर मुरलीर गान।
शुनिया आनन्दभरे, मृत तरु मुञ्जरे,
यमुना बहइ उजान।।
हरिण हरिणी शुनि, मधुर मुरली-ध्वनि,
पुलके पूरए सब अङ्ग।
मयूर मयूरी नाचे, आसिया श्यामेर काछे,
पवन डराइया देखे रङ्ग।।
शारी शुक पिक जतो, तारा सब पुलकित,
दरबे कठिन दारु शिला।
हेनो मुरलीर स्वरे, केमने धैरज धरे,

कुलवती युवती अबला।।
शुनो शुनो आरे सइ, तोमारे मरम कइ,
पराण सोंपिबो श्यामचान्दे।
दीनबन्धुदास बोले, जखनि देख्याछि तारे,
सेइ हैते प्राण मोर कान्दे।।''

गोपियाँ कहती हैं - हे प्रिय ! हे लोभन ! आशा ही आशा में और कितना समय बितायें, बताओ। और सहन नहीं होता। हे प्राणों के प्राण ! एक बार दर्शन दो। अब तो हर समय बस तुम्हारी उस मन-उन्मादक हँसी की बात, तुम्हारी उस प्रेमभरी चितवन की बात, तुम्हारे उस ध्यानमङ्गल विहार की बात ही याद आती है। जो हमारे प्रत्यक्ष उपभोग का विषय था, वह अब तुम्हारे अदर्शन से ध्यान का विषय बन गया है। तुम्हारी कायिक वाचिक और मानसिक चेष्टाओं की बातें याद आती हैं, तो वे प्राणों को व्याकुल कर डालती हैं। हमारे कोटि-कोटि जन्मों के सौभाग्य के फलस्वरूप जब यमुना-पुलिन पर तुम्हारे साथ हमारा मधुर मिलन हुआ था, तब तुम्हीं ने कहा था - ''तुम लोग मेरी प्रियतमा हो मैं अवश्य ही तुम्हारा इष्ट साधन करूँगा।'' तुम्हारी वह प्रतिज्ञा कहाँ गई ? अब तो तुम हम लोगों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर रहे हो। अब तो हमें लग रहा है कि आरम्भ से अन्त तक तुम्हारी कपटता ही रही - केवल कपटता ! बोलो, तुम कुहक (ठग, छलिया)- शिरोमणि को छोड़ और क्या हो ? किन्तु तुम्हारे इस कपटताभरे व्यवहार के माधुर्य ने हमारे चित्त को अत्यन्त व्याकुल कर डाला है। 'एतानि मनसि प्रविश्य सद्यः सुखं दत्वा तद्द्वितीयक्षण एव महादुःख ददत्यतएव हे कुहक ! कुहकदत्तवटकान्यपि सद्यः परम-स्वादून्यप्यायत्यां परमदाहकानि प्राणघातका- नीत्यर्थः।' (सारार्थदर्शिनी टीका) तुम्हारे इस आपातमधुर (वर्तमान में, उसी समय अच्छा लगने वाले) व्यवहार के माधुर्य हमारे चित्त में प्रवेश कर सद्य सुख प्रदान करते हैं, सही है, पर अगले ही क्षण महादुःख-सागर में निमग्न कर देते हैं। अतएव हे कुहक ! कुहक के दिये वटक आदि पदार्थ भी सद्य परम स्वादिष्ट लगते हैं और अगले ही क्षण महादुःख-समुद्र में डुबा देते हैं। वे अन्ततः परमदाहक और प्राणघातक होते हैं। हम देख रही हैं कि तुम्हारे विरह में हमारी देहों में प्राण और अधिक समय नहीं रहेंगे। अतएव दर्शन देकर हमारी प्राण-रक्षा करो। इस पद्य के प्रत्येक चरण में द्वितीय वर्ण 'ह' कार है।

''हसितं प्रणयार्द्रवीक्षितं किमपि ध्येयमपीहितं तव।
निभृताश्च हृदिस्पृशः कथाः कितव क्षोभयतेऽखिलं हि नः।।''

(आ. वृ. 19/22)

'हे कितव (धूर्त, कपटी) ! तुम्हारा मधुर हास्य, प्रणयभरा दृष्टिपात, चिन्तन में सुखद अपूर्व अङ्गभङ्गिमा और निर्जन में (वंशीनाद आदि द्वारा उच्चारित) मर्मस्पर्शी बातें हमारे चित्त को निरन्तर विक्षुब्ध करती हैं ।।'' 10 ।।

**चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्**
**नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।**
**शिलतृणाकुरैः सीदतीति नः**
**कलिलतां मनः कान्त गच्छति।। 11।।**

---

**अन्वयः** - नाथ (हे प्राणवल्लभ !) कान्त (हे मनोहर !) यत् (यदा त्वं) पशून् (गवादीन्) चारयन् व्रजात् चलसि (वनं गच्छसि तदा) ते (तव) नलिनसुन्दरं (कमल वत् सुन्दरं कोमलञ्च) पदं (श्रीचरणतलं) शिलतृणांकुरैः (शिलैः पाषणकणैः तृणां कुरैः च) सीदति (व्यथते) इति (एवं सम्भाव्य) नः (अस्माकं) मनः कलिलतां (वैकल्यं) गच्छति (प्राप्नोति) ।। 11 ।।

**अनुवाद**- हे नाथ ! हे कान्त ! तुम जब गोचारण के लिये वनभूमि पर गमन करते हो, तो यह सोचकर कि तुम्हारे कमल जैसे सुन्दर-सुकोमल चरणतल कंकड़तृणांकुर आदि से व्यथित हो रहे हैं, हमारे चित्त व्याकुल हो जाते हैं ।। 11 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण के विरह में कातर व्रजसुन्दरियों ने पिछले पद्य में कहा कि पूर्वरागदशा में ही श्रीकृष्ण के मृदु मधुर हास्य, सप्रेम कटाक्षपात, मिलन संकेतमय विविध अङ्गभङ्गिमाओं और वेणुनाद के

आकर्षण से उन लोगों के चित्त सतत ही श्रीकृष्ण के साथ मिलने की लालसा से व्याकुल हैं। किन्तु उन्हें लगता है जैसे श्रीकृष्ण उनके लिये एक दुर्भेद्य कुहक हैं; उन लोगों के प्राणों में अशेष लालसा की सृष्टि कर एक बार दर्शन देकर साथ ही साथ अदृश्य ! मानो नाना प्रकार से उनके हृदयों को दु:ख देना ही उनका उद्देश्य हो ! इस श्लोक में भी कह रही हैं – ''हे नाथ ! क्या मिलन में क्या विरह में, हमारे चित्तों को सर्वदा क्षोभ प्रदान करना ही तुम्हारा उद्देश्य है; तुम्हारी चेष्टाओं को देखकर हमारी यही धारणा बनती है कि हमारे हृदय को दु:ख देने की इच्छा कभी-कभी नहीं होती, सदा ही होती है। तुम्हारे साथ क्या मिलन और क्या तुम्हारा विरह, हमें तो दु:ख ही भोगना।'' तभी कवि ने इन लोगों के भाव का अनुवाद कर कहा है – 'बड़ो वेदनार मतो बेजेछो हे, तुमि आमार प्राणे' (तुम्हें मैंने बड़ी वेदना की तरह प्राणों में अनुभव किया है)। हे नाथ ! तुम व्रज से वन में जाते हो, तब से गृह-प्रत्यावर्तन तक हमारे मन में बस भीषण चिन्ता ही बनी रहती है। 'व्रजात्' गत्यर्थक 'व्रज' धातु से यह पद निष्पन्न है। व्रज शब्द के विविध अर्थ हैं – समूह, गोष्ठ, पथ इत्यादि। गो-स्थान ही गोष्ठ नाम से प्रसिद्ध है। गोपों के निवास को भी व्रज कहा जाता है। श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध के आरम्भ में बहुत स्थानों पर यह पद देखने में आता है – 'गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम्' (द्वितीय अध्याय) 'मही मङ्गलभूयिष्ठपुर ग्रामव्रजाकरा' (तृतीय अध्याय) यहाँ श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है – ''व्रज: गोपनिवासस्थानम्'' (वृ. तोषणी टीका)। पुन: तृतीय में 'नन्दव्रजं शोरिरूपेत्य'। पञ्चम में –

**''तत् आरम्भ नन्दस्य व्रज: सर्वसमृद्धिमान ।**
**हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीड़मभून्नृप इत्यादि ।।''**

गोपीगीता के प्रथम पद्य में इसी श्लोक की प्रतिध्वनि देखने को मिलती है। 'व्रज' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ही है नन्द आदि गोपों का आवासस्थान। 'व्रज' धातु का शब्दार्थ लें, तो ऐसे पथ को भी व्रज कहा जा सकता है, जिस पर लोग आते-जाते हैं। इसका अर्थ यही है कि हे कृष्ण ! तुम जब पशुओं को चराने पथ से विपथ पर कंकड़-कण्टक भरे स्थानों पर जाते हो, तो तुम्हारे नलिनसुन्दर पगों में तृणांकुर शिला आदि से क्लेश उत्पन्न हो जाता है।

अथवा पशु तो निर्बोध हैं, वे ऐसे पथ पर भी चले जाते हैं, जो तुम्हारे पादपद्मों के लिये दुर्गम है। साधारणत: गोचारणभूमि घनी मृदुल घास से आच्छादित होती है, वहाँ बालुका कंकड़ आदि का अभाव ही होता है। श्रीहरिवंश में लिखा है – 'अझिल्लीकण्टकवनम्' वृन्दावन में सर्वत्र ही कण्टक का अभाव है। श्रीगोवर्द्धन स्वयं हरिदासवर्य हैं, उनकी और उनके अनुगत पर्वतों की शिलायें श्रीकृष्ण के पादन्यास के लिये नवनीत-सी कोमल प्रतीयमान होती हैं। फिर वृन्दावन की वनभूमि श्रीकृष्ण के पादन्यास स्थान पर कंकड़-कण्टक आदि लुप्त कर अपनी कोमल जिह्वा का अस्तर विछाये रखती है –

यह व्रजभूमि की सेवा है। किन्तु महाभाववती गोपियों के अनिष्ट-आशंका-आतुर चित्तों में श्रीकृष्ण के दु:ख की ही सम्भावना उदित होती है। 'तत् सौख्येऽप्यार्तिशंकया खिन्नत्वम्' अर्थात् श्रीकृष्ण के सुख-सम्भाव (चिन्तन) में भी आर्ति-शंका के कारण गोपियों के चित्त में दु:ख उत्पन्न हो जाता है, यह रूढ़ महाभाव का एक लक्षण है। यह प्रीति का स्वभाव है, प्राचीनगण (पूर्वकाल के लोग) कहते है, अनिष्टाशंकिनी बन्धुहृदयानि भवन्ति हि'', जिस से प्रीति की जाती है, कारण - अकारण उसके अनिष्ट की आशंका से प्रीतिमान् जन का हृदय कातर होता है, यह बन्धुत्व का लक्षण है। गोपियाँ कहती हैं - हे व्रजनाथ ! तुम सभी व्रजजनों के नाथ और कान्त हो, विशेषत: हम लोगों के तो तुम यथार्थ ही नाथ और कान्त हो। पशुओं के साथ तुम्हारा इस प्रकार वन-वन भ्रमण और कमलकोष से भी अधिक मृदुल चरणों से क्लेशभोग तुम्हारे लिये अत्यन्त अयुक्त है। तुम्हारे ये सुकोमल पादपद्म केवल हमारे ही हाथों से छुए जाने योग्य हैं। श्रीपाद कवि कर्णपूर ने आनन्दवृन्दावन चम्पू के मङ्गलाचरण में श्रीकृष्ण के चरणकमलों को गोपकिशोरियों का वक्षोजप्रणयी कहा है -

**''वन्दे कृष्णपदार विन्दयुगलं यस्मिन कुरङ्गीदृशां**
**वक्षोज-प्रणयीकृते विलसति स्निग्धोऽङ्गरागः स्वतः ।**
**काश्मीरं तल शोणिमोपरितनः कस्तूरिकां नीलिमा**
**श्रीखण्डं नखकान्ति-लहरी निर्व्याज भातन्वते ।।**
**शोणस्निग्धाङ्गुलि-दलकुलं जातरागं परागैः**
**श्रीराधायाः स्तनमुकुलयोः कंकुम-क्षोदरूपै ।**
**भक्तश्रद्धामधु नखमहः पुञ्जकिञ्जल्कजालं**
**जंघालालं चरणकमलं पातु नः पूतनारेः ।।''**

(आनन्दवृन्दावन चम्पू 1/1-2)

'मैं श्रीकृष्ण के चरणारविन्दयुगल की बन्दना करता हूँ। ये पादपद्म मृगनयनी व्रजसुन्दरियों के स्तनद्वय के प्रेमास्पद होने से उन (व्रजाङ्गनाओं) के स्वभावसिद्ध अङ्गराग (सुगन्धित लेप-उबटन आदि) को ही प्रकट करते हैं। श्रीचरणतलों की अरुणिमा स्तनों के अग्र भाग के कुंकुम का, श्रीचरणों के ऊपर की नीलिमा स्तनों के नीचे की कस्तूरी का, नखचन्द्रों की कान्ति-लहरी स्तनों के मध्यमण्डलवर्ती चन्दन का निष्कपट भाव से विस्तार किया करती है।

पूतनारि (पूतना + अरि) श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमल अपनी सम्वाहन आदि सेवा में नियोजित कर हम लोगों की रक्षा करें। आहा ! इन चरणकमलों की माधुरी का और क्या वर्णन करूँ ? रक्तवर्ण और स्निग्ध अँगुलियाँ इन चरणकमलों के पत्र (पत्ते) हैं। श्रीमती राधिका के स्तन-मुकुलों में अलिङ्गनबद्ध

(लगे हुए) कुंकुमचूर्ण-रूपी पराग द्वारा इन पादपद्मों की अरुणिमा जन्मी है। भक्तों की श्रद्धा ही इनका मधु है। नखों का प्रभापुंज ही इनका केशरजाल है। जंघा ही इन पादपद्मों की नाल हैं।' श्रीकृष्ण के सुशीतल श्रीचरणकमल श्रीमती राधारानी के करयुगल द्वारा संलालित हैं। (श्रीगोविन्द लीलामृत - 16-18)

''चन्देन्दीवरचन्दनेन्दुनलदाच्छीतं लसत् सौरभं
राधायाः स्तनसङ्गलोलुपतमं तत् पाणि संलालितम् ।
तच्छ्रीकुंकुमचर्चितं सुललितं शोभालि-लीलास्पदं
तच्छ्रीकृष्णपदाम्बुजं भवतु नः सम्वाहनीयं सदा ।।''

'श्रीकृष्ण के श्रीपादपद्म चन्द्र, इन्दीवर, चन्दन, कपूर, वेणामूल (खसखस) आदि शीतल वस्तुओं से भी अधिक सुशीतल हैं। श्रीराधा के स्तन-सङ्ग के अतिशय लोलुप, उनके हाथों से संलालित, उनके कुच-कुंकुम से चर्चित, समस्त शोभा और लीला के आस्पद वे सुन्दर सौरभान्वित श्रीचरणकमल हमारे सदा सम्वाहनीय हो।'

अथवा, तुम प्रियजन के नाथ हो - उपतापक (पहले इसका अर्थ किया गया है) - केवल कष्टदाता। गोपियों का प्रेम ही ऐसा है - मानो विष और अमृत का मिलन। कभी लगता है सुख का अन्त नहीं, फिर लगता है दुःख का अन्त नहीं। विदग्धमाधव (2/30) में -

''पीड़ाभिर्नवकालकूट-कटुतागर्वस्य निर्वासनो
निःस्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कार-संकोचनः ।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ।।''

पौर्णमासी देवी ने नान्दीमुखी से कहा - 'हे सुन्दरि ! श्रीनन्दनन्दन-विषयक प्रेम जिसके हृदय में जगता है, वही इसका वक्र अथच मधुर विक्रम जान सकता है। इस प्रेम की ऐसी पीड़ा होती है कि वह नव कालकूट विष का गर्व भी खर्व कर देती है। फिर जब इस प्रेम से आनन्दधारा क्षरित होती है, तो वह अमृत के माधुर्यजनित अहंकार को भी संकुचित कर देती है। अन्त में आनन्द की अनुभूति उपमर्दित होकर (दब-कुचल कर) मानो दुःख-भोग ही सार बन जाता है -

''अग्नि जैछे निजधाम, देखाइया अभिराम,
पतङ्गेरे आकर्षिया मारे।
कृष्ण ऐछे निजगुण, देखाइया हरे मन,

पाछे दु:ख-समुद्रेते डारे।।''

(चै. च. मध्य. 2)

श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं – तुम लोग जब इतनी विवेकबुद्धिमती हो, तो दु:खहेतुक मेरी चिन्ता छोड़ क्यों नहीं देतीं ? इसका उत्तर देती हैं – तुम ऐसा कह सकते हो, किन्तु हम क्या तुम्हारी चिन्ता किये बिना रह सकती हैं ? वायु के बिना प्राणी बचे तो बच भी सकता है, जल के बिना मछली के लिये भी जीवनधारण करना सम्भव हो सकता है, किन्तु हम लोग तुम्हारी चिन्ता किये बिना एक मुहूर्त भी नहीं रह सकतीं। तुम हमारे कान्त, प्राणेश्वर और जीवन-नाथ जो हो।

श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं – विज्ञजन कहते हैं –

''यावत: कुरुते जन्तु: सम्बन्धान् मनस: प्रियान् ।
तावतोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकव: ।।''

'जीव अपने मन को प्रिय जितने आत्मीय बन्धुबान्धव बना लेता है, उतने ही शोक-शंकु (शोकरूपी कील-कटार) हृदय को बेधते हैं। इस सम्बन्ध-सृष्टि का विषमय फल ही है शोक-शंकुओं की सृष्टि करना। प्रीतिसम्बन्ध स्थापित करने में यही दोष है। इस क्लेशजनक प्रीति-सम्बन्ध को ही छिन्न कर दो।' इसका उत्तर देती हैं – 'मनोगच्छति' हमारा मन तुम्हारी ओर दौड़ा जाता है, हम क्या करें ? हमारा संकल्पविकल्पात्मक मन बुद्धिवृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। यदि कृष्ण यह कहें कि मन भी तुम्हारा है, मन को ठीक क्यों नहीं कर लेतीं, तो वे उत्तर देती हैं – हे कान्त ! हे मनोहर ! हमारा मन क्या अब हमारा ही है ? हे कान्त ! रूप गुण और वंशीस्वर से हमारा मन तो तुमने हर लिया। इसलिये हे नाथ ! हमारा प्राणान्तकर यह दु:खदायी वनभ्रमण-क्लेश त्याग कर हमें दर्शन देकर प्राण-रक्षा करो।

इस श्लोक के 'कलिलतां मन: कान्त गच्छति' इस अंश की व्याख्या में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है – 'कलिं कलहं लाति गृन्हातीति कलिलं तद्भाव: कलिलता, तं अस्माभिरेव सहास्मन्मन: कलहं करोतीत्यर्थ:।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार गोपियाँ कहती हैं – हे नाथ ! तुम जब गोचारण के लिये जाते हो, तो हमारे साथ हमारे मन का कलह होता है। वह कलह इस प्रकार है –

हम कहती हैं – अरे भाइ मन, एक बात सोच कर देखो। यदि वनभ्रमण में कृष्ण को क्लेश होता, तो क्या वे प्रतिदिन वनभ्रमण को जाते ? निश्चय ही उन्हें कोई क्लेश नहीं होता, फिर तुम व्यर्थ ही इतना क्लेश-बोध क्यों करते हो ?

मन कहता है – अरी निर्बुद्धि गोपबालाओ ! तुम क्या जानती नहीं, उनके पादपद्म स्थलपद्म से भी अधिक सुकोमल हैं। वन में कितने ही तृणांकुर हैं उन कुसुमकोमल चरणतलों को पीड़ा क्यों नहीं होगी ?

हम लोग – अरे मुग्ध मन ! वे सुकोमल बालुका-आवृत पथ पर चलते हैं।

मन – अरी निर्बुद्धि गोपबालाओं ! गाय आदि पशु क्या उन पथों पर बालुका भक्षण करते हैं ? वे तो पथ छोड़कर विपथ-कुपथ पर जाते हैं, तुम लोग नहीं जानतीं यह बात ?

हम – अरे प्रेमान्ध ! वे चक्षुष्मान् हैं (उनकी आँखें हैं), भला वे शिला तृणांकुर पर पैर रखकर क्यों चलेंगे ?

मन – अरी प्रेमगन्धहीन व्रजबालाओ, यदि चित्त के आवेग से अथवा भ्रमवश कंकड़-कण्टक पर उनके श्रीपादपद्म पड़ जाये, तो क्या दशा होगी ?

हम – भाई मन ! तुमने ठीक ही कहा । यह सब दु:ख भोगने के लिये ही विधाता ने हम लोगों की सृष्टि की है।

मन – यदि इस दु:खभोग के लिये ही तुम्हारी सृष्टि हुई हैं, तो अच्छा है, तुम लोग उसे भोगो। दु:खियाओ ! मैं ऐसा दु:खभोग कभी नहीं कर सकता। मैं अभी तुम्हारे प्राणों के साथ तुम्हारी देहों से निकल कर चला जाता हूँ।

रसिक व्याख्याकार श्रील चक्रवर्तिपाद ने गोपिका के प्रेम के अनुरूप एक अभिनव आस्वादनमय व्याख्या की है। इस पद्य के प्रत्येक चरण का द्वितीय वर्ण 'ल' कार है।

**''अणुमात्रमपीह वर्तते नितरां प्रेम हि मादृशीषु वः ।**
**तिलमात्रमयीह ते क्लमं न समर्था वयमीक्षितुं तव ।।**
**व्रजति व्रजतो गवां व्रजं विपिने चारयितुं यदा भवान् ।**
**चरणौ तव खिद्यतस्तृणै-रिति नः खिद्यति मानसं तदा ।।**
**क्व नवपद्मपलाशकोमलं क्व तव श्रीमयमङ्घ्रियुग्मकम् ।**
**क्व स तीक्ष्णतरस्तृणांकुरः स्मरणं तन्मरणाय नो भवेत् ।।''**

(आ. वृ. 19/23-25)

'हम-जैसी प्रेमवती गोपियों के प्रति तुम्हारा अणुमात्र भी प्रेम नहीं है, होता तो क्या हमारा दु:ख देख पाते ? हम लोग तो तुम्हारा दु:ख तिलमात्र भी देखने में समर्थ नहीं। तुम जब गोचारण के लिये वन-गमन करते हो, तुम्हारे चरण तृणों से व्यथित होते हैं। वह व्यथा क्या हमारे प्राणों को नहीं लगती ? कहाँ तुम्हारे नव पद्मपत्र कोमल शोभामय पदयुगल, और कहाँ अति तीक्ष्ण तृणांकुर – यह चिन्ता ही हमारे मरण का कारण बन जाती है ।।' 11 ।।

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं विभ्रदावृतम्।
धनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मं वीर यच्छसि।। 12।।

**अन्वयः** – वीर (हे व्रजस्त्रीणां मोहनसमर्थ त्वं) दिनपरिक्षये (दिवावसानकाले) नील-कुन्तलैः (घनकृष्ण कुञ्चितालकावलिभिः) आवृतं धनरजस्वलं (गोरजश्छुरितं) वनरुहाननं (अलिमालाकुल-परागच्छुरितपद्म- तुल्यमाननं) विभ्रत् (प्रकटयन् तत् च) मुहुर्दर्शयन् (गोसम्भालनादिच्छलेन पुनः पुनः दर्शयन्) नः (अस्माकं मनसि) स्मरं यच्छसि (कन्दर्पम् अर्पयसि) ।। 12 ।।

**अनुवाद**– हे वीर ! तुम जब दिन ढलने पर नील कुन्तल से ढका अर्थात् ललाट पर अलकावलि से सुशोभित अपना कमलानन नाना प्रकार के छल से हमें बार-बार दिखाते हो, तब हमारा हृदय कन्दर्पशर से जर्जरित हो जाता है ।। 12 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण के विरह में कातर व्रजसुन्दरियों ने पिछले श्लोक में कहा है कि श्रीकृष्ण क्या विरह में, क्या मिलन में, उन्हें सदा दुःख ही दिया करते हैं। वे गोचारण को जाते हैं, तो वन के कंकड़-कन्टकों से उनके श्रीचरणों कर आघात पहुँचेगा, इस आशंका को लेकर उन लोगों का सारा दिन महादुःख में बीतता है। महाभाववती गोपसुन्दरियों की श्रीकृष्ण-विरह में क्षणकल्पता की बात जानी जाती है श्रीकृष्ण के अदर्शन में उन्हें एक क्षण शत-शत युगों की तरह दीर्घ लगता है, कारण – श्रीकृष्ण के विरह में क्षणकल्पता महाभाव का एक 'लक्षण' है। उत्तर गोष्ठ में श्रीकृष्ण व्रज में आयेंगे, तो उनके दर्शन कर उन लोगों की वह महाविरह-ज्वाला शान्त होगी, इस आशा में अति कष्ट से उनका दिन बीतता है। श्रीकृष्ण लौटते हैं दिन के अत्यन्त प्रान्तभाग में (अन्त में) – इससे उन लोगों का दुःख और बढ़ जाता है। फिर यह समय कामोदय-वेला। श्रीकृष्ण उनकी विरहज्वाला का उपशम करें और उन्हें आनन्द प्रदान करें, यह तो दूर, वे तो उनके हृदय को कामशर से विद्ध कर जर्जरित कर देते हैं। श्रीकृष्ण के अदर्शन में विरह-शर से और दर्शन में काम-शर से उनका हृदय जर्जरित हो जाता है। इस प्रकार क्या विरह, क्या मिलन, व्रजबालाओं को किसी भी समय सुख नहीं। उत्तरगोष्ठ-काल में श्रीकृष्ण के मुखकमल की शोभा विशेष देखकर मदन-शर से उन लोगों के विद्ध होने की बात कही गई है। अर्थात् श्रीकृष्ण-वदन का अधिकतर सौन्दर्य दर्शन कर उन लोगों की कामवासना सम्वर्द्धित होती है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ के स्थायीभाव प्रकरण में यह प्रतिपादित किया है कि नित्यसिद्धा गोपसुन्दरियों की स्वरूपसिद्धा रति श्रीगोविन्द- सौन्दर्यानुराग अथवा रूप-गुण आदि किसी बात की अपेक्षा नहीं रखती। दृष्टान्त –

''असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहिनो गुणिनां वरो वा ।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा
श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम् ।।''

'श्यामसुन्दर असुन्दर हों चाहे सुन्दरशेखर; गुणहीन हों चाहे गुणियों में श्रेष्ठ; वे मेरे प्रति विद्वेष रखें चाहे सकरुण हों – उन्हें छोड़ मेरी अन्य गति नहीं।' श्रीचैतन्यचरितामृत के उपसंहार में भी श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति में इस भाव की स्वरूपसिद्धा रति का एक सुन्दर उदाहरण है –

''आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ।।''

इस श्लोक का श्रीमन्महाप्रभु का आस्वादन देखिये –

''आमि कृष्णपद-दासी, तेंहो रससुखराशि,
आलिङ्गिया करे आत्मसाथ।
किबा ना देन दर्शन, जारेन आमार तनुमन,
तभु तेंहो मोर प्राणनाथ।।
सखि हे ! शुनो मोर मनेर निश्चय।
किबा अनुराग करे, किबा दुःख दिया मारे,
मोर प्राणेश कृष्ण अन्य नय।।
छाड़ि अन्य नारीगण, मोर वश तनु मन,
मोर सौभाग्य प्रकट करिया।
ता सभारे देन पीड़ा, आमा सने करे क्रीड़ा,
सेइ नारीगणे देखाइया।।
किबा तेंहो लम्पट, शठ धृष्ट सकपट,
अन्य नारीगण करि साथ।
मोरे दिते मनः पीड़ा, मोर आगे करे क्रीड़ा,
तभु तेंहो मोर प्राणनाथ।।

ना गणि आपन दुःख, सबे वाञ्छि ताँर सुख,
ताँर सुखे आमार तात्पर्य।।''

(इत्यादि)

इसी का नाम है स्वरूपसिद्धा रति। यही व्रज की रसोपासना का महासाधन है। रूप, गुण आदि इसके उद्दीपक मात्र हैं, किन्तु उत्पादक नहीं।

जो भी हो व्रजदेवियाँ इस श्लोक में उत्तरगोष्ठ में व्रज-आगमन के समय श्रीकृष्ण के वदनकमल की शोभाविशेष का वर्णन कर रही हैं। वदनकमल को 'जलरुहाननं' न कहकर 'वनरुहाननं' कहा गया है। मानो श्रीकृष्ण का मुखकमल देखकर गोपियों के आगे वन की अवस्था उभर कर आ रही थी। अर्थात् उनकी वनविहारमाधुरी का चिन्ह मानो उनके मुखकमल पर लगा हुआ था। अथवा 'वनरुहाननं' से उन लोगों का यह अभिप्राय भी था कि हम तुमसे गृहरति नहीं चाहतीं, हमारा काम्य यह वनरति ही है। व्रज में परकीय मधुररस में श्रीकृष्ण के साथ निकुञ्जविहार निकुञ्जलीला ही गोपियों का काम्य है। वैकुण्ठ में श्रीमन्नारायण की परमस्वीया कमलाओं के साथ और द्वारकालीला में श्रीकृष्ण की स्वकीया कान्ता महिषियों के साथ मिलन-विहार आदि मणिमय अट्टालिका में ही सम्पन्न होता है, किन्तु वृन्दावन में ऐसा नहीं है। यहाँ व्रजगोपियों के साथ श्री गोपीनाथ का अति रहस्यमय गुप्त निकुञ्जविलास होता है। 'वनरुहाननं' से वह भी सूचित हुआ।

गोपियाँ श्रीकृष्ण के श्रीमुखकमल की शोभा-विशेष का वर्णन कर रही हैं - तुम्हारे ललाट पर नील चूर्णकुन्तल (घुँघराले केश) श्रीमुख के आवरण के रूप में अति मनोहर शोभा का विकास करते हैं। लगता है जैसे पिपासित भृङ्ग मकरन्द-पान की आशा में नील कमल पर बार-बार उड़कर आ गिरते हैं। तुम अपने बायें हाथ की अँगुली से बीच-बीच में उन्हें संयत करते हो। इससे तुम्हारा अनन्त मधुर वदनकमल गायों के खुरों से उठी रज द्वारा धूसरित हो जाता है - 'धनरजस्वलं' (यह 'वनरुहाननं' पद का विशेषण है)। जैसे परागमण्डित नील कमल ! अन्य अर्थ भी हो सकता है - धनरजः स्वलं सु-अलं अर्थात् गोधनरज ही जिनका सुष्ठु अलंकार है।

श्रीपाद शुककदेव मुनि ने श्रीकृष्ण की बाल्यलीला में कर्दमलिप्त अङ्गमाधुरी का वर्णन किया है - ''पंकांगरागरुचिरौ'' ''पंको व्रजकर्दमएवाङ्गरागस्तेन रुचिरौ'' (वैष्णव-तोषणी टीका) श्रीकृष्ण और बलदेव नन्द-प्राङ्गण में घुटअन चल रहे हैं, कर्दम (कीचड़ आदि) से मानो उनका अङ्गराग हो गया है, दोनों अत्यन्त सुन्दर लग रहे हैं। ''सरसिजमनुविद्धं शैवालेनापि रम्यम्'' - सद्यप्रस्फुटित कमल शैवाल (काई) - लिप्त होने पर भी अति सुन्दर लगता है। माधुर्य के सिन्धु में जो कुछ गिरता है, वही मधुमय हो जाता है। उसी प्रकार माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण के अङ्ग पर गोरज की कैसी अपूर्व शोभा !

विशेषत: व्रजगोपियों के स्वजातीय भाव के अनुरूप गोरजमण्डित गोपवेश सर्वाधिक चित्ताकर्षक और स्वीयभाव का उद्दीपक है। यह सामान्यत: स्मर (कन्दर्प) अर्पण का कारण है। व्रजगोपी कहती है - तुम अपना मुख दिखाये बिना घर के भीतर चले जाओ, तो हमें इतना दु:ख नहीं होता। पर तुम तो गायों को संभालने और सखाओं को बुलाने के बहाने बार-बार चारों ओर देखकर हमें अपना मुख दिखाते हो, इससे हमारे हृदय में बार-बार कामार्पण कर देते हो। हम सोच-समझकर भाव-संवरण की चेष्टा करें, इसका भी कोई उपाय नहीं रहता, कारण - तुम बार-बार अपना वदनकमल इस प्रकार दिखाते हो कि वह स्मर हमारे मन में उदित हो जाता है। और इस तरह उदित होता है कि उसके प्रतिकार का उपाय नहीं बचता। इस स्मर (काम) का स्वभाव ही ऐसा है कि कान्त के स्मरण मात्र से ही वह चित्तक्षोभक बन जाता है। और तुम उसी कन्दर्प को हमारे हृदय में साक्षात् प्रेरित करते हो। इससे उसका अधिक प्रभाव और अप्रतिकार्यत्व (अचूक होना) ही सूचित होता है। हे वीर ! तुम्हारी वीरता और सामर्थ्य इसी में है, अन्य किसी बात में नहीं। इस बात से श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का सप्रणय रोष और नर्म (रसपरिहास) ध्वनित हुआ।

आहा ! दिन ढलने पर व्रज-प्रान्त में तुम्हारे ऐसे वेश को देखकर ही हमारे भीतर कन्दर्प का उद्गम होता है। इस पूर्णिमा की रात वन के बीच तुम्हें मोहन नागरवेश में पाकर भी सहसा खोकर हम अति दारुण ज्वाला भोग रही हैं। तुम्हारे स्मरणविशेष ने हमें प्राणान्तकर दशा में ला पटका है। अतएव विलम्ब त्यागकर अभी दर्शन देकर हमारी प्राण-रक्षा करो।

पिछले श्लोक में और इस श्लोक में जो बात परिव्यक्त हुई, उससे यह भी व्यञ्जित हुआ कि हे कान्त ! तुम प्रतिदिन हमारे हृदय का आकांक्षित अभीष्ट पूरा किये बिना ही चले जाते हो, फिर भी हमारा मन तुम्हारे प्रति स्नेह ही वहन किये रहता है, कभी उदासीनता वहन नहीं करता। फिर हमारा हृदय जिस स्मर को वहन करता है, वह भी तुम्हारा ही प्रेरित है, तभी वहन करता है - स्वत: प्रणोदित होकर नहीं। यही 'विभ्रत' पद का तात्पर्य है। फिर तुम्हारे प्रति स्नेहमय रूप में ही वहन करता है, रुक्षभाव से नहीं, कारण - हमारा स्नेह तो स्वभावज है। हम लोग तुम्हारे प्रति अनुरक्त होकर तुम्हारे सङ्ग-लाभ की आशा से तुमसे मिलती हैं, पर तुम हमारे हृदय में केवल स्मर ही अर्पित करते हो, परस्पर स्नेहोचित सङ्गदान नहीं करते। इससे स्पष्ट समझ में आता है कि हमारा सब कुछ स्नेहमय है और तुम्हारा सभी कुछ कपटता- भरा।

व्रजगोपियों का 'स्मर' या काम स्नेहमय अथवा निर्मल प्रेममय है। 'काम' शब्द से साधारणत: अपनी इन्द्रियों को चरितार्थ करने का साधन ही समझा जाता है। उधर 'प्रेम' शब्द से कृष्णेन्द्रियों को चरितार्थ करने का साधन समझा जाता है।

"काम प्रेम दोहाकार विभिन्न लक्षण ।
लौह आर हेम जैछे स्वरूपे विलक्षण ।।
आत्मेन्द्रियप्रीति-इच्छा - तारे बलि काम ।
कृष्णेन्द्रियप्रीति-इच्छा - धरे प्रेम नाम ।।
कामेर तात्पर्य निजसम्भोग केवल ।
कृष्णसुखतात्पर्य हय प्रेम महाबल ।।"

(चै. च. आदि 4)

काम व्यभिचारी और बहुविषयगामी है; प्रेम एकनिष्ठ है, उसकी गति सिन्धुगामी गङ्गाप्रवाह की तरह अविच्छिन्न है। यहाँ 'काम' शब्द के हेय अंश को लक्ष्य करके ही ऐसा कहा गया है। काम का हेयांश अर्थात् स्वसुखतात्पर्यानुसन्धान वर्जित होकर यदि उसके द्वारा भगवत् सुख की अनुकूलता का अनुसन्धान बन जाय, तो वही काम परम पुरुषार्थ के रूप में शास्त्रों में बहु प्रशंसित होता है कारण - काम का उपादेय अंश तीव्र पिपासा ही वर्तमान रहती है और वही अदम्य वेगवती इच्छा प्रेम के आनुगत्य में रहकर साध्य वस्तु का नये-नये भाव से आस्वादन कराती है। इसीलिये कहा गया है -

**"सहजे गोपीर प्रेम नहे प्राकृत काम ।**
**काम क्रीड़ा साम्ये तार कहे काम नाम ।।"**

(श्री चै. च.)

इस विषय में श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने प्रीतिसन्दर्भ में लिखा है - "एष भावः (कान्तभावः) कामतुल्यत्वात् श्रीगोपिकाषु कामादिशब्देनाप्यभिहितः। स्मराख्य-काम-विशेषस्त्वन्यः वैलक्षण्यात्। कामसामान्यम् खलु स्पृहासामान्यात्मकं। प्रीतिसामान्यन्तु विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगत विषयस्पृहादिमयो ज्ञानविशेष इति लक्षितम। ततो द्वयोः समानप्रायः चेष्टत्वेऽपि कामसामान्यस्य चेष्टा स्वीयानुकूल्यतात्पर्या। शुद्धप्रीतिमात्रस्य चेष्टा तु प्रियानुकूल्यतात्पर्यैव।"

अर्थात् व्रजगोपियों का यह कान्तभाव कामतुल्य होने से 'काम' शब्द से अभिहित हुआ है। यह स्मर नामक प्राकृत काम से अति भिन्न है, कारण - दोनों का विरोध देखने में आता है। साधारणतः 'काम' से स्पृहा या इच्छा समझी जाती है। 'प्रीति' विषय की अनुकूलता एवं विषय की अभिलाषा से पूर्ण ज्ञान-विशेष है। अर्थात् जो प्रीति के विषय हैं, उन्हीं की अनुकूलता द्वारा उनका अनुभवविशेष। इसलिये काम और प्रेम दोनों की चेष्टा समानप्राय होते हुए भी काम में स्वसुखतात्पर्य रहता है और शुद्ध प्रेम में प्रिय की अनुकूलता या श्रीकृष्ण का सुखतात्पर्य।

**"अतएव गोपी गणे नाहि कामगन्ध ।**

कृष्णसुखलागि मात्र कृष्णे से सम्बन्ध ।।''

(चै. च.)

इस पद्य के प्रत्येक पद का द्वितीय अक्षर 'न' कार है।

''सकलं दिनमेवमेव हे, रमण त्वद्वनखेदचिन्तया ।
अथ मर्मणि मर्मणि भ्रमन, व्यथयत्येव स कोऽपि हृदवृणः ।।
अथ यद्दिवसानतो, विपिनान्ताद्व्रजमध्यमा-विशन् ।
घनगोखुर धूलि घूसरै-रलकैश्चारुमुखं च दर्शयन् ।।
हृदये मनसोऽप्यगोचरं, कुसुमेषुं सहसा प्रवेशयन ।
विविधैरभिलाषकल्पनैः, कलिलं नाथ करोषि नो मनः ।।
अयमेष्यति नोहद्य मन्दिरं, रजनावित्य-भिलाषरंहसा ।
सकलां रजनिं प्रजागरै, रतिखेदाद्गमयामहे वयम् ।।
इति नैव कदापि नो भवान्, सुखदोहभूदनु-भूतसौहृदः ।
अकरोत् प्रियमद्य यत् क्षणं, वत तस्मिन् परिणाम ईदृशः ।।''

(आ. वृ. 19/26-30)

'हे रमण ! तुम्हारे गोचारण प्रसङ्ग को लेकर वन-वन विचरण करने के दु:ख की कल्पना कर कोई एक अभावनीय वेदना हमारे मर्म में दिनभर विचरण करती रहती है। फिर दिन बीतने पर तुम जब व्रज में प्रवेश करते हो, तब तुम अपना गोखुर- धूलिधूसरित अलकावली- परिव्याप्त अति मनोहर वदन-सौन्दर्य दिखाकर हमारे हृदय में धारणातीत मदनआवेश सञ्चारित कर देते हो। फलस्वरूप विविध अभिलाषा - कल्पना की सृष्टि होने से हमारा हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठता है। 'आज रात कृष्ण निश्चय ही हमारे मन्दिर में आगमन करेंगे' - इस अभिलाषा को लेकर हम लोग सारी रात जागते बिताती हैं। तभी कहती हैं, तुम्हें प्रेम कर हमने किसी दिन कोई सुख नहीं पाया। आज तुमसे मिलकर क्षण भर को परम आनन्द प्राप्त किया था - उसका परिणाम इस समय हम तुम्हारे विरह, में अच्छी तरह अनुभव कर रही हैं ।।' 12 ।।

**प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।**
**चरणपंकजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन।। 13।।**

**अन्वयः** – (हे) रमण ! आधिहन् (हे सर्वदु:खहारिन्) प्रणतकामदं (प्रणतानां सर्वार्थप्रदं) पद्मजार्चितं (ब्रह्मणा अर्चितं) धरणिमण्डनं (भूतलं मण्डयतीति तथा) ध्येयमापदि (आपदि ध्येयं च) शन्तमं (सेवावसरे सुखतमं) ते (तव) चरणपंकजं (पदकमलं) नः (अस्माकं) स्तनेषु अर्पय ।। 13 ।।

**अनुवाद**– हे रमण ! हे सर्वदु:खहारिन् ! प्रणतजन को अभीष्ट प्रदान करने वाले, ब्रह्मा द्वारा रामर्चित (पूजित), धरणी के भूषणस्वरूप, ध्यान मात्र से विपदविनाशन और परमानन्दमय – अपने ऐसे श्रीचरणकमल हमारे वक्षस्थल पर अर्पित करो ।। 13 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णविरह– कातर व्रजसुन्दरियों ने पिछले 'प्रहसितं प्रिय' 'दिनपरिक्षये' इत्यादि पद्यों में अपनी प्रेम–उक्ति द्वारा अपने प्रति श्रीकृष्ण के पूर्वराग का वर्णन किया है। मुनीन्द्र श्रीपाद शुकदेव ने श्रीकृष्ण के प्रति व्रजदेवियों के पूर्वराग का वर्णन तो किया है, पर उन लोगों के प्रति श्रीकृष्ण के पूर्वराग का वर्णन नहीं किया, कारण – व्रजदेवियों के प्रेमानुभव के माध्यम से उन लोगों के श्रीमुख से उनके प्रति श्रीकृष्ण के पूर्वराग का वर्णन ही महारासवाही होगा, यह सोचकर उन्होंने व्रजदेवियों की उक्ति में ही उसका वर्णन किया है। व्रजबालाओं का मधुर प्रेम स्वयं भगवान् अप्राकृत नवीनमदन श्रीकृष्ण के हृदय में भी विपुल क्षोभ की सृष्टि करता है। श्रीमती राधारानी के प्रथम दर्शन से श्रीकृष्ण का स्मरक्षोभ देखिये

"अलखिते हमे हेरि विहसलि थोर ।
जनि रयनि भेलो चाँद उजोर ।।
कुटिल कटाख लाट पड़ि गेलो ।
मधुकरडम्बर अम्बरे भेलो ।।
काहिक सुन्दरि के ताहि जान ।
आकुल कए गेलि हमर पराण ।।
लीलाकमले भ्रमर बहु बारि ।
चमकि चललि गोरि चकित नेहारि ।।
तें भेलो बेकत पयोधर शोभ ।
कनय कमल हेरि काह न लोभ ।।

आध नुकायलि आध उदास ।
कुचकुम्भ कहि गेलो अपनक आस ।।
से सबे अमिल नीधि दए सन्देश ।
किछु नहि रहलहि रस-परिसेस ।।
भनइ विद्यापति दुँहु मन जागु ।
विसम कुसुमसर दुहुँ जनु लागु ।।''

वे (राधा) दूसरे के अनजाने में मुझे देखकर मृदु भाव से हँसीं, मानो रजनी चन्द्रोज्ज्वल हो गई। कुटिल कटाक्ष की छटा (घटा) पड़ गई और आकाश में मधुकर-डम्बर (भौंरों का झुण्ड) देखने में आया। (उस सुन्दरी के बार-बार के कटाक्ष-निक्षेप की छटा से लगा जैसे आकाश भ्रमर-पंक्ति से भर गया।) वह किसकी सुन्दरी है, उसे कौन जानता है ? वह मेरे प्राणों को व्याकुल कर गई। वह लीलाकमल पर बैठने वाले भ्रमर को बार-बार रोकती एकाएक देखकर चौंककर चली गई। उस भ्रमर को हटाने-भगाने में उसके स्तनों की शोभा प्रकाशित हुई। पयोधररूपी उन स्वर्णकमलों को देखकर कौन लुब्ध नहीं होता ? आधे छिपे आधे अनावृत कुचकुम्भ अपनी आशा प्रकट कर गये। समस्त अमूल्य निधि का संवाद देकर रस का कुछ बाकी न रखा। ठाकुर विद्यापति कहते हैं - श्रीश्रीराधाकृष्ण दोनों ही के मन में विषम कुसुमशर का सन्धान जगा है।

व्रजबालाओं ने पहले स्मरक्षोभ उत्पन्न होने पर श्रीकृष्ण के दर्शन और उनके साथ मिलन की प्रार्थना की, पर व्यग्रतावश दो श्लोकों में पुनः प्रार्थना कर रही हैं। हे रमण ! हे मनोदुःख- विनाशन ! तुम्हारे चरण 'प्रणतकामदं' - प्रणत या शरणागत जन के लिये अभीष्टप्रद और सर्वार्थप्रद हैं। नलकूवर-मणिग्रीव ने तुम्हारे चरणों में प्रणत होकर अभीष्ट प्राप्त किया था। कालियनाग और उसकी पत्नियों ने तुम्हारे चरणों में शरण ली, तो तुमने उन्हें सर्वार्थ प्रदान कर धन्य किया था। श्रीकृष्ण शरणागत जन को सर्वार्थ प्रदान करते हैं, यही नहीं, श्रीचरणदान या आत्मदान भी किया करते हैं।

''कृष्ण तोमार होउँ जदि बोले एकबार ।
भवबन्ध हैते कृष्ण तारे करेन पार ।।''
''शरण लइया करे कृष्णे आत्म-समर्पण ।
कृष्ण तारे करे तत्काले आत्मसम ।।''

इत्यादि (चै. च.)

''कः पण्डितस्तदपरं शरणं समीयाद्
भक्त प्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।

सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ।।''

(भा. 10/48/26)

अक्रूरजी ने श्रीकृष्ण से कहा - 'जो भजन करनेवाले सुहृत को सभी अभिलषित वस्तुऐं प्रदान करते हैं, आत्मदान तक किया करते हैं; जिनका ह्रास नहीं, वृद्धि नहीं - उन्हीं भक्तप्रिय, सत्यवाक् , सर्वसुहृद् और कृतज्ञ तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी की शरण ले, ऐसा कौन पण्डित है ?'

भगवान् ने स्वयं भी कहा है -

''मर्त्यो यदा त्यक्त समस्तकर्मा, निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो, मयात्मभूयाय च कल्पते वै ।।''

(भा. 11/29/34)

श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा - मानव जब अन्य समस्त कर्मों का त्यागकर मुझे आत्मसमर्पण करता है, तो उसके लिये कुछ विशेष करने की मेरी इच्छा होती है; फलस्वरूप वह मानव जीवन्मुक्त दशा प्राप्त करता है, मेरे समान ऐश्वर्य भोगने के योग्य हो जाता है। (श्रीधर स्वामी) प्रेमयुक्त पार्षदत्व पाकर धन्य होता है। (श्रीलविश्वनाथ)

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी तुम्हारे जिन चरणों की अर्चना करते हैं - 'पद्मजार्चितं'। ब्रह्मा श्रीकृष्ण की गोवत्स-चारणलीला में गोवत्सों और गोपबालकों का अपहरण कर अपराधी बने थे। फिर अपराध क्षमापन के लिये उन्होंने असमोर्द्ध ऐश्वर्यमय श्रीकृष्ण का जो स्तव किया, उसमें श्रीकृष्ण-चरणों की अर्चना की प्रार्थना की -

''तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो, भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां, भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ।।''

(भा. 10/14/30)

'हे नाथ ! मेरा इस जन्म में अथवा पशु-पक्षी आदि किसी भी जन्म में वह महासौभाग्य उदित हो, जिससे मैं जाकर आपके किसी एक सेवक के रूप में गिना जाकर आपके श्रीपादपल्लवों की सेवा का सौभाग्य पाकर धन्य हो सकूँ।' फिर युगलगीत (भा. 10/35/12) में व्रजदेवियों ने कहा है - ''वन्द्यमानचरणं पथि वृद्धैः'' आदि के अनुसार उत्तरगोष्ठ के समय नित्य ब्रह्मा आदि देवगण मार्ग में श्रीकृष्ण के श्रीचरणों की वन्दना करते हैं, इससे उनके व्रज-आगमन में विलम्ब हो जाता है। चौथे पद्य में इन्हीं लोगों ने कहा है - ''विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले।'' 'हे सखे ! तुम ब्रह्मा की प्रार्थना पर विश्वपालन के लिये भक्तकुल में अवतीर्ण हुए हो।' इसमें व्रजदेवियों द्वारा श्रीकृष्ण

के परम ऐश्वर्य का वर्णन हुआ हे, फिर भी पूर्ववत् अपने भाव के अनुरूप श्रीयशोदानन्दनत्व बुद्धि के रहते अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये मुनियों की बात का याचक रीति से बस अनुवाद कर दिया हे, कारण - श्रीकृष्ण के चरण ब्रहा द्वारा वन्दनीय कहकर भी उन्हें रमण ही सम्बोधित किया है।

अथवा 'पद्मजार्चितं' पद्मजा कमलाजी द्वारा अर्चित श्रीकृष्ण-चरण। श्रीकृष्ण की श्रीचरणरज-प्राप्ति की अभिलाषा से वैकुण्ठेश्वरी कमला के व्रजधाम-आश्रय और तपस्या की बात नागपत्नियों के स्तव में वर्णित है। (भा. 10/16/36) -

"कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे,
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो,
विहाय कामान्, सुचिरं धृतव्रता ।।"

'हे देव ! आपके श्रीचरणों की जिस धूलिकणिका को स्पर्श करने की आशा से लक्ष्मीजी ने भी सभी प्रकार की वासनाओं का परित्याग कर व्रत लेकर तपस्या की थीं, आपकी उसी कमला-वाञ्छित श्रीचरणधूलि को स्पर्श करने का अधिकार इस कालिय को किस पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हुआ, हमारी धारणा से परे है।' कमलावाञ्छित होने के कारण श्रीकृष्णचरणों का सर्वसौभाग्यनिधित्व सूचित हुआ। वे सर्वसौभाग्यनिधि श्रीकृष्णचरण रूपी सम्पदा पर व्रजरमणियों का एकाधिपत्य हैं। इन्हीं व्रजरमणियों के चरण महालक्ष्मियों द्वारा अर्चनीय हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने राधाभाव में श्रीसनातन गोस्वामिपाद के हाथ पकड़कर कहा -

"सखि हे ! कोन् तप कैलो गोपीगण !
कृष्णरूप-माधुरी, पिबि पिबि नेत्रभरि,
श्लाघ्य करे जन्म तनु मन।।
जे माधुरी ऊर्द्ध आन, नाहि जार समान,
परव्योमे स्वरूपेर गणे।
जेहों सब-अवतारी, परव्योमे अधिकारी,
ए माधुर्य नाहि नारायणे।।
ताते साक्षी सेइ रमा, नारायणेर प्रियतमा,
पतिव्रतागणेर उपास्या।
तेंहो जे माधुर्य लोभे, छाड़ि सब कामभोगे,

व्रत करि करिलो तपस्या।।
सेइ तो माधुर्यसार, अन्यसिद्धि नाहि जार,
तेंहो माधुर्यादि गुणखनि।
आर सब प्रकाशे, तार दत्त गुण भासे,
जाँहा जतो प्रकाशे कार्य जानि।।
गोपीभाव दर्शन, नव नव क्षणे क्षण,
तार आगे कृष्णेर माधुर्य।
दोंहे करे हुड़ाहुड़ि, बाढ़े सुख नाहि मुड़ि,
नव नव दोंहार प्राचुर्य।।
कर्म जप योग ज्ञान, विधिभक्ति तप ध्यान,
इहा हैते माधुर्य दुर्लभ।
केवल जे रागमार्गे, भजे कृष्णे अनुरागे,
तारे कृष्णमाधुर्य सुलभ।।''

(चै. च. मध्य 21)

फिर कहा - 'धरणीमण्डनं', श्रीकृष्ण अपने श्रीचरणों के ध्वज-वज्र-अंकुश आदि उन्नीस असाधारणर चिन्हों से धरणी को अलंकृत करते हैं। तभी उनके श्रीचरण हैं 'धरणीमण्डनम्'। धरणी भी कमला की तरह श्रीहरि की निज प्रिया हैं। श्रीकृष्ण के पादपद्मचिन्ह धरणी के स्तनमण्डल पर ऐसे सुशोभित होते हैं जैसे कस्तूरी का लेप हो। श्रीकृष्ण कभी कही भी रहें, उनके पादपद्म धरणी से कभी अलग नहीं होते। इससे लक्ष्मीजी की तुलना में धरणी के प्रति श्रीकृष्ण की प्रीति की अधिकता व्यञ्जित हुई। इससे श्रीचरणों की रसिकता और प्रियजनवश्यता भी सूचित हुई।

तत्पश्चात् कहा - 'ध्येयमापदि', तुम्हारे श्रीचरण आपद-विपद में ध्येय हैं। व्रजवासी उनके श्रीचरण-चिन्तन के प्रभाव से ही इन्द्र के आँधी-तूफान और वर्षा से सुरक्षित रहे। इससे श्रीचरणों का कृपालुता-गुण सूचित हुआ। हे आधिहन् ! हमारी मन:पीड़ा ने हमें अन्तिम दशा में पहुँचा दिया है। तुरन्त ही हमारे वक्ष पर अपना श्रीचरण अर्पित न किया, तो तुम्हारी 'आधिहन्' कीर्ति (यह कीर्ति कि तुम दु:ख-हरण करते हो) विलुप्त हो जायेगी। सर्वार्थ-साधनत्व (सभी कामनाओं की पूर्ति करनेवाले) बताकर स्वत: परमफलस्वरूप कहा - 'शन्तमञ्च इति'। हे रमण ! हमारी विरह आदि व्यथाओं का नाश कर विचित्र क्रीड़ादि द्वारा हमारा सुखसम्पादन करो। अक्रूरजी के मनोरथ में भी व्यक्त हुआ है -

''यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने
यदेगोपिकानां कुचकुंकुमांकितम् ।।''

(भ. 10/38/8)

'श्रीकृष्ण के जिन श्रीचरणों की अर्चना ब्रह्मा-महेश्वर आदि भी करते हैं, स्वयं कमलादेवी भी जिनकी सेवा करती हैं, मुनिगण और भक्तवृन्द जिनका ध्यान करते हैं, जो श्रीचरण अनुचरगण के साथ गोचारण के लिये बन-वन भ्रमण करते हैं (इससे परमकृपालुता सूचित हुई) और जो गोपियों के कुचकुंकुम से अंकित रहते हैं (इससे उनका प्रेम मात्र से सुलभ होना प्रकट हुआ) - आज उन्हीं श्रीचरणों को मैं नयनों से देख पाऊँगा।'

''प्रणताभिमतप्रदं विधेरपि वन्द्यं धरणीविभूषणम् ।
स्मृतिमात्रविपद्विशोषणं पादपद्मं स्तनयोर्विधेहि नः ।।
दरधर्मपयोमधुद्रवं नखचन्द्रद्युतिवृन्दकेशरम् ।
लसताच्चलदङ्गुलीदलं पादपद्मं स्तनपूर्ण कुम्भयोः ।।''

(आ. वृ. 19/31-32)

'प्रणत जन को वाञ्छित प्रदान करने- वाले, ब्रह्मा के वन्दनीय, धरणी के अलंकार, और स्मरणमात्र से विपदा का नाश करने वाले अपने पादपद्म हमारे कुचों पर अर्पित करो। ईषत् स्वेदजलरूपी मधुद्रव से व्याप्त, नखचन्द्ररूपी केशर से दीप्त (चमकते) और चञ्चल अँगुलीदलरूपी पंखुड़ियों से ललित तुम्हारे पादपद्म हमारे स्तनरूपी पूर्ण घट पर शोभा पाते रहें ।।' 13 ।।

**सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।**
**इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्।। 14।।**

**अन्वयः** – वीर (हे दानशूर !) सुरतवर्द्धनं (प्रेमविशेषमय- सम्भोगेच्छां वर्द्धयतीति तथा तत्) शोकनाशनं (त्वद प्राप्तिदुःखस्यानुभवमपि नाशयति विस्मारयतीति तथा तत्) स्वरितवेणुना (स्वरितेननादितेन वेणुना) सुष्ठु चुम्बितं (नादामृतवासितम्) नृणाम् (नरमात्राणाम्) इतररागविस्मारणं (श्वाशतस्वस्पृहया तदत्यन्ताभावस्यापि सम्पादकम्) ते (तव) अधरामृतं वितर (देहि) ।। 14 ।।

**अनुवाद**– हे वीर ! यह स्वरसंयोजित वेणु जिसका सुन्दर भाव से चुम्बन करता रहता है, जो लोगों के इतरराग को भुला देता है, अपने उसी सुरतवर्द्धन शोकनाशन अधरामृत का हम लोगों में वितरण करो ।। 14 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णविरह- पीड़ित व्रजदेवियों ने पिछले पद्य में अपने मदनताप से संतप्त हृदय में श्रीकृष्ण के परम सुशीतल श्रीचरणकमलों को स्थापित करने की प्रार्थना की। इस श्लोक में वे अत्यन्त विरहविह्वल दशा में प्रमत्त चित्त से श्रीकृष्ण के अधरामृत की प्रार्थना कर रही हैं। श्रीकृष्ण के उपेक्षा-वचन सुनकर मर्माहत व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण के प्रति प्रार्थना-वाणी का प्रयोग करते समय ''सिञ्चाङ्ग नस्तदधरामृतपूरकेण'' (भा. 10/29/35) में श्रीकृष्ण के जिस साक्षात् अधरामृत की प्रार्थना की है, उसके व्याख्या-प्रसङ्ग में लिखा है- ''इदञ्च सम्भोगस्य साक्षात् प्रार्थनं तदीय वेणुतनुमाधुर्यमधुमत्तचित्तानां लोकोत्तर- प्रौढ़ानुरागार्तिनर्तित- महोत्कण्ठावगुण्ठितानां रसेनापि न विरुध्यते।'' (लघुतोषणी) परम धैर्य-गाम्भीर्यशालिनी लज्जावती व्रजबालाओं की धृष्टा नायिका की तरह साक्षात् सम्भोग की प्रार्थना उन लोगों के लिये रस का विरोध न होकर रस का पोषक ही है – उन व्रजबालाओं के लिये, जो श्रीकृष्ण के वेणु और तनुमाधुर्य के मधु से प्रमत्तचित्त हैं, लोकोत्तर विपुल तृष्णामयी प्रौढ़ अनुरागआर्ति से नर्तित (सञ्चालित, नचायी हुई) हैं महा उत्कण्ठा से अवगुण्ठित हैं। यहाँ भी वही समझना होगा।

श्रीकृष्ण के अधरामृत की गुणमहिमा का कीर्तन कर रही हैं – 'सुरतवर्द्धनं सुरतं सुशोभनं रतं रतिः प्रेम' (वृ. तोषणी टीका) सुरत शब्द का अर्थ है शोभन रति या प्रेम। श्रीकृष्ण का अधरामृत इसी प्रेम का वर्द्धन किया करता है। भक्तगण परमभक्ति से भरकर श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट प्रसाद और प्रसादी ताम्बूल आदि के साथ उनके अधरामृत का आस्वादन करते हैं। इससे श्रीकृष्णचरणों में उनके प्रेम की वृद्धि होती है, माया का नाश होता है। उद्धवजी ने श्रीकृष्ण से कहा है –

''त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध-वासोलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ।।''
(भा. 11/6/46)

'हे नाथ ! आपके उच्छिष्टभोजी हम दास आपके उपभुक्त माल्य, गंध, वस्त्र, अलंकारों से चर्चित होकर आपकी माया को जीतने में समर्थ होंगे।' पुरी में श्रीमन्महाप्रभु ने तड़के ही सार्वभौम भट्टाचार्य को श्रीश्रीजगन्नाथ का महाप्रसाद सेवन करते देख कहा था –

''आजि मोर पूर्ण हैलो सर्व अभिलाष ।
सार्वभौमेर हैलो महाप्रसादे विश्वास ।।
आजि तुमि निष्कपटे कैला कृष्णाश्रय ।
कृष्ण आजि निष्कपटे तोमा हैलो सदय ।।
आजि से खण्डिलो तोमार देहादि-बन्धन ।
आजि तुमि छिन्न कैले मायार बन्धन ।।
आजि कृष्ण प्राप्तियोग्य हैलो तोमार मन ।
वेदधर्म लङ्घि कैले प्रसाद भक्षण ।।''
(चै. च. मध्य 6)

ब्रह्मपुराण उत्कलखण्ड में लिखा है कि एक बार देवर्षि नारद ने महाप्रसाद के लोभ से लक्ष्मीजी की सेवा की। देवी की कृपा से उन्हें महाप्रसाद प्राप्त हुआ। उन्होंने श्रीमन्महादेव के आगे महाप्रसाद के माहात्म्य का कीर्तन किया, जिसे सुनकर महादेव ने देवर्षि के नख के कोने में लगी महाप्रसाद की कणिका का सेवन कर लिया। खाते ही उन्हें प्रेमोदय हो गया। देवी पार्वती उस महाप्रसाद को न पा सकीं, तो उन्होंने दु:खी अन्त:करण से प्रतिज्ञा की कि वे देवदुर्लभ महाप्रसाद का जगत् में आपामर सबमें वितरण करेंगी। इसके लिये उन्होंने श्रीनारायण की तपस्या की। श्रीवैकुण्ठनाथ देवी की प्रार्थना पूरी करने के लिये श्री पुरुषोत्तमक्षेत्र में श्रीजगन्नाथरूप में स्वयं भोजन कर अपना प्रसाद निरन्तर वितरण कर रहे हैं।

व्रजदेवियाँ मधुर भाव से साक्षात् अधरामृत-सेवन करती हैं। अन्य लोगों के लिये श्रीकृष्ण का उच्छिष्ट प्रसाद ताम्बूल आदि ही अधरामृत है; इन व्रजदेवियों के लिये श्रीकृष्ण के अधर ही अमृत है। इनके लिये 'सुरतवर्द्धनं' का अर्थ है प्रेमविशेषमय सम्भोग-इच्छा का वर्द्धन। व्रजदेवियों की सम्भोगेच्छा उनकी समर्था रति के साथ तादात्म्यप्राप्त है, यह हमने पहले बताया है। इनकी सम्भोगेच्छा आत्मेन्द्रिय-सुख-वासना की गन्ध से भी रहित है; श्रीकृष्णेन्द्रिय-सुख-भावना से युक्त है – इसलिये वह

प्रेमविशेषमय है। इन लोगों के लिये श्रीकृष्ण के अधर साक्षात् अमृत होते हुए भी मधु की तरह मादकता--गुण से सम्पन्न भी हैं। इसलिये बार-बार प्राप्त होने पर भी उनकी अतृप्ति बनी रहती है और स्वयं के धृष्टता आदि दोष भी परिहत हो जाते हैं (वे दोष नहीं लगते ?)।

व्रजदेवियों ने कहा - हे कृष्ण ! तुम्हारा अधरामृत प्रेमवर्द्धक अथवा सम्भोगसुख-वर्द्धक और विरहजनित दु:ख को नाश करने वाला है। तुम्हारा वेणु स्वरविशेष से जगत् को उन्मत्त कर डालता है, इसलिये वह सभी दु:खों की विस्मृति करा देता है। अथवा तुम्हारे वेणु के सौभाग्य की सीमा नहीं। तुम्हारी जिस अधरसुधा को हम नाना प्रकार का प्रयत्न करके भी प्राप्त नहीं कर पातीं, उसे यह वेणु अनायास प्राप्त कर लेता है - 'स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्'। तुम्हारा अधरामृत परम मधुर और परम सौभाग्यप्रद है। इसका ऐसा माहात्म्य है कि यह नरों (पुरुषों) के इतरराग सार्वभौमत्व और महामोक्षत्व दोनों ही लाभों की वासना भुला देता है। ऐसा ही उसका परम मोहनत्व। इसकी तुलना में देवभोग्य अमृत क्या खाक ! वेदान्तकल्पित महामोक्षत्व भी उसके आगे अत्यन्त अकिञ्चितकर है। सुरतवर्द्धन, शोकनाशन और इतररागविस्मारण - इन तीन विशेषणों से क्रमश: अपनी इच्छा का वर्द्धन, अन्य दु:खों की स्फूर्ति का नाश, अन्य विषयों की विस्मृति यह अर्थत्रय प्रतिपादित होता है। इससे सूचित हुआ कि श्रीकृष्ण का अधरामृत परमपुरुषार्थ है। 'इतररागविस्मारणं नृणामपि किमुत नारीणां तास्वप्यस्माकं तु तद्विस्मारणम् इति किं वाच्यं शाश्वतस्वस्पृहया तदत्यन्तभावस्यापि सम्पादकमित्यर्थ:।' (लघुतोषणी) पुरुषों को इतर (अन्य) राग की विस्मृति करा देता हे, फिर स्त्रियों की तो बात ही नहीं। सर्वोपरि हम लोगों के तो प्राण ही तुम में रखे हैं; यह हमारा इतर राग नष्ट करेगा, यह कहना ही पर्याप्त। शाश्वत स्वविषयक स्पृहा जगाकर हमारे हृदय में अन्य समस्त स्पृहाओं का अत्यन्त अभाव कर देता है। तभी प्रमाणित करता है - 'स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' वेणु पुरुषजाति के रूप में प्रसिद्ध है, यहाँ तक कि यह शुष्क काष्ठ है। तुम्हारे अधरामृत ने इसमें कैसी अलौकिक शक्ति का सञ्चार कर दिया है !

श्रीनीलाचललीला में एक दिन श्रीमन्महाप्रभु जगन्नाथदेव के गोपालवल्लभ भोग का प्रसाद पाकर श्रीकृष्ण के अधरामृत की स्फूर्ति में अत्यन्त आविष्ट हो उठे। सन्ध्या के समय समागत भक्तों में उसी प्रसाद का वितरण कर अधरामृत की महिमा का वर्णन करने लगे -

**"प्रभु कहे - एइ सब प्राकृत द्रव्य।**
**ऐक्षव-कर्पूर मरिच-एलाचि-लवङ्ग-गव्य।।**
**रसवास-गुड़त्वक आदि जतो सब।**
**प्राकृत वस्तुर स्वादु सभार अनुभव।।**
**सेइ द्रव्येर एइ स्वादु, गन्ध लोकातीत।**

आस्वाद करिया देखो सभार प्रतीत ।।
आस्वाद दूरे रहु, जार गन्धे माते मन ।
आपना बिन अन्य माधुर्य कराय विस्मारण ।।
ताते एइ द्रव्ये कृष्णाधरस्पर्श हैलो ।
अधरेर गुण सब इहाते सञ्चारिलो ।।
अलौकिक गन्ध-स्वादु- अन्यविस्मारण ।
महामादक हय एइ कृष्णाधरेर गुण ।।
अनेक सुकृते इहार हइयाछे सम्प्राप्ति ।
सभेइ आस्वाद करो करि महाभक्ति ।।
हरिध्वनि करि सभे कैलो आस्वादन ।
आस्वादिते प्रेमे मत्त हैलो सभार मन ।।''

(चै. च. अन्त्य0 16)

इसके पश्चात् श्रीरामानन्द से 'सुरतवर्द्धनं' श्लोक सुनकर श्रीमन्महाप्रभु ने गोपीभाव से उसका अपूर्व रस- उद्‌गार प्रकट किया -

''तनु-मन करे क्षोभ, बाढ़ाय सुरत-लोभ,
हर्ष-शोकादि-भाव-विनाशय।
पासराय अन्य रस, जगत् करे आत्मवश,
लज्जा-धर्म-धैर्य करे क्षय।।
नागर ! शुनो तोमार अधर-चरित।
माताय नारीर मन, जिह्वा करे आकर्षण,
विचारिते सब विपरीत।।
आछुक नारीर काज, कहिते बासिये लाज,
तोमार अधर बड़ो धृष्टराय।
पुरुषे करे आकर्षण, आपना पियाइते मन,
अन्य सब रस पासराय।।
सचेतन रहु दूरे, अचेतन सचेतन करे,
तोमार अधर बड़ो बाजीकर।

तोमार वेणु शुष्केन्धन, तार जन्माय इन्द्रियमन,
तारे आपना पियाय निरन्तर।।
वेणु धृष्टपुरुष हइया, पुरुषाधर पिया पिया,
गोपीगणे जानाय निजपान।
अहो शुनो गोपीगण !, बोले पिउँ तोमार धन,
तोमार जदि थाके अभिमान।।
तबे मोरे क्रोध करि, लज्जाभय-धर्म छाड़ि,
छाड़ि दिमु आसि करो पान-।
नहे पिमु निरन्तर, तोमारे मोर नाहि डर,
अन्ये देखों तृणेर समान।।
अधरामृत निज स्वरे, सञ्चारिया सेइ बले,
आकर्षये त्रिजगतेर जन।
आमरा धर्मभय करि, रहि जदि धैर्य धरि,
तबे आमाय करे विड़म्बन।।
नीवी खसाय गुरु-आगे, लज्जा धर्म कराय त्यागे,
केशे धरि जेनो लइया जाय।
आनि करे तोमार दासी, शुनि लोके करे हासि,
एइ मत नारीरे नाचाय।।
शुष्क बाँशेर काठिखान, एतो करे अपमान,
एइ दशा करिलो गोसाइँ।
ना सहि कि करिते पारि, ताते रहि मौन धरि,
चोरार माके डाकि कान्दिते नाइ।।''

(चै. च. अन्त्य0 16)

गोपियों ने कहा – हे कृष्ण ! परम दुर्लभ है तुम्हारा अधरामृत। भक्ति का स्थान मोक्ष से भी बहुत ऊपर है; ऐसे भक्तिफल की प्राप्ति से भी वह श्रेष्ठ ! यहाँ तक कि तुम्हारे साक्षात् दर्शन की अपेक्षा भी उसका माहात्म्य अधिक है। तुम्हारी प्राणप्रेयसियों को छोड़ और किसी को भी वह लभ्य नहीं। हे दानशूर ! हमें अधरामृत प्रदान करो। अथवा हे कन्दर्पयुद्ध-वीर ! तुम्हें ऐसा वीर कहना ही सुसङ्गत।

मध्यदेश के लोग किशोरों को रसिकता के साथ प्राय: 'वीर' कहकर सम्बोधित करते हैं श्रीगोपीगीता में यह पद बार-बार प्रयुक्त हुआ है। इससे पहले इसके बहुत प्रकार के अर्थ भी दिये गये हैं। स्थानभेद से अर्थभेद समझना होगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या का मर्म यह है : गोपियाँ कहती हैं - हे धन्वन्तरिप्रतिम भिषक्शिरोमणि (धन्वन्तरी के समान वैद्यवर ! हम लोग कामरोग से मूर्छित हो गई हैं, हमें कुछ औषधि दो। सुना है, तुम्हारे पास इस रोग की अच्छी औषधि है। वह सुरतवर्द्धक अर्थात् पुष्टिकर और शोकनाशक या व्याधि का प्रशमन करने वाली है। मानो कृष्ण कह रहे हैं - हाँ, औषधि तो है, किन्तु वह अत्यन्त महार्घ (कीमती) है, बिना मूल्य नहीं दी जाती। इसका उत्तर देती हैं - तुम यह बात नहीं कह सकते, क्योंकि तुम दानवीर हो। तुम निष्प्राण को सप्राण करने के लिये यह औषधि बिना मूल्य दिया करते हो। यह नादित कीचक (खोखला बांस) वेणु भी उसका आस्वादन कर लेता है। मानो कृष्ण कहते हैं - मैं चाहूँ तो उस औषधि को बिना मूल्य दे भी दूँ, किन्तु कुपथ्य करने वाले को इतनी मूल्यवान औषधि का कोई लाभ नहीं होता। जानती हो न ! धन-जन-कुटुम्ब आदि में आसक्ति ही वह महा कुपथ्य है। गोपियाँ उत्तर देती हैं - धन्वन्तरि देवता ! तुम वैद्यराज हो। तुम्हारी औषधि ही सारे कुपथ्य का स्वाद भुला देती है; तुम्हारी यह औषधि इतनी मधुर है। हमने स्वयं देखा है, उसके प्रभाव से सभी प्रकार की कुपथ्यवासना दूर हो जाती है। तुम दानवीर दयावीर हो, अपने जनों को अपना अधरामृत-दान करो। इस श्लोक में पहले दो चरणों का द्वितीय अक्षर और तृतीय-चतुर्थ चरणों का तृतीय अथर 'र' कार है।

"रतिवर्द्धनमर्दनं रुजां मुरली-चुम्बन-लब्धसौभगम् ।
विषयान्तररागनाशनं मधुरं पायय नोऽधरामृतम् ।।
मुरलीकृतपानमाननं न हि वः पेयमिति स्म माभिधाः ।
न मधु ज्वरदाहनाशनं सरघोच्छिष्ट- मितीह हीयते ।।"

(आ. वृ. 19/33-34)

रतिवर्द्धक, शोकनाशक, मुरली को चुम्बन प्रदान करने की कीर्ति से महान, अन्य विषयों से जुड़े राग का नाश करने वाला हमें अपने ऐसे मधुर अधरामृत का पान कराओ।

यदि कहो कि यह मुरली का उच्छिष्ट (जूठा) आनन तुम लोगों के पान करने योग्य नहीं, तो ऐसी बात मत बोलो। ज्वरदाह मिटाने वाला मधु भी तो मधुमक्खियों का जूठा होता है, उसे कोई नहीं त्यागता ।। 14 ।।

**अटति यद् भवानन्हि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।**
**कुटिल कुन्तलं श्रीमुखं च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।। 15।।**

**अन्वयः** - यद् (यदा) भवान् अन्हि (दिवसे) काननम् (वृन्दावनं प्रति) अटति (गच्छति तदा) काननम् (वृन्दावनं प्रति) अटति (गच्छति तदा) त्वाम् पश्यताम् (त्वाम् अप्रेक्ष्यमानां प्राणानां) त्रुटिर्युगायते (क्षणार्द्धमपि युगवद्भवति एवमदर्शने दुःख मुक्तं पुनश्च कथाञ्चिद्दिनान्ते) ते (तव) कुटिलकुन्तलं (कुटिलाः वक्राः कुन्तलाः यस्मिन तत्) श्रीमुखम् उदीक्षतां (उच्चैः वीक्ष्यमाणानां तेषां) दृशां (चक्षुषां) पक्ष्मकृत् (निमेष सृष्टा ब्रह्मा) जड़ः (मन्दः एव) ।। 15 ।।

**अनुवाद**- हे प्रिय ! तुम दिन में जब वन में भ्रमण करते हो, तुम्हें देखे बिना एक त्रुटि (क्षणांश-लवांश) भी हमें युग की तरह दीर्घ लगती है। फिर जब दिनान्त में तुम घर लौटते हो, तो जितने भी चक्षु तुम्हारे कुटिल कुन्तल-- आवृत वदन के दर्शन करते हैं, उनकी पलकें बनाने वाला विधाता हमें अनभिज्ञ लगता है ।। 15 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णविरहिणी व्रजदेवियाँ इस पद्य में यही प्रतिपादन कर रही हैं कि उन्हें क्या तो श्रीकृष्ण के अदर्शन में और क्या उनके दर्शन में, हर समय असह्य दुःख भोगना पड़ता है। श्रीधरस्वामिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या में जो लिखा है, उसका मर्म यह है कि तुम्हें क्षणभर को नहीं देखतीं तो हमारे दुःख की सीमा नहीं रहती; देखते ही सुख का उदय होता है। तुम्हें देखकर इच्छा होती है कि यतियों की तरह समस्त सम्पदा त्यागकर अहर्निश केवल तुम्हें लेकर रहें। तुम हमें छोड़कर अन्यत्र जाते क्यों हो ? हम तुम्हारा पलभर विरह भी सहन नहीं कर सकतीं। विधाता ने चक्षुओं को पलकें क्यों दीं ? इसके लिये हम उसे जड़ समझती हैं । व्रजदेवियों के श्रीकृष्ण-विरह में और मिलन में क्षणकल्पता और कल्पक्षणता तथा निमेषासहता (पलभर की भी असह्यता) की बात जानी जाती है। रूढ़ महाभाव के लक्षणों में लिखा है -

**''निमेषासहतासन्नजनताहृद्विलोड़नम् ।**
**कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत् सौख्येऽप्यार्ति-शंकया ।।**
**मोहाद्यभावेऽप्यात्मादि-सर्वविस्मारणं सदा ।**
**क्षणस्य कल्पतेत्याद्या यत्र योगवियोगयोः ।।''**

(उ. नी.)

'निमेषासहता, आसन्न जनों का हृदयविलोड़न, कल्पक्षणता, श्रीकृष्ण के सुख में भी आर्ति-शंका

के कारण क्षीणत्व, मोह आदि के अभाव में भी आत्मादि सर्वविस्मरण एवं क्षणकल्पता इत्यादि अनुभाव योग और वियोग में यथायथ उदित हुआ करते हैं।'

श्रील गोस्वामिपाद ने इस श्लोक की (लघुतोषणी) व्याख्या में लिखा है - "युगायते दु:खसमयस्य दुरतिक्रमत्वेन इति परमदु:खम् अतश्चिरमदर्शन दु:खम- सह्यमिति सत्वरं दर्शनं देहीति भाव:।" गोपियाँ कहती हैं - हे कृष्ण ! दु:ख का समय अति दुरतिक्रमणीय - परमदु:खमय है। अधिक समय तक तुम्हारा अदर्शन-दु:ख अत्यन्त असह्य हो जाता है, इसलिये सत्वर दर्शन देकर प्राण-रक्षा करो। तुम्हारे अदर्शन से सभी व्रजजनों को दु:ख होता है, फिर हम लोगों की तो बात ही नहीं। श्रीकृष्ण-विरह में महाभाववती व्रजबालाओं की ही क्षणकल्पता प्रकट होती है। श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है (भा. 11/12/11) -

**"तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता**
**मयैव वृन्दावनगोचरेण ।**
**क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां**
**हीना मया कल्पसमा बभूवुः ।।"**

'हे उद्धव ! पहले वृन्दावन में मुझ प्राण-प्रियतम के साथ अवस्थान के समय गोपियों ने जो रात्रियाँ (ब्रह्मरात्रि) क्षणार्द्ध की तरह बिताई थीं, अब वही रात्रियाँ मेरे बिना उन्हें कल्प के समान लगती हैं।

व्रजदेवियाँ कहती हैं - हे प्रिय ! दिन में जब तुम वृन्दावन में विचरण करते हो, तो तुम्हें देखे बिना एक त्रुटि (क्षण का सत्ताईस सौवाँ भाग) हमें युग-जैसी लगती है। 'त्रृटि' अति अल्प क्षण है, काल-प्रतिपादक है; तीन परमाणुओं से एक त्रसरेणु, तीन त्रसरेणुओं से एक त्रुटि।

**"त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः सः त्रुटिः स्मृतः ।**
**शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ।।**
**निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातास्ते त्रयः क्षणः ।।"**

(इति मैत्रेयः)

काल-परिमाण के सम्बन्ध में मैत्रेय जी ने कहा है - त्रसरेणु अति सूक्ष्म होता है, जो गवाक्षरन्ध्र में प्रविष्ट सूर्यरश्मि में दीखता है। इस प्रकार जो काल तीन त्रसरेणुओं को भोगता है, उसे त्रृटिकाल कहते हैं। अर्थात् सूर्य के तीन त्रसरेणुओं का अतिक्रम काल। क्षण का सत्ताईस सौवाँ भाग। एक क्षण 32/25 सेकण्ड, त्रुटि = 8/16875 सेकण्ड। एक वेध 100 त्रुटि, तीन वेधों से एक लव, तीन लवों से एक निमिष, तीन निमिषों से एक क्षण अर्थात् 32/25सेकण्ड। एक त्रुटि अत्यन्त अल्पकाल है।

श्रीकृष्ण-विरह में गोपियों के लिये अत्यन्त दु:सह, यहाँ यही जानने की बात है।

''काननमटतीति श्लेषेणारसज्ञत्वम- भिप्रेतम्'' (वृ. तोषणी टीका) इस पद्य में श्रीकृष्ण के कानन-भ्रमण की जो बात लिखी गई है, उससे यही कहा गया है कि वे अरसिक हैं। 'काननं' - कानि कुत्सितानि एव असुन्दरतया दर्शनीयानि पक्षिमृगाद्याननानि यस्मिन् इति - काननं' अर्थात् जहाँ कुत्सित पशु-पक्षी -मृग आदि के मुख आदि विद्यमान हैं, वही कानन है; वहाँ हमारे - जैसे सुन्दर मुख तो नहीं, इसलिये तुम वहाँ सारे दिन व्यर्थ भ्रमण क्यों करते हो, यही अभिप्राय है। अथवा ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि 'कं सुखरूपम् आनन्दं यस्य' वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम सभी का चेतनत्व प्रेमरस-अन्वितत्व (प्रेमरस से युक्त होने का गुण) होने से तुम सभी के जीवन हो। स्थावर जड़ीभूत होते हुए भी तुम्हें देखकर उसमें मुकुल, पुलक, पुष्पविकास प्रहास, मधु, आनन्दअश्रु रसस्राव आदि होता है। इससे लगता है कि तुम्हारा मुख देखकर वृन्दावन के स्थावर तक सभी सचेतन और प्रेम रसभरे हो जाते हैं। तुम जैसे हमें सुख पहुँचाते हो, वैसे ही वन के तरु-लता आदि को भी सुखी करते हो, इसलिये तुम्हारा वन-भ्रमण वृथा नहीं है। तुम जब दिन में वन में भ्रमण करते हो, तो तुम्हारे अदर्शन से हमें त्रुटिकाल भी युग-जैसा दीर्घ लगता है। फिर जब दिनान्त में वन से व्रज में आते हो, तब भी हमें तो दु:ख ही हाथ लगता है, कारण - हम जब कुटिल कुन्टलावृत तुम्हारा श्रीमुख देख पाती है; तो हमें पलक-निर्माता विधाता अनभिज्ञ लगता है। विधाता ने देवताओं की आँखों को पलकें नहीं दीं। जो इन्द्र निखिल मिथ्या वस्तुएं देखते हैं, उन्हें तो निमेषरहित सहस्रचक्षु दिये। इधर हम लोग सौन्दर्य-माधुर्यमय अखिलरसामृतमूर्ति श्रीगोविन्द का वदन देखेंगी, हमें उसने कोटि नेत्र न देकर मात्र दो नेत्र दिये, और उन्हें भी पलकों का आच्छादन देकर अनन्त मधुर गोविन्द-वदन के दर्शन में विघ्न डाल दिया ! आह ! विधाता का कैसा अविचार (नासमझी)!

यथार्थ तो यह है कि कोटि-कोटि निष्पलक नयनों के होने से ही श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन सम्भव होगा, ऐसा नहीं। जब तक अनुराग आकर नयनों को सुरञ्जित नहीं करता, तब तक श्रीकृष्णमाधुरी का आस्वादन नहीं हो सकता। जिसका जैसा प्रेम, उसे उसी के अनुरूप श्रीकृष्ण का माधुर्यास्वादन होता है। व्रजगोपियों के नयनों में है प्रेम का परमसार महाभाव, इसलिये उनके नयनों में ही श्रीकृष्णमाधुर्य के आस्वादन की चरमता है। पर आँखों में पलकों की सृष्टि करने वाले विधाता के प्रति उनका जो आक्षेप है, वह उनके श्रीकृष्णमाधुर्य-आस्वादन की केवल अतृप्ति की परिणति ही है। अन्यथा वे दो नयनों से श्रीकृष्णमाधुरी का जो आस्वादन करती हैं, वह प्रेमहीन जीवन में कोटि-कोटि नेत्रों से कोटि कल्पों में भी सम्भव नहीं। महाभाववती गोपियों की देह, उनके चक्षु आदि विधाता की सृष्ट वस्तु नहीं। यह पद्य श्रीचैतन्य चरितामृत में दो स्थानों पर उद्धृत हुआ है। एक, आदिलीला के चतुर्थ परिच्छेद में । इसके भावाश्रय में श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है -

''कृष्णमाधुर्येर एक स्वाभाविक बल ।
कृष्ण-आदि नरनारी करये चञ्चल ।।
श्रवणे-दर्शने आकर्षये सर्वमन ।
आपना आस्वादिते कृष्ण करये जतन ।।
ए माधुर्यामृत सदा जेइ पान करे ।
तृष्णाशान्ति नहे, तृष्णा बाड़े निरन्तरे ।।
अतृप्त हइया करें विधिरे निन्दन ।
अविदग्ध विधि भालो ना जाने सृजन ।।
कोटि नेत्र नाहि दिलो सबे दिलो दुइ ।
ताहाते निमेष कृष्ण कि देखिबो मुइँ ।।''

दूसरा, मध्यलीला में इक्कीसवें परिच्छेद में लिखा है -

''विपुल आयतारुण, मदन-मदघूर्णन,
मंत्री जार दुइ नयन।
लावण्यकेलि सदन, जलनेत्र-रसायन,
सुखमय गोविन्दवदन।।
जार पुण्यपुञ्जफले, से-मुख-दर्शन मिले,
दुह अक्ष्ये कि करिबे पाने।
द्विगुण बाढ़े तृष्णा-लोभ, पिते नारे मनः क्षोभ,
दुःखे करे विधिर निन्दने -
ना दिलेक लक्ष कोटि, सबे दिले आँखि दुटि,
ताते दिलो निमिष-आच्छादन।
विधि जड़ तपोधन, रसशून्य तार मन,
नाहि जाने योग्य सृजन।।
जे देखिबे कृष्णानन, तार करे द्विनयन,
विधि हइया हेनो अविचार।
मोर जदि बोल धरे, कोटि आँखि तार करे,
तबे जानि योग्य सृष्टि तार।।''

श्रीमद्भागवत में भी ठीक इसी भाव का एक श्लोक (10/82/49 है -

''गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा
स्तद्भावमापुरपि-नित्ययुजां दुरापम् ।।''

'व्रजाङ्गनायें पलकों को जिन कृष्ण के दर्शन में बाधक मानकर उनकी सृष्टि करने वाले विधाता को अभिशाप देती हैं, हृदय के परम अभीष्ट उन्हीं कृष्ण को बहुत समय बाद पाकर उन गोपियों ने उन्हें नयनद्वार से अपने हृदय में प्रवेश करा प्रगाढ़रूप से आलिङ्गन किया। इस दर्शन और आलिङ्गन से गोपियों की जो अवस्था हुई थी, वह नित्ययुक्त आरूढ़ योगियों (श्रीधरस्वामी) अथवा श्रीकृष्ण के साथ नित्य मिलित रुक्मिणी आदि महिषियों (तोषणी टीका) को भी दुर्लभ है।'

कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण के दर्शन से व्रजाङ्गनाओं की जो अवस्था हुई थी, इस श्लोक में वही वर्णित है। बहुत दिनों बाद अपने प्राण-बन्धु को निकट पाकर वे उनकी असमोर्द्ध माधुरी का नयनों से आस्वादन कर रही थीं, तब उन्होंने उन पलकों को भी दर्शन में महा विघ्न समझा था। इसी लिये पलकसृष्टा विधाता की निन्दा की थी। इस श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी कहते हैं - व्रजाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण-दर्शन के समय दर्शन में बाधक बनी पलकों के सृष्टिकर्ता विधाता को अभिशाप दिया था, इससे यही प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण ही उनके परम अभीष्ट हैं। व्रजाङ्गनाओं ने नयनद्वार से हृदय में प्रविष्ट हुए श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर तद्भाव-तन्मयता प्राप्त की थी। यह अवस्था नित्ययुक्त आरूढ़ (नित्य-निरन्तर अभ्यास करने वाले) योगियों को भी दुर्लभ है। जैसे आरूढ़ योगी परमात्मास्वरूप में प्रविष्ट और अप्रविष्ट दोनों ही रूपों में अवस्थान करते हैं, वैसे व्रजाङ्गनायें भी श्रीकृष्ण में प्रविष्ट-अप्रविष्ट दोनों ही प्रकार से विद्यमान थीं। योगियों को देखते हुए इनकी विशिष्टता यह है कि योगी केवल स्वरूपानन्द का ही आस्वादन करते हैं और ये गोपियाँ स्वरूपानन्द ऐश्वर्यानन्द, सबसे ऊपर श्रीकृष्ण का माधुर्यानन्द नित्य ही अनुभव करती हैं। श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने इस श्लोक की तोषणी टीका में जो लिखा है, उसका तात्पर्य यह है कि व्रजाङ्गनाओं के हृदय में देहदैहिक आदि किसी भी विषय की स्मृति नहीं थी। एकमात्र श्रीकृष्ण की ही स्फूर्ति थी। व्रजदेवियाँ तो श्रीकृष्ण को निरन्तर हृदय में धारण किये रहती हैं, किन्तु इस मिलन काल में वे उन्हें नयनों से आलिङ्गन कर कृष्णत्व - परमानन्दघनत्व को प्राप्त हो गई थीं। यह नित्यमिलित रुक्मिणी आदि महिषियों के लिये भी अतिशय दुर्लभ है। वैष्णव कवि का निमेषासहता पर आधारित एक गीत है -

''कि हेरिबो श्याम-, रूप निरुपम,

नयन तो मम मनोमत नय।
जखन नयने नयन, मन सह मन,
होते छिलो सम्मीलन।
नयन पलक दिलों हेनो सुखेर समय।
श्याम दरशनेर आमार त्रिविध वैरि।
बोलो केमने औरूप नयने भरि हेरि।।
घरे गुरुलोक, नयने पलक,
आमार सुखेते उपजे शोक।
ताहे आनन्द-मदन दुइ दुराशय।।
सखि ! जे हेरिबे कृष्णानन
तारे कोटि नेत्र ना देय केनो
जदि बा दिलो दुइटि नयन
ताहे कैलो पक्ष्म आच्छादन
(विधि सृजन जाने ना)
सखि ! कि तप करिया मीन।
पेलो दुटि चक्षु पक्ष्महीन।।
आमि सेइ तप करि,
मीनेर मत नेत्र धरि,
हेरि हरि पराण भरिया।
दिलो पक्ष्म ताहे नाहि छिलो क्षति,
जदि दितो आँखिर उड़िते शकति
तबे चकोरेर मत, से लावण्यामृत,
आँखि उड़ि उड़ि पान करितो।
तबे पियासा मिटितो हेनो मने लय।।''

इस पद्य के प्रथम तीन चरणों का द्वितीय अक्षर 'ट' कार है।

''अटतो विपिने दिने तव स्मितपीयूष-सुपेशलं मुखम्।

न दृशां विषयो यदा भवेत् त्रुटिरेकापि तदा युगायते ।।
विषयोऽपि दृशां यदा भवेद्वदनं ते कमलेन्दुनिन्दकम् ।
नयनस्य निमेष एव नो व्यथयत्येव मनो युगान्तवत् ।।''

(आ. वृ. 19/35-36)

'दिन में तुम्हारे वनविहार के समय तुम्हारा हास्यामृतपूर्ण सुचारु वदन हमारे नयनों का विषय नहीं होता, तो एक त्रुटिकाल भी हमें युग-जैसा लगता है।

और जब कमल-इन्दु-निन्दक वह वदन हमारे नयनों का विषय होता है, तब हमारे नयनों का एक निमेष भी प्रलय की तरह हमारे मन को व्यथित कर डालता है ।।' 15 ।।

**पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।**
**गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि।। 16।।**

**अन्वयः** - अच्युत (हे स्वगुणादव्यभि- चारिण् !) कितव (हे शठ !) गतिविदः (अस्मदागमनं जानतः) तव (ते) उद्गीत-मोहिताः (उच्चैः वेणुगीतेन मोहिताः सत्यः वयं) पतिसुतान्वयभ्रातबान्धवान् (पतीन् सुतान् अन्वयान् तत्तत्सम्बन्धिनः भ्रातृन् बान्धवान् च तान्) अतिविलंघ्य (अतिशयेन लङ्घयित्वा अतिक्रम्य) ते (तव) अन्ति (समीपे) आगताः! निशि (रात्रौ) योषितः (स्वयमागताः स्त्रियः) कः (त्वां बिना कः जनः) त्यजेत् ? ।। 16 ।।

**अनुवाद**- हे अच्युत ! हे कितव (वञ्चनाशील) ! तुम हमारे आने का कारण अच्छी तरह जानते हो; हम लोग तुम्हारे उच्च वेणुगीत पर विमोहित होकर पति-सुत-भ्रातृबान्धवों का त्याग कर तुम्हारे निकट आई हैं। इस रात्रिकाल में स्वयं आगत स्त्रियों को तुम्हारे अतिरिक्त और कौन

त्यागेगा ? ।। 16 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्णविरहविवश व्रजदेवियाँ बोलीं – हे अच्युत ! आज हम पतियों, पुत्रों, भ्रातृ-बान्धव आदि को छोड़कर तुम्हारे निकट आई हैं, इस बात को लेकर हमारे मन में किसी प्रकार के पाप आदि की आशंका उदित नहीं हुई, कारण – हम अच्युत के निकट आई हैं। जिसके निकट आकर किसी प्रकार के सदाचार आदि से विच्युत नहीं होना पड़ता, वही अच्युत है। तुम्हारा एक विशेष गुण है – प्रपन्नजनरञ्जन। तुम इस गुण से कभी विच्युत नहीं होते। वे प्रपन्नजनों की सभी प्रकार के पापों से रक्षा करेंगे – उन्होंने अर्जुन से यह प्रतिज्ञा कर उसके लिये शोक करने का निषेध किया–

**''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
**अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।''**

(गीता 18/66)

श्रीकृष्ण के प्रति प्रार्थनावाणी का प्रयोग करते हुए गोपियों ने स्वयं भी कहा है –

**''कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्**
**नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।**
**तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मा स्म छिन्द्या**
**आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ।।''**

(भा. 10/29/33)

'हे कमललोचन ! तुम सभी के परम बान्धव, आत्मा और नित्यप्रिय हो, इसलिये सभी विवेककुशल व्यक्ति तुम से ही प्रीति करते हैं। पति-पुत्र आदि सभी नाना प्रकार से दुःख देनेवाले हैं, इसलिये उनसे सम्बध बनाये रखने की कोई आवश्यकता नहीं। तभी कहती हैं, हे वरदेश्वर ! हमारे प्रति प्रसन्न होओ। हम सदा ही तुम्हारी श्रीचरण-सेवा की आशा का पोषण करती आई हैं, तुम उसे निष्फल मत करो।'

व्याख्याकारों का मत है कि यह श्लोक उन (गोपियों) की उक्तिहै, जो श्रीकृष्ण के वंशीवादन के समय पतियों द्वारा अन्तर्गृह में अवरुद्ध की गई थीं और देहत्याग के पश्चात् श्रीकृष्ण के साथ सद्य आ मिलीं। श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने वृहत् क्रमसन्दर्भ-व्याख्या में लिखा है – ''तत् कालत्यक्तदेहाः सत्यो याः सद्यः सङ्गतास्ता एवोचुः पतिसुतेत्यादि।'' अर्थात् पतियों द्वारा अवरुद्ध किये जाने पर जो देहत्याग कर सद्य-मिलित हुईं, यह श्लोक उन्हीं की उक्ति है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने भी अपनी सारार्थदर्शिनी टीका में लिखा है – ''यस्तु वेणुवादन समये पतिभिरन्तर्गृहनिरुद्धा आसंस्ताः सेर्ष्यमाहुः

पतिसुतान्वय इति'' जो वेणुवादन के समय पतियों द्वारा अन्तर्गृह में अवरुद्ध हो गई थीं, उन्होंने ईर्ष्या के साथ यह श्लोक बोला है। श्रील कवि कर्णपूर भी कहते हैं - ''अथ पतिभिर्निरुद्धय- माना मानापगमे या गुणदेहं विहाय कृष्णाङ्ग-सङ्ग-समुचितं देहमासादितास्ता एव साभिमानमाक्रोशन्त्य ऊचुः'', अर्थात् जिन्होंने पतियों द्वारा निरुद्ध होने पर मूर्छाकाल में गुणमय देहों का परित्याग कर श्रीकृष्णाङ्ग-सङ्ग के योग्य देहें प्राप्त की थीं, उन्हीं ने अभिमान के साथ आक्रोशपूर्वक यह श्लोक कहा है। इनके सम्बन्ध में (भा. 10/29/9-11 में) कहा गया है-

''अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्ध-विनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ।।
दुःसह प्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ।।
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ।।''

अर्थात् 'श्रीकृष्ण के वंशीवादन के समय कुछ गोपियों को उनके पतियों ने घरों में अवरुद्ध कर रखा और वे किसी प्रकार भी बाहर न निकल पाईं, तो वे उत्कण्ठित चित्त हो आँखें बन्दकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं। उनके दुःसह श्रीकृष्णविरह-ताप से सभी प्रकार का अशुभ दूर हो गया और ध्यानयोग से श्रीकृष्ण-मिलन के आनन्द में सभी प्रकार के मङ्गलों (पुण्य के संस्कारों) का अवसान हो गया। ये गोपियाँ ध्यानयोग द्वारा जारबुद्धि से उस परमात्मा को प्राप्त कर सभी बन्धनों से मुक्त हो गईं और उन्होंने गुणमय (पाप-पुण्य के संस्कारों द्वारा प्राप्त) देहों का त्याग कर दिया।' यही गोपियाँ श्रीकृष्णमिलन के उपयुक्त देहों से कृष्ण से सद्य-मिलित गोपियाँ हैं।

श्रील गोस्वामिपादगण के सिद्धान्त से पता चलता है कि श्रीकृष्णप्रेयसी गोपरमणियाँ नित्यसिद्धा और साधनसिद्धा भेद से दो प्रकार की हैं। श्रीमती राधारानी और उनकी ललिता आदि सखियाँ, उधर श्रीचन्द्रावली और उनकी पद्मा आदि सखियाँ सब नित्यसिद्धा हैं। इनके अतिरिक्त ऋषिपूर्वा, श्रुतिपूर्वा और देवीपूर्वा त्रिविध साधनसिद्धा गोपियों की बात जानी जाती है -

''गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यका ।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कदाचन ।।''

(पद्मपुराण)

अर्थात् श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियाँ चार प्रकार की हैं - श्रुति, ऋषि, देवकन्या और गोपकन्या। इनमें कोई भी सामान्य रमणीमात्र नहीं है। ऋषिपूर्वा गोपियाँ दण्डकारण्य में गोपाल-उपासक थीं। इन

ऋषियों ने ही श्रीरामचन्द्र की कृपा से रागभक्ति-साधन से सिद्धि प्राप्त कर गोकुल में गोपीरूप से जन्म ग्रहण किया। इन्हीं में से कोई-कोई घर के भीतर अवरुद्ध थीं। इनके विषय में श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है - 'तथा च सति याः काश्चित् गोकुले सुमुद्भूताः साधनवशात् सिद्धपूर्णभावा न तु सिद्ध देहा नितरामन्या इव नित्यसिद्धाः पतिशुश्रूषणार्थमन्तर्गृहगता एव पत्यादिभि साग्रह द्वार निरोधात् न लब्धो विशेषेण केनापि प्रकारेण निर्गमो याभिस्ताः (लघु तोषणी)।'' अर्थात् जिन गोपियों ने साधन द्वारा गोकुल में जन्मग्रहण किया है, जिनका भाव सिद्ध है अथवा जिनकी कृष्ण-सेवाधिकार पाने की बलवती लालसा है, पर देह श्रीकृष्ण-प्राप्ति के योग्य नहीं है, वही सिद्धभावा अथवा असिद्धदेहा गोपियाँ अपने पतियों की सेवा के लिये घरों में अवस्थान कर रही थीं। जब श्रीकृष्ण का वंशीनाद उनके श्रुतिगोचर हुआ, उन्होंने श्रीकृष्ण-सेवा के लिये पति-सेवा त्यागकर श्रीकृष्ण के निकट जाने की सोची। जाने की चेष्टा की, तो पतियों द्वारा घरों में अवरुद्ध कर दी गईं और जैसे पहले कहा गया ये गोपियाँ अपनी गुणमय देहें त्यागकर श्रीकृष्ण-सेवा के योग्य देहों से श्रीकृष्ण के निकट चली गईं। किसी के मन में यह बात आ सकती है कि जब इनकी देहों में प्राकृत अंश था, तो इनका अप्राकृत गोकुलधाम में गोपी-गर्भ से जन्म लेना कैसे सम्भव हुआ ? श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने इसका समाधान किया है - 'न च वक्तव्यं गोकुलजातानां प्राकृतदेहादित्यं न सम्भवतीति, अवतारलीलायाः प्रापञ्चिकमिश्रितत्वात्। श्रीदेवकी देव्यामपि षड्गर्भसंज्ञानां जन्म श्रूयते इति' (तोषणी टीका) अर्थात् गोकुल में गोपीगर्भ से जन्मी साधनसिद्धा गोपियों की देहों में प्राकृत अंश रहना सम्भव नहीं, ऐसा सिद्धान्त करना उचित नहीं, कारण- भगवान् जब प्रपञ्च में अवतीर्ण होकर लीला करते हैं, तो उनकी प्रपञ्चातीत लीला में भी किञ्चित प्राकृत अंश का मिश्रण रहता है। जैसे श्रीकृष्णजननी देवकीजी के अप्राकृत गर्भ से भी छह प्राकृत शिशुओं ने जन्म ग्रहण किया था (जिनका कंस ने निधन किया)।

जो भी हो, उन्हीं गोपियों ने अभिमान और आक्रोश से भरकर श्रीकृष्ण से कहा - हे कृष्ण ! हमें इस तरह अपने निकट आकर्षित कर लिया अब हमें त्याग देना अत्यन्त अनुचित है। हम लोग पति, पुत्र, भ्राता, बान्धव आदि को प्रबल रूप से लाँघकर अर्थात् उनके वाक्यों का अतिक्रम कर, उनके साथ प्रीति-स्नेह आदि का सम्पर्क छिन्न कर तुम्हारे निकट आई हैं। यहाँ पुत्र-त्याग की बात कही गई है, सो इन सुकुमारी व्रजबालाओं के भतीजे और जिठानी देवरानी के पुत्र ही समझे जायेंगे। श्री कृष्ण प्रिया गोपियों में से किसी की स्वयं की गर्भजात सन्तान नहीं। जिन का पतिसङ्ग हुआ था, उन साधनसिद्धा गोपियों में से किसी-किसी गोपी के अपने गर्भजात पुत्र की बात किसी-किसी व्याख्याकार ने स्वीकार की है पर श्रील रूप गोस्वामिपाद ने उज्ज्वलनीलमणि (3/37) में स्पष्ट लिखा है - ''परोढ़ा वल्लभास्तस्य व्रजनार्योऽप्रसूतिकाः'' परोढ़ा श्रीकृष्णवल्लभा व्रजरमणियों में से किसी के गर्भ से सन्तान नहीं जन्मी।

जो भी हो, व्रजदेवियाँ इस प्रकार सब त्यागकर आज श्रीकृष्ण के निकट आगमन का कारण बता रही हैं – ''तवोद्गीतमोहिता:'' तुम्हारे मुरलीगायन के मोहन स्वर के आकर्षण से विमोहित होकर ही हम तुम्हारे निकट दौड़ी आई हैं। गानमुग्धा हरिणियाँ व्याध के मोहन गायन से आकृष्ट होकर हिताहित-विवेकशून्य हुई व्याध के निकट दौड़ी जाती हैं; हम लोग भी उसी प्रकार तुम्हारे निकट आई हैं। यदि कहो कि मैं तो नित्य ही मुरली बजाता हूँ, आज भी उसी तरह यादृच्छिक रूप से मुरलीवादन किया, उसे सुनकर तुम सब इस प्रकार सब छोड़कर क्यों आ गईं ? इसका उत्तर देती हैं – 'गतिविद:' यह तुम्हारा यादृच्छिक वेणुगायन नहीं है, तुमने जानबूझ कर हमसे मिलने की बासना लेकर ही वंशीनाद किया है। और इस वासना का सुस्पष्ट संकेत ध्वनित हुआ है तुम्हारे वंशीस्वर में ! श्रीपाद शुकदेव मुनि ने भी कहा है –

**''निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।**
**आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ।।''**

(भा. 10/29/4)

'श्रीकृष्ण का अनङ्गवर्द्धन वेणुगायन सुनकर श्रीकृष्ण द्वारा आकृष्ट किये मन से व्रजदेवियाँ एक-दूसरी से बचती अपने कान्त श्रीकृष्ण के निकट जा पहुँचीं। वे इतने द्रुतवेग से गईं कि कानों के कुण्डल झूलने लगे। श्रीकृष्ण वेणुगायन द्वारा उन सबके मन आकर्षित कर रहे हैं, उनके वंशीस्वर से उन लोगों की विचारबुद्धि लुप्त हो गई, इस बात की साक्षी श्रीपाद शुकदेवमुनि भी दे रहे हैं गोपियाँ बोलीं – गतिविद् तुम हमारे आगमन का कारण अच्छी तरह जानते हो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम लोग परम धैर्यगाम्भीर्यवती पतिव्रता हो, फिर वंशीगायन सुनकर विमोहित क्यों हुईं ? तो इसका उत्तर दिया – वंशीगीत की गतिविशेष या प्रभावविशेष तुम सब जानते हो। इन्द्र, ब्रह्मा, महेश्वर आदि देवगण भी तुम्हारे वंशीगीत पर सदा ही आकृष्ट और मोहित हुए रहते हैं। हम ठहरीं सरला व्रजबालायें, हमारी तो बात ही क्या ? श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं – मेरा ऐसा ही स्वभाव है, तुम खूब जानती हो, फिर तुम सावधान क्यों नहीं हुईं ? इसके उत्तर में बोलीं – हम तुम्हारी 'गतिविद्' हैं, तुम्हारा स्वभाव अच्छी तरह जानती हैं (गति शब्द का एक अर्थ है स्वभाव), किन्तु क्या करें, तुम्हारा वेणुगायन ही महामोहन मंत्रविशेष है। वह सब भुलाकर तुम्हारे निकट खींच लाता है, कोई सावधान हो, इसका कोई उपाय ही नहीं रहता। श्रीरूप गोस्वामिपाद ने लिखा है –

**''सद्वंशतस्तव जनिः पुरुषोत्तमस्य पाणौ**
**स्थितिमुरलिके सरलासि जात्या ।**
**कस्मात्त्वया वत गुरोर्विषमा गृहीत्वा**

गोपाङ्गनागणविमोहन मंत्र दीक्षा ।।''

(विदग्धमाधव नाटक 5/11)

'अरी मुरलिके ! सद्वंश (उत्तम बाँस) में तुम्हारा जन्म हुआ है, पुरुषोत्तम के हाथ में तुम्हारी अवस्थिति है और जाति से भी तुम सरला हो, पर अहो ! गोपाङ्गनाओं के महामोहन मंत्र की विषम दीक्षा तुमने किस गुरु से ली है ?'

''वंशी आर बार बाजे वने।
शुनि मोर मन, करे उचाटन,
भेटिबो श्यामेर सने।।
अबुध मुरली, 'राधा राधा' बोलि,
विपिने सदाइ बाजे।
गुरु गरवित, करिले बेकत,
शुनिआ मरिए लाजे।।
खलेर वदने, थाकिया जतने,
मधुर मधुर गाय।
हासिते हासिते, कुलेर सहिते,
पराण लइते चाय।।
आमि चिरदिन, परेर अधीन,
जानिया ना जाने बाँशी।
दीनबन्धु भने, चलो सखी वने,
(बाँशीरे) निषेध करिया आसि।।''

गोपियाँ बोलीं - तुम अपना स्वयं का स्वभाव और हम लोगों का स्वभाव अच्छी तरह जानते हो। अथवा हम तुम्हारा स्वभाव और अपना स्वभाव भली भाँति ही जानती हैं, तुम्हारा अभिज्ञत्व और कारुण्य आदि से युक्त गुण भी जानती हैं। तुम्हारे अतिरिक्त हमारी और कोई गति नहीं, तुम यह भी जानते हो। हम लोग तुम्हारे उच्च गीत पर मोहित होकर आई हैं। ऐसा है तुम्हारा उद्गीति-माहात्म्य ! परममाधुर्य-रसस्नेहस्वर-सौष्ठव ! फलस्वरूप श्रुतिमनोहरत्व और परम आल्हादकत्व ! यदि कहो कि मैं स्वभाववश वंशी बजाता हूँ, मुझे क्या पता कि तुम आओगी ? तो हमारा उत्तर है - तुम गतिविद् हो, तुम जानते नहीं ? तुम्हारी वंशीध्वनि सुनकर हम लोग घर से वन में आई है। यहाँ आकर ऐसी गति हो

गई। तुम गतिवित् भी हो, हमारे हृदय की गति जानते हो, प्रेमविरहविह्वलित दशा भी जानते हो। लोक, कुल, वेदमर्यादा, पिता, भ्राता, बन्धुगण को त्याग कर असहिष्णु होकर हम तुम्हारे रमण के लिये वन में आयेंगी, तुम सब जानते हो। इस रात्रिकाल में समागत भीत अबला-सरला गोपबालाओं को त्यागना तुम्हारे लिये अनुचित है। हे कितव ! भला रात्रि के समय स्वयं आई स्त्रियों को कोई कभी त्यागता है ? कोई कितव (धूर्त) भी इस अवस्था में योषितगण को नहीं त्याग सकता। इसलिये तुम केवल धूर्त नहीं, अकृतज्ञ भी हो। केवल अकृतज्ञ नहीं - रात के समय उच्च (श्रेष्ठ) गीत द्वारा मोहित कर रमण-इच्छा की पूर्ति के लिये निर्जन में अबला-सरला भीरु व्रजबालाओं को निकट आह्वान कर अब त्याग रहे हो, यह तुम्हारी भयानक धूर्तता नहीं ?

इस पद्य के प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर 'त' कार है।

''पति-पुत्र-सुहृत्-सहोदरान्
तृणकल्पानतिमुच्य तेहन्तिकम् ।
कितवोपगताः पुनः कथं विपिने
नो निशि कष्टमत्यजः ।।''

(आ. वृ. 19/38)

हे शठ ! हम पति, पुत्र, सुहृत्-सहोदरों को तृणवत् त्यागकर तुम्हारे निकट आई हैं। हा कष्ट (हाय) ! एक तो वन, ऊपर से रात्रिकाल, हमें कैसे त्याग दिया ? ।।16 ।।

**रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।**
**वृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः।। 17।।**

---

**अन्वयः** - रहसि (एकान्ते) ते (तव) सम्विदं (रतिप्रार्थनव्यञ्जक सम्भाषणं) हृच्छयोदयं

(हृच्छयस्य कामस्य उदयः प्राकट्यं यस्मात्) प्रहसितानं (प्रकृष्टं हसितं यस्मिन् आनने तदाननं) प्रेमवीक्षणं (प्रेमवीक्षणं यत्र) श्रियः धाम (शोभास्पदं) वृहद् उरः (वक्षः) मुहुः (पुनः पुनः) वीक्ष्य (विशेषतो दृष्ट्वा अस्माकम) अतिस्पृहा (भवति), मनः मुह्यते (मुह्यति) ।। 17 ।।

**अनुवाद**- हे सखे ! एकान्त में तुम्हारा रति-प्रार्थनाव्यञ्जक सम्भाषण, कन्दर्पभाव के उदय होने से तुम्हारा सहास्य मुख, प्रेमयुक्त चितवन एवं परम शोभास्पद विस्तीर्ण वक्षस्थल बार-बार विशेषरूप से देखकर हम लोगों की स्पृहा बलवती हो गई है, इसलिये उत्कण्ठा के कारण हमारा मन भी मोह को प्राप्त हो रहा है ।। 17 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

गोपियाँ कहती हैं, हे कृष्ण ! तुम कह सकते हो कि तुम लोग पति आदि के दोष देखकर मेरे निकट आई हो; मैं भी कपटता आदि दोषों से युक्त हूँ, तुम सब भी यही कहती हो। इसके उत्तर में कहती हैं कि हम तुम्हारे विरह से पीड़ित होकर मन से दुःखी होकर कितनी ही बातें कह देती हैं, किन्तु हम जानती हैं - तुम निर्दोष पूर्णगुणविग्रह हो; तुम में दोष की गन्ध नहीं, गुणों का अन्त नहीं। उन सब गुणों के कारण ही तो हमारा मन इतना मुग्ध हो गया है । उन कुछेक गुणों की बात ही इस पद्य में कहती हैं।

श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने वृहत् क्रमसन्दर्भ टीका में लिखा है - ''अथ कुमारिका ऊचः रहसीत्यादि।'' यह श्लोक व्रजकुमारिकाओं की उक्ति है। इन लोगों ने श्रीकृष्ण को पतिरूप से प्राप्त करने के लिये कात्यायनी व्रत का अनुष्ठान किया था।

**''हेमन्ते प्रथमे मासि नन्द व्रजकुमारिकाः ।**
**चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम ।।''**

(भा. 10/22/1)

'नन्दव्रजवासिनी गोपकुमारियों ने हेमन्त ऋतु के प्रथम मास मार्गशीर्ष में हविष्यभोजन आदि का नियम लेकर कात्यायनीदेवी के व्रत का अनुष्ठान आरम्भ किया।'

भाववैचित्री पोषण के लिये गोपियाँ विवाहिता और कुमारिका दो रूपों में स्थित हैं। ''युवती गोपकन्याश्च रात्रौ संकाल्य कालवित्'' - इस हरिवंशवचन प्रमाण से जाना जाता है कि श्रीकृष्ण ने रासलीला प्रसङ्ग में युवतियों और गोपकन्याओं को रासस्थली पर मिलाया था। विवाहितायें ही 'युवती' और अविवाहितायें ही गोपकन्या नाम से ख्यात हैं। ये गोपकन्यायें ही कात्यायनी-व्रतपरायणा थी; इनका श्रीकृष्ण के प्रति पतिभाव था। किन्तु मिलन आदि सभी कुछ परकीयाओं की तरह ही सम्पन्न होता, कारण -

''याश्च गोकुलकन्यास पतिभावरता हरौ ।
तासां तद्वृत्तिनिष्ठात्वान्न स्वीयात्वमसाम्प्रतम ।।
गान्धर्वरीत्या स्वीकरात् स्वीयात्वमिह वस्तुतः ।
अव्यक्तत्वाद्विवाहस्य सुष्ठु प्रच्छन्नकामता ।।''

(उ. नी.)

अर्थात् गोकुल में जो गोपकन्यायें श्रीहरि के प्रति पतिभावसम्पन्न थीं, उनका विवाह विप्राग्नि को साक्षी बना नहीं हुआ, इसलिये स्वकीया भाव गौण है। माता-पिता आत्मीय-स्वजन से छिपकर गान्धर्वरीति से विवाह हुआ था, इसलिये उनमें प्रच्छन्नकामता आदि परकीयाओं की तरह ही विद्यमान थे। क्योंकि स्वकीय भाव से रास आदि विहार सम्भव नहीं।

कात्यायनी-व्रत उद्यापन के दिन श्रीकृष्ण ने उनका चीर-हरण किया था और इस प्रकार हास्यमधुर वदन से सरस मधुर दृष्टि विलास के साथ उनसे रहस्यालाप किया था कि उनके विशाल वक्ष की मोहन शोभा एवं कन्दर्प-उदय देखकर कुमारिकाओं के चित्त में उन्हें स्वीय (अपने) भाव के अनुरूप प्राप्त करने की आशा अतिशय बलवती हो गई थी। फिर श्रीकृष्ण ने उन्हें वर देकर उस आकांक्षा को प्रबल कर दिया -

''संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ।।
यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ।।''

(भा. 10/22/25,27)

'हे साध्वियो ! अभीष्ट रूप में मेरी सेवा प्राप्त करना ही तुम लोगों का संकल्प है, लज्जावश तुम यह नहीं कह रही हो, फिर भी मैं यह समझ गया हूँ। वह मेरे द्वारा भी अनुमोदित है, अतएव तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा।

हे गोपकुमारियों ! तुमने जिस उद्देश्य से कात्यायनी देवी की अर्चना की है, वह सिद्ध हो गया। अब तुम अपने-अपने घर जाओ, आगामी रजनी (पूर्णिमा रात्रि में) तुम लोग मेरे साथ सुखविहार कर सकोगी।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से कुमारियों के हृदय में श्रीकृष्ण-प्राप्ति की लालसा बद्धमूल हो गई थी। अप्राकृत नवीन मदन सुन्दरशेखर श्रीकृष्ण की मोहन-मधुर मूर्ति, विश्वविमोहन, वदनशोभा, नयनशोभा ! गोपकुमारियों का चित्त तो पहले से ही समधिक आकृष्ट था। इसीलिये उन्होंने श्रीकृष्ण को

पतिरूप से पाने के लिये कात्यायनी देवी की आराधना की थी। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण की चीरहरण लीला, तदनुरूप रहस्यालाप और विविध चेष्टा- यह सब देखकर वे स्पष्टत: समझ गई थीं कि श्रीकृष्ण के हृदय में भी कामोदय हो गया है, कारण - हृदय की मदनलालसा के बिना निर्जन में इस प्रकार वाक्यभङ्गिमा, नयनभङ्गिमा और रहस्यालाप कभी सम्भव नहीं। फिर अन्त में उन लोगों की रति की स्वीकृतिमूलक श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञावाणी ने उन सबके हृदय में श्रीकृष्ण-प्राप्ति की लालसा को अतिशय दृढ़तर कर दिया था। तभी से वे विपुल उत्कण्ठा लिये उस मिलन मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रही थीं। श्री कृष्ण वही रहस्यालाप, वही कन्दर्पोदय, वही भावचेष्टायें, लावण्यकेलिसदन जननेत्र-रसायन सुखमय वदन की और विपुल आयतारुण (बड़े-बड़े लाल-लाल) मदनमद से चञ्चल नयनों की वह शोभा, श्रीमुख की वही वाणी जो अमृत से भी बढ़कर परामृत है और जिसमें मिला है स्मित-कर्पूर (मन्द मुस्कान का कपूर), वही अति उन्नत सुविस्तृत लक्ष्मी श्रीवत्स अलंकार से सुशोभित डकैत (डकैती करने वाला) वक्ष - यह सब उसी दिन से गोपियों के भीतर-बाहर सतत-अविरत स्फुरित होकर उन्हें उत्कण्ठा सें अधीर कर रहा था।

आज वही पूर्णिमा-रजनी है - चिर आशा, चिर आकांक्षा पूर्ति का मधुमय सन्धिक्षण। किन्तु आज उन्हें एकाएक दर्शन देकर ही विरहसिन्धु में निक्षेप (कर दिया) ! इस विरह-काल में श्रीकृष्ण की उन्हीं सब माधुरियों ने उनके मन को बार-बार प्रबल स्पृहा से भरकर मूर्छित कर दिया है - वे श्रीकृष्णचरणों में यही ज्ञापन कर रही हैं।

इस श्लोक के व्याख्या-प्रसङ्ग में श्रीधरस्वामिपाद ने लिखा है - गोपियाँ कहती हैं, हे कृष्ण ! तुमने हमें त्याग दिया है; तुम्हारे दर्शन से हम लोगों को जो हृद्रोग हो गया है, वह तुम्हारे अदर्शन से अतिशय बढ़ गया है तुम सङ्गदान कर हमारे इस रोग की चिकित्सा करो।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद इस श्लोक की व्याख्या-भूमिका में कहते हैं - गोपियाँ कहती हैं, हे सखे ! अपने कृतज्ञता-गुण से अब और क्षणभर भी विलम्ब न कर तुरन्त दर्शन दो। श्रीपाद गोस्वामिचरण ने लिखा है, 'हृच्छयोदयं' यह पद अन्य चार पदों के बहुव्रीहि समास निष्पन्न विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। 'हृच्छयस्य हृदि सुप्तवन्निश्चेष्टतया लीनस्यापि कामस्योदय: प्राकट्यं यस्मात् तत्, इदं प्रहसितादीनां सवेषामपि विशेषणं ज्ञेयम्।'' (वृ. तो. टीका) अर्थात् हृच्छय या काम हृदय में सुप्तवत् निश्चेष्ट भाव से लीन हुए रहने पर भी जिससे उसका उदय या प्राकट्य समझा जाय। श्री कृष्ण का रति-प्रार्थना-व्यञ्जक सम्भाषण, हास्यमधुर मुख, सप्रेम दृष्टिपात और परम शोभास्पद विस्तीर्ण वक्षस्थल - इन सबका विशेषण 'हृच्छयोदयं' या कन्दर्पभाव-उद्गम पद है। जो किसी गुण या अवस्था को विशेषित करे, वही विशेषण है। श्रीकृष्ण की इन चार अवस्थाओं को देखकर गोपकुमारियाँ

समझ गई थीं कि यह उनके साथ मिलने के लिये श्रीकृष्ण के काम का प्राकट्य है।

परमतत्वमय वस्तु हैं श्रीकृष्ण–स्वत: पूर्ण, आप्तकाम, आत्मारामशिरोमणि यहाँ उनके 'हृच्छय' या काम का स्वरूपतत्व समझना होगा। हम लोग हैं प्राकृत कामना–वासना वाले जगत् के मनुष्य, 'काम' कहते ही प्राकृत मनुष्यों की रमणी–मिलन की लालसा की तरह एक मनोवृत्ति की बात हमारे मन में जगना स्वाभाविक है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के हृदय में अपूर्ण जगत् के मनुष्य की तरह किसी रमणी के रूप पर मुग्ध होकर कामोदय होना सम्भव नहीं। जिनका मोहिनीरूप देख कर देव–असुर यहाँ तक कि महायोगीश्वर श्रीमन्महादेव भी अतिशय विमोहित और उन्मादित हो उठे थे, उनके हृदय में किसी रमणीविशेष के रूप पर मुग्ध होने से कामोदय होना क्या सम्भव है ? किन्तु भक्त के प्रेम के अनुरूप उसकी प्रेमसेवा ग्रहण करने की आकांक्षा भगवत्स्वरूप का एक स्वत:सिद्ध स्वभाव है। भक्तवात्सल्य, प्रेमवश्यता, प्रेमार्द्रचित्तता भगवत् स्वरूप के महागुणविशेष हैं।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर ये पञ्चविध भक्तिरस हैं। ''शान्तेर स्वभाव – कृष्णे ममता–गन्धहीन। परं ब्रह्म–परमात्मा–ज्ञान प्रवीण।।'' (चै. च. मध्य. 19) शान्त रस के भक्तों के हृदय में श्रीकृष्णसेवा की वासना नहीं जगती। वे सोचते हैं श्रीकृष्ण स्वत:पूर्ण और आत्माराम हैं। इसलिये उस प्रेम में श्रीकृष्ण की भी सेवा ग्रहण करने की वासना नहीं जगती। वे लोग श्रीकृष्ण के रूप–गुण आदि देख–सुनकर ही आनन्दित होते हैं और श्रीकृष्ण भी उन्हें अपने रूपगुण आदि द्वारा आनन्दित करते हैं। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने अपने प्रीतिसन्दर्भ ग्रन्थ में भगवत् कृपा के दो भाग दिखाये हैं – (1) पोषण (2) अनुकम्पा। ''पोषणमत्र भगवता स्वरूप द्वारा स्वगुण द्वारा चानन्दनम्।'' भगवान् द्वारा स्वरूप से और अपने गुणों से आनन्द प्रदान करना ही पोषण है। यह शान्त भक्तों के प्रति !'अनुकम्पा च पूर्णेऽपि स्वस्मिन् निजसेवाद्यभिलाषं सम्पाद्य सेवकादिषु सेवादिसौभाग्यसम्पादिका भगवतश्चित्तार्द्रतामयीतदुपकारेच्छा।'' (प्रीतिसन्दर्भ – 84 अनु.) भगवान् स्वत:पूर्ण हैं, फिर भी भक्त के हृदय में उनकी सेवा करने की जो अभिलाषा होती है, उसे पूरी कर वे सेवक के उपकार की इच्छा रखते हैं – यह हुई अनुकम्पा। यह दास्य आदि भक्तों के प्रति। दास्य रस में दासगण के हृदय में श्रीकृष्णसेवा की वासना जगती है। तदनुरूप श्रीकृष्ण के हृदय में भी उन लोगों की सेवा ग्रहण करने की वासना का उद्रेक होता है। व्रज के सख्यरस में श्री कृष्ण के साथ साम्यभाव है, बराबरी का प्रेम है। ''कान्धे, चड़े, कान्धे चड़ाय करे क्रीड़ारण। कृष्ण सेवे, कृष्णे कराय आपन सेवन्।।'' (चै. च. मध्य. 19) उन लोगों के प्रेम में श्रीकृष्ण की भी अनुरूप सेवा ग्रहण करने की वासना का उद्रेक होता है। वात्सल्यरस में माता–पिता के लालन–पालन, ताड़न–भर्त्सन के अनुरूप बाल्यभाव से उनकी सेवा ग्रहण करते हैं। मधुर रस में व्रजगोपिकाओं के हृदय में उनके रूप–यौवनसम्पन्न अङ्ग द्वारा साक्षात् शृङ्गार

श्रीकृष्ण की सेवा करने की वासना जगती है। उन लोगों का सुनिर्मल प्रेम श्रीकृष्ण के हृदय में भी तदनुरूप सेवा ग्रहण करने की वासना जगाता है। यही वासना उनका 'हच्छय' है। ''सहजे गोपीर प्रेम नहे प्राकृत काम। काम क्रीड़ासाम्ये तार कहि काम नाम।।'' (चै. च) जैसे गोपिका के काम का अर्थ है उसका विशुद्ध निर्मल प्रेम, वैसे ही श्रीकृष्ण के काम से उनका गोपीविषक सुनिर्मल प्रेम ही समझना होगा।

गोपियाँ बोलीं – हे कृष्ण ! तुम्हारे उसी सहास्य वदन, प्रेमदृष्टि, निर्जन क्रीड़ा का संकेत आदि की बात सोचकर और प्रगाढ़ आलिङ्गन के उपयोगी तुम्हारे विस्तीर्ण शोभनीय वक्षदेश को देखकर हमारी उत्कण्ठा में वृद्धि हो गई है, फलस्वरूप विरह ज्वाला से हमारा मन मूर्छित हो रहा है। तुम दर्शन देकर प्राणरक्षा करो।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या का मर्म यह है – हे कृष्ण ! तुम्हारा निर्जन-रहःकेलि-संकेत, प्रहसित मुख, प्रेमयुक्त अवलोकन, हमारे प्रति दृष्टिपात करते-करते कन्दर्प भाव का उदय और तुम्हारा वह विस्तीर्ण वक्ष – ये पाँच पञ्च शरों की तरह हमारे मोहपञ्चक हैं। ये सब हमारे नेत्ररन्ध्रों से प्रवेश कर हमारे हृदय को प्रज्ज्वलित कर रहे हैं।

इस पद्य के प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर 'ह' कार है।

**''हसितं मृदु चारु वीक्षितं रहसि प्रेमवचः स्मरोदयम् ।**
**भुजयोरुरसश्च रस्यतां विमृशन्नो हृदयं विमुह्यति ।।''**

(आ. वृ. 19/39)

हे कृष्ण ! तुम्हारा मृदु हास्य, सुचारु ईक्षण (चितवन), रहस्थान (निर्जन) में प्रेमालाप, कामोदय और बाहुयुगल तथा वक्ष की रस्यता – इन सब के विषय में सोचते-सोचते हमारा हृदय विमोहित हो उठा है ।। 17 ।।

**व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।**
**त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निसूदनम्।। 18।।**

**अन्वयः** - अङ्ग (हे श्रीकृष्ण !) ते (तव) व्यक्तिः (प्राकट्यं) व्रजवनौकसाम् (व्रजजवनयोः ओकः आवासः येषां तेषाम्) अलं (अतिशयेन) वृजिनहन्त्री (दुःखनिरसनी) च (तथा) विश्वमङ्गलं (सर्वमङ्गलरूपं) तत्स्पृहात्मनां (तत् स्पृहारुग्नमनसां) नः (अस्माकं) स्वजनद्रुजां (स्वजनहृद्रोगाणां) यद् (अतिगोप्यं) निसूदनं (निवर्तक मौषधं) मनाक् (ईषदपि) त्यज (वितर) ।। 18 ।।

**अनुवाद**- हे कृष्ण ! व्रजवासियों और वनवासियों के दुःख-निवारण के लिये तुम्हारा आविर्भाव हुआ है। तुम्हारा अवतरण निरतिशय दुःखनाशक और विश्व का मङ्गल करनेवाला है। तुम्हारी स्पृहा से हमारा मन अति पीड़ित है, अतएव स्वजनों का मनोरोग दूर करनेवाली तुम्हारी जो औषधि है, उसका किञ्चित मात्र हमें दे दो ।। 18 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

इस श्लोक की श्रीधर स्वामी की व्याख्या इस प्रकार है - गोपियों ने कहा, हे श्रीकृष्ण व्रजवासी- वनवासी का दुःखनाश और मङ्गल करने के लिये तुम्हारा अवतार हुआ है। हम तुम्हारी स्पृहा से रुग्णमानस हैं, अतएव कार्पण्य (कंजूसी) छोड़कर हमें थोड़ा-सा कुछ दो। यदि श्री कृष्ण कहें कि क्या देना होगा ? तो उत्तर देती हैं - तुम्हारे पास स्वजनों के हृद् रोग का नाश करनेवाली अति गुप्त औषधि है, उसे तुम्हीं जानते हो - यह गूढ़ अभिप्राय है।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद कहते हैं, वे अन्त में फलित विषय निश्चित कर प्रार्थना करती हैं - हे अङ्ग ! (प्रेम सम्बोधन में) अर्थात् हे प्राणप्रियतम ! व्रजवासी और वनवासी सभी के दुःख नाशार्थ एवं मङ्गलार्थ तुम्हारा अवतार है। इसलिये हमारे पास से अन्तर्हित होकर हमें दुःख के सागर में निक्षेप करना उचित नहीं। तुम केवल दुःखनाशक ही नहीं हो, सबके अशेष मङ्गलकर्ता भी हो। 'अलं' अर्थात् अतिशय रूप से दुःख के नाशक और मङ्गल के साधक। दुःख कभी भी पुनः उद्भूत न हो, इस प्रकार दुःख नाश ही आत्यन्तिक दुःखनाश है। और 'मङ्गल' का अर्थ है भक्ति प्रेम आदि सम्पत्ति दान कर प्रतिक्षण अभिनव सुख या आनन्द परम्परा का आस्वादन प्रदान (करना)। प्रेम प्राप्त किये बिना किसी का भी आत्यन्तिक दुःखनाश नहीं होता। ज्ञानीजन कह सकते हैं - मुक्ति से भी आत्यन्तिक दुःखनाश होता है। किन्तु यह बात जानने में आती है कि जीवन्मुक्त पुरुष पुनः संसार दुःख भोगता है। उदाहरणार्थ वासनाभाष्यधृत परिशिष्टवचनम् -

''जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसार वासनाम् ।
यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ।।''

यदि अचिन्त्यशक्तिशाली भगवान् के प्रति कोई अपराध होता है, तो जीवन्मुक्त पुरुष भी पुनः संसार वासना प्राप्त करते हैं।

''केवल ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिने ।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय बिना ज्ञाने ।।''
''ज्ञानी जीवनन्मुक्तिदशा पाइनु करि माने ।
वस्तुत बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति बिने ।।''

''येऽन्यये रविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वर्य्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं ततः
पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।''

(भा. 10/2/32)

देवताओं ने देवकी-गर्भगत श्रीकृष्ण की स्तुति में कहा - 'हे कमललोचन ! जो तुमसे विमुख हैं, तुम्हारे प्रति भक्ति के अभाव से उनकी बुद्धि ही शुद्ध नहीं, इसलिये वे वस्तुतः विमुक्त न होकर भी विमुक्त होने का अभिमान करते हैं। बड़े कष्ट से तपस्या आदि द्वारा जीवन्मुक्त दशा प्राप्त करके भी तुम्हारे श्रीचरणों के प्रति अनादर के कारण वे उस दशा से गिर जाते हैं।

मङ्गल का अर्थ है प्रेमसम्पत्ति पाकर जीव को प्रतिक्षण अभिनव सुख या आनन्द की परम्परा का आस्वादन प्राप्त होना।

''पञ्चम पुरुषार्थ सेइ प्रेम महाधन ।
कृष्णेर माधुर्यरस कराय आस्वादन ।।
प्रेमा हैते हय कृष्ण निज भक्तवश ।
प्रेमा हैते पाइ कृष्णेर सेवासुखरस ।।''

(चै. च.)

''कृष्ण विषयक प्रेमा परम पुरुषार्थ ।
जार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ ।।
पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमानन्दामृतसिन्धु ।
मोक्षादि आनन्द जार नहे एकबिन्दु ।।''

(वही)

यदि श्रीकृष्ण कहें, मेरा भक्त मेरे प्रति प्रेमभक्ति प्राप्त करता है, सर्वदा मेरे सङ्ग और दर्शन की प्राप्ति तथा तदनुरूप सुखसम्पत्ति पाने के लिये वैकुण्ठ आदि की भी कामना करता है, यह मैं जानता हूँ। अब तुम सब क्या चाहती हो, सो बताओ। इसका उत्तर देती हैं – हम लोग तो तुम्हारी 'स्वजन' हैं। शुद्ध माधुर्यमय व्रजभाव की दृष्टि से व्रजभक्त सभी श्रीकृष्ण के स्वजन हैं। श्रीकृष्ण की उक्ति है –

''ऐश्वर्यज्ञानेते सब जगत् मिश्रित ।
ऐश्वर्यशिथिल प्रेमे नाहि मोर प्रीत ।।
आमाके तो जे भक्त भजे जेइ भावे ।
तारे से से भावे भजि ए मोर स्वभावे ।।
मोर पुत्र मोर सखा मोर प्राणपति ।
एइ भावे करे जेइ मोरे शुद्धभक्ति ।।
आपानाके बड़ो माने आमारे समहीन ।
सर्वभावे आमि हइ ताहार अधीन ।।
माता मोरे पुत्रभावे करेन बन्धन ।
अति हीन ज्ञाने करे लालन पालन ।।
सखा शुद्ध सख्ये करे स्कन्धे आरोहण ।
तुमि कोन बड़ोलोक, तुमि आमि सम ।।
प्रिया जदि मान करि करये भर्त्सन ।
वेदस्तुति हैते हरे सेइ मोर मन ।।
एइ शुद्ध भक्ति लइया करिमु अवतार ।
करिबो विविध विध अद्भुत विहार ।।
वैकुण्ठाद्ये नाहि जे जे लीलार प्रचार ।
से से लीला करिबो जाते मोर चमत्कार ।।''

(चै. च. आदि 4)

माधुर्य–उपासक व्रजभक्तों में कभी भी वैकुण्ठ जाने की इच्छा नहीं जगती। वे किसी प्रकार ऐश्वर्यधाम वैकुण्ठ चले भी जायें, तब भी भगवान् का ऐश्वर्य उनके माधुर्यमय व्रजरसचिन्तन को अवरुद्ध नहीं कर सकता। इसके प्रकृष्ट दृष्टान्त हैं श्रीवृहद्भागवतामृत के श्रीगोपकुमार ! वे वैकुण्ठ में उसी महाआनन्दमय राज्य में विषादभरे रहते हैं। व्रज के सख्यरस के उपासक गोपकुमार के चित्त में व्रज

के श्रीमन्मदनगोपाल की स्मृति ही सतत जागरूक रहती है। भक्तवाञ्छाकल्पतरु वैकुण्ठनाथ श्रीमन्नारायण ने गोपकुमार की अभीष्टपूर्ति के लिये उनके आगे सपार्षद श्रीनन्दनन्दन रूप धारण किया। श्रीनन्दनन्दन रूप से उन्होंने वैकुण्ठ के उद्यान में गोपकुमार की अभीष्ट गोचारण-लीला भी प्रकट की, फिर भी गोपकुमार की मधुर वृन्दावन में श्रीमन्मदनगोपाल की अदर्शनजनित विरह वेदना प्रशमित नहीं हुई।

ये व्रजवासी भक्तगण ही श्रीकृष्ण के स्वजन हैं। वह भी दो प्रकार के - ''सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा'' (भ. र. सि. 1/2/273)। कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेद से व्रजभक्ति दो प्रकार की है।

**सम्बन्धरूपा** - ''सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता'' (वही 1/2/288) श्रीगोविन्द के पितृत्व आदि का अभिमान, अर्थात् मैं गोविन्द का पिता, उनकी माता, दास, सखा आदि हूँ - यह मनन ही सम्बन्धरूपा भक्ति है।

**कामरूपा** - ''सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्। यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः।।'' (वही 1/2/273) 'जो प्रेममयी भक्ति सम्भोगतृष्णा (अङ्गसङ्ग आदि विषयों में स्वसुखवाञ्छा) को अपना स्वारूप्य प्राप्त कराती है। इसमें सम्भोगतृष्णा के उदय होने पर भी सर्वत्र केवल श्री कृष्ण-सुख के लिये ही उद्यम देखने में आता है।' यह कामरूपाभक्ति गोपिकाओं में ही है। तभी वे कहती हैं, हे प्राणप्रिय ! स्वजनों का जो हृद्रोग या काम है, उसे तुम निःशेषरूप से नष्ट करते हो। (नितरां सूदनं निसूदनं) तुम हमारे स्वजन हो, इसलिये तुम्हें भी वह सुविदित है। हम लोग 'त्वत् स्पृहात्मनां', तुम्हें पाने के लिये ही हमारी स्पृहा है। अथवा तुम्हारी जो स्पृहा या रमण-इच्छा है, वही जिन लोगों की आत्मा या मन में व्याप्त है, उन्हीं (हम गोपियों) के प्रति जो देय है, तुम वही दो। अभिप्राय यह है कि गोपियों को जो अभीष्ट है, वे लज्जावश उसकी बात नहीं कह पा रहीं। बस कह रही हैं 'यन्निसूदनं तत्त्यज' अर्थात् जिससे हमारे हृदरोग का नाश हो सके, ऐसा कुछ दो। इसलिये 'यत्' सर्वनाम पद प्रयोग किया गया है। अथवा श्रीकृष्ण जब सब कुछ जानते हैं, तो 'यत्' शब्द से ही उन लोगों के मन का भाव प्रकट किया गया है।

परम दुर्लभ समझ कर याचकरीति से 'मनाक' शब्द का प्रयोग किया है। भिक्षुक बहुत पाने की वासना रखता है, पर दैन्य से भरकर किञ्चित् के लिये ही प्रार्थना करता है। उसी प्रकार। 'हृद्रुजां' इस बहुवचन का प्रयोग कर और 'निसूदनं' का 'नि' शब्द प्रयोग कर वे कहना चाहती हैं कि गोपिकाओं का काम या श्रीकृष्णविषयक प्रेम कभी निवृत्त होने का नहीं, नित्य नव-नव रूप में निरन्तर वर्द्धनशील है, तभी उन्होंने सदा विविध प्रकार से प्रेमरति, विलास की ही प्रार्थना की है। 'मनाक्' शब्द एक ही समय सभी की वाञ्छा पूरी करने की प्रार्थना का द्योतक है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद का अभिप्राय यह है कि गोपियाँ कहती हैं - हम लोग निरपराध कुलवधुएं हैं, तुम हमें मोहित कर रात के समय वन में लाये हो, केवल उत्कण्ठा- अग्नि में हमारे प्राण दग्ध करना ही तुम्हारा अभिमत नहीं हो सकता। अपना अङ्गसङ्ग देकर हमारा प्राण-पालन भी तुम्हारा कर्तव्य है। सभी का दु:ख दूर करने के लिये ही तुम्हारा अवतार है, इत्यादि।

इस पद्य के प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर 'ज' कार है और प्रथम दो चरणों का प्रथम अक्षर 'व' कार है।

''व्रजकाननवासिनां मुदे भवतो
व्यक्तिरितीयतीं प्रथाम् ।
व्यभिचारवतीं स्म मा वृथाः
प्रथयास्मन्मनसो रुजां क्षयम् ।।''

(आ. वृ. 19/40)

'हम लोगों की खातिर तुम्हें जो करना है, वह तो किया, अब अपने यशोनैर्मल्य (यश की निर्मलता) की रक्षा के लिये भी तो इस विपदा से हमारा उद्धार कर सकते हो, तभी कह रही हैं- व्रजवासियों और काननवासियों को आनन्द प्रदान करने के लिये तुम्हारा अवतार हुआ है, इस बात को ध्यान में रखकर अन्यथा आचरण मत करो, हमारी मनोपीड़ा का नाश करो' ।। 18 ।।

यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाट वीमट सि तद्व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।। 19।।

**अन्वयः** - (हे) प्रिय ! ते (तव) यत् सुजातचरणम्बुरुहं (कोमलं चरण कमलं) कर्कशेषु (कठिनेषु) स्तनेषु मीताः (सत्यः वयं) शनैः दधीमहि (धारयेम) तेन (चरणाम्बुरुहेण) अटवीम् (वनम्) अटसि (निशि वने भ्रमसि) तत् (चरणाम्बुरुहं) कूर्पादिभिः (सूक्ष्मतीक्ष्णशिलादिभिः) किं स्वित् (कथं नु नाम) न व्यथते (किन्तु व्यथते एव) भवदायुषां (भवानेव आयुः जीवनं यासां तासां) नः (अस्माकं) धीः (चित्तं) भ्रमति (अनवस्थिता भवति) ।। 19 ।।

**अनुवाद**- हे प्रिय ! हम तुम्हारे जिन परम कोमल चरणकमलों को अपने कठोर स्तनमण्डल पर डरते हुए धीरे-धीरे धारण करतीं, तुम उन्हीं श्री चरणकमलों से तीक्ष्ण काँटे-कंकड़भरी वनभूमि पर विचरण करते हो। उन काँटे-कंकड़ों के कारण तुम्हारे श्रीचरणों को न जाने कितनी व्यथा होती है, यही सोचकर हमारा चित्त विभ्रान्त होता है, कारण - तुम्हीं हमारे जीवन हो। (तुम वन-वन और भ्रमण मत करो, हमारे निकट आओ - यही अभिप्राय है।) ।। 19 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण गोपियों से मानों कह रहे हैं, तुम्हारा हृदरोग क्या है और उसका निसूदन या विनाश कैसे सम्भव है, यह सब खोलकर नहीं बताओगी, तो मैं धारणा नहीं कर पाऊँगा। इसके उत्तर में वे इस श्लोक में रोदन करते-करते अपने हृदरोग की बात श्रीकृष्ण-चरणों में निवेदन कर रही हैं।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने इस श्लोक के व्याख्या -प्रसङ्ग में कहा - व्रजबालाओं ने अपने अभीष्ट विषय की बात नाना प्रकार से श्रीकृष्ण को बताई, अन्त में उनके वन-भ्रमण की बात सोचकर सुकोमल चरणकमलों में होने वाली निदारुण व्यथा की सम्भावना का उल्लेख किया; अपनी प्रार्थना को तुच्छ कर (अपने विषय में) और कोई चर्चा न की। विशुद्ध प्रबल प्रेम से भरकर अभिभूत होकर केवल श्रीकृष्ण सुख की प्रार्थना करते हुए रोते-रोते कहने लगीं - हे प्रिय ! हे कोमल ! हे सुन्दर ! हे मधुर ! तुम्हारे श्रीचरण परम कोमल हैं, कमल से भी अति सुकोमल और सुकुमार। हम उन्हें अपने कठोर स्तनमण्डल पर रखतीं, तो इस आशंका से कि वे दब जायेंगे डरते हुए धीरे-धीरे धारण करतीं। तुम उन्हीं चरणकमलों से कंकड़-कंटकमय वनभूमि पर भ्रमण कर रहे हो ! इससे तुम्हारे कोमल चरणों में न जानें कितनी व्यथा हो रही है, यह सोचकर हमारा चित्त विभ्रान्त (चञ्चल, विक्षुब्ध) हो रहा है, क्योंकि तुम्हीं तो हमारे जीवन के जीवन हो, हम लोग तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानतीं। तुम हमारे प्रिय अपरिहार्य प्रेम के विषय हो। सब त्यागा जा सकता है, यहाँ तक कि प्राण भी त्यागे जा सकते हैं, पर तुम्हारे प्रति प्रेम परित्याग करना सम्भव नहीं। प्रेम का स्वभाव ही यह है कि जिस हृदय में प्रेम रहता है, उसके अन्तस्थल में प्रेम के विषय को रखने के लिये सतत अदम्य आकांक्षा जगी रहती है। किन्तु उस आकांक्षा की पूर्ति का तो कोई उपाय नहीं। फिर भी जितना सम्भव है, उस मात्रा में प्रेम के विषय को

प्रेम के सान्निध्य में रखने के लिये सभी यत्न करते हैं। विधाता की प्रतिकूलता के कारण हमारे हृदय पर कठोर वक्षोज उत्पन्न हुए हैं। हम तभी (तुम्हारे श्रीचरण) इन वक्षोजों के ऊपर ही धारण किये रहती हैं। यहाँ प्रणिधान योग्य विषय यह है कि प्रिया प्रिय को वक्ष पर धारण कर सुख से आत्महारा हुई रहती है, किन्तु व्रजदेवियाँ अपने प्राणकोटि प्रियतम परमानन्दघनमूर्ति साक्षात् मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण के श्रीचरण वक्ष पर धारण करके भी आत्मसुख में ज्ञान नहीं खोतीं, वे तो श्रीकृष्णसुख की ओर देखकर सुख-विरोधी जो भीति है, उसी भीति से युक्त हृदय लिये श्रीचरणों को धीरे-धीरे वक्ष पर धारण करती हैं। इससे उनकी निजसुखकामिता का अत्यन्त अभाव देखने को मिला। इसे रसिकजन ही समझ सकते हैं।

यह विषय विशेषरूप से चिन्तन या प्रणिधान चाहता है। रसिकशेखर कृष्ण जब व्रजबालाओं के स्तनों पर अपने श्रीचरण स्थापित करते हैं, तब उन्हें जो सुखोल्लास होता है, वह उनके श्रीमुख आदि पर सुस्पष्ट झलकता है। व्रजदेवियाँ भी उसे प्राण भरकर देखती हैं, फिर भी श्रीकृष्ण के कष्ट की सम्भावना से उन्हें दु:ख होता है - यह भाव महाभाववती व्रजदेवियों की ही निजी सम्पदा है। दूसरों की बात दूर, रुक्मिणीजी आदि महिषियों का भी इस भावसम्पदा पर कोई अधिकार नहीं। यह व्रजदेवियों के ही रूढ़ महाभाव का एक अनुभाव है - ''तत् सौख्येऽपि आर्तिशंकया क्षीणत्वं'' अर्थात् श्री कृष्ण के सुख-सद्भाव में भी उन्हें न जानें कितना कष्ट हो रहा है - इस चिन्ता में खेद से भर उठना ! व्रजबालाओं का महाभाव किस प्रकार उनका अपना पक्ष शून्य कर (स्वयं के सुख की बात भुलाकर) उनकी मनोवृत्ति को श्रीकृष्णसुख में तन्मय किये रखता है - यह श्लोक इस बात का एक उज्जवल दृष्टान्त है। प्रेमराज्य में ऐसा श्लोक और कहीं भी खोजने पर नहीं मिलेगा। यह शृङ्गार रस है, सभी भाव व्यक्त करना सम्भव नहीं। वह रसिक अनुभवी महानुभावों के अनुभव की वस्तु है।

इस श्लोक का पदविन्यास तात्पर्य - 'अम्बुरुह' पद का प्रयोग करके भी 'सुजात' कहा गया; इससे श्रीचरणों की प्रेमकोमलता सूचित हुई है। 'भीता:' और 'शनै:' पद प्रयोग का हेतु स्तनों की कर्कशता-कठोरता एवं स्वयं का नित्ययौवनत्व तथा दु:खाधिक्य सूचित हुआ है।

जो पहले कहा गया है, उसकी पुनरुक्ति यहाँ भी है। प्रेम के उद्रेक की विवशता के कारण यह दोष नहीं; वर्णन-गुण का ही परिचायक है। थोड़ा अर्थभेद भी है। 'चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्' इत्यादि द्वारा (श्लोक एकादश) कंकड़-कंटकों से श्रीकृष्ण के श्रीचरणों की व्यथा की बात ही कही गई थी। वहाँ 'चलसि' कहा गया, जो दिवाभ्रमण बताता है। यहाँ 'अटसि' कहा गया है जो निशाभ्रमणार्थक है। गोचारण के निये तृणमय प्रदेश में परिभ्रमण और प्रकाशमय दिवालोक - कंकड़ आदि की बात नहीं। निशाभ्रमण में वह सम्भव हो गया है। 'कूर्पादि' का आदि पद कंकड़ बताता है। यद्यपि वृन्दादेवी के प्रयत्न से और वृन्दावन के स्वभाव से वृन्दावन में कंकड़-कंटक आदि की आशंका नहीं है, फिर भी

बन्धु के हृदय में अनिष्ट की आशंका सर्वदा ही बलवती होती है, सो यह उक्ति युक्तियुक्त है। इस वितर्क के लिये ही 'किं स्वित्' पदों की अवतारणा की गई है। चित्त के मोह प्राप्त होने का कारण यह है कि गोपियाँ कृष्णैक जीवन हैं। श्रीकृष्ण के बिन्दुमात्र अनिष्ट की आशंका से भी उनके चित्त अस्थिर हो उठते हैं। कहती हैं, वही दुश्चिन्ता मन में उदित होने से हमारे लिये प्राण-धारण करना ही असम्भव हो गया है। यह पद स्वयं भगवती श्रीकृष्णप्रियावलीमुख्या श्रीवृषभानुनन्दिनी के श्रीमुख की ही उक्ति है।

श्रीपाद सनातन गोस्वामिचरण यह भी कहते हैं कि इस गोपीगीत में वनभ्रमण विषयक क्लेश की बात, स्तनों पर श्रीचरण-धारण का उल्लेख, श्रीअधरामृत की प्रार्थना - यह सब दो-दो बार है। श्रीमुख का सौन्दर्य बहुत बार वर्णित है, क्योंकि श्रीमुखमाधुरी सन्दर्शन ही मोहित होने का कारण है। राधारानी के पूर्वराग के सन्दर्भ में पदकर्ता ने श्याम की मुखमाधुरी को लेकर गोपी का क्षोभ वर्णन किया है -

"विकच सरोज, भान मुखमण्डल,
दिठिभङ्गिम नट-खञ्जन जोड़।
किये मृदु माधुरी, हास उगारइ,
पीबी आनन्दे आँखि पड़लहि भोर।।"

× × × × × ×

"कुञ्चित केश, वेश कुसुमावलि,
शिर पर शोभे शिखिचाँदकि छान्दे।
अनन्त दास पहुँ, अपरूप लावणि,
सकल युवतिमन पड़ि गेओ फाँदे।।"

"अवनत आनन कत्र हम रहलिहु वारल लोचन चोर ।
पिया-मुखरुचि पिबाए धाओल जनु से चाँद चकोर ।।
ततहु सजे हठे मोजे आनल धएल चरण पर राखि ।
मधुकर मातल उड़ए न पारए तइ ओ पसरिए पाँखि ।।
माधवे बोललि मधुरस-वानी से सुनि मृदु मोए कान ।
ताहि अवसर हाम वाम भेलो धरि फुलधनु पाँचवान ।।
तनुक पसेदे पसाहनि भासलि पुलक हु तेइ सन जागु ।
चुनि चुनि भए काँचुअ फाटलि बाहुक वल-आ भाँगु ।।

भन विद्यापति कम्पित कर हो बोलल बोल ना जाय ।
राजा सिवसिंघ रूपनरा अन सामर सुन्दर काय ।।''

(विद्यापति)

'अवनत आनन' पद की व्याख्या – (माधव को देखकर) मैं मुंह नीचा किये रही, नयनचोर को मना कर दिया। किन्तु जैसे चकोर चाँद को देखता है, वैसे ही वह प्रिय की मुख-माधुरी का पान करने लगा। मैं उसे वहाँ से बलपूर्वक हटाकर लाई और अपने चरणों में रख लिया। मत्त मधुकर उड़ नहीं सकता, पर वह पंख फड़काता हैं। उसी प्रकार मेरे पैरों में पड़े मेरे नेत्र चरणों को छोड़कर उठ तो नहीं पाये, पर बार-बार कोरों से माधव का मुख देखने की चेष्टा करने लगे। माधव ने मधु की बात की, तो मैंने कान बन्द कर लिये और तभी वहाँ पञ्चवाण (मदन) धनुष लिये मेरा वैरी हो गया। (फलस्वरूप) देह के प्रस्वेद (पसीने) से अङ्गराग बह गया। ऐसा पुलक हुआ कि कञ्चुकी फट गई, हाथों के कंगन टूट गये। विद्यापति कहते हैं, हाथ काँप रहे हैं – बात बताते नहीं बनती। इस प्रकार इस श्लोक में और भी अनेक विषय अनुक्त हैं, सदाशय रसिक भक्तजन उन्हें समझ लेंगे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या का मर्म यह है कि श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं, अरी रसिकाओं ! तुम जिन चरणों की प्रार्थना कर रही हो, मेरे वे चरण तो इस समय वनभ्रमण के सुख में निमग्न हैं, उन्हें तुम्हारे स्तनमण्डल पर रहने का अवकाश कहाँ ? यह सुन कर गोपियाँ रोदन करते-करते कहने लगीं, तुम्हारे इन अति कोमल चरणकमलों को हम अपने कठोर स्तनमण्डल पर धारण करने में डरती थीं, तुम इनसे कंकड़-कंटकपूर्ण वन में विचरण कर रहे हो। हाय, हाय ! अपने चरणकमलों को हमारे स्तनमण्डल पर रखकर हमें प्रीति प्रदान करो। हमारा लक्ष्य अपना सुख नहीं है, हम तो केवल तुम्हारे सुख के लिये ही कह रही हैं। हमारे स्तनमण्डल पर श्रीचरण स्थापित कर तुम्हें प्रीति (प्रसन्नता) मिलती है, यह हम जानती हैं, किन्तु उससे भी तुम्हारे कोमल चरणों को व्यथा ही होती है, हमें उसके लिये भी खेद हो रहा है। उस भय के कारण ही तो हम लोग बहुत धीरे-धीरे अति सतर्कता के साथ तुम्हारे चरणों को कोमल भाव से धारण करती थीं।

यहाँ एक विषय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गोपियाँ अपने प्रेम को कभी भी वाङ्निष्ठ नहीं करतीं (भाषा में व्यक्त नहीं करती) सदा अपने सुख की बात कहकर ही श्रीकृष्ण-मिलन की कामना करती हैं, उनका हृदय सतत श्रीकृष्णसुख की कामना से भरपूर होता है। जैसे किसी प्रदीप के आलोक से घर का भीतरी भाग अच्छी तरह आलोकित करना हो, तो घर के द्वार-गवाक्ष आदि बन्द रखने होते हैं, अन्यथा बाहर का वायु प्रविष्ट कर दीपशिखा को कम्पित या निर्वापित कर देगा, घर ठीक से आलोकित नहीं हो पायेगा। उसी प्रकार गोपियाँ अपने सुख-दुःख की बात कहकर ही श्रीकृष्ण से मिलने

की कामना करती हैं, यद्यपि उनका एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्णसुख ही होता है। अपने सुख की इच्छा इनके मन में स्वप्न में भी नहीं जगती। श्रीकृष्ण भी प्रेम के कलागुरु हैं, वे यह सब जानते हैं, इसीलिये वे गोपिकाओं के प्रेम में सबसे अधिक वशीभूत होते हैं। इस एक ही स्थल पर गोपियों ने अपने प्रेम को वाङ्निष्ठ किया है। ऐसा करने से उन लोगों का प्रेम लघु नहीं हुआ, प्रेम की महिमा अनेक गुनी बढ़ी ही है। जैसे प्रदीप में प्रचुर घी हो, तो उन्मुक्त गवाक्ष (मोखे) के वायु से दीपशिखा लघु न होकर अत्यन्त बढ़ती ही है। वैसे ही इस विरह के अवसर पर इन लोगों के प्रेमप्रदीप में प्रचुर परिमाण में स्नेहरूपी घृत का संयोग होने से प्रेमप्रदीप की शिखा लघु न होकर अनेक गुनी वर्द्धित ही हुई है।

हे प्रिय ! तुम्हारे विरह में तो हम नित्य दु:ख भोगती ही हैं, तुम्हारे साथ मिलन में भी हमें दु:ख मिलता है। विधाता ने हमारे ललाट में मिलन में भी दु:ख लिखा है। ऐसा हमारा भाग्य। तो क्या हम तपस्या कर स्तनों की कोमलता के लिये विधाता से प्रार्थना करें ? किन्तु तुम्हें उससे भी सुख नहीं होगा, क्योंकि तुम तो प्रेम नहीं करते। स्तनों की कठोरता से भी तुम्हारे चरणों को व्यथा पहुँचती है, यह आशंका है। हमें तो दोनों ही प्रकार से दु:ख। कैसा संकट है। मिलन या विरह में हमें जो दु:ख होता है, हो, किन्तु तुम तो स्वाधीन हो, तुम वन में भ्रमण कर कष्ट क्यों पाते हो ? तुम्हारे चरणकमल क्या वनभ्रमण के योग्य हैं ? यदि कहो कि मैं जो चाहूँगा करूँगा, तुम लोगों को क्या ? (तो सुनो) हमें कुछ नहीं, किन्तु कुछ सम्बन्ध है, वह पीछे बतायेंगी, पहले तुमसे पूछती हैं - क्या तुम्हारे चरणों में व्यथा नहीं होती ? अवश्य ही होती है, तुम जैसे हमारे प्रति निर्दय हो, वैसे ही अपने अङ्ग के प्रति भी हो।

तुम यदि ऐसा सोचते हो कि ये सब मेरे दु:ख में अत्यन्त दु:खी होती हैं, इन्हें और दु:खी करने के लिये मैं अपने दु:ख की और सृष्टि करूँगा, उसे सहन भी करूँगा - तो तुम क्या यही सोचकर उस दु:ख को सहते हो ? या हमारा दु:ख देखकर तुम्हें महासुख होता है, इसलिये तुम उस व्यथा को भी सुख-जैसा समझते हो ? अथवा एक अन्य कारण भी हो सकता है। कहते हैं दोष-गुण आदि संसर्ग से हुआ करते हैं। तुम्हारा हृदय पहले तो कुसुमकोमल था, अब क्या हमारे कठोर स्तनमण्डल के सङ्ग से तुम इतने कठोर हो गये हो कि तीक्ष्ण कंकड़ आदि से तुम्हारे चरणों में व्यथा नहीं होती ?

क्या हुआ है, हम तो कुछ भी नहीं समझ पा रहीं अथवा यह भी हो सकता है कि तुम्हारे श्रीचरण-स्पर्श के माहात्म्य से तीक्ष्ण तीव्र कंकड़ भी कोमल हो गये हैं। (सुना है कि श्रीरामचन्द्र के श्रीचरणस्पर्श से पाषाण मानवी हो गया था, पहाड़ की शिला गल गई थी और तुम्हारे पदांकों से पहाड़ भी अलंकृत हो गया था, क्या अब भी वैसा ही हो रहा है ? कुछ भी असम्भव नहीं, तुम्हारे लिये सभी सम्भव है।) अथवा यह भी हो सकता है कि श्रीमती धरणीदेवी अत्यन्त करुणा से भरकर, या तुम्हारे श्रीचरणों का महामाधुर्य आस्वादन करने के लिये तुम्हारे श्रीचरणों के विन्यासस्थल पर (जहाँ-जहाँ

श्रीचरण रखते हो, वहाँ-वहाँ) रसना फैलाये रहती हैं। एक अन्य बात भी हमारे मन में आती है - तुम हम से भी कहीं अधिक प्रेमोन्मत्त हो, तुम प्रेम के महासिन्धु हो। दैवबल से हमारे विरह में सन्तप्त होकर भ्रमण करते-करते उन्माद हो गया है। तुम्हें कोई बोधाबोध नहीं रहा (समझ-बूझ चली गई है), अपने चरणों की व्यथा भी अनुभव करने की शक्ति नहीं है। हम लोग कुछ निश्चय नहीं कर पा रहीं। यदि कहो कि तुम लोगों का दुःख क्या इतना ही है ? बिना दुःख में प्राण न निकलें, मैं उसे तो दुःख ही नहीं समझता। इसके उत्तर में हमारा यह वक्तव्य है कि तुम्हीं हमारे जीवन हो; हे अशेष कल्याणमय, तुम हो तभी किसी तरह हमारा जीवन है, तभी जीवन का नाश नहीं हुआ। (इस रस में धृति नहीं है, मृति की चेष्टा होती है, बस। इन लोगों की देहें श्रीकृष्णसुख के उपादान से गठित हैं। ये सब श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिये या उन्हें सुखी करने के लिये अशेष दुःख भोगकर कर भी प्राण-रक्षा करती हैं।) हम लोगों का जीवन क्यों है, सुनो, कारण बताती हैं - तुम हमें दुःख देने को प्रवृत्त हुए हो। विधाता ने विचार कर देखा कि यदि हमारा जीवन हमारे भीतर रखते हैं, तब तो उनके दिये अति सन्ताप से व्रजबालायें हाथ की हाथ मर जायेंगी, फिर वे दुःख किसे देंगे। ऐसा सोचकर उन्होंने अपने समधर्मी - अपने बन्धु तुम्हारे भीतर हमारा जीवन रख दिया, हम मरणशीलाओं को अपार दुःख भोग कराने लगे। इसलिये हमारे मरने का उपाय नहीं, हमारा मरण नहीं होगा। हमारी बुद्धि कुछ भी निश्चय न कर पाने से विभ्रान्त हो रही है। हमारे प्राण निश्चय ही देह से निकल जायेंगे, तुम देखते क्यों नहीं ? यदि कहो कि आयु के रहते प्राणनाश कैसे होगा ? तो इसका उत्तर है - हमारी आयु क्या अब हमारे भीतर है, वह तो तुम्हें समर्पित कर दी। ''भवदायुषां नः' हमारी आयु अब हमारी नहीं। तुम उन्हें लेकर व्रज में चिरदिन इसी प्रकार खेल करते घूमो - यही भावार्थ है।

श्रीउज्ज्वलनीमणि ग्रन्थ में महाभाव- लक्षण के एक उदाहरण के रूप में इस श्लोक को उद्धृत किया गया है। महाभाववती व्रजदेवियों में श्रीमती राधारानी ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्हीं में परम महान् प्रेम है और एकमात्र वे ही मादन नामक महाभाव से युक्त हैं। यह पद्य श्रीमती राधारानी की उक्ति है - ऐसा श्रील गोस्वामिपादगण मानते हैं। श्रीकृष्ण के सुख में भी उनके क्लेश की आशंका से महाभाववतियाँ खिन्न हुई रहती हैं। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने उज्ज्वलनीलमणि की लोचनरोचनी टीका की है। उस टीका में इस श्लोक की जो व्याख्या है, वह स्थान-स्थान पर भागवत की लघुतोषणी और क्रमसन्दर्भ टीकाओं के भाव से अलग भाव लेकर चली है। उस टीका का आरम्भ इस प्रकार है - प्राचीन लोगों का अभिप्राय यह है कि बन्धुओं के हृदय में सर्वदा ही अनिष्ट की आशंका रहती है। गोपियों के सभी उद्यम श्रीकृष्णसुख को लेकर हैं। साधारण रति की तुलना में महाभाव के लक्षणों की जो विशिष्टता है, वह श्रीमद्भागवत के इस वचनप्रमाण द्वारा दृढ़ की गई है। गोपियों की कृष्णरति कृष्णसुख के लिये है, उसमें

अपने सुख की वासना नहीं है - महाभाव में यह परिस्फुट हुआ है। इक्षु (गन्ना) मीठा होता है, किन्तु उसके आस्वाद की अधिकता परिपपक्व दशा में या सितोत्पल अवस्था में ही अनुभूत होती है। महाप्रभु ने श्री सनातनशिक्षा में कहा है -

"प्रेम क्रमे बाढ़े हय स्नेह मान प्रणय ।
राग अनुराग भाव महाभाव हय ।।
बीज इक्षु रस गुड़ तबे खण्डसार ।
शर्करा, सिता, मिश्री, शुद्ध मिश्री आर ।।
इहा जैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाढ़े स्वाद ।
रति-प्रेमादिके तैछे बाढ़ये आस्वाद ।।"

(चै. च. मध्य. 23)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की व्याख्या भी किञ्चित अलग है। श्रीउज्ज्वल में इस श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका का आरम्भ इस प्रकार है - बन्धुजनों का हृदय सर्वदा ही आशंका से युक्त होता है। बन्धु का दु:ख लेश मात्र भी हो, तो अन्य बन्धु के मन में मरण की आशंका तक समुदित हो जाती है। किन्तु व्रज का भाव अति भिन्न है, इसमें श्रीकृष्ण के सुख में भी व्रजबालायें श्रीकृष्ण पीड़ा की वृथा कल्पना कर खिन्न होती हैं। महाभाव का यही महालक्षण है।

श्रीचैतन्यचरितामृत में यह पद्य चार स्थानों पर उद्धृत हुआ है - आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद में निम्नलिखित वाक्यों के प्रमाणस्वरूप-

"अतएव गोपीगणे नाहि कामगन्ध ।
कृष्णसुख लागि मात्र कृष्णे से सम्बन्ध ।।
आत्मसुख-दु:ख गोपीर नाहिक विचार ।
कृष्णसुख-हेतु चेष्टा, मनो-व्यवहार ।।
कृष्णबिना आर सब करि परित्याग ।
कृष्णसुख-हेतु करे शुद्ध अनराग ।।"

श्रील रामानन्द राय के गोपीतत्व-वर्णन में निम्नलिखित उक्ति के उदाहरणस्वरूप -

"सहजे गोपीर प्रेम नहे प्राकृत काम ।
कामक्रीड़ा साम्ये तार कहि काम नाम ।।
निज प्रियसुख-हेतु कामेर तात्पर्य ।
कृष्णसुखे-तात्पर्य गोपीभाव वर्य ।।

निजेन्द्रियसुख-वाञ्छा नाहि गोपिकार ।
कृष्णे सुख दिते करे सङ्गम-विहार ।।''

मध्य लीला, अष्टादश परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु ने वृन्दावन-भ्रमण के समय शेषशायी में लक्ष्मी-दर्शन कर यह श्लोक पढ़ा था।

अन्त्य लीला, सप्तम परिच्छेद में अपने निम्नलिखित वाक्य के प्रमाण में श्रीमन्महाप्रभु ने यह पद्य पाठ किया -

''शुद्धप्रेम व्रजदेवीर कामगन्धहीन ।
कृष्णसुख तात्पर्य- एइ तार चिन्ह ।।''

श्रीगोपीगीत के इस पद्य में गोपीप्रेम के उच्चतम लक्षण वर्णित हुए है।

''तव तच्चरणाम्बुजं विभोः कठिनेषु स्तनमण्डलेषु यत् ।
सभयं विभृमो वनेऽमूना, विचरन्नो दुनुषे तृणांकुरैः ।।
कठिनाः कुचमण्डला हि वो मृदवः स्युर्न ममाङ्गिसङ्गतः ।
इतरे तृणशर्करादयो ह्यपि मेद्यन्ति न तैर्मम व्यथा ।।
इति चेदृतमेव नो मृषा कुलिशं यद् द्रवति त्वदीक्षणात् ।
कुलिशादपि निष्ठुरात्मानां किमुरोजा कठिना न सन्तु नः ।।
कुसुमादपि कोमलं मनस्तव यत् प्रैति महाकठोरताम् ।
तदपि ह्यतिदारुणात्मनां वत यादृच्छिकसङ्गतो हि नः ।।''

(आ. वृ. 19/41-44)

'हे विभो ! हम तुम्हारे जिन चरणकमलों को डरते-डरते अपने कठोर स्तनमण्डल पर धारण करती हैं, वे क्या वन-विहार के समय तृणांकुरों से व्यथित नहीं होते ? श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं - हमारे चरणों का सङ्ग पाकर तुम्हारे कठोर कुचमण्डल क्या कोमल नहीं होते ? कठोर तृण-शर्करा (कंकड़) आदि भी कोमल हो जाते हैं, उनके कारण मुझे व्यथा नहीं होती। इसके उत्तर में गोपियाँ बोलीं - हे प्रियतम ! तुम जो कह रहे हो, सत्य ही है, मिथ्या नहीं। तुम्हारे दृष्टिपात से वज्र भी गल जाता है, किन्तु हमारी आत्मा वज्र से भी कठोर हैं, क्योंकि तुम्हारे इस विरह में वे देह से निकल कर नहीं जा रहीं। इसलिये हमारे कुच कठोर क्यों नहीं होंगे ? हाय तुम्हारा मन तो कुसुम से भी कोमल है; हम अति दारुण आत्माओं के यादृच्छिक सङ्ग से ही महाकठोर हो गया है ।।' 19 ।।

**श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध में इक्कीसवाँ अध्याय गोपीगीत पूरा हुआ। जय श्रीराधे !!**

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दौ जयतः।
श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

# श्रीश्रीयुगलगीत

श्रीश्रीगोपीगीत में व्रजदेवियों ने विरहविवश अवस्था में श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में विविध प्रार्थना की, अन्त में रात के समय वनभ्रमण से श्रीकृष्ण के कोमल चरणों में व्यथा की सम्भावना से वे अत्यन्त कातर हो उठी और श्रीकृष्णदर्शन की लालसा से सब मिलकर करुण स्वर में मुक्तकण्ठ से रोदन करने लगीं। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हैं गोपीप्रेम के एकान्त अधीन; गोपियों के प्रेमरस-आस्वादन के लोलुप ! गोपियों की प्रेमचेष्टायें देखने के लिये और अपने विरह में उनका प्रेमालाप सुनने की लालसा से अन्तर्हित होकर उन्होंने निकट ही छिपकर उन सब की प्रेमरसमाधुरी का आस्वादन किया। विरह में ही गोपियों के महाभाव-सिन्धु का समधिक उच्छवास होता है; उसी आलोड़ित प्रेमसिन्धु की उत्ताल तरङ्गमालाओं में यथेष्ट सन्तरण किया और अपने विरहरूपी मन्दर (मन्दराचल) द्वारा आलोड़ित उस महाभावसिन्धु से 'गोपीगीतामृत' निकालकर साधक जगत् कर महाकल्याण किया। साधक भक्तों को शिक्षा भी दी- "न हि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कर्हिचित्। भक्तानां दैनयमेवैकं हरितोषण साधनम्।।" (सुबोधिनी टीका) केवल साधनसम्पत्ति से श्रीहरि कभी भी किसी के प्रति सन्तुष्ट नहीं होते; एक मात्र दैन्य ही उनके तोष का साधन है। उसी प्रकार प्रेमिक भक्तों को भी शिक्षा दी - "स्थितेऽपि प्रेम्नि तद्वैयग्रयतज्जातकृपाविशेषाभ्यां द्वाभ्यामूनत्वेन तद्वशीरणं न स्यात्" (श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद) अर्थात् प्रेम के होने से ही श्रीहरि वशीभूत होंगे, ऐसा नहीं । प्रेमजनित व्यग्रता या उत्कण्ठा और तज्जनित श्रीहरि की कृषाविशेष- इन दो की न्यूनता से श्रीहरि वशीभूत नहीं होते। 'एक लीलाय करेन प्रभु कार्य पाँच सात।' वस्तुतः गोपियों की तरह गोपियाँ ही हैं - प्रेम और तज्जनित दैन्य उत्कण्ठा आदि की वे ही चरम आदर्श हैं।

**"दैन्यन्तु परमं प्रेम्नः परिपाकेन जन्यते ।**
**तासां गोकुलनारीणामिव कृष्णवियोगतः ।।"**

(वृ. भा. 2/5/224)

'यथार्थ दैन्य प्रेम की परिपक्व दशा में ही उत्पन्न होता है; श्रीकृष्णविरह में गोकुल-नारियों का जो परम दैन्य प्रकट हुआ है, वही दैन्य का चरम आदर्श है।'

जो भी हो, गोपियों का करुण रोदन सुनकर श्रीकृष्ण का कोमल चित्त द्रवित हआ, वे उनके आगे आ खड़े हुए -

''तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ।।''

(भा. 10/32/2)

'उन रोदनशीला गोपियों के बीच हास्यमधुरवदनकमल पीताम्बरधारी वनमालाविभूषित साक्षात् मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण आविर्भूत हुए।

श्रील कवि कर्णपूर ने लिखा है – श्रीकृष्ण गोपीसभा में मूर्तिमान रतिउत्सव की तरह आविर्भूत हुए। और किस प्रकार प्रकट हुए ? मानो करुणामिश्रित अरुण कटाक्ष से गोपियों की अन्तः क्लेशरूपी लता को जड़ से उखाड़ते ! किसी अनिर्वचनीय मृदु हास्यज्योत्स्ना से गोपियों के मनोरोग अन्धकार को दूर करते ! मधुरिमा के गौरव-गाम्भीर्य से गोपियों के चित्त में रह-रहकर उदित रोदन-खेद आदि की स्मृति तक को लुप्त करते ! मानो अभिसार के समय से अब तक निरन्तर अपना प्रसिद्ध मङ्गलमय अङ्गशोभा- सौभाग्य उन लोगों की आँखों के आगे रखा है – यह विश्वास उत्पन्न करते ! विरह-वेग को लेकर उन्हें इधर-उधर खोजा गया है, उसे भी स्वप्नविलास की तरह अनुभव कराते ! प्रमद मदन-आनन्दरस से उन सबके हृदयों का प्रक्षालन करते ! विरहानल से प्रतप्त उनकी देह को तृप्त-शीतलता से प्रशंसित मानो एक दूसरी देह प्रदान करते ! निकल गये प्राणों को मानो पुनः यथास्थान स्थापित करते ! विरह-जैसी कोई वस्तु मानो उनके कर्णकुहरों में भी प्रविष्ट नहीं हुई, ऐसा भाव प्रदीप्त करते ! मानो अकेले वे ही एक ही समय सबको आलिङ्गन कर रहे हैं और अतिशय मधुर अधर-संयोग के बिना भी एक साथ उन सबके कपोलों को चुम्बन प्रदान कर रहे हैं – ऐसा चातुर्य प्रकट करते ! वहीं रहते हुए भी मानो कहीं से आये साक्षात् मन्मथमन्मथ की तरह, पीताम्बर की कान्ति से मनोहर बनी झूमती वनमाला से विभूषित श्रीगोपीनाथ आविर्भूत हुए। और कैसे आये ? मानो गोपियों के हृदयाकाश से, मानो भूगर्भ से, मानो किसी अन्य वन से ! उन्हें देख कर कज्जलयुक्त आँखों वाली व्रजबालायें एक साथ समुल्लसित हो उठीं। किस प्रकार ? किसी कारणवश अकस्मात् पूर्णचन्द्र के उदय पर कुमुदिनियों की तरह ! वृष्टि के बन्द हो जाने के बाद तत्काल उदित नवजलधर को देखकर चातक युवतियों की तरह ! चारों ओर समुज्जवल अग्निशिखा के सन्ताप से दग्ध वन में निर्मेघ धारासम्पात (बिना बादलों की बरसात) को देखकर हरिण-रमणियों की तरह ! परलोक जाकर वहाँ से लौटकर आये जीवात्मा को देखकर अतिकृश देह की तरह ! सब साथ की साथ उठ खड़ी हुईं, अपनी देहों के साथ सारा सन्ताप भूल गईं और उत्कण्ठा के साथ प्रिय के निकट गईं। (आनन्दवृन्दावन चम्पू) श्रीपाद शुक देव मुनि ने प्रधान गोपिकाओं की श्रीकृष्ण के साथ मिलन की परिपाटी और सभी गोपिकाओं के साथ एक साथ मिलन का वर्णन कर सर्वलीलामुकुटमणि श्रीरासलीला का वर्णन किया है।

श्रीधरस्वामिपाद ने रास के लक्षण बताये हैं – ''रासो नाम बहुनर्तकीयुक्तनृत्यविशेषः' बहुत–सी नर्तकियों के साथ नृत्यविशेष ही रास है। अलंकार शास्त्र में भी लिखा है –

''नटैर्गृहीत–कण्ठीनामन्योन्यात्तकर श्रियाम् ।
नर्तकीनां भवेद्रासो मण्डलीभूयनर्तनम् ।।''

अर्थात् नटगण और नर्तकियाँ मण्डलाकार खड़े होते हैं, नट लोग नर्तकियों के कण्ठ धारण करते हैं, नर्तकियाँ परस्पर हाथ पकड़कर उन लोगों के साथ नृत्य करती हैं – इसी का नाम 'रास' है।

किन्तु केवल नृत्यमात्र ही रासलीला हो, ऐसा नहीं। रासरजनी में गोपियों के साथ गोपीनाथ की सभी लीलायें 'रासलीला' हैं। संस्थापनाय धर्मस्य ..... (भा. 10/33/27) श्लोक की लघुतोषणी टीका के प्रारम्भ में लिखा है –

''वंशीसंजल्पितमनुरतं राधयान्तर्द्धिः केलिः
प्रादुर्भूयासनमधिपटं प्रश्नकूटोत्तरञ्च ।
नृत्योल्लासः रहःक्रीड़नं वारिखेला
कृष्णारण्ये विहरणमिति श्रीमतीरासलीला ।।''

श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि, गोपियों का तदनुसरण, राधारानी के साथ श्री कृष्ण की अन्तर्धानकेलि और प्रादुर्भूत होकर श्रीगोविन्द द्वारा गोपियों का वस्त्राञ्चल–रचित आसन–ग्रहण, कूटप्रश्नोत्तर प्रसङ्ग, नृत्योल्लास, पुनःरतिक्रीड़ा, तत्पश्चात् जलकेलि, यमुना के उपवन में विहार – इस सबको लेकर ही श्रीरासलीला है। श्रीरासक्रीड़ा के अन्तिम श्लोक (भा. 10/33/26) में वर्णित है –

''एवं शशांकांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरता बलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः
शरत्काव्यकथा – रसाश्रयाः ।।''

'सत्यसंकल्प श्रीकृष्ण ने अपनी अनुरक्ता उन अबलाओं को लेकर चन्द्रकिरणों से शोभित और काव्य में जिस शारदीय रससमूह की बात वर्णित है उन सब रसों की आश्रय उस पूरी रात गोपी–सुरतविषयक हाव–भाव आदि अपने मन में अवरुद्ध कर उन सबके साथ रासविहार किया था।'

इस श्लोक की वृहद्वैष्णवतोषणी टीका में श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है – ''तथा निशा इति बहुत्वेन तत्र च सर्वा इति साकल्येन सम्पूर्ण कैशोरं सर्वास्वेव रात्रिषु रासक्रीड़ा बोध्यते।'' अर्थात् इस श्लोक में 'निशाः' इस बहुवचन प्रयोग द्वारा और 'सर्वाः' इस शब्द के प्रयोग से यह समझ में आता है कि श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी किशोरावस्था की सभी रात्रियों में रासक्रीड़ा की है। श्रीविष्णुपुराण

में श्रीपराशर भी कहते हैं -

''सोऽपि कैशोरकं वयो भानयन्मधुसूदनः ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थः क्षपासु क्षपिताहितः ।।''

अर्थात् अशुभ विनाशकारी उन मधुसूदन श्रीकृष्ण ने स्त्रीरत्न-समूह या गोपरमणियों के बीच रहकर बहुत रात्रियों में रमण किया था।

''वात्सल्य-आवेशे कैलो कौमार सफल ।
पौगण्ड सफल कैलो लइया सखाबल ।।
राधिकादि लइया कैलो रासादि-विलास ।
वाञ्छाभरि आस्वादिलो रसेर निर्यास ।।
कैशोर-वयस, काम, जगत सकल ।
रासादि लीलाय तिन करिलो सफल ।।''

(चै. च. आदि 4)

इन सब वाक्यों से पता चलता है कि महारास के पश्चात् श्रीकृष्ण ने किशोरावस्था की सभी रात्रियाँ गोपियों के साथ रासविहार में बिताईं। श्रीपाद शुकदेव मुनि ने श्रीमदभागवत में महारास वर्णन के पश्चात् दशम स्कन्ध में चौंतीसवें अध्याय में शिवरात्रि के उपलक्ष्य में श्रीनन्द आदि गोपों के अम्बिकावनगमन का, रात के समय एक वृहत्काय अजगर द्वारा नन्दमहाराज को पकड़ने का, श्रीकृष्ण के चरणस्पर्श से उस अजगर के विद्याधर रूप धारण करने (अङ्गिरा ऋषियों के अभिशाप से सर्पयोनि-प्राप्ति तथा श्रीकृष्ण की कृपा से विमुक्ति) का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण और श्रीबलदेव द्वारा अपनी-अपनी प्रिया-गोपियों के साथ होलीलीला की रात्रि में विहार और शङ्खचूड़ यक्ष का वध प्रसङ्ग भी वर्णन किया है ! तत्पश्चात् पैंतीसवें अध्याय में श्रीयुगलगीत वर्णन आरम्भ किया है। गोपीगीत में महारास में गोपियों का निशाविरह है, तो 'युगलगीत' में रास के पश्चात् दिवाविरह में विरहिणी व्रजबालाओं का श्रीकृष्ण की गोष्ठलीला का गायन हैं।

श्रीश्रीगीतपञ्चक
श्रीमद्भागवत
दशम स्कन्ध
अध्याय पैंतीस

# श्रीश्रीयुगलगीत

## श्रीवादरायणिरुवाचः

**गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।**
**कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्।। 1।।**

---

**अन्वयः** - कृष्णे वनं याते (गते सति) तम् (कृष्णम्) अनु (सह) द्रुतचेतसः (द्रुतं वेगेन गतं चेतः यासां ताः) गोप्यः (गोकुलयोषितः) कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यः दुःखेन वासरान् निन्युः (गमयामासुः) ।। 1 ।।

**अनुवाद**- श्रीवादरायणि ने कहा, दिन के समय श्रीकृष्ण वन-गमन करते तो तदगतचित्ता (जिनके चित्त उन्हीं में लगे रहते, वे) गोपबालायें श्री कृष्णलीला-गायन करते-करते उनके विरह दुःख में दिन बितातीं ।। 1।।

**गीतामृतलेश टीका —**

महाभाववती व्रजसुन्दरियाँ नित्य रात के समय श्रीकृष्ण के साथ रास आदि क्रीड़ाओं का रसास्वादन करने लगीं। रासरात्रियों का समूह प्रकृत पक्ष में ब्रह्मरात्रि या कल्पतुल्य होने पर भी, श्रीकृष्ण के साथ रासक्रीड़ा के आवेश में गोपियों को वे रात्रियाँ क्षणकाल की तरह लगतीं। इसका कारण था महाभाववती उन व्रजसुन्दरियों का कल्पक्षणता लक्षण। कृष्ण जब दिन में गोचारण के लिये वन में जाते, तो उन व्रजसुन्दरियों को श्रीकृष्णविरह में एक क्षण कल्प-सा लगता। श्रीविष्णुपुराण में महर्षि पराशर ने भी कहा है -

**''स तथा सह गोपीभिः रराम मधुसूदनः ।**
**यथाब्दकोटिप्रतिमः क्षणस्तेन बिनाभवत् ।।''**

भगवान् मधुसूदन ने व्रजगोपियों के साथ रतिविलास किया था। रात के समय वे श्रीकृष्ण के साथ रास-विहार में परमानन्दरस में निमग्न रहतीं, तो कल्पतुल्य रात्रियाँ क्षण की तरह बीततीं। दिन में

वे जब गोचारण को जाते, तो गोपियों को श्रीकृष्णविरह में क्षणभर कोटि वर्षों की तरह लगता। वे दिन का समय कैसे बितातीं – इस श्लोक में यही बताया गया है। 'निन्युर्दु:खेन वासरान्' दिवाभाग श्रीकृष्ण-विरह-दु:ख में बीतता।

श्रीकृष्ण-मिलनजनित सुख और श्रीकृष्ण-विरहजनित दु:ख की कोई धारणा इस विश्व के सुख-दु:ख की अनुभूति लेकर नहीं की जा सकती। जड़ जगत् के सुख-दु:ख से वह अत्यन्त विलक्षण है।

उज्ज्वलनीलमणि में है –

''लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत् सुखं
दु:खञ्चेति पृथक् यदि स्फुटमुभे ते गच्छत: कूटताम् ।
नैवाभासतुल्यां शिवे तदपि तत् कूटद्वयं राधिका-
प्रेमोद्यत् सुखदु:ख सिन्धुभवयोर्विन्देत बिन्दोरपि ।।''

एक बार पार्वतीजी ने श्रीमन्महादेव से श्रीराधा के प्रेमवैशिष्ट्य के विक्रम के विषय में पूछा, तो श्रीमन्महादेव ने कहा – हे देवि ! लोकातीत मुक्तिसुख, अनन्त वैकुण्ठों का सुख, लोकातीत दु:ख अर्थात् वहाँ के भक्तों का प्रेमउत्कण्ठाजनित जितना दु:ख है, अनन्त ब्रह्माण्डों का जितनी प्रकार का सुख और दु:ख है – यदि इसे पृथक् पृथक् एकत्रित किया जाय, तो वह राधारानी के श्रीकृष्ण-मिलन जनित सुख और श्रीकृष्ण-विरहजनित दु:खसिन्धु के एक बिन्दु के आभास के बराबर भी नहीं होगा।

इस श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका का तात्पर्य यह है – यहाँ महाभाव में इतने विशाल दु:ख की बात सुनकर कोई महाभाव की अपुरुषार्थता की कल्पना न कर ले, कारण – सुख या आनन्द ही पुरुषार्थ है। भक्तिमात्र ही ह्लादिनी एवं सम्वित् शक्ति की सार वृत्ति है। तभी ''ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्ध गुणीकृत:। नैति भक्तिसुखाम्बोधे: परमाणुतुलामपि।।'' अर्थात् ब्रह्मानन्द को परार्द्ध (अनन्त) गुना करने पर भी वह भक्तिसुखसिन्धु के परमाणु के बराबर भी नहीं होता। इन सब वाक्यों के अनुसार भक्तिमात्र ही कोटि ब्रह्मानन्द से अधिक स्वादु है। अतएव प्रेमजनित दु:ख भले ही दु:ख की तरह अनुभव हो, उसे जमा हुआ ठोस आनन्द ही समझना होगा। जैसे अति शीतल बर्फ के टुकड़ों का हाथ-पैर आदि से स्पर्श होने पर अग्निज्वाला की अनुभूति होती है, वैसे ही सघन प्रेमानन्द ही प्रेमिक के चित्त में विरह-दु:ख की अनुभूति जगाता है। इस विश्व के सुख और दु:ख परस्पर प्रतियोगी हैं; सुख का अभाव ही दु:ख और दु:ख का अभाव ही सुख। प्रेमिक के श्रीकृष्णमिलन-आनन्द और विरह-दु:ख वैसे नहीं, ये अप्राकृत सुखदु:ख स्वत:सिद्ध भाववाची है, तभी इन दोनों का यौगपद्य (समसामयिकता) है।

''बहिर्विष-ज्वाला हय, अन्तर आनन्दमय, कृष्णप्रेमेर अद्भुत चरित।''
''एइ प्रेमा जार मने, तार विक्रम सेइ जाने, जेनो विषामृते एकत्र मिलन।''

इत्यादि (चै. च.)

जो भी हो, श्रीकृष्ण के बिना व्रजदेवियों के दिन के विरहदु:ख का वह सुदीर्घ समय कैसे बीतता, श्रीपाद शुक देव मुनि युगलगीत के प्रारम्भ में इस श्लोक में वही वर्णन कर रहे हैं। उस विरह-दु:खसिन्धु से वे सब कैसे निकलतीं ? वे गोपियाँ थीं और उनका श्रीकृष्णविरह-दु:ख असह्य था। इसलिये कह रहे हैं - श्रीकृष्ण परमानन्दघनमूर्ति या परम आकर्षक हैं, तभी उनके वृन्दावन चले जाने पर गोपियों का चित्त श्रीकृष्ण में संलग्न होकर उनके पीछे-पीछे द्रुत या अति वेग से वृन्दावन चला जाता - 'तमनुद्रुतचेतस:'। अतएव गोपियाँ घर में रहकर श्रीकृष्ण की अत्यन्त मनोहर, क्षण-क्षण नव-नवायमान वन्यविहार-लीला का गायन करतीं। 'प्रगायन्त्यो' - 'प्रकर्षेण प्रायो मोहनवेणु प्रधानत्वेन जगच्चित्ताकर्षतया गायन्त्यस्वत्र तमनुद्रुतचेतसस्तेन गृहकृत्याद्युपरतिर्दर्शिता।' गायन्त्य: न कहकर 'प्रगायन्त्य:' कहा है - प्रकृष्टरूप से गायन अर्थात् गोपियाँ जगत् की चित्ताकर्षक श्रीकृष्ण लीलाओं का, जिनमें मोहन वेणुवादन प्रमुख था, गायन करतीं। इससे उनका चित्त द्रवित होता (गृहकृत्य आदि के प्रति उपरति या निवृत्ति दिखाई गई हैं)। अर्थात् वे उस लीलागायन में ऐसे आविष्ट रहतीं कि घर के कामकाज कुछ भी न कर पातीं।

कृष्णलीला-गायन में सतत आविष्ट रहतीं, गृहकृत्य आदि कुछ न करतीं - इस बात को लेकर उनके पतिन्मन्य गोप और सास आदि स्वजन उनके प्रति किसी प्रकार की असूया या दोषदृष्टि न रखतें गोपगण तो योगमाया-कल्पित गोपियों की छायामूर्तियाँ ही देखते; उन लोगों ने श्रीकृष्णप्रिया गोपियों को कभी नहीं देखा। केवल श्रीकृष्ण के प्रति परकीया अभिमान की पुष्टि के लिये गोपियों का गोपों के प्रति पति-अभिमान मात्र था। जैसे गोपों के साथ श्रीकृष्णप्रियाओं का विवाह योगमायाकल्पित मात्र था - वास्तविक न था; वैसे ही श्रीकृष्णप्रियायें योगमाया द्वारा पतिगृहों में सभी प्रकार से सुरक्षित रहतीं। इसलिये रासलीला के अन्त में श्रील शुकदेव मुनि ने कहा है -

**''नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।**
**मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस: ।।''**

(भा. 10/33/38)

'श्रीकृष्ण की माया से मोहित होकर व्रजवासी अपनी-अपनी पत्नियों को अपने-अपने पार्श्व में अवस्थित समझते, इसलिये उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति किसी प्रकार का असूयाभाव प्रकट नहीं किया।' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही गोपियों से कहा है - 'निरवद्यसंयुजां' मेरे साथ तुम लोगों का मिलन

निर्दोष या अनिन्दित है। ''निरवद्या काममयत्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि वस्तुतो निर्मल प्रेम विशेषमयत्वेन, निर्दोषा संयुक् संयोगः सम्यङ्मद्विषयक- चित्तैकागृता स्व-स्वपत्यादिस्पर्शाभावेन च निर्दोषा संयुक् सङ्गमो यासाम्'' (वै. तो. टीका) अर्थात् मेरे साथ तुम्हारा मिलन काममय लगने पर भी वह वस्तुतः निर्मल प्रेमविशेषमय होने के कारण निर्दोष संयोग है; मुझ से जुड़ी सम्यक् एकाग्रता और अपने-अपने पतिम्मन्य गोपों के स्पर्श के अभाव से निर्दोष है। उल्लिखित ''नासूयन् खलु कृष्णाय'' इस श्लोक की वैष्णवतोषणी टीका के अन्त में श्रील गोस्वामिपाद ने कूर्मपुराण से सीताहरण-प्रसङ्ग उद्धृत कर इस विषय का दृष्टान्त दिया है। श्रीरामचन्द्र के रावण-वध आदि लीलाकार्यों के समाधान के लिये श्रीसीतादेवी ने अग्नि में प्रवेश किया, वे अपने अनुरूप एक छायामूर्ति रख गईं। उन्हीं छायासीता का रावण ने हरण किया। राक्षसकुल-निधन और रावण-वध आदि कार्य सम्पन्न हो जाने पर सीताजी अग्निपरीक्षा में अग्नि में प्रवेश कर दग्ध हो गईं और श्री जनकसुता अग्नि से निकल कर श्री रामचन्द्र की सेवा में लग गईं। उसी प्रकार योगमाया द्वारा निर्मित कृष्णप्रियाओं की छायामूर्तियाँ ही गोप आदि स्वजन देख पाते और श्रीकृष्णप्रियायें रात्रि में रासलीला में तथा दिन में सतत श्रीकृष्णलीला-गायन में आविष्ट रहतीं।

''श्रीकृष्णस्येति तल्लीलानामापि तादृशत्वमभिप्रेतम्'' (वृ. तो.) 'कृष्णलीलाः इस शब्द से यही तत्व व्यक्त हुआ कि श्रीकृष्ण की लीला श्रीकृष्ण की ही तरह है। ''कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द। कृष्णेर स्वरूप-सम सब चिदानन्द।। ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस। ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश।।'' (चै. च. मध्य 17) श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं, उनकी लीला में उसी रसरूपता की अभिव्यक्ति है। लीलारस का आस्वादन श्रीकृष्णरस का ही आस्वादन है। इसीलिये गोपियाँ दिन में श्रीकृष्णविरह दुःख का दीर्घ समय व्यतीत करतीं श्रीकृष्ण के वनविहार-गायन में तन्मय होकर। श्रीकृष्णलीला-गायन से लीलामय श्रीकृष्ण मानो उनके आगे मूर्त हो उठते ! इसीलिये इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में श्रीशुकमुनि ने कहा है -

**''एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः ।**
**रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ।।''**

'हे राजन् ! इस प्रकार श्रीकृष्णगतचित्ता और तन्मनस्का महाभाग्यवती व्रजदेवियों ने दिन के समय श्रीकृष्णलीलागायन द्वारा परमानन्द प्राप्त किया।' इससे श्रीकृष्ण लीलागायन का माहात्म्य प्रदर्शित हुआ। फिर प्राचीनगण कहते हैं - ''न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते'' विप्रलम्भ या विरह के बिना सम्भोग या मिलनरस की पुष्टि नहीं होती। व्रजदेवियों का यह दिवाविरह रात्रि के महामिलनात्मक रास आदि लीलारस की अतिशय पुष्टि करता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस श्लोक की सारार्थदर्शिनी टीका में लिखा है -

''सम्भोगशैत्यं ज्योत्स्नीषु विच्छेदौष्णयं दिनेष्वदात् ।
प्रेमा ताभ्यः स्वपुष्ट्यर्थं स्वयं तद्द्वितयात्मकः ।।''

व्रजदेवियाँ ज्योत्स्नामयी रात्रियाँ सम्भोगशैत्य में और दिन विच्छेदउष्णता में बितातीं। मानो प्रेम ही उनके द्वारा स्वयं पुष्ट होकर सम्भोग और विप्रलम्भ इन दो रूपों में विराजता है। वे सब रात्रि में कान्त के साथ नृत्यगीत आदि नर्मविलास अधरामृत-पान में सम्भोगरस में निमग्न होतीं और दिन के समय कृष्णगुण-गायन में तन्मनस्का होकर उनका मानसिक सङ्ग पाकर वेणुगानामृत -पान में विप्रलम्भरस में मग्न होतीं ।। 1 ।।

श्रीगोप्य ऊचुः

**वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरा र्पितवेणुम्।**
**कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः।। 2।।**
**व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।**
**काममार्गण समर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः।। 3।।**

---

**अन्वयः** - (हे) गोप्यः ! वामबाहुकृतवामकपोलः (वामबाहौ तन्मूले कृतः अर्पितः वामः कपोलः येन सः) वल्गितभ्रुः (वल्गिते नर्तिते भ्रुवौ येन सः) मुकुन्दः (श्रीकृष्णः) अधरार्पितववेणुम् (अधरे अर्पितं वेणु) कोमलाङ्गुलिभिः आश्रितमार्गं (आश्रिताः मार्गाः सप्तस्वरछिद्राणि यस्य तं) यत्र (यदा) ईरयति (वादयति तदा) व्योमयानवनिताः (व्योमयानानां सिद्धानां देवानां वणिताः) सिद्धैः (स्वपतिभिः) सह (विद्यमाना अपि) तद् (वेणुगीतम्) उपधार्य (श्रुत्वा, प्रथमं) विस्मिताः (ततः)

काममार्गण समर्पितचित्ता: (काममार्गणेभ्य: समर्पितचित्ता: (काममार्गणेभ्य: समर्पितानि चित्तानि याभि: ता:) अपस्मृतनीव्य: (अपस्मृता: विस्मृता: नीव्य: याश्रि: ता:) सलज्जा: (सत्य:) कश्मलं ययु: (मोहं प्रापु:) ।। 2-3 ।।

**अनुवाद**- किसी गोपसुन्दरी ने कहा- अरी गोपियों ! श्रीकृष्ण बायें बाहुमूल (कंधे) पर बायाँ गण्ड (कपोल) रख कर, भौंहें नचाते हुए अपने अधर पर रखे वेणु के सप्तस्वर छिद्रों पर कोमल अँगुलियाँ चलाकर जब वेणुवादन करते हैं, तो आकाशचारिणी देवियाँ सिद्धों या अपने-अपने पतियों के साथ रहकर भी उस वेणुगीत को सुनकर पहले तो विस्मित होती हैं, फिर कामवाण से उनका चित्त विद्ध हो जाता है, नीवि बन्धन स्खलित हो जाता है और वे सलज्ज भाव से मोह को प्राप्त हो जाती हैं ।। 2-3 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

जो महाभाववती गोपियाँ रात के समय श्रीकृष्ण के साथ रास आदि लीलारस का आस्वादन करती हैं, दिन में श्रीकृष्ण के वनगमन करने पर उन्होंने ही इस युगलगीत में श्रीकृष्ण की वेणुमाधरी का वर्णन किया है। इससे पहले दसवें स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय में जो वेणुगीत वर्णित हुआ है, वह गोपियों के पूर्वराग का वेणुगीत है; इस अध्याय में परराग है अर्थात् श्रीकृष्ण-मिलन के पश्चात् गोपियों के दिवा विरह का वेणुगीत है। यह वेणुगीत बारह युगलों में वर्णित है। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने इस श्लोक की लघुतोषणी टीका के प्रारम्भ में इस युगलगीत के अर्थ पर विचार करने के लिये गोपियों की करुणा की कामना करते हुए लिखा है -

**"जयति व्रजदेवीनामपूर्वा महिमावली ।**
**यदालम्बनबलादेव तद्गीतं व्याचिकीर्षति ।।"**

व्रजदेवियों की अपूर्व महिमावली सर्वोत्कर्ष के साथ विराज रही है। उन सबकी महिमा के आश्रय में ही उनके गीत के अर्थ पर विचार करने की इच्छा जगी है।

उन सबके महाभावयुक्त हृदय से महाभावपूर्ण मुख से जो वचनामृत नि:सृत हुआ है, उन लोगों के कृपालेश को छोड़ उसकी उपलब्धि करने की सामर्थ्य किसी में नहीं। अतएव श्रोता-वक्ता सभी को व्रजबालाओं की करुणा का सम्बल लेकर ही युगलगीत के अर्थ का आस्वादन करना होगा।

इस युगलगीत में श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरी का वर्णन दो-दो श्लोकों में अन्वित हुआ है। पहले श्लोक में श्रीकृष्ण का रूप लीला और वेणुमाधुरी, फिर दूसरे श्लोक में श्रीकृष्ण के वेणुरव पर वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम आदि का विमोह वर्णित है।

व्रजदेवियाँ कोटि-कोटि यूथों में विभक्त हैं, इसलिये सभी की वाणी का संग्रह करना अत्यन्त कठिन है। किसी-किसी व्रजबाला ने अपनी सखियों को सम्बोधित कर कहा है, किसी-किसी ने माता यशोमती को सम्बोधित करके भी श्रीकृष्ण के वेणुगायन का वर्णन किया है। इसलिये यह ज्ञात होता है कि यह युगलगीत भिन्न-भिन्न यूथों की वाणियों का संग्रह है। यद्यपि इसमें किसी प्रकार की वाक्य-सङ्गति सम्भव नहीं, तथापि मुनीन्द्र श्रीपाद शुकदेव ने प्रातः मध्यान्ह अपरान्ह क्रम से गीतों का वर्णन किया है। फिर एक सभा में दो-तीन गीतों का भी वर्णन किया गया है।

श्रीलसनातन गोस्वामिपाद की वृहत्तोषणी टीका का तात्पर्य यह है - श्रीकृष्ण वनगमन के लिये घर से निकलते हैं, तब से घर लौटने तक श्रीकृष्ण की वन्यक्रीड़ा का वर्णन व्रजदेवियाँ इस गीत में कर रही है। श्रीकृष्ण वृन्दावन में प्रवेश करते ही वेणुनाद द्वारा अपने विरह-विवश वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम को अपने वृन्दावन-आगमन की घोषणा करते हैं। वेणुगायन सुनते ही स्थावर-जङ्गम का धर्म-विपर्यय हो गया।

"तुष्णीकान्मुखरीकरोति मुखरां तुष्णीकयत्यम्भसां
स्तम्भं स्तब्धवतां द्रवं द्रुतमतिस्निग्धत्वमुग्रौजसाम् ।
कर्णाभ्यर्णमुपेत्य तूर्णमसकृद् येमं विधत्त क्रमं
तां वंशीमधरे निधाय मधुर कृष्णो जगौ पञ्चमम् ।।"

(श्रीकृष्णाह्नि कौमुदी 3/37)

'जिस वेणुध्वनि के कर्णकुहरों में प्रविष्ट होते ही नीरव प्राणी वाचाल हो जाते हैं, मुखर नीरव हो जाते हैं, जलगति स्तम्भित हो जाती है, स्तब्ध वस्तुजात में द्रव (जलीय) भाव आ जाता है और कठोर वस्तु अति स्निग्ध हो जाती है - अवस्थाओं में ऐसा विपर्यय (गोलमाल, उल्टापुल्टी) कर देनेवाली वंशी को अधर पर रखे श्रीकृष्ण ने सुमधुर पञ्चम स्वर में गायन किया।

पहले दिन देव-वनितायें देवताओं के साथ श्रीकृष्ण के उत्तरगोष्ठ के समय उनके दर्शनार्थ आई थीं। श्रीकृष्ण तब तक अपने घर में चले गये, उन्हें दर्शन नहीं हुए। यह सोच कर कि सुबह वनगमन के समय उनके दर्शन करेंगी वे दर्शन-उत्कण्ठा को लिये रातभर आकाशमार्ग में ही रही आईं। यह कारण है कि प्रथम गीत में उन सबके दर्शन की बात ही कही गई है। यहाँ 'सिद्ध' का अर्थ है मंत्रसिद्धि क्रम से प्राप्त देवयोनि। श्रीमन्महाप्रभु के आविर्भाव के समय का वर्णन है - "अन्तरीक्षे देवगण, गन्धर्व-सिद्धचारण, स्तुति नृत्य करे वाद्यगीत।" (चै. च. आदि 13)। सिद्धों या देवताओं के साथ व्योमयानवनितायें या देवियाँ आकाशमार्ग में रहीं, अनावृत (खुले) स्थान से श्रीकृष्ण की वेणुवादन मुद्रा एवं सौन्दर्यलीलाविशेष के दर्शन कर तथा वेणुनाद सुनकर उन्हें प्रेममोह हुआ - इस श्लोक में यही

वर्णित है।

व्रजदेवियाँ कहती हैं - हे सखि ! श्रीकृष्ण ने वेणुवादन की मुद्रा में बायीं बाहु पर बायाँ कपोल रखा है, ग्रीवा (गर्दन) में थोड़ा-सा परिवर्तन और वक्रता है, वक्रदृष्टि से ऊपर की ओर देख रहे हैं - इससे वेणुवादन में उनका अभिनिवेश (एकाग्रता) दिखाई देता है। वेणुवादन की मुद्रा में उनकी प्रसिद्ध त्रिभङ्गी, बायें जंघे पर दायाँ जंघा और अधर पर वेणु ! व्रजेन्द्रनन्दन अपनी मोहन वेणुवादन-मुद्रा में महाभाववतियों के भाव नेत्रों में मानो प्रत्यक्ष की तरह ही दृश्यमान हैं। यही कारण है कि वर्णन अति सुन्दर है। 'अधरबिम्ब' न कह कर केवल 'अधर' कहा है। अधर पर सर्वदा वेणु-विन्यास रहता है, इसलिये 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग नहीं किया। इससे उन लोगों की वेणु के प्रति ईर्ष्या भी सूचित हुई है। व्रजबालायें वंशी के प्रति ईर्ष्या प्रकट करती हैं -

''सजनि ! ओ ना मोर के।
क्षेणेक दाँड़ाये, शुनिआ जाओ,
बाँशी केने दुख दे।।
कानुर बाँशीटी, दूपुरिया डाकाति,
सरबस हरि निले।
हिया धकधकि, पराण पागली,
के मोरे एमति कैले।।
एमति बेभार, ना बुझि ताहार,
पिरीति जाहार सने।
बेकति करिया, केने ना बुझिले,
एमति करिले केने।।
बेकति करिया, बाँशीटि सम्बर,
मुइ हबो तव दासी।
चण्डीदास बोले, मोर मने लये,
कालार सरबस बाँशी।।''

''मन मोर आर नाहि लागे गृहकाजे ।
निशिदिन काँदि सइ हासि लोकलाजे ।।
कालार लागिया हाम हबो वनवासी ।

काला निले जातिकुल, प्राण निले बाँशी ।।
हाँरे सखि ! कि दारुण बाँशी ।
जाचिया जौबन दिया हनु श्यामेर दासी ।।
तरल बाँशेर बाँशी नामे बेड़ा जाल ।
सबार सुलभ बाँशी राधार हैलो काल ।।
अन्तरे असार बाँशी, बाहिरे सरल ।
पिबये अधर-सुधा उगारे गरल ।।
जे झाड़ेर बाँशेर बाँशी तार लागि पाओ ।
डाले-मूले उपारिया सागरे भासाओ ।।
द्विज चण्डीदास कहे बाँशी कि करिबे ।
सकलेर मूल काला तारे ना पारिबे ।।''

व्रजदेवियाँ कहती हैं - श्रीकृष्ण के अधरों की अरुणिमा और मृदु हास्य आदि गुणों के कारण ही सूखे बाँस के टुकड़े इस वेणु की ऐसी मोहिनी शक्ति है। जैसे मधु के साथ कपूर के मिल जाने से मधु की मादकता बढ़ जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण का मन्द हास्यरूपी कपूर उनके अधर-मधु के साथ मिल गया है, वह मधु ही त्रिभुवन को मत्त करता हे। वंशी के छिद्रों में जो आकाश है, उसका गुण है शब्द (शब्द आकाश का गुण होता है), श्रीकृष्ण का अधर-मधु उस छिद्र-आकाश में प्रवेश कर ध्वनि में परिणत होता है, वही ध्वनि चारों ओर दौड़ती है और सबको मत्त कर श्रीकृष्ण के निकट खींच लाती है। विशेषत: युवतियों पर ही उसका सर्वाधिक आकर्षण प्रभाव है। यह उद्धत वेणुध्वनि वैकुण्ठ की लक्ष्मियों को ही आकर्षित करती है, गोपियों की तो बात ही क्या ? श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीसनातन गोस्वामिपाद से कहा है -

''स्मितकिरण सुकर्पूरे, पैशे अधर-मधुरे,
सेइ मधु माताय त्रिभुवने।
वंशीछिद्र आकाशे, तार गुणे शब्दे पैशे,
ध्वनिरूपे पाइया परिणामे।।
से ध्वनि चौदिके धाय, अण्ड भेदि वैकुण्ठे जाय,
जगतेर बले पैशे काने।
सभा मातोयाल करि, बलात्कारे आने धरि,
विशेषत: जुबतीर गणे।

ध्वनि बड़ो उद्धत, पतिव्रतार भाङ्गे व्रत,
पतिकोल हैते टानि आने।
वैकुण्ठेर लक्ष्मीगणे, जेइ करे आकर्षणे,
ताँर आगे केवा गोपीगणे।।
नीवि खसाय पति-आगे, गृहकर्म कराय त्यागे,
बले धरि लय कृष्णास्थाने।
लोकधर्म-लज्जा-भय, सब ज्ञान लुप्त हय,
ओइछे नाचाय सब नारीगणे।।''

(चै. च. मध्य 21)

गोपियाँ कहती हैं – ''कोमाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं'' श्रीकृष्ण अपनी कोमल अँगुलियाँ वेणुरन्ध्रों पर चला रहे हैं। कोमल अँगुलियों की बात कही गई। वह केवल मृदुलता आदि के अभिप्राय से नहीं, कारण – किशोर अवस्था के आरम्भ होने पर हाथ की अँगुलियों की बाल्य- जैसी मृदुलता नहीं रहती। कैशोर में अँगुलियों के महासौन्दर्य के अर्थ में ही 'कोमल' कहा गया है। जिन अँगुलियों के मुष्टिप्रहार से श्रीकृष्ण ने शङ्खचूड़ का मस्तक विदीर्ण कर मणि निकाली है, वे कठोर अँगुलियाँ प्रियजन को अत्यन्त कोमल ही लगती हैं। यही प्रेम का स्वभाव है। इस प्रकार सहज ही महा सौन्दर्यमय होने पर भी वेणुवादन की मुद्राविशेष में सौन्दर्यविशेष दिखाया गया है। इससे वेणुवाद्य का महामोहनत्व भी सूचित हुआ। वेणु को अधर पर अर्पित करने से उसने श्रीकृष्ण के अधरामृत-पान का सौभाग्य प्राप्त कर लिया है, यह जानकर ही प्रेमरस कोमल अँगुलियों ने वेणु-मार्ग (छिद्रों) का आश्रय लिया है। 'गोप्यः' इस सम्बोधन का अर्थ है – परम रसविदग्ध तुम लोग ही इसे समझ सकोगी, अन्य लोग नहीं समझेंगे। 'ईरयति' शब्द के प्रयोग से समझ में आता है कि 'ईरयति प्रेरयति' श्रीकृष्ण के प्रेरण मात्र से ही वेणु बजता है। प्रेरण का कारण यह है कि वे 'मुकुन्द' विश्व के आनन्ददाता हैं। जगत् को आनन्द प्रदान करना वेणुवादन का अन्यतम कारण है। ''त्रिजगन्मानसाकर्षिमुरलीकलकूजितः'' मुरली का कलकूजन त्रिजगत् के मन को आकर्षित करता है। वेणुमाधुरी श्रीकृष्ण का एक असाधारण गण है, जिससे भुवन पागल है। इसके माधुर्य से सारा विश्व मधुमय हो जाता है। वह अस्फुट मधुर ध्वनि सर्वाकर्षण मंत्र है – कामबीज का प्रस्फुरक है। ''अथ वेणुनिनादस्य त्रयी मूर्तिमयी गतिः'' (ब्रह्मसहिता) यहाँ त्रयीमूर्ति कहने से वेदमाता गायत्री ही समझी जाती हैं। (टीका में श्रीजीव गोस्वामिपाद) मुरली के रन्ध्र-रन्ध्र में सभी वेदमंत्र ध्वनित होते हैं। विश्व के परमानन्द-प्रदाता हैं मुकुन्द। वे वेणुध्वनि प्रेरण द्वारा वेदध्वनि सुनाकर विश्व जीवों का मायाबन्धन मोचन कर उन्हें अपने परमानन्दमय चरणों में आकर्षित करते हैं।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण के वेणुनाद से आकाशचारिणी देवियों के प्रेममोह की बात कही गई है। देवता और देवियाँ आकाशयानों में चढ़े-चढ़े ही श्रीकृष्ण की वेणुवादन-मुद्रा का दर्शन कर रहे हैं और वेणुनाद सुन रहे हैं। वे वृन्दावन की वनभूमि पर अवतरण कर श्रीकृष्ण के निकट नहीं आये, दूर से ही श्रीकृष्ण के दर्शन और उनका वेणु सुन रहे हैं। 'उपधार्य' शब्द से समझ में आता है कि देवियाँ वेणुनाद को कानों द्वारा हृदय में प्रवेश करा पहले विस्मित होती हैं, फिर कामोदय से उनका नीवि-बन्धन शिथिल हो जाता है। यह देखकर वे लज्जित होती हैं, कारण - उनकी ऐसी अवस्था देवताओं के आगे ही होती है। हृदय में काम का उद्रेक होने से वे काम के सम्मोहन आदि पाँच वाणों के आगे चित्त समर्पित कर देती हैं। पञ्च शरों के प्रहार से वे मरण-भय से भर उठती हैं और अपने धनतुल्य चित्त को स्वयं ही उन वाणों को सौंप देती हैं। अर्थात् एकान्त भाव से कन्दर्प की वश्यता स्वीकार कर लेती हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपनी सारार्थदर्शिनी टीका में लिखा है - देवियाँ श्रीकृष्णविषयक काम शरों को आते देखकर कहती हैं - 'हे श्रीकृष्ण कामशरो ! तुम सब हमारे चित्त को शीघ्र विद्ध करो, हम लोगों ने पतिव्रता धर्म को जलाञ्जलि दी। कृष्ण कृपा कर हमारे साथ रमण करें।' देवियों के चाहने से क्या होगा, गोपीभाव के बिना श्रीकृष्ण को रमण रूप से प्राप्त नहीं किया जाता।

**''गोपजाति कृष्ण - गोपी प्रेयसी ताँहार ।**
**देवी वा अन्य स्त्री कृष्ण ना करे अङ्गीकार ।।''**

(चै. च.)

देवताओं ने देवियों का भावावेश देख कर किसी प्रकार की असूया तो नहीं ही दिखाई, उल्टे स्वयं ही श्रीकृष्ण के कामशर पर विमोहित होकर कहने लगे - 'हे श्रीकृष्ण ! तुम कृपा कर हमारा पुरुषत्व या देवत्व त्याग करा हमें गोपस्त्री बनाकर हमारे साथ रमण करो।' इस प्रकार सिद्धगण या देवताओं के साथ देवियाँ श्रीकृष्ण के कामशरों की पीड़ा से मोह को प्राप्त हुईं। इसीलिये कहा गया है-

**''वृन्दावने अप्राकृत नवीन मदन ।**
**कामगायत्री-कामबीजे जाँर उपासन ।।**
**पुरुष-योषित् किबा स्थावर-जङ्गम ।**
**सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ-मदन ।।**
**शृङ्गाररसराजमय मूर्तिधर ।**
**अतएव आत्म पर्यन्त सर्वचित्तहर ।।''**

(चै. च. मध्य. 8)

इस युगलगीत में इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण के रूप, लीला और वेणुनाद का परम मोहनत्व वर्णित हुआ है। यद्यपि इससे सभी का मोह सम्भव है, तथापि इस युगल में सिद्धवनिताओं की बात कही गई है, कारण - श्रीकृष्ण वेणुवादन-मुद्रा में ऊपर की ओर वक्र दृष्टि किये हैं, वे देवियों की ओर ही देखकर वेणुवादन कर रहे हैं, ऐसा सोचकर ही गोपियों ने इन दो श्लोकों में उनके भावोदय का वर्णन किया है। गोपियों के मन का भाव यह है - सखियों ! ये स्वर्ग की देव-देवियाँ हैं, हमारे कृष्ण का रूप-दर्शन कर और वेणुनाद सुनकर यदि इनकी ही ऐसी भावाविष्ट दशा हो जाती है, तो हम तो मानवी, ऊपर से गोपियाँ हैं, इस व्रज में श्रीकृष्ण के साथ रहना-सहना है। कृष्ण का सङ्ग भी प्राप्त किया है। हम लोग कृष्ण के बिना कैसे रहेंगी ? सखियों ! चलो, अपने इन जले मुंहों को पति-ससुर आदि को और नहीं दिखायेंगी ? उनका तिरस्कार कर किसी छल से वृन्दावन में प्रवेश कर प्राणप्रिय के साथ विलास करेंगी - यह भी व्यञ्जित हुआ ।। 2-3 ।।

**हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।**
**नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजित वेणुः।। 4।।**
**वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।**
**दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखित चित्रमिवासन्।। 5।।**

---

**अन्वयः** - हन्त ! (हे) अबलाः इदं चित्रं (अद्भुतं) शृणुत, हारहासः (हारवत् विशदः हासः यस्य सः) उरसि (वक्षसि) स्थिरविद्युद् (स्थिराविद्युद् व लक्ष्मीः यस्य सः) अयं नन्दसूनुः (नन्दनन्दनः) आर्तजनानां नर्मदः यर्हि (यदा) कूजितवेणुः (नादितः वेणुः भवति तदा) व्रजवृषाः मृगगावः आरात् (दूरादेव) वेणुवाद्यहृतचेतसः (वेणुवाद्येन हृतानि चेतांसि येषां ते) धृतकर्णाः (धृताः उत्तम्भिताः कर्णाः

यैः ते) निद्रिताः (वै) लिखितचित्रम् इव आसन् (तस्थुः) ।। 4-5 ।।

**अनुवाद**- अरी अबलाओ ! और भी आश्चर्य की बात सुनो। ये नन्दनन्दन, जिनका हास्य हार की तरह विशद है, जिनके वक्षस्थल पर लक्ष्मी विद्युत की तरह विराजित हैं, जो आर्तजन के नर्मद हैं - ये जब वेणुवादन करते हैं, जो व्रज के वृष, मृग, गाय आदि पशु - दल के दल दूर से वेणुगीत सुनकर आकृष्ट हो कान खड़े किये सो जाते हैं और चित्रलिखित की तरह खड़े रहंते हैं , तृण-कवल मुंह में लगा रहता है ।। 4-5 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने लघुतोषणी टीका में इन दो श्लोकों की व्याख्या भूमिका में लिखा है - श्रीकृष्ण ने वन के निकट पहुँच कर असंख्य गायों को एकत्रित करने के लिये, वन के मृग आदि को आनन्द देने के लिये और अपने स्नेह में बँधे पीछे-पीछे रहे माता, पिता आत्मीय-स्वजन आदि गोप-गोपियों को सान्त्वना देकर घर भेजने के लिये वेणुवादन किया। उस वेणुवादन को सुनकर, गोप-गोपियों की बात दूर, व्रज में और वन में स्थित नासमझ तिर्यक् जाति पशुओं को भी मोह हो जाता है। उसी का वर्णन किया है इन श्लोकों में।

इन दो श्लोकों की श्रील सनातन गोस्वामिपाद की व्याख्या का अभिप्राय यह है - कोई गोपबाला अपनी सखी से कह रही है, अरी अबला ! 'अबला' सम्बोधन का तात्पर्य यहीं है कि वेणुनाद सुनकर तुम लोग प्रेमविह्वल हो जाती हो, तुम्हारी इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। तुम लोगों की बात दूर। कैसा आश्चर्य है ! ('हन्त' आश्चर्यसूचक सम्बोधन) पशुजाति वृष आदि के आनन्दमोह की बात सुनो। पहले वेणुवादन करने वाले श्रीकृष्ण की शोभादिशेष का वर्णन करती है। 'उरसि स्थिरविद्युत्' श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर स्थिर विद्युत की तरह लक्ष्मी शोभा पा रही है, किन्तु वह स्थिर नहीं, चपला है। यदि वह मेघ की गोद में स्थिर रहती, तो उसकी शोभा बहुत गुनी बढ़ जाती। लक्ष्मी भी विद्युत की तरह चञ्चला हैं, एक स्थान पर स्थिर नहीं रहतीं। पर वे श्रीकृष्ण के नवनीरदकान्ति वक्षदेश पर स्थिर हो विराज रही हैं। वे श्रीकृष्ण की श्रीचरणरेणु की लालसा से बेलवन में तपस्या कर रही हैं, पर उस चरणरेणु को स्पर्श करने का अधिकार नहीं पा सकीं, कारण-

**''गोपी अनुगति बिना ऐश्वर्यज्ञाने ।**
**भजिलेहो नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने ।।**
**ताहाते दृष्टान्त लक्ष्मी करिलो भजन ।**
**तथापि ना पाइलो व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ।।''**

(चै. च. मध्य. 8)

तो स्वर्णरेखा के रूप में श्रीकृष्ण के वक्ष पर जो विराज रही हैं, वे कौन-सी लक्ष्मी हैं ? ये लक्ष्मीजी का ही एक अन्य प्रकाश है। पद्मपुराण में इसकी आख्यायिका है। किसी समय सुकुमारी लक्ष्मीदेवी श्रीकृष्ण-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्हें पाने के लिये उग्र तपस्या में प्रवृत्त हुईं। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण ने उनके आगे उपस्थित हो तपस्या का कारण पूछा। भगवान् के प्रश्न के उत्तर में कमलाजी बोलीं – वृन्दावन में तुम्हें गोपियों ने जिस भाव से प्राप्त किया है, मैं तुम्हें उसी भाव से पाना चाहती हूँ। श्रीकृष्ण बोले – यह तुम्हारे लिये सर्वथा असम्भव है। तुम्हारा भाव स्वभावतः ऐश्वर्यप्रधान है। ऐश्वर्यमिश्रित भाव से शुद्ध माधुर्य का आस्वादन सम्भव नहीं। वृन्दावन की गोपियों का भाव विशुद्ध माधुर्यमय है। तुम्हारे लिये ब्रजभाव से सेवा प्राप्त करना दुराशा को छोड़ और कुछ नहीं। श्रीकृष्ण की बातें सुनकर लक्ष्मीजी थोड़ी उदास हो गईं। पुनः बोलीं – हे नाथ ! मैं स्वर्णरेखा की तरह तुम्हारे वक्ष पर वास करना चाहती हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा – अच्छा, ऐसा ही होगा। तभी से लक्ष्मीजी श्रीकृष्ण के वक्ष पर स्वर्ण रेखा के रूप में वास कर रही हैं। वैकुण्ठेश्वरी वृन्दावन बेलवन में तपस्या कर दिखा रही हैं कि ऐश्वर्यमय भाव से व्रजरस का आस्वादन कभी सम्भव नहीं। माधुर्यमय गोपीभाव की आवश्यकता है। और वे ही एक प्रकाश में स्वर्णरेखा के रूप में श्रीकृष्ण के वक्ष पर वास कर दिखा रही हैं कि ऐश्वर्यभाव लेकर श्रीकृष्ण के वक्ष पर नित्य वास किया जाय, तब भी व्रजमाधुरी का आस्वादन सुदूर पराहत (बहुत दूर की बात) है। उधर श्रीकृष्ण जब स्वाधीनभर्तृका कान्ता राधारानी के श्रीचरणों में आलता लगाते हैं, तो श्रीमती के श्रीचरण माधुर्य पर मोहित होकर उनके श्रीचरण वक्ष से लगा लेते हैं। सद्य (ताजा, गीला) आलता श्रीकृष्ण के वक्ष से लग जाता है। स्वर्णरेखा के रूप में विराजित कमला श्रीराधा के श्रीचरणों के आलता से लाञ्छित होती हैं। श्रीमान् महाप्रभु ने कहा है –

"कृष्ण नारायण जैछे एकइ स्वरूप ।
गोपी-लक्ष्मी भेद नाहि हय एक रूप ।।
गोपीद्वारा लक्ष्मी करे कृष्णसङ्गास्वाद ।
ईश्वरत्वे भेद मानिले हय अपराध ।।
एकइ ईश्वर भक्तेर ध्यान-अनुरूप ।
एकइ विग्रहे करे नानाकार-रूप ।।"

(चै. च. मध्य. 9)

अथवा शुद्ध माधुर्य ज्ञान सम्पन्न व्रजसुन्दरियाँ यह नहीं जानतीं कि श्रीकृष्ण के वक्ष पर स्वर्णरेखा के रूप में कमला विराज रही हैं, कारण – वे श्रीकृष्ण को नन्दनन्दन मात्र समझती हैं। उन्होंने निकषपाषाण (कसौटी) पर स्वर्णरेखा की तरह श्रीकृष्ण-वक्ष पर स्वर्णरेखा के रूप में ही वर्णन किया

है, लक्ष्मीजी की बात नहीं कही।

ये 'नन्दसूनः' ''नन्दयति जगदिति नन्दस्तस्य सूनुरिति'' जो विश्व को आनन्द देते हैं, वे नन्द ! उन्हीं नन्द के ये पुत्र हैं। अतएव पितृस्वभाव से विश्व के आनन्ददाता हैं। इसी समय घर से निकले हैं इसलिये 'अयम्' शब्द का प्रयोग किया है। नन्दनन्दन होने से ही वे 'आर्तजनानां नर्मदः' - आर्तजनों के नर्मदाता। आर्तजन का अर्थ है वे लोग, जिनका रात्रि के समय श्रीकृष्ण से विच्छेद होता है - वही अभिन्नप्राण सहचर जो निद्रित अवस्था में (भी) श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हैं। उन्हीं विच्छेद पीड़ित सखाओं को और गाँव तथा वृन्दावन के पशु-पक्षियों को वे दिन में अपने वनगमन की सूचना देकर एवं गोपियों को आश्वासन देकर नर्म या सुख प्रदान करते हैं। ''वामबाहु कृतवामकपोलः'' - द्वितीय श्लोक की तरह ही वेणुवादन की मुद्रा समझनी होगी।

'हारहासः' इसके अर्थ के लिये श्रील गोस्वामिपाद ने श्रीधरस्वामी की व्याख्या का उल्लेख किया है। श्रील स्वामिपाद ने लिखा है, 'हारहासः' का अर्थ है जिनकी हँसी हार की तरह विशद है, अर्थात् जिनके हास्य के माधुर्य से 'हार' की शोभा भी तिरस्कृत होती है। इसलिये श्रीमदभागवत में कहा गया है - 'भूषणं भूषणाङ्गम्' जिनकी अङ्गशोभा भूषणों को भी भूषित करती है। अथवा श्रीकृष्ण मुंह नीचा किये वेणुवादन कर रहे हैं और हँस रहे हैं। इससे उनकी उज्ज्वल हँसी हार में सूचित हो रही है। अथवा श्रीकृष्ण की हँसी हार की तरह ही उनके वक्ष पर शोभा पा रही है, तभी वे हैं 'हारहासः'। अथवा हार के हास्य की तरह ही जिसकी विशद स्फूर्ति है। श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं - 'हार' का अर्थ है जिनका अति मनोहर हास्य है।

'कूजितवेणुः' यह केवल वेणु का कूजन या शब्द मात्र है, राग-रागिनियों द्वारा वेणुगायन नहीं। उसी से पशुओं की ऐसी दशा हो गई, रागयुक्त वेणुगायन सुनकर क्या होता, कहना ही कठिन। ''वृन्दशो व्रजवृषा मृगगवः'' व्रज में और वन में जो वृष, गायें, मृग आदि हैं वे सभी। और वत्सतर-वत्सतरी (बछड़ा-बछिया जिन्होंने अभी दूध पीना छोड़ा है) - वे भी गायों के अन्तर्गत हैं। नये बछड़े जो अपनी माँ से अलग जाकर चरते हैं और अभी-अभी जन्मे बछड़े जो व्रज में निरुद्ध हैं - ये सभी वेणु के शब्द पर मोहित हैं। 'मृग' शब्द से कृष्णसार हरिण, महिष, ग्राम्य शूकर आदि, अन्यान्य सभी वन्य पशु समझने होंगे। ये सब वेणुरव पर मोहित हैं। तथापि 'व्रजवृषा मृगगावः' कहा गया है, इन्हीं पर श्रीकृष्ण का स्नेहविशेष प्रकट होता है। व्रज में मृग भी पशु-सहचर हैं, इसलिये वे भी व्रज के भीतर हैं यह उल्लेख किया गया है। वंशीनाद से वृषों की अपेक्षा मृग कहीं अधिक आकृष्ट होते हैं, कारण - वे गानरसिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। यहाँ श्रीकृष्ण के सहचरों की बात का उल्लेख नहीं किया गया, कारण - उनमें वेणुरव मात्र से सर्वदा परम आनन्द का उद्रेक हुआ करता है। इस युगल में दो बार वेणुवाद्य का

प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि जिन पशुओं ने श्रीकृष्ण का रूप नहीं देखा, केवल वेणु-शब्द सुना है, वे ही हृतचेता हैं (उन्हीं के चित्त आकृष्ट हैं)। हृतचेतत्व में वेणुवाद्य की ही प्रधानता जाननी होगी। 'दन्तदष्टकवलाः धृतकर्णाः' पशु अन्य शब्द के भय से तृणकवल चबा नहीं रहे, हृतचेता होने के कारण उस कवल को छोड़ भी नहीं पा रहे, कवल को दाँतों के बीच रखे-रखे ही कानों को ऊपर की ओर उठाये वेणुनादामृत का पान कर रहे हैं ताकि वह अमृत किञ्चित भी गिर न जाये। वे मानो निद्रित हैं, पर निद्रित भी थोड़ा हिलता-डुलता है, वे तो मानो किसी वस्त्र पर अंकित चित्र की तरह हैं। यह ठहरी विवेकहीन पशुजाति। वेणुवादन से जब इन पशुओं की ही ऐसी अवस्था, तब स्त्री-पुरुषों और सर्वोपरि गोपिकाओं की क्या दशा होगी, यही विवेचना की बात है।

अथवा यह अर्थ हो सकता है कि वेणुवादन के आरम्भ मात्र से ही पशु हृतचित्त हो जाते हैं, सोचने लगते हैं कि इससे अधिक सुनेंगे तो श्रीकृष्ण से विच्छेद हो जायेगा और हमारी मृत्यु हो जायेगी। वेणुवादन और न सुनना पड़े, इस दृष्टि से वे अपने आगे के पैरों से कानों को 'धृत' या बन्द कर लेते हैं, फिर कष्ट के साथ श्रीकृष्ण के निकट आकर दाँतों में तृण दबाकर (दैन्य के साथ) वेणुवादन की विरति के लिये (वेणुवादन बन्द करने के लिये) प्रार्थना करते हैं। इसके बाद श्रीकृष्ण का रूप देखकर और बार-बार वेणु सुनकर उनमें प्रेमविशेष जगता है और वे मोहित या मूर्छित हो जाते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की सारार्थदर्शिनी टीका का तात्पर्य यह है कि कोई गोपसुन्दरी श्रीकृष्ण के वेणुरव पर देववनिताओं के मोह की बात सुनकर बोली - सखियों ! देववनितायें विविध कलाओं में निपुण हैं परम विदग्ध हैं, इसलिये श्री कृष्ण के मोहन वेणुरव पर उनकी मुग्धता अति स्वाभाविक है। किन्तु श्रीकृष्ण के वेणुनाद पर मूढ़ जन्तुओं तक की मुग्धता की बात सुनो। 'हन्त चित्रं' यह अद्‌भुत से भी अधिक अद्‌भुत, और उससे भी कहीं अधिक अद्‌भुत। हे अबलाओं। तुम लोग व्रजरमणियाँ हो, श्रीकृष्ण ने तुम्हारा पतिव्रता-बल पहले वेणुरव से ही हरण कर लिया है। व्रजबाला वंशी से कहती है -

"तोमार मधुर स्वरे, रहिते ना पारि घरे,
निझरे झरये दुनयान।
पहिले बाजिले जबे, कुलशील गेलो तबे,
अवशेषे आछे मोर प्राण।।
जे बाजिले सेइ भालो, इथेइ सकलिगेलो,
तोरे आमि कहिलुँ निश्चय।

ए उद्धवदास भणे, जे बाँशीरे गान शुने,
से जन तेजये कुलभय।।''

''हारहास:'' जिनके हास्य की प्रभा हार अर्थात् वकमाला की तरह शुभ्र है। वक्ष की शोभा मानो नवीन मेघ के तुल्य है, उस पर लक्ष्मीदेवी स्थिर विद्युत और श्रीकृष्ण का हास्य, वकपंक्ति की तरह। तभी बगला-पंक्ति और विद्युत से विभूषित नवीन मेघ तुल्य श्रीकृष्ण के वक्ष ने तुम लोगों की पातिव्रत्य रूपी ग्रीष्म-पीड़ा का नाश कर दिया है।

''अति उच्च सुविस्तार, लक्ष्मी श्रीवत्स अलंकार,
कृष्णेर जे डाकातिया वक्ष।
व्रजदेवी लक्ष लक्ष, ता-सभार मनोवक्ष,
हरि दासी करिबारे दक्ष।।''

(चै. च. अन्त्य. 15)

श्रीकृष्ण का वेणु ''आर्तजनानां नर्मद:' तुम आर्तजनों का नर्मदाता है। अर्थात् सबसे उपहास दिलाने वाला है। वेणुनाद मात्र सुनते ही तुम सबका नीविबन्धन, कवरीबन्धन स्खलित हो जाता है। तुम उन्माद दशा को प्राप्त हो जाती हो। इस प्रकार सभी के लिये हास्यास्पद बनती हो। पदकर्ता ने व्रजबाला से कहलवाया है -

''वेणुक शबद, दूत मझु अन्तर,
पैठल श्रवणक बाट।
हदि माहा धैरज, अर्गल तोड़ल,
उधारल कुल-कवाट।।
सखि ! कानु से बरज-बाटोयार।
मझुमन गृहपति, निज जोरे बाँधल,
कछु नाहि कयल विचार।।
तैखने मदन, सदन आसि घेरल,
बाँधल धरम राखोयाल।
धन-मान-जौवन, सब हरि लेयल,
उजोरि प्रेम उजियाल।।
सरबस लेइ, पालटि जब जाओब,

गृह माहा देयल आगि।
गोविन्द दास, दूरहि दूर काँपइ,
सरम-भरम-भय भागि।।''

'वेणुध्वनिरूपी दूत ने मेरे कर्णपथ से हृदय में प्रवेश किया। वहाँ धैर्यरूपी अर्गला (चटखनी) खोल कर कुल की किवाड़ खोल दी। सखि ! कन्हाई व्रज का सर्वस्व चोर है। मेरे मनरूपी गृहपति को अपने जोर से बाँध लिया, कोई विचार नहीं किया। और तभी मदन ने आकर घर को घेर लिया। धर्मरूपी गृह-रक्षक को बाँध लिया। प्रेम की मशाल जलाकर अँधेरे घर को आलोकित कर धन-मान-यौवन सब चुरा लिया। सर्वस्व लिये लौटकर जाने लगा तो घर में आग लगा दी। गोविन्द दास तो दूर खड़े काँप रहे हैं, मेरा सरम-भरम-भय सब भाग गया।'' श्लोक के अन्य अंश की व्याख्या प्राय गोस्वामिपाद की व्याख्या के ही अनुरूप है ।। 4-5 ।।

**बर्हिणस्तवकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्ह विड़म्बः।**
**कर्हिचित् सबल आलि स गोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः।। 6।।**
**तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पादाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।**
**स्पृहयतीर्वयमिवाबहु पुन्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः।। 7।।**

---

**अन्वयः** - आलि (हे सखि !) बर्हिणः (मयूरस्य) स्तवकधातुपलाशैः (स्तवकाः पुच्छानि धातुः गैरिकरागाः पलाशानि पल्लवाः) बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः (बद्धश्चासौ मल्लानां परिवर्हः परिकरः ते विड़म्बयति अनुकरोति तथा सः) मुकुन्दः (श्रीकृष्णः) सबलः गोपैः यत्र (यदा) गाः समाह्वयति तर्हि (तदा) अनिलनीतं (अनिलेन वायुना आनीतं) तत् पदाम्बुजरजः (तस्य श्रीकृष्णस्य पदाम्बुजरजः)

स्पृहयति सरित: (नद्य:) वयमिव अबहुपुण्या:, (यत:) भग्नगतय: वयमिव अबहुपुण्या:, (यत:) भग्नगतय: (भग्ना गति: यासां ता:) प्रेमवेपितभुजा: (प्रेम्ना वेपिता: कम्पिता: भुजा: तरङ्ग: यासां ता:) स्तिमितायः (स्तिमिता: निश्चला: आप: यासां तथा भवन्ति) ।। 6-7 ।।

**अनुवाद**- हे सखि ! मल्लवेश का अनुकरण करने वाले श्रीमुकुन्द जब मयूर पुच्छों, गैरिक (गेरू) आदि धातुओं और पल्लवों से बने भूषणों से भूषित होकर बलदेव और गोपबालकों के साथ गायों का आह्वान करते हैं, तब वायु से उड़ी श्रीकृष्णपदकमलों की रेणु प्राप्त करने की आशा से हम जैसी स्वल्पपुण्या नदियों की गति भङ्ग हो जाती है, तरङ्गें प्रेम से काँपने लगती हैं और उनका जल ठहर जाता है ।। 6-7 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

इस श्लोक की व्याख्या में श्रील सनातन गोस्वामिपाद कहते हैं - इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने श्रीबलदेव और सखाओं को लेकर असंख्य गायों के साथ वन में प्रवेश किया। सखाओं ने मयूरपुच्छ वन्यकुसुम पल्लव आदि चयन कर गैरिक आदि धातुरागों से श्रीकृष्ण को नटवर तुल्य मल्ल वेश में सजाया। तत्पश्चात् गाय आदि पशुओं को जल पिलाने के लिये सभी नदीतट पर गये। श्रीकृष्ण ने वन में इधर-उधर विचरण कर रहे गाय आदि पशुओं को बुलाने के लिये विशेष वेणुनाद किया। यह वेणुनाद दूर वन में चरती गायों आदि को अति शीघ्र निकट बुलाने के लिये एक अभूतपूर्व आकर्षण है, महाजन-पद से यही पता चलता है -

**''आजु वने आनन्द बाधाइ।**
**पातिया विनोदखेला, राखाल होइलो भोला,**
**दूर वने गेलो सब गाइ।।**
**धेनु ना देखिया वने, स्थकित राखालगणे,**
**श्रीदाम-सुदाम आदि सभे।**
**कानाइ कहिछे भाइ, खेला भाङ्गा जाबे नाइ,**
**आनिबो गोधन वेणुरवे।।**
**सब धेनु नाम कैया, अधरे मुरली लैया,**
**डाकिया पूरिलो उच्चस्वरे।**
**शुनिया वेणुर रव, धाय धेनु वत्स सब,**
**पुच्छ फेलि पिठेर उपरे।**

धेनु सब सारि सारि, हाम्बा हाम्बा रव करि,
दाड़ाइलो कृष्णेर निकटे।
दुग्ध स्रवि पड़े बाँटे, प्रेमेर तरङ्ग उठे,
स्नेहे गाभी श्याम-अङ्ग चाटे।।
देखि सब सखागण, आबा आबा घने घन,
कानुरे करिलो आलिङ्गन।
प्रेमदास कहे वाणी, कानाइर मुरली शुनि,
पशुपाखी पाइलो चेतन।।''

उसी वेणुनाद को सुनकर यमुना मानसगङ्गा आदि नदियों में अपूर्व भावविशेष के उदय होने से जो मोह उत्पन्न हुआ, इन दो श्लोकों में उसी का वर्णन किया है। 'कर्हिचित्' या कदाचित् शब्द प्रयोग करने का कारण यही है कि सदा ही श्रीकृष्ण श्री बलदेव और गोपबालकों के साथ गायों का आह्वान करते हैं, किन्तु गायों के कानों को सुख देने के लिये आज कृष्ण स्वयं अकेले ही आह्वान कर रहे हैं। अथवा, श्रीकृष्ण का मल्लवेश कदाचित् ही होता है, इसीलिये 'कर्हिचित्' शब्द का प्रयोग है। श्री बलदेव और सखाओं के साथ श्रीकृष्ण गायों का आह्वान करते हैं, फिर भी नदियों में भावोदय होता है, इससे नदियों की कृष्णैकनिष्ठता (केवल कृष्ण के प्रति निष्ठा) की हानि होती है, धृष्टता प्रकट होती है और उनके उपहास का भी कारण बनता है। अथवा श्री बलदेव और सखाओं के साथ गायों का आह्वान करने पर भी नदियों में भावोदय होता है, श्रीकृष्ण स्वयं अकेले आह्वान करेंगे तो होगा ही। सबके साथ आह्वान करने पर श्रीकृष्ण का स्वर संकीर्ण हो जाने से उन्हें माधुर्यविशेष की स्फूर्ति नहीं होती। अथवा अकेले आह्वान करने पर श्रीकृष्ण का भक्तवात्सल्यविशेष प्रकट होता है और माधुर्यविशेष का उदय होता है, यह अभिप्रेत है। कारण – वे मुरलीवदन वेणुवाद्यविशारद श्रीकृष्ण गायों को विचित्र नामों से सम्यकरूप से नाना प्रकार से प्रीतिपूर्वक सादर आह्वान करते हैं। फिर 'मुकुन्द' – उनके मुख पर कुन्दकुसुम की तरह मनोहर हास्य होता है, वेणुवादन के साथ गायों का आह्वान करने पर दन्तकान्ति विकसित होने से उनका परम सौन्दर्य ध्वनित हुआ। व्रजदेवी सम्बोधन करती है – हे सखि ! नदियों के इस प्रकार के भाव में विश्वास है, तभी ऐसा सम्बोधन; अथवा प्रेमार्त राधारानी के आगे नदियों की प्रेम-आर्ति की बात प्रतिपादित करने के लिये ललिता आदि सखियों का विशेष सम्बोधन है।

प्रेमार्ति ही गोपिका के प्रेम की विशिष्टता है। प्रेम के हृदय में विपुल आर्ति या उत्कण्ठा जगाने के लिये ही योगमाया मधुररस में नित्यकान्ता गोपियों को परकीया भाव का अभिमान प्रदान करती हैं।

इसी परकीया भाव में मधुररसवती गोपियों की आर्ति-उत्कण्ठा की चरमता है। परकीयभाव के बिना प्रेमानुराग कभी महाभाव दशा को प्राप्त नहीं करता। श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ के 'अनुराग: स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशित:' इस महाभाव- लक्षण का वर्णन करते हुए लोचन-रोचनी टीका में लिखा है - "दु:खस्य परमकाष्ठां कुलवधूनां स्वयमपि परममर्यादानां स्वजनार्य- पथाभ्यां भ्रंश एव नाग्न्यादिना च मरणम्। ततश्च तत्कारितया प्रतीतोऽपि श्रीकृष्णसम्बन्ध: सुखाय कल्पते चेत्त- र्ह्येव रागस्य परमेयत्ता। तत्श्च तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो भावाय कल्प्यते।" अर्थात् परम मर्यादा सम्पन्न कुलवधुऐं आर्यपथ या पतिव्रता धर्म पर आँच आते ही अनायास अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं अथवा गरल-पान कर सुखपूर्वक मृत्यु का वरण कर लेती हैं। यदि उसी आर्यपथ या कुलधर्म का त्याग श्रीकृष्ण-सुख के लिये किया जाय, तो इसी में राग की पराकाष्ठा है। इसी राग के आश्रय में जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह महाभाव दशा प्राप्त करता है। अतएव महाभाववती सभी गोपसुन्दरियों में प्रेमार्ति होते हुए भी उसकी चरम सीमा श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि श्रीमती राधारानी में ही है। इसलिये श्रीकृष्ण के साथ मिलन में राधारानी का मादन प्रेम है। यह प्रेम एकमात्र उन्हीं की निजी सम्पदा है। यह अन्य किसी गोपी में नहीं है। इस मादन प्रेम में भी चरम प्रेमार्ति विराजित है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में देखते हैं -

**"योग एव भवेदेष विचित्र: कोऽपि मादन: ।**
**यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीला सहस्रधा ।।"**

अर्थात् 'श्रीकृष्ण के साथ मिलन के समय ही श्रीराधा का यह विचित्र मादनभाव उत्पन्न होता है। इस मादन का नित्यलीलारूपी विलास सहस्र प्रकार से प्रकट होता है।' इस श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका में लिखा है - "यदा तु मादनाख्य: स्थायी स्वयमुदयते तत्क्षण एव चुम्बनालिङ्गनादि-सम्भोगानुभव-मध्य एव विविधं वियोगानुभव इत्येकस्मिन्नेव प्रकाशे प्रकाशद्वय-धर्मानुभव: स च विलक्षणरूप एवेति। नन्वेवञ्चेत् स सम्भोगकालेऽपि कथ-मतितृष्णामयी तादृश्युक्ति: सम्भवतीति तत्राह विचित्र इति। सहस्रधा सम्भोगकाले सहस्रधैवोत्कण्ठेत्यद्भुतमेवेत्यर्थ:।" अर्थात् जब स्वयं मादन (नामक) स्थायीभाव का उदय होता है, तब चुम्बन आलिङ्गन आदि सम्भोग-अनुभव में ही विविध वियोग-अनुभव भी हुआ करता है। इस मिलन-प्रकाश में ही विरह-प्रकाश का भी धर्मानुभव है - यही मादन भाव का वैलक्षण्य है। प्रश्न हो सकता है, ऐसी तृष्णामयी उक्ति सम्भोगकाल में कैसे सम्भव है ? तभी कहा गया है कि मादन अति विचित्र या आश्चर्यजनक भाव है। सहस्र मिलन में भी सहस्र उत्कण्ठा का प्रकाश - यही है मादन का अद्भुतत्व ! तभी ललिता आदि सखियाँ इस श्लोक में परम प्रेमार्तिमयी श्रीमती वृषभानुनन्दिनी को 'सखि' सम्बोधन कर अचेतन जलमयी नदियों की प्रेमार्ति की बात सुना रही हैं। यही श्रील गोस्वामिपाद की व्याख्या का तात्पर्य है, हमें ऐसा लगता है।

श्रीकृष्ण जल पिलाने के लिये गायों के नाम ले-लेकर आह्वान कर रहे हैं - 'हे गङ्गे ! हे यमुने ! हे सरस्वति ! आओ, आओ, सभी दौड़ कर आओ।' तब मथुरामण्डल की मानसगङ्गा यमुना आदि नदियाँ यह सोचकर कि श्रीकृष्ण उन्हीं को बुला रहे हैं भग्नगति होकर श्रीकृष्ण के निकट दौड़कर आना चाहती हैं। 'भग्नगतय:' - इन नदियों की गति निरन्तर अपने पति समुद्र की ओर होती है, तभी उनका नाम है सरित्; इनकी वह गति (प्रवाह) भग्न हो जाती है। इससे इहलोक और परलोक के प्रति इन सबकी उपेक्षा भी प्रदर्शित हुई।

'तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्' - नदियाँ वायु द्वारा लाई गई श्रीकृष्ण पदाम्बुजों की रज-कणिका की स्पृहा करती हैं, यह रज ही उनकी चरम ईप्सित वस्तु है। वे (नदियाँ) भी हमारी तरह अबहु पुण्या या अल्प पुण्य वाली हैं। बहुत प्राप्त करके भी गोपियाँ अतृप्त रहती हैं, अपने अतृप्ति-स्वभाव के वशीभूत होकर ही ऐसा कह रही हैं। अतृप्ति ही गोपीप्रेम का स्वभाव है। महाजनों ने सन्निपात के रोगी की तृष्णा के साथ इन लोगों की प्रेमतृष्णा का दृष्टान्त दिया है। वैद्य सन्निपात के रोगी को जल न देता हो, ऐसा नहीं है, किन्तु उस जल से रोगी की पिपासा शान्त नहीं होती, जल पिपासा को सौगुनी बढ़ा देता है। रोगी 'हा पानी, हा पानी' कर चीखता है। उसी प्रकार गोपियाँ जितना ही श्रीकृष्ण-माधुरी का आस्वादन करती हैं, उनकी प्रेमतृष्णा उतनी ही अनन्तगुनी बढ़ती जाती है। यह प्रेमतृष्णा ही श्रीकृष्णमाधुरी-आस्वादन की परिमापक है।

**"ए माधुर्यामृत सदा जेइ पान करे।**
**तृष्णा शान्ति नहे तृष्णा बाढ़े निरन्तरे ।।"**

(चै. च.)

गोपियाँ अपने भाव के अनुसार अचेतन जल-प्रवाहमयी नदियों में अपने-जैसे भाव की कल्पना कर रही हैं।

"प्रेमवेपितभुजा:" अर्थात् प्रेम में उनकी भुजायें (तरङ्गें) कम्पित हैं। यद्यपि भग्नगतित्व इत्यादि सभी का कारण प्रेम ही है, तथापि तरङ्गों के विशेष कम्पन को दृष्टि में रखकर यह बात कही है।

'स्पृहयतीव' इसमें श्रीकृष्ण में नदियों की स्पृहाविशेष या भावविशेष वर्णित हुआ। 'भानगतय:' द्वारा नदियों का 'स्तम्भ' भाव, 'प्रेमवेपितभुजा:' द्वारा 'कम्प' और 'स्तिमितापः' से चेष्टारहित होने का लक्षण मोह बताया गया। प्रेमस्पृहा के कारण अचेतन जलप्रवाहमयी नदी से ऐसे भाव का उदय हुआ, इससे यही प्रदर्शित है कि पहले की तुलना में वेणुनाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि अचेतन जलमयी नदी में श्रीकृष्ण के प्रति ऐसा भाव और उसके कारण श्रीकृष्ण का रूपदर्शन, वेणुनाद-श्रवण आदि

सम्भव नहीं, तथापि यह समझना होगा कि श्रीकृष्णरूप और वेणुनाद के अचिन्त्य प्रभाव से सभी सम्भव है।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की सारार्थदर्शिनी टीका का तात्पर्य ऐसा है कि कोई अन्य गोपी बोली- सखियों ! श्रीकृष्ण के वेणुरव से मृग-वृष आदि चेतन जन्तुओं के भावावेश की बात दूर रही, अचेतन नदियों के स्तम्भ भाव की बात सुनो। श्रीकृष्ण जब मयुरपुच्छ, पुष्प-स्तवक (गुच्छा), पल्लव और गैरिक आदि धातुरागों से मल्लवेश का अनुकरण करते हैं अर्थात् अपनी शोभा द्वारा समस्त मल्लों की शोभा को हास्यास्पद करते हैं - वे जब हइ-हइ करते हुए कालिन्दी, गङ्गे सरस्वति आदि नामों से गायों का आह्वान करते हैं, तब यमुना मानसगङ्गा, सरस्वती आदि व्रज की नदियाँ और व्रज में स्थित अचेतन नदियाँ भी चेतना प्राप्त कर सोचने लगती हैं - 'अहो ! हमारा कैसा सौभाग्य है, श्रीकृष्ण स्नान-अवगाहन आदि के लिये हमारा आह्वान कर रहे हैं।' ऐसा सोचकर वे अपने तीव्र प्रवाह से तटप्रदेश भेदकर श्रीकृष्ण के निकट आने की चेष्टा करती हैं, पर ऐसा करने से उनकी गति भग्न हो जाती है। अति आनन्द के कारण वे जड़ता को प्राप्त करती हैं, उनकी स्वाभाविक गति स्तम्भित हो जाती है, प्रवाह स्थिर हो जाता है। श्रीकृष्ण के सङ्गसुख की प्राप्ति के अभाव में अन्यान्य नदियों द्वारा वे उपहसित होती हैं (उनका उपहास होता है), फलस्वरूप उनकी ऐहिक गति भग्न हो जाती है और पातिव्रत्य धर्म नष्ट होने से उनकी पारलौकिक गति भी नष्ट होती है - यही श्लेषार्थ है। आह ! उनका कैसा अभाग्य है ! पर किञ्चित भाग्य भी है। अनुकूल पवन द्वारा लाई गई श्रीकृष्ण पदाम्बुजों की रज की वे स्पृहा करती हैं, उसे प्राप्त भी करती हैं, पर तृप्ति के अभाव में बार-बार उसकी इच्छा करती हैं। हम लोगों की तरह ये नदियाँ अल्प पुण्यवाली हैं। जैसे हम श्रीकृष्णसङ्ग प्राप्ति और अप्राप्ति को लेकर स्वल्पपुण्य हैं, वैसे ही। उनका सब कुछ हमारी ही तरह है। प्रेम में उनकी तरङ्ग-बाहुऐं कम्पित होती हैं, हमारी बाहुऐं भी प्रेम में काँपती हैं। जैसे उनकी ऐहिक-पारलौकिक गति भग्न होती है, वैसे ही हमारी - हमारे पतियों भ्राताओं द्वारा श्रीकृष्ण -अभिसार के लिये निषेध, लोक-उपहास से ऐहिक गति भग्न होती है, तो पातिव्रत्य नष्ट होने से पारलौकिक गति भी भग्न होती है। श्रीकृष्ण की पगरज की स्पृहा से नदियों की और श्रीकृष्ण के अङ्ग-सौरभ की स्पृहा से हमारी एक ही गति होती है ।। 6-7 ।।

**अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपुरुष इवाचलभूतिः।**
**वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वायति गाः स यदा हि।। 8।।**
**वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।**
**प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ववृषुः स्म।। 9।।**

---

अन्वयः - अनुचरैः (सहचरैः गोपैः) आदिपुरुष इव (आदिनारायणतुल्यः) समनुवर्णितवीर्यः (सम्यगनुवर्ण्रितं तत्तत् प्रभावमयं चरितं यस्य सः) अचलभूतिः (अचलाः भूतयः सम्पदः यस्य सः) वनचरः (वनेषु चवन्) सः (कृष्णः) गिरितटेषु चरन्तीः गाः यदा वेणुना आह्वायति तदा प्रणतभारविटपाः (प्रणताः भारेण विटपाः शाखाः यासां ताः) पुष्पफललाढ्याः (पुष्पैश्चं फलैश्च आढ्याः समृद्धाः) प्रेमहृष्टतनवः (प्रेम्ना हृष्टाः पुलकयुक्ताः तनवः यासां ताः) वनलतातरवः आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्यः इव मधुधाराः ववृषुः स्म ।। 8-9 ।।

**अनुवाद**- जैसे देवता आदिपुरुष नारायण का गुणगान करते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के अनुचर गोप उनकी प्रभावमयी चरितकथा का गायन करते हैं। वही अचल ऐश्वर्ययुक्त श्रीकृष्ण वन में विचरण के समय पर्वत की तराई में घूमती गायों का आह्वान करते हैं, तो वनभूमि की भारावनत और शाखा-पुष्प-फल-शोभित तरुलतायें प्रेमपुलकित होकर मानो अपने भीतर प्रकाशमान विष्णु की अभिव्यक्ति के रूप में ही मधुधारा-वर्षण करने लगती हैं।। 8-9 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

एक गोपबाला ने कहा - अरी सखियों ! श्रीकृष्ण ने श्रीबलदेव और सखाओं के साथ गायों को जलपान करा स्वयं भी जलपान किया। तत्पश्चात् उन्होंने उत्तम सघन तरु छाया में शीतल पर्वत की तलहटी में सुखपूर्वक अवगाहन किया और गायों को स्वच्छन्द रूप से चरने के लिये नियोजित किया। सखा श्रीकृष्ण की परम माधुर्यमय मनोहर विहार आदि की कथा का कीर्तन करने लगे। उस चरितकथा के श्रवण-कीर्तन में सखाओं के साथ श्रीकृष्ण ऐसे आविष्ट हुए कि गायों का ध्यान ही न रहा, वे दूर चली गईं। जब ध्यान हुआ और गायें दिखाई न दीं, तो श्रीकृष्ण ने वेणुरव द्वारा उनका आह्वान किया। हे सखियो! यमुना मानसगङ्गा आदि केवल जलप्रवाहमयी नदियाँ ही नहीं, उनकी अधिष्ठात्री परमदेवियाँ भी परम पुलकित होती हैं। अतएव नदियों की और वृन्दावन की जङ्गम (चर) जातियों की बात दूर, श्रीकृष्ण के मोहन वेणुनाद से स्थावर (अचर) वृक्षलताओं के भावावेश की बात सुनो। इन दो श्लोकों में वही वर्णन करती है।

अनुचरैः का अर्थ है सर्वदा श्रीकृष्ण के साथ विहार करनेवाले गोपबालक। वे सतत श्रीकृष्ण के साथ रहकर उनकी मधुरातिमधुर वनविहार-लीला देखते हैं और अपने मधुर कण्ठ से उस अद्‌भुत लीला का गायन करते हैं। दृष्टान्त देती है - 'आदिपुरुष इवाचलभूतिः'। जैसे आदिपुरुष श्रीमन्नारायण के अनुचर उनकी अचल विभूति या निश्चल ऐश्वर्य का गुणगान किया करते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण-पार्षद गोपबालक श्रीकृष्ण की अति अद्‌भुत परम माधुर्यमय वनविहार-लीला का कीर्तन किया करते हैं। इससे उनका परम विनोदित्व सूचित हुआ।

भगवान् का स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्य लेकर ही उनकी भगवत्ता है। "भगवांस्ताव दसाधारण स्वरूपैश्वर्यस्तत्वविशेषः।" अर्थात् असाधारण स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्यमय तत्वविशेष का नाम भगवान् है। "तत्र स्वरूपं परमानन्दः, ऐश्वर्यमसमोर्द्धानन्तस्वाभाविकप्रभुता, माधुर्यमसमोर्द्धतया-सर्वमनोहरं स्वाभाविक-रूपगुणलीलादिसौष्ठवम्।" (भा. 10/12/11 श्लोक की लघुतोषणी टीका) अर्थात् भगवान् का परमानन्द ही उनका स्वरूप है, असमोर्द्ध अनन्त स्वाभाविक प्रभुता ही उनका ऐश्वर्य है, असमोर्द्ध सर्वमनोहर स्वाभाविक रूप, गुण, लीला की सुचारुता ही उनका माधुर्य है। व्रजेन्द्रनन्दन परिपूर्णतम स्वयं भगवान् हैं। "स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण परतत्व। पूर्णानन्द पूर्णज्ञान परममहत्व।।" (चै. च.) अतएव स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्य ये तीनों ही उनमें परिपूर्णतम हैं। "वृन्दावने साहजिक जे सम्पदसिन्धु ! द्वारका वैकुण्ठेर सम्पद तार एक बिन्दु।।" (चै. च.) श्रीकृष्ण के अन्य धामों की लीला थोड़ी-बहुत ऐश्वर्यमिश्रित है। व्रजलीला शुद्धमाधुर्यमय है। यहाँ सर्वाधिक ऐश्वर्य रहने पर भी वह माधुर्य से आवृत है। किसी विशाल सरोवर की अगाध जलराशि शैवाल से आवृत्त होने पर जल दिखाई नहीं देता, बाहर शैवाल (काई, सेवार) ही दिखाई पड़ता है। शैवाल को थोड़ासा हटाते ही जल दिखाई दे जाता है। उसी प्रकार वृन्दावन का सर्वाधिक ऐश्वर्य माधुर्य-शैवाल से ढका है। लीला में इस अचिन्त्य ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति होती है, फिर भी माधुर्य ज्ञानसम्पन्न व्रजपार्षद अपने प्रेम के अनुरूप धारणा में लीलामाधुर्य ही, ग्रहण करते हैं। अतएव यहाँ 'भूति' से लीलामाधुरी ही समझी होगी।

अथवा यहाँ 'भूति' का अर्थ है सौन्दर्य। अचलभूति अर्थात् श्रीकृष्ण का निश्चल अपार सौन्दर्य। जिनके सौन्दर्य पर चराचर मुग्ध है। "असमोर्द्धरूप-श्रीविस्मापितचराचरः" (भ.र.सि.) प्राकृत रूप देखते-देखते वितृष्णा जगती है, आनन्दघन श्रीकृष्ण का सौन्दर्य नित्य नव उल्लासमय है। अन्य की बात दूर रही, श्रीकृष्णरूप तो उनके स्वयं के मन में भी विस्मय जगाता है। "विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्" (भागवत) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य भुवनभर के समस्त प्राणियों के लिये और स्वयं के लिये भी विस्मय-उत्पादक है, सर्वसौन्दर्य का सार और भूषणों का भी भूषणस्वरूप

है। विशेषत: गोपिकाओं का श्रीकृष्णरूप-अनुराग अति अद्‌भुत है।

"हरि-मुखचन्द्र सुधारस-लहरी, किरणहि भुवन उजोर।
तिरपित चाहि चकोरिणि कामिनी लोचन निशि दिशि भोर।।
सजनि ! अब हाम ना बुझि विधान।
अतिशय आनन्दे विघिन घटाओलो हेरिइते झरये नयान।।
दारुण दैव कयल दुहुँ लोचन ताहे पलक निरमाइ।
ताहे अति हरिषे ए दुइ दिहि पूरल कैछे हेरब मुख चाइ।।
ताहे गुरु दुरुजन लोचन कण्टक संकट कतहुँ विथार।
कुलवति-वादविवाद करत कत धैरज-लाज-विचार।।
सबहुँ उपेखि जाइ वन पैठब कानु-गीमे करि हार।
निरजने राति-दिवस सुखे हेरब एहि दढ़ायलुँ सार।।
कि करब आन धरम करम जत जीवनहीन जनु देह।
गोविन्ददास भण मनमथ मोहन मिलने किये करु केह।।"

गायों को 'वनचर:' कहा गया है। जो वन-वन विचरण करें वे ही वनचर ! इससे गायों की अदृश्यता सूचित हुई। वन में चरते-चरते वे दूर निकल गई हैं। गिरितट शिलामय और ऊँचा-नीचा प्रदेश है, वहाँ गायें चर रही हैं। इसलिये वे परिश्रान्त भी हो गई हैं, 'वनचर' शब्द के प्रयोग से वह भी सूचित हुआ। अतएव श्रीकृष्ण वेणु से उनका आह्वान कर रहे हैं। गोपाल चूड़ामणि ! तभी तो वे गायों को आह्वान करने में अति निपुण हैं। वे वेणु में गायों के नाम रख-रख कर बुला रहे हैं - हे माति ! हे मल्लिके ! हे वासन्ति ! हे यूथिके ! कौन कहाँ हो ? तुम सब दौड़कर आओ। वृन्दावन की लताओं के नाम पर गायों के नाम हैं, श्रीकृष्ण उनके नाम ले-लेकर पुकार रहे हैं। वनलतायें सोचती हैं श्रीकृष्ण हमें ही बुला रहे हैं। यद्यपि वे वन्य (जंगल की) हैं, लतायें हैं, विदग्धता आदि से रहित हैं, तथापि वे वेणुरव से पुलकित हैं। लताओं की तरह वृक्ष भी वेणुरव से भावाविष्ट हैं, प्रेमयुक्त पुलकित हैं। सामान्यत: लोग तरुलता कहा करते हैं, लतातरु नहीं, किन्तु ये (गोपबालायें) पहले लताओं के नाम ही ले रही है, कारण - वे स्त्रीजाति हैं, अपने तुल्य हैं। तरुओं की अपेक्षा उनकी प्रधानता है, इस आशय से सर्वत्र ही श्रीकृष्ण-वेणु का आकर्षण स्त्रीजाति के प्रति सबसे अधिक है।

'आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव' - अपने भीतर प्रकाशमान विष्णु को व्यक्त कर। जो सर्वत्र स्फुरित हैं और व्यापक रूप से प्रकाशशील हैं, वे श्रीकृष्ण ही यहाँ 'विष्णु' हैं। वही वेणुवादनशील आनन्दरसविग्रह श्रीकृष्ण ही उनके भीतर स्फुरित हो रहे हैं। उनकी भावपरवश चेष्टाओं में वही

प्रकाशित हो रहे हैं। वे मधुधारा वर्षण के बहाने अश्रु और अंकुर उद्‌गम के बहाने आनन्दपुलक प्रकट कर रहे हैं। वेणुरव जङ्गम को स्थावर का, और स्थावर को जङ्गम का धर्म प्राप्त कराता है, यह बात प्रसिद्ध ही है - ''अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम''। वन की लतायें और वृक्ष 'पुष्पफलाढ्याः', पुष्प-फलादि से समृद्ध हैं।

''यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ।।''

(भा. 5/18/12)

'जो भगवान् में अकिञ्चन या निष्काम भक्ति रखते हैं, उनमें देवता समस्त गुणों के साथ नित्य वास करते हैं। जिस व्यक्ति की श्रीहरि में भक्ति नहीं, उसमें महद्‌गुण कहाँ ? वह तो सदा मनोरथ द्वारा असत् पथ या अनित्य विषयसुख आदि की ओर दौड़ता है।' यहाँ गुण का अर्थ है ज्ञान वैराग्य आदि, देवता का अर्थ है भगवत् पार्षद ! मुनिगण, यहाँ तक कि भगवान् तक, सभी सद्‌गुणों के साथ हरिभक्त के अधीन होकर वास करते हैं फिर -

''सर्वं मद्‌भक्तियोगेन मद्‌भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ।।''

(भा 11/20/33)

भगवान् ने उद्धव जी से कहा - 'मेरा भक्त भक्ति योग द्वारा तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दानधर्म आदि का फल अनायास ही प्राप्त कर लेता है। यद्यपि मेरे भक्त को किसी प्रकार की वाञ्छा नहीं होती, तथापि वह यदि कभी प्रार्थना करता है, तो स्वर्ग मोक्ष, यहाँ तक कि, वैकुण्ठ लोक को भी पा लेता है।'

इस प्रमाण के अनुसार व्रज की वृक्षलतायें सभी प्रकार से साध्य-साधनसम्पन्न है, फिर भी 'प्रणतभारविटपाः' वे श्रीकृष्ण के दर्शन कर परितृप्त नयनों से फल-पुष्पों के भार से नत होकर चतुः सनादि की तरह प्रणत हैं। 'प्रणतभारविटपाः' यह विष्णु के प्रकाश का लक्षण है। उन सबकी शाखायें हाथों की तरह पूजा-उपकरण पुष्प-फल आदि के भार से नम्र हैं। वे सब प्रेम से हृष्टतन हैं, अंकुर-उद्‌गम उनका पुलक है और मधुधारा ही प्रेमाश्रुधारा-वर्षण है। समकालीन लोगों में अपने वृत्तान्त से भगवत् प्रेम का विस्तार कर रहे हैं।

कृष्ण के भक्त पुष्पतुल्य रूप, जाति, धन, ऐश्वर्य से और फलतुल्य पुत्र आदि से युक्त होकर

... अथवा पुष्पतुल्य अर्थवाद (प्रशंसा वाणी) समृद्ध वेदाध्ययन और उसमें बताये कर्माचरण से, फल अर्थात् ऐहिक-पारलौकिक सुखसम्भोग से युक्त होकर भी विनय-दैन्य आदि गुणों से सदा ही नम्र रहते हैं। उसी प्रकार वृक्ष भी पुष्प-फलों के भार से नम्र हैं। वे विष्णुदेव को, अर्थात् सदा भीतर-बाहर और अखिल इन्द्रिय आदि में व्यापक अपने भीतर देदीप्यमान भगवान् को यत्नपूर्वक गुप्त रखते हैं, फिर भी श्रीकृष्ण के सखाओं से उनका यशोगान् सुनकर प्रेमविशेष के उदय होने से भाव-संवरण करने में असमर्थ होकर अंकुर उद्गम के बहाने पुलक से भर उठे हैं और मधुधारा वर्षण के बहाने प्रेमाश्रुधारा का वर्षण कर रहे हैं। (वृहत और लघुतोषणी टीकाओं का तात्पर्य)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कहते हैं, श्रीकृष्ण के वेणुनाद से नदियों के भावावेश की बात सुनकर एक अन्य गोपी ने कहा - सखियों ! यमुना मानसगङ्गा आदि नदियाँ तो चेतन और अनादिसिद्ध देवियाँ हैं। श्रीकृष्ण का मोहन वेणु सुनकर उनमें तो भावावेश हो ही सकता है। अचेतन वृक्षलतायें अति निकृष्ट हैं, सघजात हैं, वेणु श्रवण कर उनकी जो रसिकता है, उसे देखो। अनुचर सखा कृष्ण की वनविहारलीला का कीर्तन कर रहे हैं आदिपुरुष नारायण के तुल्य कृष्ण की निश्चल श्री है, फिर भी वनचरों या वन्यजीवों के प्रति अनुराग रखते हैं। जैसे गृहस्थ वैष्णव अपनी स्त्री के साथ संकीर्तन-श्रवण से भाववन्त होकर प्रणाम करता है, वैसे ही स्वामी-स्त्री की तरह ये तरु-लतायें श्रीकृष्णगुणगान सुनकर भाववन्त होकर प्रणाम कर रही हैं। उनके मन में विष्णु स्फुरित हो रहे है, इस बात का ज्ञापन कर वे अश्रुओं की तरह मकरन्द-धारा बरसा रही हैं। 'ववृषु शब्द से अश्रुओं का आधिक्य सूचित हुआ है।

'पुष्पफलाढ्याः' इन तरुलताओं में 'हर्ष' सञ्चारी भाव विद्यमान है कुसुम-विकास के रूप में, और स्थायी भाव श्रीकृष्णरति विद्यमान है फलों के रूप में - यह बात भी ज्ञापित होती है। इनकी शाखाप्रशाखा कुसुम-फल आदि के भार से अवनत या प्रणत है - इससे अनुभाव सूचित हो रहा है। ये सब प्रणत होकर प्रेमहृष्ट तन से अंकुर प्रकट कर रहे हैं - यह उनका सात्विक भाव है। ये इसी प्रकार भगवत् रसास्वादन कर रहे हैं।

"विभाव अनुभाव सात्विक सञ्चारी ।
स्थायीभाव रस हय मिलि एइ चारि ।।"

(चै. च. मध्य. 23)

महाभागवत के लक्षणों में गोपियों का यह उक्ति-श्लोक उदाहरण के रूप में प्रयोग किया गया है। श्रीमदभागवत (11/2/45) में महाभागवत के लक्षण-प्रसङ्ग में लिखा है -

"सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।"

अर्थात् जो सभी भूतों में अपने उपास्य भगवान् की विद्यमानता देखता है और भगवान में भी सभी प्राणियों को देखता है, अथवा जो सभी प्राणियों को अपने प्रेम के अनुरूप प्रेमयुक्त रूप से उन्हीं भगवान् में देखता है, जो स्वयं के चित्त में स्फुरित होते हैं - वही भागवतोत्तम है। इसी श्लोक की टीका में श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने व्रजदेवियों की उक्ति यह श्लोक प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। श्रीगन्महाप्रभु श्रीरामानन्द राय को महाभागवत के लक्षण बताते हुए उल्लिखित श्लोक पढ़ते हैं और व्रजदेवियों की उक्ति यह श्लोक ही दृष्टान्त के रूप में रखते हैं। महाभागवत के लक्षणों की पराकाष्ठा व्रजदेवियों में ही प्रकाशित है ।। 8-9 ।।

**दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्ध तुलसीमधुमत्तैः।**
**अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमादियन यर्हि सन्धितवेणुः।। 10।।**
**सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।**
**हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः।। 11।।**

---

**अन्वयः** - हन्त (खेदे) दर्शनीय तिलकः (द्रष्टुं योग्यः मनोहरः तिलकः यस्य सः) वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः (वनमालासु या दिव्यगन्धा तुलसी तस्याः मधुना मत्तैः) अलिकुलैः अलघु (उच्चैः) अभीष्टं (अनुकूलं) गीतम् आदियन् (आदरेण गृन्हन्) यर्हि (यदा) सन्धितवेणुः (सम्यग्धृतवेणुः भवति तदा) सरसि (सरोवरे) चारुगीतहृतचेत सः (चारुणा गीतेन हृतं चेतः येषां ते) सारसहंसविहङ्गाः एत्म (आगत्य) धृतमौनाः मीलितदृशः यतचित्ताः ते हरिम् उपासत ।। 10-11 ।।

**अनुवाद**- अति मनोहर तिलक से विभूषित, सुन्दरशेखर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी वनमाला की दिव्यगन्धमयी तुलसीमञ्जरी के मधु के लोभ से मत्त भौरों का उच्च लेकिन अनुकूल गीत-गुञ्जन

सादर श्रवण कर अपने अधर पर मुरली रखते हैं, तो सरोवर में विहार करते सारस-हंस आदि पक्षी उस मनोहर वेणुगीत से हृतचित होकर श्रीहरि के निकट आकर मौन धारण कर अर्द्धनिमीलित नेत्रों से, संयतचित्त से उनकी उपासना किया करते हैं ।। 10-11 ।।

गीतामृतलेश टीका —

श्रीकृष्ण ने इससे पूर्व मल्लवेश धारण कर मल्ललीला की है। तत्पश्चात् सखाओं का गायन सुना और वनभ्रमण आदि लीलायें कीं। अब मध्यान्ह में थक कर किसी महासरसी में सखाओं के साथ स्नान, जलक्रीड़ा के पश्चात् तिलक धारण किया है। सखाओं ने नाना प्रकार के वनपुष्प और तुलसी चयन कर वनमाला प्रस्तुत कर श्रीकृष्ण के गले में पहना दी है। अब वे सखाओं के साथ फलमूल आदि से वन्यभोजन कर सरसीतट पर उच्च स्थान पर एक विशाल वृक्ष के नीचे सुशीतल शिलाखण्ड पर आ बैठे हैं। सखा रौद्रप्रतप्त (धूप से तपी) गायों को सुशीतल तरुछाया में लाने के लिये चले गये हैं। श्रीकृष्ण ने अपनी नवीन वनमाला की गन्ध से आकृष्ट भ्रमरो का गुञ्जन-गायन सुनकर उसी वेणुवाद्य-विनोदी अधरकिशलय पर मुरली रखकर वेणुवादन आरम्भ कर दिया। एक गोपबाला कहती है - सखियों ! वृन्दावन की विश्वस्त तरु-लताओं की बात छोड़ो, विपरीतधर्मी पक्षीजाति, जिसका स्वभाव है आदमी को देखते ही डरकर उड़ भागना - वेणुनाद पर उसके भावावेश की बात सुनो।

गोपबाला आरम्भ में ही कहती है - 'दर्शनीयतिलकः' जिनके ललाट-फलक पर सदा दर्शनयोग्य अत्यन्त मनोहर तिलक शोभा पाता है। "दर्शनीयो वैष्णवप्रवर श्रीनन्दात्मजत्वेन गौरिकादिना सुनिर्माणात् सुन्दरस्तिलक ऊर्द्धपुण्ड्रं यस्य सः" (वृहत् तोषणी टीका) वैष्णवप्रवर श्रीनन्द महाराज के आत्मज। माता-पिता ने उन्हें भागुरी मुनि से श्रीनारायण-मंत्र से दीक्षित कराया है। इसलिये वे गैरिक आदि से अति सुन्दर ऊर्द्धपुण्ड्रतिलक करते हैं ललाट के उसी तिलक का व्रजरामाओं के लिये सबसे अधिक आकर्षण है।

"ललाटे चन्दन पाँति, नवगोरोचना काँति,
तार माझे पुनमिक चाँद।
अलकावलित मुख, त्रिभङ्ग-भङ्गिम रूप,
कामिनीगणेर मन फाँद।।"

(ज्ञानदास)

"को देइ चन्दन, तिलक बनाओल,
सो भेलो हृदयक फाँद।

बलरामदास कह, अब आर ना रह,
कुलजा कुल-मरियाद।।''

इत्यादि

''दर्शनीयतिलकः'' शब्द की अन्य व्याख्या में श्रील श्रीधरस्वामिपाद ने लिखा है - ''दर्शनीयानां सुन्दराणां मध्ये मुख्य इति वा'' अर्थात् दर्शनीय सुन्दरगण में जो मुख्य या श्रेष्ठ हैं। कौन रूप दर्शनीय या सुन्दर है ? विश्व के सभी रूप पाञ्चभौतिक हैं, क्षण-क्षण में परिणाम (ह्रास, परिवर्तन आदि) को प्राप्त करने वाले और नष्ट होने वाले। देवताओं ने अमृतपान से अमरत्व प्राप्त किया है, उन्हें स्थिरयौवन कहा जाता है, किन्तु वह भी पाञ्चभौतिक है, नाश होने वाला है। वे सब देहें भी प्राकृत हैं। भगवद्विग्रह ही अप्राकृत, सच्चिदानन्दमय और नित्यकिशोर है। भगवत् स्वरूप का सौन्दर्य समान रूप से नित्य विद्यमान है। भगवत्स्वरूपों के वे सभी रूप देव, मानव, मुनि ऋषि सभी के दर्शनीय, सभी के चित्ताकर्षक हैं। किन्तु उन अनन्त दर्शनीय भगवत् स्वरूपों में वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही 'दर्शनीय तिलक' या दर्शनीय श्रेष्ठ हैं। ऐसे अधरबिम्ब में मधुर, अमृतनाद में शिशिर, दृष्टिपात में शीतल, अरुण नेत्रों में विपुल, वेणुनाद में विश्रुत - मरकतमणि किशोरशेखर व्रजेन्दनन्दन ही दर्शनीय भगवत् रूपों में मुख्य हैं। ऐसा दर्शनीय रूप कि द्रष्टा निश्चय नहीं कर पाता कि वह क्या देख रहा है !

''किबा एइ साक्षात् काम,
द्युतिबिम्ब मूर्तिमान,
कि माधुर्य स्वयं मूर्तिमन्त।
किबा मनो-नेत्रोत्सव,
किबा प्राण-बल्लभ,
सत्य कृष्ण आइला नेत्रानन्द।।''

उस दर्शनीय-श्रेष्ठ श्रीकृष्णरूप का सभी कुछ आश्चर्यजनक है -

''चित्रं तदेतच्चरणार विन्दं
चित्रं तदेतन्नयनारविन्दम्।
चित्रं तदेतद्वदनारविन्दं
चित्रं तदेतद्वपुरस्य चित्रम्।।''

(श्रीकृष्णकर्णामृतम - 89)

'उनके चरणारविन्द आश्चर्यजनक हैं, नयनारविन्द अति अद्भुत हैं, वदनकमल अत्यन्त विस्मयजनक है, उनका श्रीअङ्ग अद्भुत से भी अति अद्भुत है।' माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण में असीम वैचित्र

की पराकाष्ठा है। अनुरागी भक्त जब उनका रूप दर्शन करता है, तो अति आश्चर्य की तरह ही देखता है। यह आश्चर्य विस्मय नहीं जगाता, असीम आनन्द सिन्धु को उच्छ्वलित करता है। तब भक्त के आगे समस्त विश्व ही आनन्दमय या मधुमय प्रतिभात होता है; जड़जगत् मधुर, चित् जगत् मधुर, मधुर कृष्ण, अनन्त मधुर –

"मधुर हैते सुमधुर, ताहा हैते सुमधुर,
ताहा हैते अति सुमधुर।
आपनार एक कणे, व्यापे सब त्रिभुवने,
दशदिके बहे जार पूर।।"

(चै. च.)

फिर व्रजबाला का श्रीकृष्ण-रूपानुराग अत्यन्त विलक्षण है –

"कि रूप हेरिनु, मधुर मूरति,
पिरिति रसेर सार।
हेनो मने लय, ए तिन भुवने,
तुलना नाहिक तार।।
बड़ो विनोदिया, चूड़ार टालनि,
कपाले चन्दन-चान्द।
जिनि विधुवर, वरण सुन्दर,
भुवनमोहन-फान्द।।
"नव जलधर, रसे ढर ढर,
वरण चिकण काला।
अङ्गेर भूषण, रजत काञ्चन,
मणि-मुकुतार माला।।
जोड़ भुरु जेनो, कामेर कामान,
केना कैलो निरमान।
तरल नयने, तेरछ चाहनि,
विषम कुसुम-वाण।।"

श्रीकृष्ण की वनमाला में पिरोयी हुई है दिव्यगन्ध से भरी तुलसीमञ्जरी, जिसके लोभ से

प्रमत्त भ्रमर उच्च किन्तु अनुकूल गीतगुञ्जन कर रहे हैं। उस गुञ्जन को सादर श्रवण कर श्रीकृष्ण ने अपने अधर पर मुरली रखी। उनकी वनमाला में कमल, मालती, मल्लिका, नागकेशर आदि महासुगन्धी पुष्प हैं, पर तुलसी की दिव्य गन्ध से भ्रमर प्रमत्त होकर दौड़े आ रहे हैं। इससे समझा जाता है कि सभी प्रकार के सुगन्धी पुष्पों की तुलना में तुलसीमञ्जरी का सौरभ कहीं अधिक और अतिशय उन्मादक है। इस विश्व में तुलसीमंजरी का वह सौरभ अनुभूत नहीं होता। कारण यह है वह गन्ध दिव्य या अप्राकृत है। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है – ''दिव्य गन्धेति स्वरूपमात्रेति निदेशः'' यह दिव्य गन्ध ही तुलसीजी की स्वरूपभूत गन्ध है। प्राकृत विश्व के नरनारियों की नासिका में उस दिव्य सौरभ की उपलब्धि सम्भव नहीं। एकमात्र अप्राकृत लोक में ही उस सौरभ का प्रकाश होता है। प्राकृत विश्व में योगमाया उस सौरभ को आवृत किये रखती हैं, कारण – विष्णुप्रिया भगवती तुलसी महारानी श्रीहरि की सेवा को छोड़ अन्य कार्य में व्यवहृत नहीं होतीं। यदि वह दिव्य सौरभ प्राकृत जगत् में प्रकाशित हो जाय, तो संसार के भोगी लोग अन्य पुष्पों को त्यागकर तुलसी का ही अपने भोग (विलास) में व्यवहार करेंगे। यह श्रीहरि और उनके चरणों में समर्पित प्राण तुलसी महारानी नहीं चाहते। इसलिये प्राकृत विश्व में तुलसी की उस स्वरूपभूत गन्ध की उपलब्धि नहीं होती। उसकी अनुभूति अप्राकृत लोक में ही जगती है। वैकुण्ठवर्णन प्रसङ्ग में देखते हैं –

**''मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण**
**पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।**
**गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन**
**तस्या यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ।।''**

(भा. 3/15/19)

'उस वैकुण्ठ के वन में मन्दार, पारिजात, कुन्द, कुरबक (तिलकपुष्प), चम्पक, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, उत्पल आदि पुष्प स्वयं सौरभयुक्त होते हुए भी तुलसीभूषण भगवान् को तुलसी की गन्ध से अर्चित देख तुलसी की तपस्या को ही बड़ा मानते हैं।'

रासलीला में श्रीकृष्ण राधारानी के साथ अन्तर्हित हो गये, तो व्रजदेवियों ने उन्मादिनियों की तरह वृक्षों से श्रीकृष्ण के विषय में पूछा था। वहाँ भी तुलसी की गन्ध से भौंरों की मदान्धता की बात देखी जाती है –

**''बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो**
**रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।**
**अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं**

किंवाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ।।''

(भा. 10/30/12)

'हे वृक्षो ! अपनी प्रिया के स्कन्धदेश पर बायीं भुजा रखे और दायें हाथ में लीलाकमल धारण किये, तुलसीमञ्जरी के मधुपान में मत्त भौंरों से घिरे रामानुज (श्रीकृष्ण)) ने यहाँ आकर सप्रेम दृष्टिपात करते हुए क्या तुम्हारा प्रणाम-अभिनन्दन किया है ?'अतएव यह समझ में आता है कि विष्णुप्रिया तुलसी का सौरभ अपूर्व है, भ्रमरकुल का उन्मादक है।

व्रजबाला ने कहा - अरी सखियों ! तुलसीमञ्जरी के सौरभ से मत्त हुए भृङ्गों का गुञ्जन श्रवण कर आनन्द से भरकर श्रीकृष्ण ने अधर पर वेणु-विन्यास किया। सन्धितवेणु का अर्थ है - श्रीकृष्ण के अधरों से संयोग होते ही वेणु स्वयं गायन करता है। इससे अधरसुधा का परम मोहनत्व सूचित हुआ। राधाभावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु का प्रलाप है -

''अधरामृत निजस्वरे, सञ्चारिया येइ बले,
आकर्षये त्रिजगतेर मन।
आमरा धर्मभय करि, रहि जदि धैर्य धरि,
तबे आमाय करे विड़म्बन।।
नीवि खसाय गुरु आगे, लज्जा-धर्म कराय त्यागे,
केशे धरि जेनो लइया जाय।
आनि करे तोमार दासी, शुनि लोके करे हासि,
एइमत नारीरे नाचाय।।''

(चै. च. अन्त्य0 16)

सरोवर के हंस-सारस आदि पक्षी श्रीकृष्ण के मनोहर वेणुगीत से हृतचित्त होकर उनके निकट चले आते हैं। यहाँ सरोवर में विचरने वाले चक्रवाक आदि सभी पक्षी समझने होंगे। हंस और सारस का विशेषरूप से उल्लेख इसलिये किया गया है कि वे सरोवर में प्रायः विहार किया करते हैं। श्लेषार्थ में यह भी व्यञ्जित हुआ है कि जो भक्ति नामक सरस वस्तु के सम्बन्धी हैं, वे ही 'सारस' हैं और जिनमें नीर-क्षीर को अलग करने की या गुण-दोष का विचार करने की शक्ति है, वे ही 'हंस' हैं। वही हंस-सारस आदि सरोवरचारी पक्षी श्रीकृष्ण का सर्वचित्ताकर्षक वेणुनाद सुनकर अपने अनन्त सुखविहारपरायण चित्तहर हरि श्रीकृष्ण के निकट प्रेमयुक्त अलस गति से आकर उनकी उपासना करते हैं। 'यताचित्ता' 'मीलितदृशः' एवं 'धृतमौनाः' - इन तीन विशेषणों द्वारा उनके हृतचित्तत्व का लक्षण

और उपासना का प्रकार बताया गया है। इन विशेषणों से हंस-सारस आदि पक्षियों की कृष्णेतर अन्तरिन्द्रिय एवं बहिरिन्द्रिय वृत्तियों का उपरम और श्रीकृष्णैक निष्ठा बताई गई है। 'मीलितदृशः' या 'निमीलित नयन' (बन्द आँखें) ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण में कहा गया है। अर्थात् चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका और त्वक - इन पाँच ज्ञानेन्द्रिय वृत्तियों का उपरम (त्याग निवृत्ति) समझा जाता है। 'धृतमौनाः' 'मौन धारण कर' इससे वागेन्द्रिय के उपलक्षण से कर्मेन्द्रियों का भी अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ - इन सबकी वृत्तियों का उपरम जाना जाता है। इसी प्रकार पक्षियों की तन-मन-वाक्य की वृत्तियों का उपरम समझ में आया। इसके पश्चात् वे परम प्रेम के आविर्भाव से मोहित हुए, यही कहा गया है - 'हृतचित्ता' जिनके चित्त उपरत (कृष्ण को छोड़ अन्य सभी विषयों से निवृत्त, हटे हुए) या लीन (एकमात्र कृष्ण में लगे) है। इससे उनका मोहलक्षण समझ में आता है। श्रीकृष्ण मत्त अलिकुल के गीत का आदर कर रहे हैं, इसलिये सरसी-निवासी सारस आदि पक्षी उन्हें परम दीनवत्सल जानकर सौभरी आदि जलनिवासरत मुनियों की तरह उनके निकट आये। अथवा, भौंरों के गीत-गुञ्जन से भरे मृदुमन्द वेणुगीत को सुनकर श्रीकृष्ण के पक्षीविषयक पक्षपातित्व या करुणा का मनन कर परम प्रीति के साथ उनके निकट आये और उनका सौन्दर्य देखकर प्रेम से विमोहित हो गये।

श्लेषार्थ से यह भी जाना जाता है कि सर्वस्व अपहरण करने वाले व्यक्ति को पहचान लेने पर उसे प्राप्त करके भी उस महाधूर्त की भङ्गिमा देखकर हृतसर्वस्व (लुटा-ठगा) व्यक्ति कुछ कह नहीं पाता, कर नहीं पाता। बस भय और विस्मय से अभिभूत होकर आँखें बन्द किये उसके निकट रहता है। पक्षियों की भी वैसी ही अवस्था जाननी होगी। (श्रीलसनातन गोस्वामिपाद की वृहद् तोषणी टीका का अभिप्राय) ।। 10-11 ।।

**सहबलः भ्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।**
**हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्।। 12।।**

**महदतिक्रमण शंकितचेता मन्दमन्दमनु गर्जति मेघः।**
**सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभिश्छायया च विदधत् प्रतपत्रम्।। 13।।**

**अन्वयः** – व्रजदेव्यः (हे गोप्यः !) सहबलः (सहरामः श्रीकृष्णः) स्रगवतंसविलासः (स्रगाभनिर्मिताभ्यां कर्णभूषाभ्यां विलासः यस्य सः) क्षितिभृतः (गोवर्द्धनपर्वतस्य) सानुषु (तटभूमिषु) जातहर्षः यर्हि (यदा) विश्वं हर्षयन् वेणुरवेण उपरम्भति (निनादयति नादेन पूरयति तदा) मेघः महदतिक्रमण- शंकितचेताः (श्रीकृष्णस्य अतिक्रमणे शंकित चेतः यस्य सः) अनु (वेणुरवम् अनु) मन्दमन्दं गर्जति छायया प्रतपत्रं (छत्रं) विदधत सुमनोभिः (पुष्पतुलैः) हितकणैः सुहृदम् (श्रीकृष्णम्) अभ्यवर्षत् ।। 12-13 ।।

**अनुवाद**- अरी गोपियो ! बलदेव के साथ श्रीकृष्ण जब माल्य और कर्ण भूषण आदि से भूषित होकर गोवर्द्धन के सानुप्रदेश (तलहटी) में विश्व को आनन्द देने के लिये वेणुरव से जगत् को परिपूरित करते हैं, तो मेघमाला श्रीकृष्ण का अतिक्रमण करने में डरती है, वेणुध्वनि का अनुसरण करती मृदुमन्द गर्जन करती है। वे मेघ अपने सुहृत् (मित्र) श्रीनन्दनन्दन के सिर के ऊपर छायाछत्र की रचना कर कुसुम की तरह हिमकण बरसाते हैं। अथवा मेघों की ओट से देवता पुष्पवर्षण करते हैं ।। 12-13 ।।

**गीतामृतलेश टीका** —

श्रीकृष्ण के सखा वन में जी भरकर पल-पल पर उन्हें नाना प्रकार की वेशभूषाओं से सजाया करते हैं। मध्यान्ह थोड़ा निकल गया है। उन सबने पुष्पमालायें और कर्णभूषण आदि बना कर श्रीकृष्ण को विचित्र वेशभूषा से भूषित किया। तत्पश्चात् श्रीबलदेव और सखाओं के साथ श्रीकृष्ण श्रीगोवर्द्धन के सानुप्रदेश या तलहटी से लगे समतल भूभाग में गायों के लिये भ्रमण करने लगे। धूप ताप से सबको क्लान्त देखकर श्रीकृष्ण मेघों की छाया की इच्छा से वेणु पर मल्लार राग अलापने लगे। उस रागने गिरिराज गोवर्द्धन की एक चोटी से दूसरी चोटी तक प्रतिध्वनित होकर मेघलोक में एक अति अद्भुत आनन्द-हिल्लोल की सृष्टि कर दी, कारण - एक तो मल्लार राग सुनकर आनन्दपूर्वक मेघ आकाश में उदित होकर वर्षण आरम्भ कर देते हैं, ऊपर से श्रीकृष्ण अपने जगदाकर्षक वेणु पर यह राग अलाप रहे हैं, और फिर गोवर्द्धन के शृङ्ग-शृङ्ग पर प्रतिध्वनित होकर इस राग ने मेघों में एक अपूर्व आनन्द-लहरी जगा दी कि मेघमाला आनन्द से मृदुमन्द गर्जन करती-करती आकाश में आ निकली। एक तो श्रीकृष्ण की महामधुर जगत् चित्ताकर्षक वेणुध्वनि, फिर गिरिराज के शृङ्ग-शृङ्ग पर उसकी गुरुगम्भीर प्रतिध्वनि, ऊपर से मेघमाला की मन्दमधुर गर्जनध्वनि - यह सब मिलकर एक ऐसी तुमुल आनन्दध्वनि की सृष्टि हुई कि उन सबने उस रव से स्वयं आनन्द प्राप्त किया, जगत् को भी आनन्दित किया। इस अपूर्व

आनन्दनाद को सुनकर देवता मेघों के अन्तराल में रहकर श्री कृष्ण, बलदेव और सखाओं के ऊपर पुष्प-वृष्टि करने लगे। अथवा, मेघ सखाओं सहित श्रीकृष्ण-बलदेव की शीतलता के लिये कुसुमतुल्य हिमकण बरसाने लगे। यह देखकर परमानन्द से श्रीकृष्ण, बलदेव और सखा विहार करने लगे – इस लीला की स्फूर्ति से कोई गोपसुन्दरी बोली – हे व्रजदेवियों ! श्रीकृष्ण के वेणुनाद से पृथक् पृथक् एक-एक कर स्थावर-जङ्गम के आनन्द की बात क्या बता रही हो, सारे विश्व का ही आनन्द देखो न ! फिर अन्य की क्या बात, वह देखो, आकाश के मेघ जो इतनी दूर हैं और अचेतनस्वभाव हैं, देखो, उन मेघों का आनन्द देखो ! ये मेघ अपने वर्ण, गुणों और चेष्टाओं को लेकर स्वयं को श्रीकृष्ण का सखा ही समझ रहे हैं !!

श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति नवजलधर की तरह है। मेघ वारिवर्षण द्वारा रवि-ताप से तप्त धरणी को शीतल करते हैं; श्रीकृष्ण भी अपने लीलामृत-वर्षण से संसारताप-तप्त जीवों को चिरशीतल करते हैं। जैसे मेघ मन्द मधुर गर्जन कर पिपासित चातक को आनन्द देते हैं, वैसे श्रीकृष्ण भी अपने वंशीनाद से भक्तों को परमानन्द प्रदान करते हैं। अतएव वर्ण, गुण और चेष्टा की समानता के कारण मेघ स्वयं को श्रीकृष्ण का सखा समझते हैं।

हे वृजदेवियो ! तुम सब इस व्रज में या व्रज की भी पूज्य हो, इस बात से तुम लोगों की परम वैदग्धी का पता चलता है। अथवा श्रीकृष्ण हैं व्रजदेव, तुम लोग उनकी प्रिया हो, इसलिये तुम सब व्रजदेवी हो। तभी तत्वतः वेणुवादन आदि तुम्हारे आनन्द के लिये ही है। व्रजदेवियों को छोड़ कर स्वर्ग की देवियों अथवा वैकुण्ठ की कमला आदि देवियों को ये व्रजदेव प्रिया के रूप में अङ्गीकार नहीं करते, कारण – ''गोपजाति कृष्ण – गोपी प्रेयसी ताँहार। देवी या अन्यस्त्री कृष्ण ना करे अङ्गीकार।।'' (चै. च.)

इन व्रजदेवियों के लक्षण अन्य प्रकार के हैं, जो अन्य किसी देवी में नहीं हैं। श्रीराधारानी 'देवी' (गौतमीयतंत्र) कैसी ? – ''देवी कहि द्योतमाना परमासुन्दरी। किम्बा कृष्णक्रीड़ापूजार बसति नगरी।।'' (चै. च.) जो द्योतमान हैं, वे देवी अर्थात् परम सुन्दरी हैं। यह सौन्दर्य महाभाव से उत्थित सौन्दर्य ही है, कारण – जो सौन्दर्य महाभावोत्थित नहीं है, उससे रसिकशेखर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को किसी प्रकार का सुख-उल्लास नहीं होता। वे ह्लादिनी के आनन्द को छोड़, अन्य आनन्द ग्रहण ही नहीं करते। वे अन्यत्र सर्वत्र उदासीन हैं, एकमात्र प्रीतिरस में ही उनकी प्रसन्नता है। इस आनन्द की जहाँ जितनी प्रचुरता है, वहाँ सौन्दर्य की भी उतनी अधिकता समझनी होगी। 'दिव्' धातु का एक अर्थ है 'क्रीड़ा'। इस क्रीड़ा अर्थ को लेकर एक अर्थ कर रहे हैं, 'दिव्यति क्रीड़ति अस्याम्' – इस अधिकरणवाच्य से देवीपद का अर्थ कर रहे हैं – 'कृष्णक्रीड़ापूजार बसति नगरी।' अन्यान्य प्रेयसियों में भी श्रीकृष्ण की

क्रीड़ा है, किन्तु उसका मूल अधिकरण हैं श्रीराधा! जैसे नगरी में भोगी व्यक्तियों के सभी प्रकार के भोगद्रव्य पाये जाते हैं, वैसे ही क्रीड़ारसिक श्रीकृष्ण शृङ्गाररस क्रीड़ा में जैसा आनन्द चाहते हैं, राधारानी स्वयं और अपनी कायव्यूहस्थानीय व्रजदेवियों के साथ उस आनन्दविषयक सभी कामनायें पूरी करती हैं। यहाँ तक कि जिस आस्वादन का संकल्प भी श्रीकृष्ण के हृदय में नहीं जगता ये देवियाँ उन्हें वह आस्वादन देकर भी उन्मत्त किये रखती हैं। अथवा, 'व्रजदेवी' का अर्थ होगा - तुम लोग व्रज में ही क्रीड़ापरायण हो, दिन में वन्यक्रीड़ा का सौभाग्य तुम्हारा नहीं है।

वेणुनाद सुनकर परमानन्द प्राप्त करके भी महद् अपराध के कारण मेघ शंकित हैं। उनके उच्च शब्द से श्रीकृष्ण की मधुर वेणुध्वनि ढक जाती है, दब जाती है - उन्हें यही अपराध-भय है। इसलिये वे मन्द-मन्द गर्जन करते है। फिर वे रहते हैं श्रीकृष्ण के मस्तक के ऊपर, इसलिये भी वे स्वयं को अपराधी समझते हैं। फिर भी वे श्रीकृष्ण बलदेव, उनके सखाओं और गायों को धूप-ताप से श्रान्त-क्लान्त जानकर उन्हें छाया प्रदान कर और वारि-वर्षण कर तृप्त-तुष्ट करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण उनके सुहृद् हैं। अथवा, अपराधी होकर भी उन्हें यह विश्वास है कि श्रीकृष्ण सु-हृद, परम सहृदय हैं, वे उनका वह अपराध ग्रहण नहीं करेंगे। इस लिये ये मेघ श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर 'अभ्यवर्षत्' विशेषरूप से पुष्पवर्षण या पुष्पतुल्य हिमकण-वर्षण करते रहते हैं। 'गर्जति' वर्तमान प्रयोग से पुनः-पुनः गर्जन समझ में आता हैं। 'सुमनोभिरभ्यवर्षत्' इस अतीत प्रयोग से यह समझ में आता है कि श्रीकृष्ण मेघों के सुहृद् हैं, तभी मेघों ने सपार्षद श्रीकृष्ण की शीतलता के लिये अपनी देह से आतपत्र या छत्र की रचना कर छाया की है।

'स्रगवतंसविलासः' इस अंश की व्याख्या में श्रीधरस्वामिाद ने लिखा है - ''स्रगभिनिर्मिताभ्यां अवतंसाभ्यां विलासो यस्य'' अर्थात् जिन्होंने माला से निर्मित कर्णभूषण धारण किये हैं। श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने श्रील स्वामिपाद की व्याख्या का आशय बताते हुए लिखा है - ''खण्डितनानावर्णपुष्पदल-रचितान्तरन्तः सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतम मण्डलमयीभिः श्रेणीभिरित्यर्थः।'' अर्थात् नाना रंगों के खण्डित पुष्पदलों से रचित, भीतर की ओर क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम मण्डल से युक्त अति मनोहर शिल्प द्वारा रचित हैं कर्णभूषण। जो ऐसे कर्णभूषणों से भूषित हैं। श्रीधर स्वामी ने एक अन्य अर्थ भी किया है - ''यद्वा मुक्ताफलस्रगापीड़ेन विलासोयस्य सः'' अथवा जो मुक्ताफल की माला से बने कुण्ड़ल आकृति के कर्णभूषणों से भूषित हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद की सारार्थदर्शिनी टीका का अभिप्राय यह है कि व्रजदेवियाँ वेणुरव से धरणीस्थित सभी का आनन्द वर्णन कर अब आकाशस्थित मेघों का आनन्द वर्णन कर रही हैं। श्रीकृष्ण माल्यरचित चूड़ा-आभरण, वक्ष-आभरण और कर्ण-आभरण से भूषित होकर श्री बलदेव और

सखाओं के साथ अतिशय शोभा पा रहे हैं। श्रीकृष्ण के वेणु का मल्लार राग सुनकर आकाश में मेघमाला उदित होकर देखती है कि श्रीगोवर्द्धन के तटपदेश में भी अपूर्व श्रीकृष्ण-नवजलधर का उदय हुआ है। वनमाला ही इस मेघ की वलाका श्रेणी (बगला-पंक्ति) है, पीताम्बर ही विद्युत है, वेणुध्वनि ही इस नवीन मेघ का मधुर गर्जन है। 'मुरलीर कलध्वनि, मधुर गर्जन शुनि, वृन्दावने नाचे मयूर चय। अकलंक पूर्णकल, लावण्य ज्योत्स्ना झलमल, चित्रचन्द्रेर ताहाते उदय।।'' (चै. च.) अतएव आकाश का मेघ सोचता हैं - वृन्दावन में गिरितट पर अपूर्व मेघ का उदय देखता हूँ, ये महामहत् श्रीकृष्ण नवजलधर हैं, कारण - मुझ से कोटि-कोटि गुने श्रेष्ठ हैं। इस महामहत् जलधर के निकट अपराध की आशंका से शंकित होकर आकाश के मेघ मन्द-मन्द गर्जन करते हैं, अर्थात् वेणुरव के अनुकूल गर्जन कर रहे हैं, प्रतिकूल होकर नहीं। वर्ण-साम्य और विश्व आर्तिहरण कर्म-साम्य के कारण सपार्षद राखा श्रीकृष्ण का रवि-ताप दूर करने के लिये छत्राकार छाया कर रहे हैं और पुष्पतुल्य हिमकण बरसा कर उन सबको शीतल कर रहे हैं। व्रजदेवियाँ पूर्वराग में श्रीकृष्ण को अपरूप मेघ ही समझती हैं -

''कि रूप देखिलाम कालिन्दीकूले ।
अपरूप मेघ कदम्ब-मूले ।।
अचला चपला मेघेरि गाय ।
मृगांकरहित शशांक भाय ।।
नाचिछे मयूर जलदपरि ।
अलिकुल आछे चाँदेरे घेरि ।।
आर अपरूप कहिलो नहे ।
जथा मेघ तथा वारि ना बहे ।।
हृदय-आकाशे उदय करि ।
नयनयुगले बहाय वारि ।।
मोर मने हय बिजुरि हये ।
जड़ाइये थाकि मेघेर गाये ।।
ज्ञानदास कहे ना कहो आन ।
जे कहिला धनि सेइ परमान ।।''

व्रजबाला कालिन्दी-कूल पर कदम्बतले श्रीकृष्ण के दर्शन कर आई है, सखी से कहती है- सखि ! कालिन्दी तट पर कदम्ब के नीचे एक अपरूप मेघ का उदय देख आई। इस मेघ का सभी कुछ

अपरूप है। जगत् का मेघ तो आकाश में उदित होता है, यह मेघ भूतल पर कदम्बतले उदित है। आकाश के मेघ में जो विद्युत है वह चपल है, इस मेघ की विद्युत (पीताम्बर) स्थिर है। कदाचित् मेघ के ऊपर पूर्णचन्द्र का उदय देखा जाता है, इस मेघ के ऊपर भी पूर्णचन्द्र का उदय हुआ है, किन्तु वह (श्रीकृष्णवदन) निष्कलंक है। आकाश में मेघ आता है, तो भूतल पर मयूर नृत्य करते हैं, पर इस अपरूप मेघ के तो ऊपर ही मयूर नृत्य कर रहा है (मयूर पुच्छ का चूड़ा) ! भौंरे तो कमल को घेरे रहते हैं, चाँद को नहीं, किन्तु यहाँ तो भौंरे (अलकावली) इस मेघ के ऊपर स्थित चाँद को ही घेरे हैं। इस मेघ की और भी अपरूपता है, कैसे बताऊँ ! यह ऐसा मेघ है कि जहाँ यह स्थित है वहाँ वृष्टि नहीं होती, यह मेघ द्रष्टा के नयनों में होकर उसके हृदय-आकाश में जाकर उदित होता है और उसके नयनों से वर्षा करता है। सखि ! मैंने यह अपरूप मेघ देखा है, तभी से, जानती हो मेरे मन में क्या आ रहा है ? मैं बिजली की तरह जाकर इस मेघ के अङ्ग से हर समय जड़ी रहूँ। इस अपरूप मेघ का ऐसा आकर्षण प्रभाव है ! कवि ज्ञानदास कहते हैं - धनि ! तुम जो कह रही हो, उसमें एक भी मिथ्या बात नहीं है - वह सभी प्रामाणिक हैं ।। 12-14 ।।

**विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।**
**तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः।। 14।।**
**सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्व परमेष्ठिपुरोगाः।**
**कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः।। 15।।**

---

अन्वयः - सति (हे यशोदे !) विविध गोपचरणेषु (नाना गोपक्रीड़ासु) विदग्धः (निपुणः) तव सुतः (श्रीकृष्णः) वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः (वेणुवाद्यविषये निजैव शिक्षा याससु ताः न तु

अन्यतः श्रुता) यदा अधरबिम्बे दत्तवेणुः (निहितः वेणु येन सः) स्वरजातीः अनयत् (तदा) तद् उपधार्य (सम्यग् आकर्ण्य) सवनशः (मन्द्र-मध्यम-तारभेदेन यतः गीतध्वनिरागतः ततश्च) अनिश्चिततत्त्वापः (न निश्चितं रागस्य तालस्य स्वरादीनां च तत्त्व यैः ते) शक्र-शर्व-परमेष्ठिपुरोगाः सुरेशाः कवयः (योगीश्वराः अपि) आनतकन्धरचित्ताः (आनताः कन्धराः चित्तं च येषां ते) कश्मलं ययुः (मोहं प्रापुः) ।। 14-15 ।।

**अनुवाद**- हे सति यशोदे ! गोपों के विविध क्रीड़ाकलापों में सुनिपुण तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण ने वेणुवादन किसी अन्य से नहीं सीखा (वंशी बजाना अपने आप ही सीख गया है)। वह जब अपने अधरबिम्बों पर वेणु रखकर निषाद, ऋषभ आदि स्वरों के नाना भेद अलापता है, तब इन्द्र रुद्र ब्रह्मा के साथ लोकपाल आदि और योगीश्वरगण उन्हें सुनकर उनके तत्व-निर्णय में असमर्थ होकर मोहित हो जाते हैं, सिर झुकाये नतचित्त हुए रहते हैं ।। 14-15 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीपाद शुक मुनि ने मधुर रसवती गोपियों की एकान्त गोष्ठी के रहस्यमय वार्तालाप के माध्यम से श्रीकृष्ण की वेणुमाधुरीमय लीलाओं का संग्रह किया। अब वे गोष्ठेश्वरी यशोमती माता की गोष्ठी से क्रमशः प्राप्त श्रीकृष्णकथा की चर्चाओं का संग्रह कर रहे हैं। कृष्णप्रिया गोपिकायें दिन के समय श्रीकृष्णविरह भोगती है, तो उनके पास कृष्णचर्चा ही एक उपाय बचता है। उसी अभिप्राय से वे वात्सल्यरसवती माता यशोमती की गोष्ठी में भी श्रीकृष्णकथायें सुना रही हैं। मध्यान्हकाल बीत गया है, श्रीकृष्ण के लौटने में विलम्ब हो रहा है, इस बात को लेकर माता यशोमती खिन्न हैं। गोपिकायें अपना निगूढ़ रस छिपाकर वात्सल्यरस- परिवेशन के बहाने सभी के लिये परम आश्चर्यजनक और वैदग्धीमय श्रीकृष्णलीला का वर्णन कर माता यशोमती को उत्साह और धैर्य प्रदान कर रही हैं। मधुरभाववती इन व्रजदेवियों की अति प्रबल इच्छा है कि श्रीकृष्ण शीघ्र घर आ जायें कारण - उनके विरह में महाभाववतियों का एक क्षण एक युग की तरह बीतता है। यह विरहकाल वे श्रीकृष्णकथाओं की चर्चा में ही बिताती हैं कुछ गोपियाँ माता यशोमती के पास आकर अपना निगूढ़भाव छिपाकर सामान्य जनों की तरह स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण की कथा का वर्णन कर रही हैं। यही इन दो श्लोकों की विषयवस्तु है।

यशोदामाता के पास आईं गोपियाँ बोलीं - हे सति यशोदे ! तुम्हारा पुत्र 'विविधगोपचरणेषु विदग्धः' गोपो के जो विविध चरण या क्रीड़ायें हैं, उनमें परम विदग्ध या निपुण है। वह अधर बिम्बों पर वेणु-विन्यास कर निषाद, ऋषभ आदि स्वरों के नाना भेद (प्रकार) निकालता है, कारण - गोप लोग ही वेणुवाद्य में सुरसिक हैं। श्रीपराशर मुनि ने भी कहा है - 'गोपवेणुप्रवादकों' अर्थात् गोपगण वेणु के प्रकृष्ट वादक हैं। तुम्हारा पुत्र गोप-चूड़ामणि है, सो वेणुवाद्य में परम प्रवीण होना ही स्वाभाविक है।

ओमां यशोदे ! तुम्हारे पुत्र ने यह वेणुवादन किसी से सीखा नहीं है, यह उसकी अपनी ही विद्याशिक्षा है, अर्थात् इस असाधारण वेणुवादन का वह स्वयं ही प्रवर्तक है। श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू में श्रीकर्णपूर ने लिखा है – 'एवं निर्व्यलीक मुरलीकलपुरलीकुर्वन् कलगानगानवद्यत्वेन वैणविकत्वेन व्रजपुरपुरन्ध्रीणां विस्मयमाततान आगत्य च तास्तस्य सन्निधिम् –

''हे कृष्ण मातृ कुचचुचुकचूषणेऽपि
नालं यदेतदधरोष्ठपुटं तवासीत् ।
तेनाद्य ते कतिपयेषु दिनेष्वकस्मात्
कस्माद गुरोरधिगतः कलवेणुपाठः ।।
निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात
वेणुं पुनर्ललन वादय वादयेति ।
ऊचुर्यदा स्वजननीजनकोपकण्ठे तं
वादयन्नथ तदा सरसीकरोति ।।''

(7/31-32)

'अति बाल्य अवस्था में ही श्रीकृष्ण ने प्रिय मुरली-काकली (स्वर) में अति विशुद्ध रूप से कलगायन प्रकट कर वेणुविद्या में प्रवीण होकर व्रज की वात्सल्यवती रमणियों को विस्मित कर दिया। वे उसके पास आकर बोलीं – हे कृष्ण ! अभी कुछ दिन पहले तुम्हारे अधरोंष्ठपुट (होंठ) मातृस्तनों के चुचुक चूसने में भी असमर्थ थे, आज कुछ ही दिनों में तुमने उन (होंठों) से अकस्मात् ऐसा अपूर्व कलवेणुपाठ सीख लिया, किस गुरु से ? (तात्पर्य यह है कि इन कुछ ही दिनों में किसी भी गुरु से ऐसे वेणुवादन की अकस्मात् शिक्षा प्राप्त करना सम्भव नहीं।) हे वत्स ! हे ललन् ! तुम्हारे इस मुख की बलिहारी, एक बार फिर वेणुवादन करो, सुनेंगी। जब रमणियों ने ऐसा कहा, तो उन्होंने अपने माता-पिता के आगे वेणु बजाते-बजाते उसे सरस कर डाला।'

गोपियाँ बोलीं – मध्यान्ह में तुम्हारा पुत्र विश्व को आनन्दित करने के लिये वेणुवादन करता है। उस वेणुनाद से सारा विश्व परिपूरित हो जाता है। श्रीकृष्ण का वेणु स्वरब्रह्म परब्रह्म के अधरों पर रहकर नित्य ही निनादित होता है, इसलिये उसके स्वर से आकाश-वायु समग्र ब्रह्माण्ड व्याप्त हो जाता है – उस स्वरब्रह्म की ध्वनि अण्डकटाह भेदकर वैकुण्ठ लोक जा पहँचती है। ''से ध्वनि चौदिके धाय, अण्डभेदि वैकुण्ठे जाय, जगतेर बले पैशे काणे।'' (चै. च.)

'अधरबिम्ब' इस शब्द से वेणु का परम मधुरत्व और मोहनत्व सूचित किया गया। गोपियाँ अपने भाव को छिपाकर माता यशोमती के आगे उनके पुत्र का उत्कर्ष वर्णन कर रही हैं। उनके सन्तोष

के लिये अधरबिम्ब शब्द का प्रयोग किया है। हे सति ! हे जगत् पूज्ये ! वह तुम्हारा पुत्र है, तो उसके यह सब गुण युक्तियुक्त ही हैं। जो यश दान करती हैं, वे यशोदा है। मनुष्य का कौन-सा यश श्रेष्ठ है ? श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय से प्रश्न किया था - ''कीर्तिगण मध्ये जीवेर कोन् बड़ो कीर्ति ?'' रामराय का उत्तर था - ''कृष्णप्रेमभक्त बलि जाँर हय ख्याति।।'' (चै. च. मध्य. 8) माता यशोमती का महान् वात्सल्यप्रेम है, इसलिये उन्होंने स्वयं भगवान् को पुत्ररूप में प्राप्तकर विश्व के मानवकुल को 'कृष्णप्रेमभक्त' यह श्रेष्ठतम यश प्राप्त करने का सौभाग्य प्रदान किया है। इसलिये उनका यशोदा नाम सार्थक है।

हे जगत्पूज्ये यशोदे ! इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मा आदि सुरेश्वरगण अपने-अपने लोकों में रहकर तुम्हारे पुत्र की वेणुध्वनि सुनते हैं, पर उस ध्वनि का तत्व-निर्णय नहीं कर पाते। वे लोग सुरेश्वर हैं, अतएव गन्धर्वों से सुनी गीतसम्पत्ति के विषय में वे सुनिपुण हैं। इन्द्र, रुद्र और ब्रह्मा ये तीन सुरेश हैं - इनकी यथोत्तर श्रेष्ठता है। रुद्र से ब्रह्मा की श्रेष्ठता इसलिये है कि ब्रह्मा रुद्र के जनक हैं। पुराण में प्रसिद्ध है - ब्रह्मा कल्प के आरम्भ में सृष्टि की चिन्ता में डूबे थे, तभी एक बालक उनके ललाट से आविर्भूत होकर रोते-रोते इधर-उधर भागदौड़ करने लगा। ब्रह्मा ने उसे 'रुद्र' नाम से पुकार कर रोदन बन्द करने को कहा और उसे आठ नाम दिये - रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव। ये एकादश मूर्तियों में एकादश रुद्रों के नामों से भी प्रसिद्ध हैं।

'पुरोगाः' का अर्थ होगा अन्यान्य लोकपाल अथवा गरुड़ आदि भगवत् पार्षद्। वे भी वेणुध्वनि सुनकर विमोहित होते हैं। 'आनतकन्धरचित्ताः' यहाँ 'आनतचित्ताः' कहने का अर्थ है वेणुध्वनि सुनकर उनके चित्तों की प्रवणता। 'कश्मलं ययुः' अर्थात् उन्हें मोह हो जाता है, वे समझ नहीं पाते कि श्रीकृष्ण वेणु पर कौन-सा स्वरभेद अलाप रहे हैं। अथवा मोहनवेणु का स्वभाव ही ऐसा है। तुम्हारा पुत्र जब भी अधरों पर वेणु रखता है, सुरेश्वरगण उसके निकट आकर वेणु सुनने लगते हैं। किसी समय वन से लौटकर गोपबालकों ने भी वेणुध्वनि सुनकर देवताओं की अवस्था का वर्णन यशोमती माता के आगे किया था। पदकर्ता कहते हैं -

**''श्रीदाम कहिछे वाणी, शुनो गो मा नन्दरानी,**
**निति निति जाइ मोरा वने।**
**जते राखाल मेलि, माझे राखि वनमाली,**
**धेनु-वत्स चराइ जतने।।**
**मोहन मुरलीस्वरे, नाना छाँदे गान करे,**
**भुवन भुलाय सेइ रवे।**

शुनिया मुरली रव, दिव्यमूर्ति लोक सब,
आसि दरशन करे सबे।।
हंसेर उपरे चड़ि, चतुर्मुखे मंत्र पड़ि,
स्तव करे कानाइर पाशे।
तार परे शून्य पथे, ऐरावते वज्रहाते,
देखि मोरा पलाइ तरासे।।
क्षिप्तप्राय एक जन, वृषपृष्ठे आरोहण,
दिया शिङ्गा-डमरु-निशान।
शिरे जटा, त्रिलोचन, भस्म अङ्गे विभूषण,
सदाइ जपये राम-नाम।।
तार वामे एक नारी, तुलना दिबारे नारि,
रूपे अन्धकार नाश करे।
स्वर्णकान्ति शशीमुखी, भाले शोभे तिन आँखि,
कोले करि रहे गिरिधरे।।
कोले लैया गिरिधरे, ननी खाबाय दश करे,
कतइ ननी खाय तार करे।
बोले ओरे बाछा कानु, आनन्दे चराओ धेनु,
कानने नाहिक भय तोरे।।
गजमुख एक जन, मुषिकेते आरोहन,
सिन्दुरे मण्डित तनुखानि।
बड़मुख शिखिपरे, वाम हस्ते धनु धरे,
किबा तार कोंचार बलनि।।''

इत्यादि

'सुरेशाः' इस शब्द से उन सुरेश्वरों का सर्वज्ञान-विभूति-मत्व आदि दिखाया गया। 'कवयः' का अर्थ है योगीश्वर श्रीसनक आदि। 'आनतकन्धर चित्ताः' का अर्थ है - अपने-अपने स्थानों से आकर श्रीकृष्ण के दर्शन कर और प्रणाम कर वे वेणु सुनते हैं। 'कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः अर्थात् वेणुनाद श्रवण कर पहले हृतचित्त होकर वे अपने आत्मस्वरूपों को भूल जाते हैं। अथवा, यह वेणुवाद्य है या

ब्रह्मतत्व इसका निर्णय नहीं कर पा रहे, कारण - श्रीकृष्ण का वेणु ऐसा परमानन्दरसमय है। अथवा, ब्रह्मानन्द से भी कहीं अधिक माहात्म्य है वेणुनाद का, इससे वे अपना ब्रह्मानन्द भूल जाते हैं। अथवा, वे वेणु नाद का यथार्थ तत्व निश्चय नहीं कर पाते। यह क्या कोई अपूर्व माधुरीमय वेणुगीत है। अथवा अन्य कोई चमत्कारकारी कर्णग्राह्य विषय है ? या कोई महामोहन मंत्रविशेष है ? इस प्रकार वेणुगीत के यथार्थ तत्व का निश्चय करने में असमर्थ होकर वे मोहदशा को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् वेणुमाधुरी-लीन चित्त होकर सब भूल जाते हैं। (वृहत्तोषणी टीका का तात्पर्य)

श्रीवृहदभागवतामृत (2/5/42-44) में श्रीसनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है -

''न श्रीमुखेनोपनिषन्मुखैः कृतं
यद्वेदवाक्यैरपरैर्वचोहेमृतैः ।
तत्तस्य बिम्बाधरयोगमात्रतः
सा दारवी मोहनवंशिकाऽकरोत् ।।
विमानयानाः सुरसिद्धसंघाः
समं वधूभिः प्रणयादमुह्यन् ।
महेन्द्ररुद्रद्रुहिणादयस्तु मुग्धा
गता विस्मृततत्वतां ते ।।
समाधिभङ्गोऽथ महामुनीनां
विकारजातस्य च जन्म तेषु ।
तत्कालचक्रभ्रमणानुवर्तिचन्द्रा-
दिनित्याशुगतेर्निरोधः ।।''

जो कार्य श्रीकृष्ण के स्वयं श्रीमुख के साक्षात् वचनामृत द्वारा और उपनिषदरूपी वेदवाक्यों से तथा पुराणादिरूपी शास्त्रों से सम्पादित नहीं हुआ, क्या आश्चर्य है ! उसे दारुमयी मोहन वंशी बिम्बाधरों के योग से पूरा कर देती है।

उसी वंशीध्वनि को सुनकर विमानों में चढ़े सुर-सिद्धगण अपनी-अपनी वधुओं के साथ प्रणय-आवेश मूर्छित हो जाते हैं। अधिक क्या कहें, महेन्द्र रुद्र और ब्रह्मा आदि तत्वज्ञानमुग्ध होकर अपना तत्व भूल जाते हैं।

जब समाधिस्थ महामुनियों का ध्यान भङ्ग होता है और वे भी प्रेमविकार जात स्वभाव-विशेष का भजन् करते हैं, यहाँ तक कि कालचक्र में भ्रमण करते चन्द्र आदि ग्रहों की स्वाभाविक नित्यगति रुक जाती है (तब विषय-अनुरक्त देवताओं को मोह होगा, इस विषय में और क्या कहा जा सकता है ?)।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस श्लोक की व्याख्या-भूमिका में लिखा है - अपरान्ह हुआ तो कुछेक गोपबालाओं ने श्रीनन्दभवन जाकर कुछ अधिक समय प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा से मन ही मन एक युक्ति सोची। नन्दभवन में व्रजेश्वरी बहुत सी वृद्धाओं, युवतियों और बालिकाओं से विस्तार से अपनी सन्तान के प्रभाव की बातें सुनती हैं, यदि किसी बहाने उन सबके साथ जा मिलें, तो श्रीकृष्णकथा सुन लेंगी और स्वयं भी कृष्णकथा सुनकर पुत्रविरह विह्वला माता को सान्त्वना देंगी, अपने मन को भी तसल्ली देंगी। ऐसा सोचकर वे गोपियाँ यशोदाजी के भवन में जाकर माता के आगे यह श्लोक पढ़ती है। यों रास्ते में या चन्द्रशालिका (चौबारा) आदि से गुरुजनों की दृष्टि को धोखा देकर उत्तरगोष्ठ में (वन से लौटते समय) प्रियतम के दर्शन कर मन नहीं भरता। श्रीकृष्णदर्शन को लेकर जिन (गोपियों) का ऐसा भाव हो "जनम अवधि हाम रूप नेहारिणु नयन ना तिरपति भेलो" (हम जन्मावधि श्रीकृष्ण का रूप निहार रही हैं, पर हमारे नेत्र तृप्त नहीं हुए), उन्हें रास्ते पर जाते समय श्रीकृष्ण को देखकर भला कितना-सा आनन्द होगा ? श्री बृहदभागववतामृत में देखने को मिलता है - कोई-कोई गोपबाला नन्दभवन में रहकर माता यशोमती के आदेश से श्रीकृष्ण की स्नान-वेशभूषा आदि सेवायें करने का सौभाग्य भी प्राप्त करती हैं। विविध रसपरिहास के साथ ये सेवायें सम्पन्न कर वे अपने घरों से गुप्तरूप से लाये मधुर लड्डू आदि भी उन्हें खिलाती हैं। (वृ. भा. 2/6/89-102 श्लोकों में विस्तार से वर्णन है) ।। 14-15 ।।

卐 ❧ 卐

**निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजांकुश- विचित्रललामैः।**
**व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्य- गतिरीड़ितवेणुः।। 16।।**
**व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पित- मनोभववेगाः।**
**कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कवरं वसनं वा।। 17।।**

अन्वयः - ध्वजवज्रनीरजांकुशविचित्रललामैः (ध्वज-व्रज-नीरज-अंकुशानि विचित्राणि अद्भुतानि ललामानि चिन्हानि येषु तैः) निजपदाब्जदलैः (निजानि पदानि एव अब्जदलानि तैः) व्रजभुवः (व्रजसम्बन्धि-गोप्रचारभूमेः) खुरतोदं शमयन् (गवादि-खुराक्रमणव्यथां शमयन्) वर्ष्मधुर्यगतिः (वष्मणा धुर्यः गजः तद्वद् गतिः यस्य सः श्रीकृष्णः) ईरितवेणुः व्रजति (वादित वेणुः सन् यद् व्रजति) तेन (निमित्तेन) सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः (सविलास-वीक्षणेन अर्पितः मनोभववेगः यासु ताः) वयं कुजगतिं (वृक्षगतिं) गमिताः (प्रापिताः सत्यः) कश्मलेन (मोहेन) वसन कवरं वा न विदामः ।। 16-17 ।।

अनुवाद- गायों के खुरों के आक्रमण से व्रजभूमि व्यथित होती है। श्रीकृष्ण वेणु बजाते, मदमत्त गजराज की तरह विचरण करते हैं। उनके ध्वज-पद्म-अंकुश चिन्हों से युक्त श्रीचरणकमल दलों के स्पर्श से व्रजभूमि की वह व्यथा दूर होती है। वे इस प्रकार जब विचरण करते हैं, तब हम लोग उनकी प्रेमविलासमय दृष्टि-भङ्गिमा से कन्दर्पवेग के कारण मुग्ध होकर स्थावर वृक्षों की तरह चेष्टावृत्तिरहित हो जाती हैं। हमारे कवरीबन्धन (चोटियाँ) और वस्त्र कब विगलित हो गये, हमें पता भी नही चलता ।। 16-17 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीपाद शुकदेव मुनि ने पिछले दो श्लोकों में माता यशोमती की गोष्ठी में वर्णित गोपियों की बातें संग्रह कीं। अब पुनः गोपनीय रसनिबद्ध एकान्त गोष्ठी से सम्बद्ध किसी गोपी की बातों का संग्रह कर रहे हैं। एक बार इस प्रकार नाना कथाओं में तीसरा पहर बीत गया, श्रीकृष्ण के लौटने में विलम्ब हो रहा है यह देख कर कोई परम उत्कण्ठितचित्त गोपी पुष्पचयन आदि के बहाने श्रीकृष्ण के दर्शन लालसा से वन में गई। ठीक उसी समय श्रीकृष्ण गायों और सखाओं के साथ घर आये, उस गोपी ने उनके दर्शन किये। वह अन्य दिन गोपीगोष्ठी में इसी का वर्णन कर रही है। उसकी बातों की अवतरणिका यह है - वह कहती है, अहो ! प्राण सखियो ! तुम लोग श्रीकृष्ण के दर्शन और वेणुनाद से अन्य सबके मोह की क्या बात कर रही हो, हमारे अपने मोह की बात सुनो। यह गोपी भाव-विवश होकर इन दो श्लोकों में वही बताती है।

श्रीकृष्ण के वेणु की मोहिनी शक्ति से स्थावर-जङ्गम आदि विमोहित हो जाते हैं। स्थावर जङ्गम की जङ्गम स्थावर की गति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ तक कि उनसे आरम्भ कर देव, देवश्रेष्ठ इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मा, गन्धर्वाचार्यगण तक वेणुनाद का तत्व न समझ पाकर मोह को प्राप्त हो जाते हैं। तब इस मोहन वेणुनाद से भावमयी व्रजदेवियाँ महामोह दशा को प्राप्त होंगी, इसमें और क्या सन्देह ? तभी यह व्रजदेवी कहती है - श्रीकृष्ण के मोहन वंशीरव को लेकर अन्य सबकी क्या बात कह रही हो, अपनी

सबकी दशा की बात ही सोचो न !

श्रील सनातन गोस्वामिपाद अपनी वृहत्तोषणी टीका में कहते हैं - इस 'निजपदाब्जदलैः' पद में 'निज' शब्द प्रयोग होने से वृन्दावन में श्रीकृष्ण के श्रीचरण विन्यास में पादुकाओं का व्यवधान निरस्त हो गया है। श्रीकृष्ण गोचारण-लीला में पादुका आदि कभी व्यवहार नहीं करते। वृन्दावन श्रीकृष्ण की गोचारणभूमि पर कंकर-कंटक आदि छिपा कर, जहाँ श्रीकृष्ण के कोमल चरण विन्यस्त होते हैं वहाँ अपनी जिह्वा प्रसारित कर श्रीचरण-सेवा करता है। उधर पदकर्ता जो कहते हैं, ''यादवेन्द्रे सङ्गे लइय, बाधा पानइ हाते घुइय, बुझिया जोगाबे राङ्गा पाय'' वह श्रीकृष्ण की पादुकायें वहन करने की पदकर्ता की आकांक्षा मात्र है। यथार्थतः गोचारणकाल में श्रीगोविन्द कभी भी पादुकायें धारण नहीं करते। वे अपने ध्वज-वज्र-अंकुश आदि उन्नीस असाधारण चिन्हों से व्रजभूमि को सर्वदा विभूषित किये रखते हैं। तभी गोपियों ने श्रीकृष्ण के खुले चरणों में कंकर-कंटक आदि के आघात की आशंका प्रकट की है। (''चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्'' इत्यादि, श्रीगोपीगीत श्लोक एकादश और उसकी व्याख्या देखिये।) जो भी हो, पादपद्मचिन्हों की बहुलता के कारण 'निजपदाब्जदलैः' बहुवचन प्रयोग किया गया है। 'पदाब्जदलैः' के स्थान पर 'पदाब्जतलैः' पाठ भी देखने में आता है; वहाँ भी गौरववश या पदचिन्हों के बाहुल्य के अभिप्राय से ही बहुवचन प्रयोग हुआ है। श्रीचरणकमलों के ध्वज, वज्र, कमल और अंकुश इन चार चिन्हों का ही उल्लेख किया है। शङ्ख चक्र आदि की बात नहीं की। ये सब श्रीविष्णु के पदचिन्ह हैं, यह बात सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण के दोनों चरणों में स्वयं भगवत्ता के ज्ञापक उन्नीस चिन्ह अन्यान्य शास्त्र-पुराण आदि में प्रसिद्ध हैं। 'निज' शब्द से वे सभी जानने होंगे।

'व्रजभुवः' का अर्थ है गोवर्द्धन वृन्दावन आदि बहुल तृणपूर्ण गोचारण-भूमि। श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमलों के स्पर्श से व्रजभूमि की गोखुर-आक्रमण जनित व्यथा दूर होती है, इसका तात्पर्य यही है कि श्रीचरणतल का स्पर्श स्वभाव से ही सर्वतापहारी है। 'खुरतोदं' या गोखुरों से प्राप्त हुए क्षतो की व्यथा। यह केवल इसीलिये कहा गया है कि गायों के खुरों के चिन्ह क्षत (घाव) के समान दिखाई देते हैं, अन्यथा तत्वतः श्रीकृष्ण की गायों के खुरों से व्रजभूमि को व्यथा नहीं होती, कारण- गायें श्रीहरि के प्रति भक्तिभाव से पूर्ण हैं। वे श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्यभाव और श्रीकृष्ण भी उनके प्रति मातृ तुल्य भक्ति-प्रीति प्रकट किया करते है। अथवा, गर्दभाकृति धेनुकासुर, वृषभाकृति अरिष्टासुर और विशाल घोटक (घोड़ा) आकृति केशि असुर आदि के खुरों के आघात से व्रजभूमि विर्दीण हुई है, उसकी उसी क्षतजनित व्यथा को श्रीकृष्ण अपने श्रीचरणचिन्हों द्वारा प्रशमित करते हैं। 'वर्ष्मधुर्यगति' श्रीकृष्ण गजेन्द्र की तरह मन्थरअलस लीलागति से चलते हैं, कारण - वे वेणुवादन करते हुए जाते हैं; त्वरित गति से चलने पर वेणुवादन सम्भव नहीं। यद्यपि ये सब लीलायें या चेष्टायें गोपियों को मोहने के लिये ही हैं,

तथापि गोपियों ने अपनी धृष्टता को छिपाने के लिये अथवा अतृप्तिवश उनका उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार वे जब व्रज से वन जाते हैं अथवा वन में इधर-उधर घूमते हैं, तब हम लोगों के प्रति उनकी प्रेमविलासभरी दृष्टि रहती है, परम शोभामय या लीलामय कटाक्षपात होता है। उस दृष्टिभङ्गिमा और कटाक्षपात से वे हम लोगों के हृदय में जो मनोभव (कन्दर्प) - वेग जगाते हैं उसका प्रतिकार करना हमारे लिये किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।

श्रीकृष्ण अन्य विषय में दृष्टिपात करते हैं, तब भी उनकी दृष्टि हमारे भीतर कामवेग अर्पित करती है। इससे उनकी दृष्टि का महामोहनत्व सूचित हुआ। इससे श्रीकृष्ण का सौन्दर्य और लीलामाधुर्य व्यक्त हुआ। वंशीमाधुरी तो इस अध्याय की मूल विषयवस्तु है। गोपियाँ कहती हैं, इसीलिये हम लोग वृक्षगति या स्थावर की तरह जड़ता को प्राप्त होती हैं।

बृहद् भागवतामृत (2/5/147) में श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है -

**''राधाद्यास्ताः परमभगवत्यस्तु पत्यात्मजादीन**
**लोकान् धर्मान् ह्रियमपि परित्यज्य भावं तमाप्ताः ।**
**येनाजस्रं मधुरकटुकैर्व्याकुलास्ताद्विकारै-**
**र्मुग्धाः किञ्चित्तरुगतिमिता नानु- सन्धातुमीशाः ।।''**

'श्रीकृष्ण की मुरलीध्वनि श्रवण कर परमभगवती श्रीराधिका आदि व्रजाङ्गनाओं ने अपने-अपने पतियों और आत्मीयों का मोह और लोकधर्म, यहाँ तक कि नारी के भूषण लज्जा का भी परित्याग कर उन्हें प्राप्त किया था। अर्थात् उन्होंने श्रीकृष्ण को ऐसे समर्था भाव से प्राप्त किया था कि उस भाव के प्रभाव से वे निरन्तर मधुर किन्तु कटु हर्ष-शोकप्रद व्याकुलता आदि विकारों द्वारा मुग्ध होकर तरुगति को प्राप्त हो गई थीं (स्थावर के समान हो गई थीं)। इसलिये उन्हें अन्य विषयों का किञ्चित भी ध्यान नहीं था।'

इस श्लोक की टीका में श्रील गोस्वामिपाद ने भागवत के युगलगीत का यह आलोच्य श्लोक ही प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है और लिखा है- ''अनीशत्वेहेतुः - तस्माद भावाद् ये विकारा मनःक्षोभोदयस्तैरजस्रं व्याकुलाः अतो मुग्धाः प्राप्तमोहाः। कीदृशैः ? मधुरा अमृतसदृशाश्च ते कटुकाश्च कालकूटसदृशाश्च, परमहर्षशोकप्रदत्वात्तैः। यद्यपि गोपगोपीप्रभृतीनां तत्रत्यानां तेषां स्वभावतः एव भगवति प्रेमभरो नित्यं देदीप्यते, तैनैव किल सदा मोहो घटेत तथापि श्रीभगवदसाधारण-परममधुर माहात्म्यभररूपेण वंशीवाद्येनैव तस्यात्यन्तविस्तारणेन तस्या एव परममोहनहेतुत्वादत्र तन्माहात्म्यप्रसङ्गे वर्ण्यत इति दिक्।'' वे और कुछ भी अनुसन्धान नहीं कर पाईं। उनके ऐसे मोहनत्व का कारण यह है कि वेणुगीत सुनकर उनकी जो भावदशा हुई, उसी के प्रभाव से उनके मनःक्षोभ आदि अजस्र व्याकुलतापूर्ण

विकारसमूह ने ही उन्हें मुग्ध कर दिया। वह भावदशा कटुता में कालकूट (विष) के समान तीव्र थी। अतएव एक साथ हर्ष-शोकप्रद। यद्यपि व्रजभूमि में सभी स्वभावतः निरन्तर श्रीकृष्णप्रेम से परिपूर्ण देदीप्यमान रहते हैं, अर्थात् उन सभी का श्रीकृष्णविषयक प्रेम सदा हर्षशोकप्रद, विविध वैचित्री से भरा होता है और उसी से सर्वदा निश्चय ही मोह संघटित हो सकता है, तथापि भगवान् के असाधारण परममधुर माहात्म्य से भरे वंशीवाद्य द्वारा ही उस भाव का विस्तार हुआ था। इसलिये वंशी का परम मोहनत्व बताकर वंशीमाहात्म्यप्रसङ्ग में उसका वर्णन किया है।

श्रीकृष्ण के गमन-माधुर्य से गोपियों की जड़ता और उनकी वैदग्धी से मुग्धता - इससे उनकी परममोहनता और गोपिकाओं का परमदैन्य दिखाया गया। उस मोहदशा में उनका कवरीबन्धन और अङ्ग-वस्त्र स्खलित हो जाते हैं। उन्हें पता भी नहीं चलता। मोहदशा में देहदैहिकादि सभी बातों की विस्मृति हो जाती है, फिर भी विशेष रूप से कवरी और वस्त्रों की बात कही गई। अङ्गनाओं के लिये इनका ध्यान रखना अति आवश्यक है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है, किसी यूथेश्वरी ने अपनी सखी से कहा - श्रीकृष्ण गोष्ठगमन के समय अपने आगे विचरण करती असंख्य गायों के खुरों के आक्रमण से हुई व्यथा अपने विचित्र सुन्दर श्रीचरणचिन्हों (ध्वज, वज्र, अंकुश आदि) द्वारा प्रशमित करते हैं। वही श्रीकृष्ण गजगति से गमन कर अपनी विलासदृष्टिभङ्गिमा से हमारे हृदय में मनोभवव्यथा अर्पित कर देते हैं, इससे हम वृक्ष की तरह जाड्यावस्था और मोह दशा को प्राप्त हो जाती हैं। हमें अपने कवरीबन्धन और कटि-वस्त्र के स्खलित हो जाने का कुछ भी पता नहीं चलता। श्रीकृष्ण अपने परम सुशीतल चरणकमलों द्वारा व्रजभूमि की (पशुओं के खुरों के आक्रमण से हुई) व्यथा का प्रशमन करते हैं, उधर अपने नयनकमलों से हमारे भीतर निदारुण मनसिजव्यथा जगाते हैं। हाय ! हमारा कैसा मन्द भाग्य है ! ।। 16-17 ।।

**मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः।**
**प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र।। 18।।**
**क्वनितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।**
**गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः।। 19।।**

**अन्वयः** – मणिधरः (मणीन् ग्रथितान् गो-गणनार्थं धरतीति तथा) क्वचिदागणयन् गाः (क्वचिद्देशे तैः मणिभिः गाः आगणयन्) दयितगन्ध-तुलस्याः मालया (दयितगन्धा या तुलसी तस्याः मालया सह वर्तमानः) प्रणयिनः (प्रियस्य) अनुचरस्य अंसे (स्कन्धे) भुजं प्रक्षिपन् यत्र (यदा) कदा (कदाचित्) अगायतः (तदा तस्य) क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः (क्वणितस्य वेणो रवेण वञ्चितानि अपहृतानि चित्तानि यासां ताः) कृष्णगृहिण्यः (कृष्णस्य हरिणस्य गृहिण्यः भार्याः) गुणगणार्णम् (गुणगणसमुद्रं श्रीकृष्णम्) अनुगत्य (संप्राप्य) विमुक्तगृहाशाः याभिः ताः) गोपिकाः इव अन्वसत (सर्वतः आवृत्यास्थिता न न्यवर्तन्ते इत्यर्थः) ।। 18-19 ।।

**अनुवाद**– मणिग्रथित माला धारण किये, चारों ओर की गायों की गणना करते हुए, प्रियगन्ध से युक्त तुलसीमाला से भूषित होकर, प्रिय सखा के स्कन्ध पर बायाँ बाहुपाश रखे श्रीकृष्ण जो वेणुगीत आरम्भ करते हैं, तो वंशीगायन से विमोहित चित्त कृष्णसाररमणियाँ हरिणियाँ अशेष गुणसागर श्रीकृष्ण के निकट आकर गोपियों की तरह घरबार की आशा त्यागकर उनकी अनुवर्तिनी हो जाती हैं ।। 18-19 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने लघुतोषणी टीका में इस श्लोक की व्याख्या-भूमिका में लिखा है – किसी गोपी ने कहा, सखियों ! अपरान्ह में श्रीकृष्ण पुनः वस्त्र बदलकर घर लौटने के लिये वेणुगान से गायों को बार-बार आह्वान कर एकत्रित करते हैं और गिनते हैं। उस वेणुरव से वन की हिरणियाँ भी आकृष्ट हो जाती हैं। कृष्णमृगी की तरह कृष्णप्रेयसी हम लोगों को भी वह वेणुगीत आकर्षित करेगा, इसमें सन्देह क्या ? इस युगल श्लोक में वही बता रही है।

श्रीकृष्ण अपरान्ह में जब घर लौटते हैं, तो नित्य ही गायों की गणना करते हैं। गायों की संभाल के लिये गोजाति की गणना आवश्यक है। गोजाति का अर्थ गाय-वृष आदि। महिष आदि अन्यान्य पशुवर्ग भी हैं, पर स्नेहविशेष के कारण गायों की गणना की बात की गई। यद्यपि श्रीमदभागवत (10/12/3) में आया है – "कृष्णव त्स्यैरसंख्यातैः" अर्थात् श्रीकृष्ण जिन गोवत्सों को चराते थे, वे

असंख्य थे। जब वत्स ही अनन्त हैं, तब धेनु-वृष आदि तो परम अनन्त हुए, तथापि यूथ आदि भेद से गणना हुआ करती है। मणिमाला द्वारा गायों की यूथगणना के विषय में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने सुस्पष्ट धारणा प्रदान की है - ''शुक्लरक्तश्यामपीतानां चतुर्णां वर्णानां प्रत्येकं पञ्चविंशतिप्रभेदैः शतं वर्णा भवन्ति। तथैव चित्रितत्वचन्दनतिलकत्वादिवर्णैर्मृदङ्गमुखाद्याका रैश्चान्ये ऽप्यष्टप्रभेदा भवन्ति। तत्श्च तत्तद्वर्णाकारैरष्टोत्तरशतमणिगोलोकैर्गोगणनार्थं कृष्णेन गोजपमालैका कृतास्ति, तां मालां गृहीत्वैवासंख्यानामपि गवामष्टोत्तरशतं यूथान् पृथग् पृथग् वर्णान् गणयति। तथाहि - हि हि धवलीत्याह्वानेन धवलीयूथो यथा आयाति, तथैव हंसि चन्दनि गङ्गे मुक्ते इत्याह्वानेन तत् प्रभेदाश्चतुर्विंशतिरण्योऽपि यूथा आयान्ति। एवमरुणी, कुंकुमी, सरस्वतीत्यादि संज्ञाः, श्यामला, धुमला, यमुनेत्यादिः संज्ञाः, पीता, पिङ्गला, हरितालिकेत्यादि संज्ञाः, चित्रिता, चित्रतिलका, दीर्घतिलका, तिर्यैक् तिलकेत्यादि संज्ञाः, मृदङ्गमुखी, सिंहमुखीत्यादि संज्ञाश्च स्वस्वनामभिरहूता आयन्ति, अतो वनाद् गोष्ठगमन समये काश्चनापि गावो विस्मृता मा भवेयुरित्ये कैकमणि गोलकावर्तनेन गा गणयन्।'' (सारार्थदर्शिनी टीका)

अर्थात् श्वेत, रक्त, श्याम और पीत - इन चार वर्णों में से प्रत्येक के पच्चीस भेद होने से सौ वर्ण हुए। इनके अतिरिक्त नाना वर्णों की विचित्रताओं के कारण, मृदङ्गमुखत्व चन्दन-तिलक आदि वर्ण, और मृदङ्गमुखत्व आदि आकारों के कारण आठ अन्य भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ आठ वर्ण-आकार भेद हुए। इसलिये उन-उन वर्ण आकारों की एक सौ आठ मणियों द्वारा गायों की गणना करने के लिये श्रीकृष्ण एक विशेष गोजपमाला कण्ठ में धारण करते। गायें संख्यातीत होने पर भी उस मणिमाला की सहायता से भिन्न-भिन्न वर्णों के एक सौ आठ यूथों की गायों की गणना की जाती। जैसे हइ हइ धवलि कहकर धवलीयूथ का आह्वान करने पर धवलीयूथ आ जाता। उसी प्रकार हंसि, चन्दनि, गङ्गे मुक्ते कह कर आह्वान करने पर श्वेतवर्ण के भेदों वाले अन्य चौबीस यूथ आ खड़े होते। इसी प्रकार अरुणी, कुंकुमी, सरस्वती संज्ञाओं से लोहित वर्ण भेदवाले पच्चीस यूथ; पीतवर्ण के अन्तर्गत पिङ्गला, हरितालिका आदि पच्चीस यूथ; चित्रतिलका, दीर्घतिलका, तिर्यक् तिलका आदि विचित्रा गोसमूह और ..... मृदङ्गमुखी, सिंहमुखी आदि आकार भेदों से विभिन्न संज्ञायें ! इस प्रकार गायों के एक सौ आठ यूथ। इनके अपने-अपने नामों से आह्वान करने पर ये सब आ जातीं। इसके लिये एक सौ आठ मणियों वाले हार के प्रत्येक दाने को घुमाकर श्रीकृष्ण गायों की गणना करते।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद का अभिप्राय यह है - गोपबाला कह रही है 'दयितगन्धतुलस्याः' श्रीकृष्ण प्रियगन्धवाली तुलसीमाला से विभूषित हैं। (तुलसी की अलौकिक गन्ध के विषय में हमने दसवें और ग्यारहवे श्लोकों की व्याख्या में चर्चा की है) पशु गन्ध को समझते हैं, इसलिये हरिणियाँ दूर से तुलसी की गन्ध से आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण के निकट आ जाती हैं। उनके श्रीकृष्ण के पास आने का

यह अन्यतम कारण है। श्रीकृष्ण सखा के स्कन्ध पर बायीं भुजा रखे हुए हैं - इससे लीला अवस्थान और सखा के प्रति स्नेह आदि दिखाया गया। 'प्रणयिनः' शब्द से पता चलता है कि वेणुगायन में श्रीकृष्ण त्रिभङ्ग ललित मुद्रा में विराजते हैं, बायीं भुजा सखा के कंधे पर रखकर उसे गाढ़ आलिङ्गन करते हैं, अतएव वहीं प्रेमयुक्त और सौभाग्यवान् है। हम लोग वैसे सौभाग्य से वञ्चित हैं, यह भी सूचित हुआ। 'क्वणितवेणुरव' द्वारा सदा सहज नादमय वेणु का केवल एक बार ईषत् (थोड़ा सा) वादन- यही अभिप्रेत अर्थ निकलता है, विचित्र मधुर स्वर में वेणुवादन की अपेक्षा नहीं। तथापि वेणुरव सहज माधुर्यमय होने के कारण उसका रवमात्र ही गीत में पर्यवसित होता हैं अथवा, वे जब श्रीमुख से गायन करते हैं, गायन के रसविशेष से वेणुवादन करते हैं, उसी वेणुरव से हरिनियाँ वञ्चित चित्त हो जाती हैं। 'वञ्चित' शब्द से श्लेषार्थ 'प्रतारित' सूचित हो रहा है। प्रतारित को (जो ठगा गया, उसे) छोड़ और कोई भी मोहन के निकट नहीं रह सकता। कृष्णगृहणियाँ पतियों के साथ रहकर भी पतियों को त्यागकर श्रीकृष्ण की ही अनुगत हो जाती हैं, कारण - वे गुणों के सिन्धु हैं। 'कृष्णगृहणी का श्लेषार्थ ये श्रीकृष्ण की ही भार्यायें हैं - ऐसा परिहास सूचित हुआ है। अथवा, हमारा और हरिनियों का स्वभाव एक है, इसलिये जैसे ये अन्य स्नेह आदि सबका परित्याग कर, गृह और गृहसम्बन्धों की आशा या वाञ्छा भी त्यागकर, श्रीहरि का अनुगमन करती हैं, वैसे ही हम गोपियों ने भी श्रीकृष्ण के वेश, लीला, वेणुगीत आदि पर मोहित होकर उन गुणसिन्धु श्रीकृष्ण की अनुगत होकर अति अल्प गुणों से युक्त अपने पतियों का परित्याग कर देह-गेह, उनसे सम्बन्ध रखने वाले पुत्र-धन आदि की आशा से विमुक्त होकर श्रीहरि का भार्यात्व प्राप्त किया है। देखो सखियों ! ये हरिनियाँ गोपिकाओं की ही तरह हरि-विरह में पाण्डुर होकर उनका अनुगमन कर रही हैं। गोपिकाओं का ऐसा स्वभाव प्रसिद्ध ही है -

''लोक धर्म-वेदधर्म-देहधर्म-कर्म ।
लज्जा-धैर्य-देहसुख-आत्मसुख मर्म ।।
दुस्त्यज आर्यपथ निज परिजन ।
स्वजने करये जत ताड़न-भर्त्सन ।।
सर्वत्याग करि करे, कृष्णेर भजन ।
कृष्णसुखहेतु करे प्रेम-सेवन ।।
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग ।
स्वच्छ धौत वस्त्रे जैछे नाहि कोनो दाग ।।''

(चै. च. आदि. 4)

'वयमिव' न कहकर 'गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः' कहा। इससे रसविशेष को पोषण भी

हुआ, कारण- यह परोक्ष वाणी है। श्लेषार्थ में यह भी सूचित हुआ कि "गोपयन्तीति गोपिका देहरक्षणपराः अन्यथा तद्विरहेण जीवनानुपपर्तिरिति भावः", अर्थात् जो देहरक्षणपरा हैं, वे ही गोपिका हैं, अन्यथा इस कृष्णविरह में जीवनरक्षा ही सम्भव नहीं। वस्तुतः अपने देहानुरोध से गोपियाँ देहरक्षा नहीं करतीं, उनकी देह तो श्रीकृष्ण के सुखसाधन की सामग्री है। उन्हें अपना कोई सुख नहीं चाहिये, श्रीकृष्णसुख के लिये ही वे देहधारण करती हैं। फिर गोपिका का स्वभाव तो इतना दुज्ञेय है कि अपना सुखानुरोध न होने पर भी उन्हें सुख की पराकाष्ठा प्राप्त होती रहती है -

"आर एक अद्भुत गोपीभावेर स्वभाव ।
बुद्धिर गोचर नहे जाहार प्रभाव ।।
गोपीगण करे जवे कृष्ण दरशन ।
सुखवाञ्छा नाहि सुख हय कोटिगुण ।।
गोपिका दर्शने कृष्णेर जे आनन्द हय ।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय ।।
ताँ सभार नाहि निज सुख अनुरोध ।
तथापि बाड़ये सुख पड़िलो विरोध ।।
ए विरोधेर एकमात्र देखि समाधान ।
गोपिकार सुख कृष्णसुखे पर्यवसान ।।"

(चै. च. आदि. 4)

गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव इसी गोपिका- स्वभाव का ही अनुसरण और आनुगत्य करते है। "अतएव गोपीभाव करि अङ्गीकार। रात्रिदिने चिन्ते राधाकृष्णेर विहार।। सिद्धदेह चिन्ति करे ताँहाइ सेवन। सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण।।" (चै. च. मध्य. 8) भाव की ही उपासना, भाव से ही प्राप्ति। 'भाव' किसे कहते हैं ? चित्त की अवस्थाविशेष को ही 'भाव' कहा जाता है। हम लोग विषयी मनुष्य हैं, हमारा चित्त लाख (लाक्षा) की तरह नीरस कठोर और मिष्टताशून्य है। जैसे अग्नि-ताप से लाख गल जाता है, वैसे ही विषयों का सन्निकर्ष (निकटता) प्राप्त होने पर चित्त गल जाता है। तब गलित चित्त में विषय आहित (स्थापित) होने से विषय के साथ चित्त की एकाकार-जैसी अवस्था हो जाती है, जिसे एकाग्रता कहा जाता है। ऐसी एकाग्र अवस्था में चित्त में अन्य वेद्य का बोध नहीं रहता यही अन्य वेद्यस्पर्शशून्य, विषय के साथ एकाकार हुई चित्तवृत्ति ही 'भाव' है। प्राकृत सांसारिक शब्द स्पर्श आदि विषयों के सन्निकर्ष (सम्पर्क) से चित्त में जिस भाव का उदय होता है, वह एक प्राकृत उद्दाम अवस्थाविशेष है- जड़ीय सत्व-रज-तम गुणों के विकारों से युक्त चित्त की अवस्थाविशेष ! उधर

भगवान को विषय बनाकर उनके नाम-गुण-लीला आदि के श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदि के फलस्वरूप चित्त में जो धारावाहिक भगवदाकारता (भगवान् के साथ तादात्म्य) आती है, वह स्वरूपशक्ति ह्लादिनी और सम्वित की वृत्तिविशेष है। भक्तिसाधन-संस्कार से संस्कृत हुए आत्मस्वरूप को भगवत् माधुर्य आस्वादन की योग्यता देने वाला यही 'भगवद्भाव' है। इस भावचन्द्रमा के उदय होने से ही भक्त के चित्त में भगवान् के नवनवायमान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि का माधुर्यास्वादन हुआ करता है। इस भाव का चरम आदर्श ही 'गोपीभाव' है। इस गोपीभाव का साधन ही भगवत् भाव साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस गोपीभाव में भी गोपीशिरोमणि श्रीकृष्णप्रियावली मुख्य वृषभानुनन्दिनी राधारानी के श्रीपादपद्मों का रहोदास्य (एकान्त अन्तरङ्ग दास्य) मञ्जरी भाव साधन ही इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु का महादान है ।। 18-19 ।।

**कुन्ददामकृतकौतुक वेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।**
**नन्दसूनुरनघे तव वत्सो पर्मदः प्रणयिनां विजहार।। 20।।**
**मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन।**
**वन्दिनस्तमुवदेवगणा ये वाद्यगीतवलिभिः परिवव्रुः।। 21।।**

---

**अन्वयः** - (हे) अनघे (यशोदे !) तव वत्सः (पुत्रः) नन्दसूनुः (श्रीकृष्णः) कुन्ददामकृतकौतुकवेषः (कुन्दपुष्पमाला-भिः कृतः कौतुकेन उत्सवेन वेषः अलंकारः येन सः) गोपगोधनवृतः (गोपैः गोधनैः च परिवृतः) प्रणयिनां (वयस्यानां) नर्मदः (सपरिहासकेलिभिः सुखदः यदा) यमुनायां विजहार (विक्रीड़ति स्म तदा) मलयजस्पर्शेन (मलयजस्य चन्दनस्येव सुरभिशीतलश्च यः स्पर्शः तेन) तं (श्रीकृष्णं) मानयन् (पूजयन्) मन्दवायुः अनुकूलम् (यथा सात् तथा) उपवाति (वीजयति

तदा) वन्दिनः (स्तावकाः) ये उपदेवगणाः (गन्धर्वादिगणाः) वाद्यगीतबलिभिः (वाद्यगीत-पुष्पवर्षादिभिः) परिवव्रुः (परितः उपासत) ।। 20-21 ।।

अनुवाद- हे माता यशोदे ! तुम्हारे पुत्र नन्दनन्दन कृष्ण कौतुकवश कुन्दकुसुमों की मालाओं के अलंकार धारण कर गोपगोधन से घिरे साथियों को लेकर हास्यपरिहास करते हुए यमुना में विहार करते हैं, तो शीतल-मन्द-सुगन्धी वायु उनको बीजन करता है और स्तावक (स्तोता, प्रशंसक) गन्धर्व चारों ओर वाद्यगीत-कुसुमवर्षण आदि द्वारा उनकी उपासना किया करते हैं ।। 20-21 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीपाद शुकदेव मुनि श्रीकृष्ण की गो-गणना आदि लीलाओं का वर्णन कर पुनः व्रजेश्वरी की सभा से श्रीकृष्ण की अन्य लीलाओं का संग्रह कर रहे हैं। श्रीकृष्ण का घर लौटने का समय निकला जा रहा है। कोई गोपसुन्दरी पुत्रविरहकातर, पुत्रगतप्राण, अनिष्ट की आशंका से आतुर माता यशोमती के पास आकर श्रीकृष्ण के घर आने की बात सुनाकर उन्हें स्वस्थ करने के लिये तीन युगल श्लोकों में श्रीकृष्णलीला का वर्णन कर रही है - पहले की तरह इसी आशा में कि यहाँ कुछ अधिक समय श्रीकृष्ण के दर्शन होंगे। श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद की वृहत्तोषणी टीका का अभिप्राय है - इस श्लोक में 'कुन्ददामकृतकौतुकवेशः' कहा है, 'कौतुक' का अर्थ क्रीड़ा-उत्सव, 'वेश' अर्थात् अवतंस अंगद आदि अलंकार। कुन्द पुष्पों के अलंकार - माला, अंगद (बाजूबन्द), चूड़ा इत्यादि। इससे श्रीकृष्ण का पहला वेश छोड़कर दूसरा धारण करना समझना चाहिये। 'गोपगोधन-वृतः' गोपों और गायों से घिरे कहा गया है। शाम को घर आने के लिये गोपों की दिनभर की क्रीड़ा-थकान आदि मिटाने को और गायों को अन्तिम बार जल पिलाने को ! इससे श्रीकृष्ण की गोपों और गायों की परिपाल्यता दिखाई गई है। 'गोधन' कहा गया है, गोपों का गाय ही धन है, और कोई धन नहीं। 'नन्दसूनुःतव वत्सः' यह बात श्रीनन्दयशोमती के हर्ष के लिये कही है। 'तव वत्सः' द्वारा यशोमती माता का वात्सल्यआधिक्य सूचित हुआ है। व्यवहारजगत् में भी माता-पिता दोनों में गर्भधारिणी माता का ही सन्तान के प्रति अधिक वात्सल्य दीखता है। यशोमती माता का वात्सल्य -

**''तनौ मंत्रन्यासं प्रणयति हरेर्गदगदमयी**
**सवाष्पाक्षी रक्षातिलकमलिके कल्पयति च ।**
**स्नुवाना प्रत्युषे दिशति च भुजे कार्मणमसौ**
**यशोदा मूर्तेव स्फुरति सुतवात्सल्यपटली ।।''**

(भ. र. सि. 3/4/14)

'प्रतिदिन भोर में मां यशोमती श्रीहरि के अङ्ग पर गद्गद् स्वर में मंत्रन्यास, अश्रुपूर्ण नेत्रों से

ललाट पर रक्षातिलक-रचना और भुजा पर रक्षाबन्धन करती हैं - पुत्रस्नेह से स्नुतस्तन्या (स्तनों से दूध बहाती) यशोदा मानो पुत्रवात्सल्य की मूर्ति के रूप में विराज रही हैं।' माता यशोमती नित्य श्रीकृष्ण के वनगमन के समय अपने स्तनों के दुग्ध से वक्षवस्त्र को सिक्त करते हुए, अश्रुवर्षण करते हुए बलदेव से कहती हैं -

''ओहे बलराम ! आमार पराण लइया जाइछो वने ।
चियाइया जारे पियाइते नारि, गोठे दिबो कोन प्राणे ।।
वसन धरिया हाते, फिरे गोपाल साथे-साथे, दण्डे-दण्डे दश बार खाय ।
एहेनो दुधेर छाबाल, वनेरे विदाय दिया, दैवे मरिबे बुझि माय ।।
कतो जन्मभाग्य करि, आराधिया हर गौरी, ताहे पाइलाम ए दुःखपासरा ।
केमने धैरज धरे, माये कि बलिते पारे, वने जाउक ए दुध-कोङरा ।।''

मां की करुण कण्ठ की कातर वाणी सुनकर बलदेव उन्हें धैर्य देते हुए कहते हैं -

''मांगो ! मने किछु ना करिहो भय।
बेली अवसान काले, गोपाल आनिया दिबो,
तोरे आमि कहिनु निश्चय।।''

व्रजबाला ने माता यशोमती को 'अनघें सम्बोधन किया है। अघ अर्थात् 'दुःख'। जो कोई दुःख नहीं जानतीं, वे अनघे ! अथवा जिनके पास कोई दुःख नहीं रह सकता। श्रीकृष्ण तुम्हारे वात्सल्य-प्रेम से आकृष्ट होकर अभी घर आ जायेंगे, तब तुम्हारे कारण हम सबका दुःख भी दूर हो जायेगा। यह बात गोपिका अपने प्रेमयुक्त स्वभाव से, दैन्य से भरकर ही कह रही है, अन्यथा प्रेम के वश श्रीकृष्ण तो इन लोगों के महाभाव से सबसे अधिक वशीभूत हैं।

यशोमती माता श्रीकृष्ण के नाना प्रकार के अनिष्ट की आशंका से कातर हैं। व्रजबाला उन्हें धैर्य देने के लिये श्री कृष्ण के आने में हुए बिलम्ब का कारण बता रही है। 'तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार' हे माता ! तुम्हारे पुत्र यमुना के जल में या उसके तट पर विहार कर रहे हैं, इसका कारण यह है कि वे प्रणयी या स्नेहविशेष के पात्र अपने सहचरों के नर्मद (आनन्ददाता) हैं, उनके साथ परिहास करने में विशारद हैं। तुम्हारे पुत्र के शीघ्र गृहागमन में यह एक विघ्न है। सहचरों के साथ नर्म आलाप (रस-परिहास युक्त वार्ता) उन्हें अनुकूल या अति प्रिय है। और सहचरों को भी उनके साथ नर्मरसमय खेल अत्यन्त प्रिय है। खेल में मत्त हो जाने से उन्हें दिन ढलने पर भी घर लौटने का ध्यान नहीं रहता। तुम्हारे पुत्र के बिलम्ब का यह एक अन्य कारण है। किसी-किसी दिन तो श्रीकृष्ण ही उन्हें घर लौटने की याद दिलाते हैं -

''पाल जड़ करो श्रीदाम, सान देओ शिङ्गाय ।
सघने विषम खाइ, नाम करे माय ।।
आजि माठे आमादेर विलम्ब देखिया ।
हेनो बुझि कान्दे माय पथपाने चाइया ।।
बेलि-अवसान हैलो, चलो जाइ घरे ।
माये ना देखिया प्राण केमन जानि करे ।।
बलराम-दास कहे शुनि कानाइर बोल ।
सकल राखाल माझे पड़े उतरोल ।।''

'मन्द वायुरुपवात्यनुकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन' 'मलयज' दक्षिणी पवन – इससे वायु के शीतल, मन्द, सुगन्ध तीन गुण समझ में आते हैं। 'उपवाति' ऐसा सुखद वायु उनको बीजन कर रहा है। इससे वसन्तकाल भी समझ में आता है। यद्यपि कुन्द कुसुम कार्तिक में ही विकसित होते हैं, वसन्त में नहीं, तथापि सभी ऋतुओं या षड़ऋतु के आश्रयस्थल वृन्दावन में वसन्त में भी कुन्द पुष्पों का विकास सम्भव है। यहाँ लीला के अनुकूल ही काल आदि प्रकाशित होते हैं। जैसे श्रीकृष्ण की रासलीला की इच्छा होते ही आकाश में पूर्णिमा का चन्द्र उदित होता है, वहाँ तिथि की कोई अपेक्षा नहीं। वैसे ही श्रीकृष्णलीला के अनुकूल होकर ही कुसुमादि का विकास होता है, सुखद वायु प्रवाहित होता है। यमुना के श्यामल जल में विहार करने के लिये श्रीकृष्ण पहला वेश त्यागते हैं, शुभ्र कुन्द-कुसुमों की मालायें धारण करते हैं। व्रजदेवी कह रही है – प्रणयी सखाओं के साथ अनुकूल परिवेश में यमुनातट पर कृष्ण स्वछन्द रूप से विहार करते हैं, यह एक कारण है कि घर आने में विलम्ब हो रहा है।

अन्त में बोली – 'वन्दिनस्तमुपदेव गणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रु' स्तावक (बन्दी) गन्धर्व वाद्यगीत कुसुम-वर्षण आदि द्वारा चारों ओर उनकी उपासना करते रहते हैं। लघुतोषणी में श्रीजीवपाद ने कहा है – इससे वन्दी स्तावकों के गीतों द्वारा स्तुति समझ में आती है। गीतों की प्रधानता के साथ वाद्य आदि, इसलिये श्रीधरस्वामिपाद ने भी 'उपदेव' या उपहार का अर्थ गन्धर्वगण ही बताया है। 'बलि' या उपहार का अर्थ दिव्य वस्त्रअलंकार, भोग आदि सामग्री भी जानना होगा। 'परिवव्रु' वे श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर कर उपासना कर रहे हैं, उनके घर आने में विलम्ब करा रहे हैं। मां ! तुम चिन्ता न करो, वायु और उपदेवताओं का शीघ्र ही शुभप्रस्थान होगा, श्रीकृष्ण का भी शीघ्र ही सुखागमन होगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कहते हैं, अपरान्ह में श्रीकृष्ण के लौटने में विलम्ब को लेकर माता यशोमती उनके नाना प्रकार के अनिष्ट की आशंका से कातर हो रही हैं, यह देखकर कोई गोपबाला

उन्हें सान्त्वना दे रही है। हे अनघे ! यशोदे ! तुम्हारा प्राचीन या अर्वाचीन (हाल का) ऐसा कोई पाप नहीं है, जिससे तुम्हारे पुत्र का कोई अनिष्ट हो सके, इसलिये थोड़ा-सा विलम्ब देखकर ही तुम असुर आदि की ओर से उनके अनिष्ट की आशंका क्यों कर रही हो ? व्रज में जिनकी महापुण्यवान-शिरोमणि के रूप में ख्याति है, और महापुण्यवती एवं यशस्विनी होने के कारण तुम्हारा नाम यशोदा है। वे तुम्हारे वत्स (लाड़ले), महावात्सल्यमयी मां की सन्तान हैं। इस जगत् में माता-पिता के अभाग्य के कारण ही बालक का अनिष्ट होता है - यह बात प्रसिद्ध ही है। इसलिये तुम लोगों के पुत्र श्रीकृष्ण के किसी प्रकार के अनिष्ट की तो सम्भावना ही नहीं।

हे माता ! तुम्हारे पुत्र को वन से घर आने में विलम्ब क्यों होता है, इसके विषय में हमने गोपबालकों से जो सुना है, बताती हूँ, सुनो ! मलय पर्वत पर उत्पन्न चन्दन के वृक्षों को स्पर्श कर जो मन्द मलयपवन प्रवाहित होता है, उसके सेवन से तुम्हारे पुत्र की गति मन्थर हो गई है। फिर स्तावक उपदेवता या गन्धर्वगण अपनी-अपनी वाद्य-गीत आदि विद्याओं का प्रदर्शन उनके आगे कर रहे हैं। वे लोग श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर कर उनकी सेवा कर रहे हैं, वे भी उनकी गुणावली का अनुमोदन कर रहे हैं। गुणज्ञ व्यक्ति गुणी जनों के गुणों से आनन्द ही प्राप्त करता है। तभी घर आने में थोड़ा विलम्ब हो रहा है। इसलिये तुम्हारा खेद करना उचित नहीं। वे लोग तुम्हारे पुत्र को इतना सम्मान दे रहे हैं, यह तुम्हारा भाग्य ही है ।। 20-21 ।।

**वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वंद्यमानचरणः पथि वृद्धैः।**
**कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणु- रनुगेड़ितकीर्तिः।। 22।।**
**उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक्।**
**दित् सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजहर- भूरुडुराजः।। 23।।**

**अन्वयः** - यद् (यस्मात्) अगध्रः (अगं धरतीति गोवर्द्धनधरः) व्रजगवां (व्रजे निबद्धानां

गवाम् अनुकम्प्यानामस्माकं च) वत्सलः (हितकृत्) वृद्धैः (ब्रह्मादिभिः) पथि वंद्यमानचरणः अनुगेड़ितकीर्तिः (अनुगैः गोपैः ईड़िता गीता कीर्तिः यस्य सः) गीतवेणुः (गीतः वेणुः येन सः) दिनान्ते कृत्स्नगोधनम् (सकलं गोधनम्) उपोह्य (एकीकृत्य) श्रमरुचाः (श्रमयुक्तया कान्त्या) अपि दृशीनाम् (नेत्राणाम्) उत्सवम् (हर्षम्) उन्नयन् (उच्चैः प्रापयन् खुररजः छुरितस्रक् खुररजोभिः छुरिता व्याप्त्या स्रक् यस्य सः) देवकीजष्ठभूः (देवकीजठरसागरोद् भूतः) एषः उडुराजः (श्रीकृष्णचन्द्रः) सुहृदाशीषः (सुहृदामस्माकमाशिषः मनोरथस्य दित्सया (दातुमिच्छया) एति (आगच्छति) ।। 22-23 ।।

**अनुवाद**- जो व्रजजनों और गायों के हितकारी हैं, गोवर्द्धनधारी हैं; मार्ग में ब्रह्मा आदि देवगण जिनके श्रीपादपद्मों की वन्दना कर रहे है; दिन बीतने पर सभी गायों को एकत्रित कर जो वेणुवादन कर रहे हैं; सखायें जिनकी कीर्ति का गायन कर रहे हैं - देवकी के गर्भरूपी सागर से उद्भूत वही श्रीकृष्णचन्द्र सुहृत् जनों का मनोरथ पूरा करने की इच्छा से गोष्ठ से लौट रहे है। उनके कण्ठप्रदेश में गोरज-मण्डित माला शोभा पा रही है। जो कलान्त होते हुए भी अपनी कान्तिशोभा से सभी का नयनानन्द बढ़ा रहे हैं ।। 22-23 ।।

## गीतामृतलेश टीका —

श्रीकृष्ण के घर लौटने में विलम्ब देखकर पुत्रवत्सला पुत्रस्नेहातुरा माता यशोमती की प्रबल उत्कण्ठा जानकर व्रजबालायें अट्टालिका पर चढ़ कर देखती हैं कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं। वे व्रजमहिषी को दिखा रही हैं। वे श्री कृष्ण का गृह-आगमन वर्णन कर रही हैं। उनकी बातों से यही व्यञ्जित हो रहा है कि श्रीकृष्ण के गृहागमन का हेतु उनकी कृपा ही है। वे परम उल्लास के साथ पहले कहती हैं - 'वत्सलो व्रजगवां'। श्रीधरस्वामिपाद ने इस अंश की व्याख्या में लिखा है - 'व्रजे निबद्धानां गवाम् अनुकम्प्यानामस्माकमित्यर्थः। वत्सलो हितकृत्।' हे माता ! जो गायें व्रज में निबद्ध (रुकी-बँधी) हैं अर्थात् जो सद्यप्रसूता है, और शकटवाही वृष - जिन्हें श्रीकृष्ण चराने के लिये वन में नहीं ले गये, उनके प्रति, फिर श्रीकृष्णविरह कातर सभी गोप-गोपियों के प्रति, अनुकम्पा के कारण और उनके हित के लिये वे व्रज-आगमन कर रहे हैं। वे सभी गायों और व्रजवासियों के प्रति सदय और अतिस्नेहशील हैं, इसी का उदाहरण दे रही हैं - 'यदगध्रः' श्रीकृष्ण ने परम कोमल होकर भी जिनके लिये गोवर्द्धनपर्वत धारण किया है । "यद्यस्मात् परमकोमलोऽप्यसौ तदर्थं धरतीत्यर्थः" (लघुतोषणी टीका) श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य माधुर्य-उपासक व्रजववासियों के आगे अपना प्रभाव विस्तार कर उन लोगों के माधुर्यमय सम्बन्धज्ञान को कभी भी शिथिल नहीं कर सकता। गोवर्द्धनधारण देखकर भी उन लोगों के मन में श्रीकृष्ण के प्रति कोमलता-बुद्धि ही अक्षुण्ण थी। गोप-गोपियों की धारणा थी - गोवर्द्धनपर्वत हम लोगों की अर्चना से प्रसन्न होकर हमारी रक्षा के लिये परमकोमल श्रीकृष्ण के हाथ पर अवस्थित हो गया है।

व्रजवासियों का शुद्धमाधुर्यप्रेम-सिन्धु पर्वत के गिरने पर भी किञ्चित भी आलोड़ित नहीं हुआ। गोवर्द्धन-धारण- जैसे श्रीकृष्ण के अति विशाल ऐश्वर्य के रूप में जो पहाड़ टूटा, उससे भी व्रजवासियों के माधुर्यभाव-सागर में कोई हलचल नहीं हुई।

श्रीकृष्ण गोवर्द्धन धारण किये खड़े हैं। यशोदा और रोहिणीमाता उन्हें दोनों ओर से पकड़कर अपने अञ्चलों से उनका श्रीमुखकमल पौंछने लगीं। माता यशोदा पल-पल में गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण को क्षीर-नवनीत आदि खिलाने लगीं। व्रजवासियों से अनुनय-विनय कर कहने लगीं - अरे व्रजवासियों ! मेरा कोमल बालक कृष्ण इतना बड़ा पर्वत हाथ पर लिये खड़ा है, यह देखकर तुम लोगों के मन में क्या थोड़ी-सी भी दया नहीं आ रही ? यदि थोड़ी देर तुम लोग पर्वत लेकर खड़े हो जाओ, तो मैं छौने (बच्चे) को स्तनपान करा दूँ। माता के आदेश से व्रजवासी लगुड़ (लाठी, सोटा) ऊपर कर पर्वत धारण करने को हुए, तो श्रीकृष्ण थोड़े हँसकर बोले - हे पिता ! हे माता ! मैंने गोवर्द्धन-पूजा का प्रवर्तन किया था, इसलिये गोवर्द्धन मेरे ही हाथ पर रहेंगे, और किसी के नहीं। श्रीकृष्ण सप्ताहभर इसी तरह गिरिराज धारण किये खड़े रहे, फिर भी व्रजवासियों के मन में किसी प्रकार का ऐश्वर्यभाव नहीं जगा। वे सात दिन सात रात आहार-निद्रा भूलकर बस श्रीकृष्ण के माधुर्य-रस में ही डूबे रहे।

**''गिरिधरवदनेन्दो रश्मिपीयूषधारं**
**पित्रदिह पशुजातं सप्तरात्रिन्दिवानि ।**
**क्षुधमपि सतृषं तन्नासयौ तर्हि तस्य**
**प्रणयिजनगणानां किं ब्रुवे न ब्रुवे किम् ।।**
**श्रीमुखे न जनता सुधारसैरस्य भूधरधरस्य पूर्यते ।**
**एवमप्यवयती तदा प्रसूस्तन्मुहुर्वहुरसैर-पूरयत् ।।''**

'व्रज के गो-महिष आदि पशु सात दिन सात रात निरन्तर गिरिधारी श्री कृष्ण के मुखचन्द्र की छटारूपी अमृतधारा पीते रहे, इसलिये उन्हें भूख-प्यास आदि किसी बात का अनुभव नहीं हुआ। तब श्रीकृष्ण का वदनचन्द्र दर्शन कर गोप-गोपियों की क्या अवस्था हुई, कौन बता सकता है ? गोवर्द्धनपर्वत के नीचे मण्डलाकार एकत्रित हुए गोप-गोपियाँ निरन्तर श्रीकृष्ण के मुखदर्शन रूपी अमृतरस से तुष्ट-पुष्ट हो रहे हैं, यह देखकर मा यशोमती बार-बार प्रचुर मात्रा में क्षीर-नवनीत आदि के रस से उनका मुख पूरती रहीं।'

'अगध्रः' अगं धरतीति गोवर्द्धनोद्धरणः (स्वामीपाद) - वर्तमान का प्रयोग किया गया हैं व्रजवासी अतिशय कृतज्ञ हैं, इसलिये उन्हें सर्वदा ही श्रीकृष्ण की गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाओं की स्फूर्ति होती। गोवर्द्धनधारण उपलक्ष्य से यह भी व्यञ्जित हुआ कि श्रीकृष्ण ने नाना प्रकार की विपदाओं

से उनकी रक्षा की है। तभी व्रजवासी श्रीकृष्ण के विरह में उन्हीं के आगे अपनी आर्ति ज्ञापन करते हैं और अपनी रक्षा के लिये भी प्रार्थना किया करते हैं।

जो भी हो, गोपियाँ यशोमती माता के आगे श्रीकृष्ण के आगमन का वर्णन कर रही हैं - हे माता ! ब्रह्मा-महेश्वर आदि देवता श्री कृष्ण की श्रीचरण-वन्दना कर रहे हैं, कारण- उनके व्रज में प्रवेश करने पर तो वे लोग उनके और दर्शन नहीं कर पायेंगे। तभी 'वंद्यमानचरणः पथि वृद्धैः' इस वर्तमान निर्देश से लगता है जैसे उन लोगों की वन्दना पूरी ही नहीं हो रही। श्रीकृष्ण उनकी दीर्घ वन्दना की इच्छा नहीं रखते, पर वे कुछ अधिक समय उनके दर्शन करने की लालसा से वन्दना कर रहे हैं, इसीलिये हे माता ! उन्हें घर आने में थोड़ा विलम्ब हो रहा है। हे माता ! तुम ऐसे परम गुणवान सन्तान की जननी हो, यह क्या तुम्हारे लिये सौभाग्य की बात नहीं ? वह सुनो मां ! वे सकुशल घर आ रहे हैं, इस बात की सबको सूचना देने के लिये वे वेणुवादन कर रहे हैं। उनके वेणु के रागताल आदि के अनुरूप उनके अनुगत ग्वालबाल श्रीकृष्ण की पूतना-मोक्षण आदि लीलाओं या दिन में वन में अनुष्ठित लीलाओं का गायन कर रहे हैं।

किसी दिन कोई-कोई नर्मसखा क्या करते हैं, ब्रह्मा आदि देवताओं के चले जाने के बाद उनकी तरह हाथ जोड़कर घुटनों के बल बैठकर श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को व्यक्त करते उनके स्तुति-वचनों को दुहराते हुए श्रीकृष्ण का परिहास करते हैं। देवता लोग तो उनके सखा श्रीकृष्ण को नहीं जानते, तभी उन्हें ईश्वर समझ कर स्तुति करते हैं। यदि श्रीकृष्ण ईश्वर ही हैं, तो खेल में उनसे हारेंगे क्यों ? और क्यों उनके जूठे फल आदि खायेंगे ? इस प्रकार ये सखा श्रीकृष्ण को शुद्ध सख्यरस-माधुरी का आस्वादन कराते हैं और स्वयं भी श्रीकृष्ण का सख्यरस आस्वादन करते हैं।

अथवा, जैसे गोपबालायें दिन में अपने दिवाविरह के नाश के लिये श्री कृष्ण का विरहगीत कीर्तन करती हैं, वैसे ही सखा रात्रिविरह-दुःख से निस्तार पाने के लिये श्रीकृष्ण की लीलाओं का कीर्तन करते हैं। 'उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन्' अर्थात् श्रमशोभा की कान्ति से वे सभी के नयनों को आनन्द प्रदान कर रहे हैं। 'श्रमशोभा' का अर्थ है - नीलमणिदर्पण में मुक्ताबिन्दुओं की तरह उनके श्रीवदन पर घर्मबिन्दु (पसीना) शोभा पा रहे हैं। अधरबिम्ब थोड़े परिशुष्क हो गये हैं। इससे एक अपरूप शोभा का विकास हुआ है। विशेषतः श्रीकृष्ण गोपवेश में गोचारण कर दिनान्त में घर लौट रहे हैं, गोप-गोपियों के लिये श्रीकृष्ण की उसी स्वाभाविक श्रमरुचि (श्रमशोभा) का परम मनोहर होना ही युक्तियुक्त है। श्रीकृष्ण की वह श्रमरुचि नयनधारीमात्र के लिये ही मनोहर है, फिर गोप-गोपियों की तो बात ही नहीं।

उसी श्रमशोभा का वर्णन कर रही हैं - कण्ठप्रदेश में गोरजमण्डित माला शोभा पा रही है।

माला गोरज-धूसरित है, इससे जाना जाता है कि श्रीकृष्ण के अन्यान्य अङ्गों में गोरज नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके सखाओं ने अपने-अपने उत्तरीय से अन्य अङ्गों की गोरज हटा दी है। परम अन्तरङ्ग प्रियजन द्वारा गूथी और प्रदत्त माला है, उसमें लगी रज साफ करने में यह आशंका है कि पंखुड़ियाँ टूट जायेंगी, तभी माला की रज नहीं हटाई। गोपियाँ माला से लिप्त रज दूर से ही दिखा रही हैं, कारण - उनके प्रेम के बल से लग रहा है जैसे श्रीकृष्ण अति निकट ही हैं। अथवा, श्री कृष्ण उन लोगों के सामने स्फुरित हो रहे हैं। हे माता यशोदे ! हम सब सुहृदगण की वासना पूरी करने के लिये वे कृपा करके ही गोप-आवास में आ रहे हैं, अन्यथा वन में उनकी सभी प्रकार की सुख-सम्पत्ति है।

यहाँ 'देवकीजठरभूरुडुराज' देवकी-जठर-सागर में उद्भूत श्रीकृष्णचन्द्र कहा है। देवकी से माता यशोमती ही समझना होगा। श्रीनन्द वृजराज हैं, तभी देव हैं; उनकी भार्या 'देवकी'। अथवा, 'द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च। अतः सख्यगभूतस्या देवक्या शौरिजायया।।'' नन्दगृहिणी यशोदा के दो नाम हैं - यशोदा और देवकी, इस नाम की समानता के कारण ही वसुदेव-पत्नी देवकी के साथ उनका सख्य है। उन्हीं देवकी या यशोदा माता के गर्भ-सागर से उद्भूत हैं श्रीकृष्णचन्द्र। दिन की प्रखर सूर्य-किरणों से ताप होता है, वह ताप पूर्णचन्द्र के उदय होने से शीतल हो जाता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण चन्द्रमा हैं, उनके सखा तारका, यही जाना जाता है। श्रीकृष्णरूपी पूर्ण चन्द्र का आविर्भाव-स्थान है देवकी या यशोदा का जठर, विशुद्धसत्वमय परमशुभ्र क्षीरसागर की तरह - यह भी ध्वनित हुआ ।। 22-23 ।।

**मदविघूर्णितलोचन ईषत् मानदः स्वसुहृदां वनमाली।**
**बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनक-कुण्डललक्ष्म्या।। 24।।**
**यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।**

मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्।। 25।।

**अन्वयः** - ईषत् मदविघूर्णितलोचनः (ईषद् मदेन विघूर्णिते विह्वलिते लोचने यस्य सः) बदरपाण्डुवदनः (ईषम् पक्कबदरवत् पाण्डुरं वदनं यस्य सः अत्र हेतु) कनककुण्डललक्ष्म्या मृदुगण्डं मण्डयन् (कनककुण्डलयोर्लक्ष्म्या कान्त्या मण्डयन् यस्मिन् तद्वदनं मण्डयन्निति) सुहृदां मानदः (प्रणामालिङ्गन- सस्मित-सम्भाषण-प्रणयावलोक- कृपावलोकनादि- लक्षणं यथोचित ददातीति तथा सः) द्विरदराजविहहारः (द्विरदराजः गजेन्द्रवद् विहारः यस्य सः) मुदितवक्त् एषः यदुपतिः दिनान्ते व्रजगवां दुरन्तं दिनतापं मोचयन् यामिनीपतिः (चन्द्रः) इव उपयाति (समीपम् आयाति) ।। 24-25 ।।

**अनुवाद**- ईषत् मदघूर्णित नयनों वाले, ईषत् पक्व बदरी (बेर) की तरह पाण्डुर वदन वाले (स्वर्ण कुण्डलों की शोभा से मृदु गण्ड मण्डित होने के कारण) सुहृद् गण का यथायोग्य सम्मान करने वाले, प्रफुल्लवदन यदुपति श्रीकृष्ण सन्ध्या के समय व्रज की गायों और गोप-गोपियों का दुरन्त दिवाताप दूरकर गजराज की तरह मन्थर अलस गति से रजनीपति चन्द्रवत् निकट ही उदित हो रहे हैं ।। 24-25 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीकृष्ण नगर के छोर तक आ गये हैं, पर घर पहुँचने में थोड़ा विलम्ब हो रहा है। गोपबालायें इसका कारण एक-दूसरे को बता रही है - सखियों ! वह देखो, उन (श्रीकृष्ण) के नयन ईषत् मदविघूर्णित हैं, अर्थात् पिता आदि के दर्शन से उत्पन्न आनन्दमद से और प्रेयसियों के दर्शन से उत्पन्न काम-मद से थोड़े-से विघूर्णित या विह्वल हो रहे हैं। 'मद' का अर्थ है आनन्दजनित चित्तविकार; वह स्वाभाविक रूप से ही, या विशेषतः नवयौवन के कारण और गोपयुवतियों कं दर्शन के कारण प्रकट हो रहा है। 'एवं बहुष्ववपि व्यङ्क्तेषु तत्सभायां तत्तदुपलब्धिस्तु स्ववासनानुसारेणैवेति न रससांकर्यदोषः।' (लघुतोषणी) अर्थात् उस सभा में दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि सभी रसों के आश्रय पार्षद सम्मिलित हैं। उन्हें अपनी-अपनी रस-वासना के अनुसार ही श्रीकृष्ण के ईषत् मदघूर्णित नयनों के भाव की उपलब्धि हो रही है। इसलिये इसमें रससांकर्य (रसमिश्रण) दोष नहीं है। उनके नयन ईषद् मद के साथ विविध भावों से घूर्णित हो रहे हैं। इससे श्रीकृष्ण के नेत्रों का विलासविशेष वर्णित हुआ। व्रज में प्रवेश के समय सभी सुहृद्गण को यथायोग्य सम्मान प्रदान कर रहे हैं, अर्थात् पुरोहित मामा, भ्राता, दास, तमोली आदि - सभी को यथायोग्य प्रणाम, आलिङ्गन, ईषद् हास्यसहित सम्भाषण, प्रणयावलोकन (प्रेमदृष्टि), नर्मावलोकन, कृपावलोकन आदि द्वारा सम्मानित कर रहे हैं। 'यद्वा मानं चिरं गोपैः सह क्रीड़या सत्वरानागमनेन मानिनीत्वं द्यति खण्डयतीति तथा सः।' (वृहत्तोषणी) अथवा, वे गोपबालकों

के साथ बहुत देर खेल में मत्त रहे, शीघ्र घर नहीं आये, इस बात को लेकर मानिनी प्रियाओं की कटाक्ष-भङ्गिमा में जो मान झलक रहा है, उसका वे दृष्टिविलास से ही खण्डन कर रहे हैं, तभी वे मानद हैं। 'दो' धातु अवखण्डन (नष्ट करने, काटने) के अर्थ में। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है – ''स्वसुहृदां प्रेयसीनां चन्द्रशालिकाधारुह्य हसितापाङ्ग-नीलोत्पलैः पूजयन्तीनां ईषदन्यजनालक्षितं मानमभीष्टदान व्यञ्जकैः कटाक्षैर्ददातीति सः'' अर्थात् जो प्रेयसियाँ चन्द्रशालिका आदि पर चढ़कर हास्यपूर्ण कटाक्ष के रूप में नीलोत्पल (नीलकमल) द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा कर रही हैं, श्रीकृष्ण उनके प्रति ईषत् अर्थात् दूसरों की दृष्टि से बचकर मान या अभीष्ट दानव्यञ्जक कटाक्षपात कर रहे हैं।

'वनमाली' शब्द से समझा जाता है कि पूर्वोक्त प्रकार से सखाओं द्वारा गूँथी वनमाला – कुन्दकुसुमों की पैरों को छूती अम्लान वनमाला श्रीकृष्ण के कण्ठदेश में शोभा पा रही है। 'बदरपाण्डुवदनः' थोड़े-से पके बेर की तरह श्रीकृष्ण का पाण्डुर (पीत-धवल) वदन है। विरही व्रजवासी अपने-अपने भाव के अनुसार व्रजजनों के विरह में श्रीकृष्ण के चेहरे को पाण्डुर वर्ण का देख रहे हैं। 'मृदुगण्ड' कैशोर-स्वभाव के कारण मृदुल गण्डस्थानों की अति सुकोमल चिक्कण कान्ति झलक रही है। फिर वे कान्तिपूर्ण गण्डदेश 'कनककुण्डलक्ष्म्या मण्डयन्' – गण्डस्थलों पर झूल रहे हैं कानों के स्वर्ण कुण्डल। श्रीकृष्ण गजेन्द्र की तरह मन्थर-अलस गति से चल रहे हैं, सो उन कुण्डलों के दोलन से गण्डस्थलों की चिक्कण कान्ति विशेषरूप से छिटक रही है।

इस श्लोक में व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण को 'यदुपति' कहा है। वस्तुतः श्रीनन्द आदि गोप भी यादव ही हैं। श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद के श्रीगोपालचम्पू ग्रन्थ के तृतीय पूरण में वर्णन है कि पूर्व काल में यदुवंश-विभूषण 'देवमीढ़' नामक सर्वगुणसम्पन्न नरपति मथुरा मण्डल में राज्य करते थे। उनकी एक पत्नी क्षत्रिय और एक वैश्य थी। क्षत्रिय पत्नी के गर्भ से शूर और वैश्य पत्नी के गर्भ से पर्जन्य नामक पुत्र ने जन्म ग्रहण किया। पूर्वकाल में राजाओं के असवर्ण विवाह का प्रचलन था; उच्च वर्ण पिता के औरस से कनिष्ठ वर्णा पत्नी के गर्भ से जो सन्तान जन्म लेती, उसका परिचय माता के वर्ण से ही होता। उसी रीति से पर्जन्य के पाँच पुत्रों में श्रीनन्द अन्यतम थे। अतएव ये गोप भी यादव हैं, तभी गोपश्रेष्ठ श्रीकृष्ण भी 'यदुपति' हैं। व्रजगोपों को भी 'यादव' कहा जाता था, इसका प्रमाण स्कन्दपुराण के वचनों में भी पाया जाता है। बलदेव ने यदुपुर से व्रज आकर गोपों को कहा था – ''यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम वल्लभा इति'' अर्थात् यादवों में आप लोग ही मेरे परमप्रिय हैं। श्रीबलदेव की इस बात से यह प्रमाणित होता है, कि श्री नन्द आदि गोपों को भी 'यादव' कहा जाता था। समग्र गोकुल के सभी के परम आश्रय और परम प्रेमास्पद होने के कारण श्रीकृष्ण 'यदुपति' – यदुगण या गोपगण के पति हैं। गोपीगीत में भी व्रजदेवियों ने कहा है – 'सख उदेयिवान सात्वतां कुले' हे सखे ! तुम वृष्णिकुल या

यदुकुल में अवतीर्ण हुए हो।

'यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचय् व्रजगवां दिनतापम्।' श्रीकृष्ण दिवस का अवसान होने पर व्रज के गोप-गोपियों और गायों का दुरन्त दिवाताप निवारण कर यामिनीपति चन्द्र की तरह उदित हुए। अपने स्वयं के विरह में कातर व्रजवासी गोप-गोपियों के साथ मिलकर और गायों को वत्सों से मिलाकर उनका दिवाताप दूर किया।

गोष्ठ से गोपुर के आगे आकर श्रीकृष्ण व्रजराज श्रीनन्दमहाराज के नयनगोचर हुए, तो व्रजराज भुजायें फैलाकर उन्हें वक्ष से लगाकर परम आनन्द से पुलकित-कम्पित हो गये। पिता के वक्षस्थल पर श्रीकृष्ण को देखकर लगता था जैसे कैलाशपर्वत के मध्य में सरोवर में एक अतुलनीय नीलकमल विकसित हो तैर रहा है। व्रजराज अपने प्राणाधिक तनय की पगड़ी थोड़ी सरका कर वात्सल्यस्नेह से भरकर उनका मस्तक सूँघने लगे; उनकी अश्रुधाराओं से श्रीकृष्ण का मस्तक अभिषिक्त हो गया।

जो गोष्ठेश्वरी यशोमती माता सन्तान के घर आने में विलम्ब को लेकर बार-बार घर से आँगन में और आँगन से घर में आ-जा रही थीं, सन्तान के नाना प्रकार के अनिष्ट की आशंका से कातर होने के कारण जिनका वदन परिशुष्क हो गया था, उन्होंने उसी प्राणाधिक तनय को निकट देखकर नेत्रों से दो यमुना-धाराओं और स्तनों से दो गंगा-धाराओं की सृष्टि की। व्रजेश्वरी आनन्द-जड़ता के कारण पुत्र को गोद में नहीं ले पा रहीं, उससे कुछ पूछ नहीं पा रहीं, केवल अश्रु बहा रही हैं। तब रोहिणीमाता ने दीपावली से श्री कृष्ण-बलदेव की आरति की और श्री कृष्ण को यशोमती की गोद में बिठा दिया। उस दृश्य को देखकर लगा मानो वात्यल्यरूपी अमृतसिन्धु की गोद में चन्द्रमा बैठा है अथवा प्रेमरूपी माणिक्यराज अपनी खान में बैठा है। श्रीकृष्ण मां की गोद में बैठे हैं, फिर भी उनकी आनन्द-जड़िमा दूर नहीं हो रही, यह देख कर श्रीकृष्ण बोले - हे माता ! में तुम्हारी गोद में बैठा हूँ, फिर भी तुम मेरे प्रति दृष्टिपात न कर नयनधारा ही वर्षण कर रही हो ! यह कहकर उन्होंने अपने हाथों से मां के आँसू पौंछकर उन्हें परम आनन्द प्रदान किया। तब मां ने वात्सल्य से भरकर अपने करकमलों से अपने तनय का अङ्गमार्जन कर दासों को उनके स्नान आदि कार्यों में नियुक्त किया। श्रीकृष्ण के स्नान-वेशभूषा आदि पूरे हुए, तो (मां ने) विविध चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय (चबाने वाले, चूसने वाले, चाटने वाले, पीने वाले) पदार्थ खिलाये। (श्रीकृष्णभावनामृत) ।। 24-25 ।।

## श्री शुक उवाच

## एवं व्रजस्त्रियो राजन् ! कृष्णलीला नु गायतीः।
## रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः।। 26।।

**अन्वयः** - (हे) राजन् ! तच्चित्ताः (तस्मिन! श्रीकृष्णे चित्तं यासां ताः) तन्मनस्काः (तस्मिन् मनो यासां ताः) महोदयाः व्रजस्त्रियः अहः सु (दिनेषु) एवं (पूर्वोक्तानुरूपेण) कृष्णलीला न गायतीः रेमिरे ।। 26 ।।

**अनुवाद**- श्रीशुकदेव बोले - हे राजन् ! श्रीकृष्णगतचित्ता कृष्णार्पितमना, महोदया व्रजदेवियों ने पूर्वोक्त प्रकार से श्रीकृष्णलीला का निरन्तर गायन कर आनन्द प्राप्त किया ।। 26 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रील श्रीधर स्वामी की इस श्लोक की व्याख्या का तात्पर्य यह है - दिन में श्रीकृष्ण गोचारण को चले जाते हैं, तो श्रीकृष्णविरहिणी व्रज-बालायें जो असह्य विरहदु:ख भोगती है, इस विश्व में उसकी कोई तुलना ही नहीं। ऐसे विरह दु:ख में भी वे श्रीकृष्णलीला का गायन करती हैं, कारण - वे हैं तच्चित्ताः' श्रीकृष्णगत चित्ता, अर्थात् उनकी समग्रचेतना और जीवन श्रीकृष्ण को समर्पित है। वे तन्मनस्का हैं, अर्थात् उनका संकल्प-विकल्पात्मक मन श्रीकृष्ण को ही समर्पित है। परमानन्द घनविग्रह श्रीकृष्ण को ऐसा मनप्राण समर्पण समस्त पुरुषार्थों का सार और महा सौभाग्य का परिचायक है। इनके चित्त मन प्राण श्रीकृष्ण को जिस प्रकार समर्पित हैं, उससे ये यथार्थ ही महोदया हैं। 'अतएव महानुदय उत्सवो यासां ते' (स्वामी टीका) क्या विरह में, क्या मिलन में, श्रीकृष्णगत मनप्राणा वजदेवियाँ निरन्तर परमानन्दसागर में तैरती हैं। इसलिये दिन के समय ये निदारुण विरहदु:ख में लीन होकर भी श्रीकृष्णलीला गायन कर परम आनन्द-सागर में डूबी रहतीं। श्रीकृष्ण विरह दु:ख बाहर से दु:ख या ज्वाला की तरह लगने पर भी वस्तु विचार से आनन्द की घनीभूत परिपक्व दशा विशेष है। तरल जल अतिशय शैत्य (शीतलता) के संयोग से बर्फ में परिणत हो जाता है। उस बर्फखण्ड के स्पर्श से हाथ-पैरों को अग्निज्वाला की तरह अनुभव होता है, पर वह अग्नि का प्रतियोगी हिम ही है। इस प्रकार घनीभूत परम आनन्द ही श्रीकृष्णविरहज्वाला की अनुभूति जगाता है; वस्तुत: उसका स्वरूप जमा हुआ परमानन्द ही है। विरहिणी व्रजबालाओं के भीतर-बाहर श्रीकृष्ण का अजस्र स्फुरण जगता है, जो उन्हें असीम परमाननदरस-सागर में निमज्जित कर देता है।

श्रीसनातन गोस्वामिपाद कहते हैं- श्रील शुकदेव मुनि के श्रीमुख से व्रजदेवियों की विरहगीति

सुनकर महाराज परीक्षित परम प्रेम से भरकर मूर्छित हो गये। श्रीमत् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है- मोहनाख्य भाववती राधारानी के हृदय में जो अति विशाल श्रीकृष्णविरहानल (की ज्वाला) है, यदि उसकी धूमकणिका भी किसी प्रकार बाहर आ जाय, तो ब्रह्माण्डसमूह ही भस्मीभूत हो जाय। (श्री उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में मोहनाख्यभाव की ब्रह्माण्ड-क्षोभकारिता का दृष्टान्त) इसलिये व्रजबालाओं की विरहगीति सुनकर प्रेमिक भक्त श्रीपरीक्षित की मूर्छा, अस्वाभाविक नहीं। श्रील शुकदेव मुनि उन्हें प्रकृतिस्थ करने के लिये सम्बोधन कर रहे हैं - हे राजन् ! श्रीकृष्णलीला श्रवण करो। प्रेमिकों का आग्रह और आसक्ति श्रीकृष्ण की लीलाकथा सुनने में ही कहीं अधिक है, मूर्छादशा में नहीं। श्रीकृष्ण हैं परमानन्दघनमूर्ति, उनकी लीलाकथा भी वैसी ही परमानन्द रसमय है। महाभाववती व्रजसुन्दरियों के विरह-वाड़वानल की ज्वाला इतनी विशाल है, पर दिन में गोचारण के लिये श्रीकृष्ण के चले जाने पर श्रीकृष्णलीला-गायन ही उस विरहज्वाला को प्रशमित कर उन्हें सुखी करता, कारण - वे श्रीकृष्णगतचित्ता और श्रीकृष्णार्पितमना थीं, इसलिये सर्वदा ही प्रेमार्त थीं। विशेषत: वे महोदया हैं। श्रीकृष्णलीलागायन में उनके आगे महान उदय होता है, अर्थात् साक्षात् श्रीकृष्ण का आविर्भाव घटित होता है। श्रीकृष्ण के गृहआगमन का वर्णन करने में उनके रूप-लीला आदि का गायन करतीं, तो चित्त के आवेश के कारण उनके आगे साक्षात् की तरह ही श्रीकृष्ण का आविर्भाव होता। वे तदगतचित्ता और तदगतमना थीं, इसलिये। अब सन्ध्यासमय श्रीकृष्ण के घर आने पर तो स्वत: ही उनके दर्शन का सुख-लाभ होता है। वे दिन की आर्ति से निस्तार कैसे पा रही हैं, यह बताने के लिये उस (दर्शन-सुख) का और विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया।

श्रील जीवगोस्वामिपाद कहते हैं - गोपियाँ 'तच्चित्तास्तन्मनस्का' उनके श्रीकृष्णगतचित्ता और श्रीकृष्णगतमना होने का अर्थ है - उनका ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न सभी तदगत या श्रीकृष्णगत है। 'महोदया:' का अर्थ है, जिनमें श्रीकृष्ण का महान उदय या आविर्भाव है; इसलिये जिनके लिये सभी प्रकार की सत्कर्मसिद्धि सुलभ है। श्रीकृष्ण के उत्तरोत्तर आविर्भाव-वैशिष्ट्य से इन गोपियों के 'रमण' या आमोद प्राप्त करने का वैशिष्ट्य भी जानना होगा। 'वत्सले व्रजगवां' (श्लोक 22) से उन लोगों के निकट श्रीकृष्ण का साक्षात् आविर्भाव है, अतएव साक्षात् रमण या परमानन्द-प्राप्ति है। इसके बाद से उत्तरोत्तर परमानन्द पाने की विशिष्टता। उससे पहले विरह में भी रमण; श्रीकृष्ण के लीलागायन से उन सबके मन में श्रीकृष्ण की साक्षात् स्फूर्ति के कारण परम आनन्द की प्राप्ति। अतएव क्या विरह, क्या मिलन, उनके लिये सर्वदा ही महा आनन्दरस का आस्वादन। (लघुतोषणी टीका)

वैष्णवशास्त्रों में श्रीकृष्णविरहरस के आस्वादन की चमत्कारिता प्रतिपादित की गई है। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है - यद्यपि श्रीकृष्णविरह में प्रेमिक के अन्त:करण में विरहरूपी दावानल

से पहले तीव्र सन्ताप उत्पन्न होता है और उससे असीम शोक एवं दु:ख प्रकट होता है –

''तत्रापि सम्भोगसुखादपि स्तुतः
स कोऽप्यनिर्वाच्यतमो मनोरमः ।
प्रमोदराशिः परिणामतो ध्रुवं
तत्र स्फुरेत्तद्रसिकैकवेद्यः ।।

(वृ. भा. 1/7/126)

तथापि वह दु:ख मिलन-आनन्द से कहीं अधिक स्तवनीय या प्रशंसनीय होता है, कारण-वह किसी अनिर्वचनीय मनोरम प्रमोदराशि की स्फूर्ति करा देता है। यह बात एकमात्र रसिकजन ही समझ सकते हैं। अर्थात् विरहहजनित अतिशय प्रगाढ़ दु:ख की परिपक्व अवस्था में एक अपूर्व प्रमोदराशि का उदय होता है। इस श्लोक के 'कोप्यनिर्वाच्यतम:' शब्द की व्याख्या में श्रील गोस्वामिपाद ने लिखा है – ''ब्रह्मानन्दोऽनिर्वाच्यस्तस्मादप्याधिक्येन भजनानन्दोऽनिर्वाच्यतर:, तत्र च प्रेमानन्दोऽनिर्वाच्यतम:, तत्रापि विरहार्तिद्वारा जात: सन् परमान्त्यकाष्ठाविशेषप्राप्त्या परममहानिर्वाच्यतम इत्यर्थ:।'' ब्रह्मानन्द अनिर्वाच्य है, श्रुति ने ब्रह्मानन्द को लक्ष्य कर कहा है – 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् मन के साथ वेदलक्षण वाक्य जिससे निवृत्त होते हैं। इससे पता चलता है कि ब्रह्मानन्द अनिर्वचनीय है। भजनानन्द ब्रह्मानन्द से कहीं अधिक है, इसलिये वह अनिर्वाच्यतर है; फिर प्रेमानन्द उससे अधिक होने के कारण अनिर्वाच्यतम ही होगा। तथापि श्रीकृष्णविरहानल के वेग से उत्पन्न जो दु:ख-शोक है, वस्तुविचार से होने के कारण वह परम महान-अनिर्वाच्यतम है। यह केवल श्रीकृष्णविरही जन के अनुभव का विषय है। ''एइ प्रेमा जार मने, तार विक्रम सेइ जाने, विषामृते एकत्र मिलन।'' (चै. च.) श्रीकृष्णविरहजनित दु:ख-शोक प्रगाढ़ आनन्दस्वरूप है, मिलन-आनन्द से भी अधिक है, इसका एक दृष्टान्त दे रहे हैं –

''इच्छेत् पुनस्तादृशमेव भावं
विलष्टं कथञ्चित् तदभावत: स्यात् ।।

(वही – 128)

'इसलिये श्रीकृष्णविरह-विधुर चित्त हर समय कृष्णमिलनानन्द में मग्न रहने से पुन: वैसे भाव या विरहभाव की इच्छा करता है। विरहजनित शोक आदि आर्तिभाव का अभाव होने पर उन लोगों का चित्त दु:खी भी होता है।' 'रेमिरे' शब्द की व्याख्या में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है – 'रेमिरे इति विप्रलम्भप्रेम्नो दु:खमयत्वेन तदाविष्टजन प्रतीतत्वेऽपि परमसुखमयत्वं प्रेक्षावत् प्रतीतस्तत: प्रेम्न: पुरुषार्थचूड़ामणित्वं व्यञ्जितम्'' (सारार्थदर्शिनी टीका) श्रील शुकदेव मुनि ने कहा है – दिन में

श्रीकृष्ण गोचारण को चले जाते, तो कृष्णविरहिणी व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णलीलागायन से परमानन्द प्राप्त करतीं। इससे जाना जाता है कि विप्रलम्भमय प्रेम दु:खमय प्रतीयमान होता है, पर विद्वदजनों का अनुभव है कि यह परमानन्दरसमय है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण में प्रबल आवेश रहता है। क्या विरह, क्या मिलन, कृष्णप्रेम प्रेमिकों को एक अनिर्वचनीय आनन्दसागर में निमज्जित रखता है। इसीलिये कृष्णप्रेम को पुरुषार्थ- चूड़ामणि कहा जाता है।

इस श्लोक की वृहत्तोषणी टीका के अन्त में क्रम बताया है। इस अध्याय में व्रजदेवियों ने श्रीकृष्णलीला का गायन किया है, उसी का क्रम। पूर्वान्ह, मध्यान्ह और अपरान्ह। द्वितीय युगल से आरम्भ कर क्रमश: तीन युगलों में पूर्वान्हलीला; अगले तीन युगलों में मध्यान्हलीला; फिर तीन में अपरान्ह लीला वर्णित है। इसके अतिरिक्त, माता यशोमती के आगे एक युगल, अपनी दशा बताने में एक, सन्ध्या के समय श्रीकृष्णदर्शनानन्द में एक। द्वादश युगलों में युगलगीत पूरा हुआ है। श्रीयुगलगीत समाप्त।

जय श्रीराधे !!

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दौ जयतः।
श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

# श्रीश्रीभ्रमरगीत

भगवत् स्वरूप भक्तों के अधीन है। श्रुति कहती है - ''भक्तिवशः पुरुषः'' (गोपालतापनी)। श्री दुर्वासा ऋषि से भगवान् ने कहा - ''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज'' (भा. 9/4/63) हे ब्रह्मण ! मैं अस्वतंत्र की तरह भक्त के अधीन हूँ।' भक्ताधीनता श्रीहरि का स्वभाव है। भक्तों की भक्ति या प्रेम के तारतम्य के अनुसार ही श्रीहरि की वश्यता में भी अन्तर हो जाता है। प्रेमिक भक्तों में श्रेष्ठता - कनिष्ठता के तारतम्य का निरूपण कौन करेगा ? श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने अपने श्रीवृहद्भागवतामृत प्रथम खण्ड में शास्त्रप्रसिद्ध प्रेमिक भक्तों के तारतम्य निरूपण-प्रसङ्ग में लिखा है - श्रीप्रल्हाद से श्रीहनुमान की श्रेष्ठता है, हनुमान की अपेक्षा पाण्डवों की, उनसे भी अधिक यादवों की, फिर उनमें उद्धवजी श्रेष्ठ, उद्धव से अधिक व्रजवासी, उनमें भी श्रीकृष्ण के सखा, उनसे अधिक वात्सल्य प्रेमिक श्रीनन्द यशोमती आदि, उनसे भी अधिक मधुरभाववती व्रजबालायें, सबसे ऊपर व्रजबाला-शिरोमणि श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधारानी ही सर्वश्रेष्ठतम हैं।

प्रेमिक भक्तों में ऐसा तारतम्य निरूपण करना कठिन काम है, कारण- प्रेमिकगण ही यह तारतम्य निरूपण करेंगे, फिर भी वे ''निज निज भाव सभे श्रेष्ठ करि माने। निज भावे करे कृष्णसुख आस्वादने।।'' (चै. च. आदि. 4) जब सभी प्रेमिक अपने-अपने भाव को श्रेष्ठ समझते हैं, तब श्रेष्ठ और कनिष्ठ का विचार उनके द्वारा कैसे सम्भव है ? तभी कहा - ''तटस्थ हइया मने विचार यदि करि। सब रस हैते शृङ्गारे अधिक माधुरी।।'' (वही) जो अपने रस में मग्न रहते हुए अन्यान्य रसों के अनुभाव आदि रस-उपकरणों का तारतम्य देखकर और तदनुरूप श्रीहरि की वश्यता का भी तारतम्य देखकर भक्तों के श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व के यथायथ पार्थक्य निरूपण में सक्षम हैं, यथार्थतः वे ही तटस्थ हैं। व्रजदेवियों के प्रेम की सर्वश्रेष्ठता निरूपण में सख्यमिश्रित दास्यरस के उपासक उद्धवजी ही तटस्थ हुए थे। भक्त के प्रेम के अधीन भगवान् भक्तों के प्रेम के अनुरूप उनका भजन करते हैं अर्थात् उन्हें भजन-फल देते हैं। यह उनका स्वभाव है। किन्तु व्रजबालाओं के भजन के अनुरूप भजन की उनकी सामर्थ्य नहीं है; वे इस प्रेम के आगे चिरऋणी हैं। ''न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम'' इत्यादि (भा. 10/32/22) भगवान के श्रीमुख की इस बात से यह प्रमाणित होता है।

श्रीकृष्ण के मधुरा चले जाने पर महाभाववती व्रजदेवियों ने उनके विरह में अहोरात्र रोदन

किया है, गृह आदि त्याग कर वृक्षतल को सर्वस्व बना लिया है। राधारानी मोहनाख्य भाव के चरम अनुभाव दिव्योन्माद के प्रबल आवेग में रह-रह कर मूर्छित हुई हैं, महाविरह-पीड़ा में ऐसी स्थिति आ जाती है कि देह में प्राण हैं कि नहीं। ये सभी संवाद श्रीकृष्ण के पास पहुँचे, फिर भी वे मथुरा में नीरव रहे, वृन्दावन नहीं आये। मथुरा में कंस वध हो गया। वसुदेव-देवकी बन्धन-मुक्त होकर अपने घर में सुख से रह रहे हैं कंस के अत्याचार के कारण भागे यादव भी अपने-अपने घर लौट आये हैं। शत्रु पक्ष प्राय निर्मूल हो गया, फिर भी वे वृन्दावन लौटकर क्यों नहीं आये ? उन्होंने शोकाहत श्रील नन्द महाराज को मथुरा से विदा किया, तो व्रज लौटने का आश्वासन देते हुए कहा था -

**''यात यूयं व्रजं तात वयञ्च स्नेह- दुःखितान् ।**
**ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ।।''**

(भा. 10/45/23)

'हे पिता ! अब आप लोग व्रज जाइये। हम यहाँ सुहृदगण को सुखी कर स्नेहदु:खित आप सबके दर्शन करने आयेंगे।' यहाँ जो श्रीवसुदेव आदि हैं, उन्हें कहा 'सुहृद' अर्थात् मित्र या बान्धव और श्रीनन्दमहाराज आदि को कहा ज्ञाति या सगोत्र अर्थात् वे (श्रीकृष्ण) उन लोगों की सन्तान हैं। फिर भी भक्त प्रेमवश श्रीहरि व्रज में लौटकर क्यों नहीं आये ? यह सत्य ही एक महारहस्यमय बात है। यद्यपि बहुत दिनों बाद अर्थात् दन्तवक्त्र वध के पश्चात् एक बार आये थे, ऐसा कहा जाता है, फिर भी उसके पहले ही समस्त व्रजवासियों की महाविरहपीड़ा, विशेषत: गोपियों की श्रीकृष्णविरह में क्षणकल्पता की असहनीय विरहानल-ज्वाला, सर्वोपरि श्रीमती राधारानी के मोहनाख्य महाभाव के चरम अनुभाव दिव्योन्माद की उद्घूर्णा, चित्रजल्प आदि सब अवस्थायें - वह अवर्णनीय है। वह अवर्णनीय महाभाव ही इस भ्रमरगीत की विषयवस्तु है।

जो भी हो, वसुदेवजी कारागार से मुक्त होते ही अपने दोनों पुत्रों के उपनय-संस्कार की बात सोचने लगे, क्योंकि उनके उपनयन का मुख्यकाल बीता ही जा रहा था। ''एकादश समास्तत्र गूढ़ार्चि: सबलोऽवसत्'' (भा. 3/2/26) इससे जाना जाता है कि श्रीकृष्ण ने ग्यारह वर्ष व्रज में लीला की थी। वसुदेवजी ने कुलपुरोहित श्रीगर्गाचार्य द्वारा श्रीकृष्ण-बलदेव का उपनयन-संस्कार सम्पन्न कराया। इसके बाद गायत्री पुरश्चरण हेतु श्रीगुरुगृह में वास, श्रीगुरुसेवा, और साङ्गवेद-अध्ययन के लिये दोनों भाई गुप्त रूप से श्रीसान्दीपनि मुनि के निकट अवन्तीनगर गये। यह सर्वज्ञ भगवान् की एक लीला माधुरी है। आदर्श संरक्षण भी है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये श्रीगुरुपदाश्रय ग्रहण करना अवश्य कर्तव्य है, विश्वमानव को यह शिक्षा देने के लिये यह भगवान् की मर्यादारक्षणलीला है। गुप्त रूप से ! श्रीकृष्ण बलदेव मथुरा छोड़कर दूर देश चले गये हैं, यदि यह बात शत्रु पक्ष (जरासन्ध आदि) को पता चल गई,

तो वह यादवों पर आक्रमण कर देंगें। उधर श्रीनन्द आदि व्रजवासियों को यह पता चला, तो उनके मन में अति गहन दु:ख होगा। विशेषत: व्रजदेवियाँ, जिन्होंने श्रीकृष्ण के मथुरा जाने की बात पर ही कहा था –

'चीर चन्दन उरे हार न देला ।
सो अब नदी गिरि आँतर भेला ।।''

(विद्यापति)

'जिनके प्रगाढ़ आलिङ्गन में केश जितना व्यवधान भी असह्य मानकर हम वक्ष पर वस्त्र, हार, यहाँ तक कि चन्दन भी धारण न करतीं, वे आज गिरि-नदी जितने दूर हो गये!' उन्हीं व्रजदेवियों को यदि पता चला कि श्रीकृष्ण दूर देश गये हैं, तो उनके दु:ख की सीमा-परिसीमा न रहेगी। यही सब सोचकर वे गुप्तरूप से गये। उनके नि:सङ्ग जाने की बात श्रीवसुदेव आदि दो-चार अन्तरङ्ग यादवों को छोड़ कोई नहीं जानता था। उन्होंने गुरुगृह में चौंसठ दिन बिताये और चौंसठ कलाविद्याओं का अभ्यास कर यमपुर से गुरुपुत्र को लाकर गुरुदक्षिणा प्रदान कर मथुरा लौट आये। श्रीकृष्ण गुरुगृह में रहते थे, फिर भी श्रीनन्दमहाराज नित्य आदमी भेजकर उनका कुशल-संवाद लेते थे। दधि, दुग्ध, नवनीत आदि भेजते थे। किन्तु दो महीनों तक वे लोग कोई संवाद न पाकर अतिशय कातर हो उठे थे।

श्रीकृष्णविरह में व्रजवासी जितने व्याकुल हो गये थे, व्रजविरह में – विशेषत: राधारानी का स्मरण कर श्रीकृष्ण भी उतने ही अस्थिर हो उठे थे। तभी गुरुगृह से लौटते ही श्रीकृष्ण चिन्ता करने लगे, किस प्रकार व्रजवासियों को किञ्चित सान्त्वना दी जाय। उनका स्वयं का व्रज जाना असम्भव था। इसके अनेक कारण थे। प्रथम और प्रधान कारण था – व्रजासियों को अत्यन्त विलक्षण विरहरस का आस्वादन देना। अपने विरह-मन्दर (मन्दराचल) द्वारा उनके शुद्ध प्रेमसिन्धु का मन्थन कर उसमें से अति महार्घ्य (मूल्यवान) भावरत्नों को निकालकर विश्व के प्रेमिकों को उपहार देना। सर्वोपरि श्रीश्रीराधारानी के दिव्योन्माद की अत्यन्त विलक्षण भाव-दशायें (उद्घूर्णा, चित्रजल्प आदि) प्रकट कर विश्व के प्रेमिक समाज को कृतार्थ करना। वे पुन: व्रज में जाते, तो श्रीनन्द-यशोमती आदि – विशेषत: राधारानी और व्रजदेवियों उन्हें मथुरा न आने देतीं। अन्धे की लाठी की तरह, आँखों के तारों की तरह प्राणों का प्राण बनाकर सदा सतर्क होकर पहरा देतीं। और वे यदि मथुरा लौटकर न आयें, तो जरासन्ध आदि के अत्याचार से मथुरा ध्वंस हो जाये। उधर पाण्डव बड़े विपन्न; असहाय कुन्तीदेवी पुत्रों को लेकर दीन से भी दीन अवस्था में सदा आँसू बहा रही हैं। उन लोगों के निकट जाकर उन्हें अभयदान न करें, तो वे कूल-किनारे के बिना बह जायें। जरासन्ध के गिरिव्रज (राजगृह) में बन्दी शरणागत राजन्यवर्ग उन्हीं (श्रीकृष्ण) का स्मरण करता कालयापन कर रहा है। नरकासुर के घर में बन्दिनी सोलह

हजार राजकन्यायें उन्हीं का चिन्तन कर रहीं हैं। द्वारका लीला प्रकट करनी होगी। कौरव-पाण्डवों के युद्ध द्वारा धरा का भारहरण करना होगा। दुष्टों का दमन, शिष्टों का पालन, धर्म-संस्थापन ये सब कार्य भी यथारीति सम्पन्न करने होंगे। सर्वज्ञ पुरुष के नेत्रों के आगे इन सब लीलाओं के चित्र तैरने लगे। पर व्रजवासियों के दु:ख का उपशम भी नितान्त आवश्यक है। उन लोगों को सान्त्वना देने के लिये वहाँ किसी को भेजना आवश्यक है। पर जायेगा कौन ? इस कार्य के योग्य व्यक्ति है ही कौन ? अहोरात्र यही चिन्तायें उनके हृदय पर अधिकार कर बैठीं। राजकार्य अच्छा नहीं लगता, रात को निद्रा नहीं आती। अट्टालिका पर अकेले बैठे रास्ते की ओर देखते रहते हैं। मथुरा के प्रान्तभाग में उपवन देखकर अपलक नेत्रों से निहारते रहते हैं। मधुर वृन्दावन की कितनी ही स्मृतियाँ हृदय में जगती हैं। वही प्रेम की मूर्तियाँ गोप-गोपियाँ, वही गिरि गोवर्द्धन, वही यमुना-पुलिन, वही वृन्दावन की वनभूमि - इन सबका स्मरण कर अश्रुधाराओं से वक्षस्थल भिगोते हैं; रह-रह कर दीर्घ नि:श्वास छोड़ते हैं।

कुन्द-कुमुद-उत्फुल्ल मल्लिका-धवल, शरद चन्द्र की ज्योत्स्ना से युक्त वह रजनी, वही रासविलास - एक के बाद एक स्मृतिपथ पर उदित होने लगे और इन स्मृतियों ने उनके हृदय को अत्यन्त आलोड़ित कर डाला। कुञ्जविलास में अपनी प्रेममयी राधारानी के हास्ययुक्त चन्द्रवदन की स्मृति जगी फिर आँखों के आगे तैरी - मथुरा आते समय दावा-दग्ध हरिणी की तरह उनकी निरुपाय भीतिविह्वल चञ्चल दृष्टि ! श्रीकृष्ण को लगा उनकी लाड़ली राधा इस समय मिट्टी में पड़ी हैं और उनकी सखियाँ अश्रुसिक्त नयनों से उन्हें बीजन कर रही हैं। वे और स्थिर न रह सके, उनके कमलनयन आँसुओं से भर गये। गण्डस्थलों पर होती अश्रुधारायें बहने लगीं। वे उठकर कक्ष में आये। वहाँ बैठकर तन्मय होकर विरहविधुरा राधारानी के विषय में सोचने लगे, 'हा राधिके' कहकर लगातार रोने लगे। इस बीच प्रिय सखा उद्धव वहाँ कब आकर बैठ गये, उन्हें पता न चला। उद्धव उनकी वह अवस्था देखकर समझ गये कि प्रभु के मन में कुछ भावान्तर हुआ है। थोड़ी देर में भगवान् के हृदय का वेग कुछ शान्त हुआ, तो देखा कि उद्धव बैठे हैं। सजल नयनों से उद्धव के चेहरे की ओर देखते रहे। वे भी प्रभु के श्री मुख को निहारने लगे। इस प्रकार कुछ समय बीता। श्रीकृष्ण अपने हाथ में उद्धवजी का दायाँ हाथ लेकर जब बोलने लगे, तो दोनों ही के हाथ काँपने लगे, दोनों ही की आँखें आँसुओं से भर गई।

**"गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।**
**गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ।।"**

(भा. 10/46/3)

श्रीकृष्ण ने कहा - हे उद्धव ! तुम्हें एक गुरुतर कार्य का भार दूँगा। तुम्हें छोड़ अन्य किसी के द्वारा भी वह सम्पन्न नहीं होगा, इसलिये मैं तुम्हारी ही शरण ले रहा हूँ। उद्धवजी ने विनीत स्वर में कहा -

यह क्या कह रहे हैं प्रभु ! दास को आज्ञा दीजिये, क्या करना है। यह भृत्य आज्ञा-पालन के लिये सर्वदा ही प्रस्तुत है। श्रीकृष्ण बोले - एक बार व्रज जाओ। वहाँ मेरे पिता श्रीनन्द महाराज और यशोमती माता हैं। वे मुझे लेकर अतिशय शोकाकुल हो उठे हैं। वहाँ जाकर किसी भी प्रकार उनके दु:ख की अग्नि शान्त करो। मैंने परम सौभाग्य से ऐसे अतुलनीय निर्मल स्नेहमय पिता और स्नेहमयी माता को पाया था। उनका मेरे प्रति ऐसा शुद्ध वात्सल्य है कि व्रज में मेरा निरतिशय ऐश्वर्य देखकर भी वे सम्भ्रान्त हुए बिना 'मेरा पुत्र' यह विशुद्ध माधुर्यमय सम्बन्ध रखने में सक्षम हुए हैं। ऐसे माता-पिता को पाकर मैं अपने को अति धन्य और सौभाग्यवान् समझता हूँ। इसी अभिप्राय से मूल में 'न:' बहुवचन प्रयोग किया गया है। हे उद्धव ! मैं उनकी नयनमणि, प्राणों का प्राण, सर्वस्व सम्पदा था। मुझे इतने दिन न देख कर रो-रो कर सम्भव है वे अन्धे हो गये हों। तुम उनकी अवस्था देख कर जैसे भी उनका दु:ख दूर हो, वे शान्ति प्राप्त करें, वही करो। तुम स्वयं बुद्धिमान हो, अत्यन्त विचक्षण व्यक्ति हो, तुमसे अधिक कहने को कुछ नहीं, तुम अवस्था समझकर व्यवस्था करो।

यह तुम्हारा पहला कार्य है। दूसरा अत्यन्त निगूढ़ और कठिन है, अतिशय यत्न के साथ सम्पन्न करना होगा। ''गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय'' - गोपियों की मेरी वियोग जनित पीड़ा उनके हृदय में दृढ़ ग्रन्थि (गाँठ) की तरह संलग्न है, उस ग्रन्थि को थोड़ा शिथिल करो। हाँ, उनके आगे अपनी किसी प्रकार की चतुराई मत दिखाने लगना, ऐसा करने पर तो प्रतिपद पराजित होगे। वे सब चतुर-शिरोमणि हैं, उनके चातुर्य के आगे मैं भी पराजित हूँ। उनकी सान्त्वना का एकमात्र उपाय है - उनसे जो भी कहोगे वह 'मेरी वाणी' (कृष्ण ने कहा) है, यह बात बार-बार कहोगे। ऐसा करोगे, तो वे व्रजरामायें अपने प्रगाढ़ प्रणय भरे स्वभाव के कारण किसी प्रकार का वितर्क नहीं करेंगी। इसे छोड़ उनकी मन:पीड़ाग्रन्थि को शिथिल करने का अन्य कोई उपाय नहीं देखता। हे उद्धव ! तुम्हारा अङ्ग साक्षात् उत्सवस्वरूप है, तुम शान्ति की मूर्ति हो। विपुल अशान्ति के समय भी जो तुम्हारी देह का दर्शन करते हैं, उन्हें शान्ति प्राप्त होती है। इस समय मेरे विरह में अशान्त व्रजवासी तुम्हारी इस मूर्ति को देखकर बहुत शान्ति प्रात करेंगे। हाँ उद्धव, जिन व्रजगोपियों की विरहपीड़ा दूर करने का भार तुम्हें सौंपा है, उनके विषय में और भी विशेष बात जानना तुम्हारे लिये नितान्त ही आवश्यक है।

**''ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।**
**मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।**
**ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ।।''**

(भा. 10/46/4)

उन व्रजदेवियों का संकल्प-विकल्पात्मक मन मुझमें ही अवस्थित है। वे जगत् में मुझे छोड़

और कुछ भी नहीं जानतीं। इसलिये अशेष दु:खराशि द्वारा निष्पेषित होकर भी अपना दु:ख दूर करने की चेष्टा नहीं करतीं। मेरी प्राप्ति की सम्भावना लेकर वे राशि-राशि दु:ख को भी सुखरूप में वरण कर लेती हैं। मेरे अतिरिक्त अन्यान्य सभी सखादि उन्हें अति तुच्छ लगते हैं। वे 'मत्प्राणा' हैं, मैं ही उनका प्राण हूँ। जैसे प्राण बिना देह का कोई आदर नहीं होता, वैसे ही मुझे छोड़कर उनकी देहानु-सन्धान की भी सामर्थ्य नहीं रहती (अपनी देह का ध्यान नहीं रखतीं)। मैं जिस दिन व्रजधाम त्याग कर मथुरा आया, उसी दिन से उन लोगों ने स्नान, भोजन, शयन आदि सभी त्याग दिये। मेरे ही लिये पति, माता-पिता आत्मीयस्वजन आदि सभी छोड़ दिये। हे उद्धव ! मैं ही उनका दयित (प्रिय) हूँ, उन्होंने पतिरूप में मुझे ही निर्धारित किया है। यहाँ तक कि मैं ही प्रेष्ठ (प्रियतम, पति) हूँ, मैं ही उनका आत्मा हूँ। जनश्रुति से जो सुनने में आता है (यह कि उनके अन्य पति हैं), वह लोकापवाद मात्र है। उनका पारमार्थिक पति मैं ही हूँ। उद्धव ! उन गोपियों ने मेरे सुख के लिये निखिल लोकधर्म, इहलोक, परलोक, अपनी देह, प्राण, आत्मा तक की उपेक्षा की है। इसलिये मैं उनकी सतत चिन्ता करता हूँ।

हे उद्धव ! तुम्हारे मन में यह बात आ सकती है कि उन लोगों का अखिल मानस संकल्प जब मुझे ही लेकर है, मैं उनका प्राण हूँ, उन्होंने मेरे लिये सभी कुछ त्याग दिया है, तो वे तो मुझे पा ही गई हैं, फिर उनके लिये दु:ख क्यों ? इसका उत्तर देता हूँ - वे जितनी देर अन्तर्मना रहती हैं, उतनी देर मुझ में आविष्ट रहती हैं, पर जैसे ही वे बाह्य जगत् में लौटती हैं, मेरे विरह में परम व्याकुल हो उठती हैं, कारण - वे गोकुलस्त्रियाँ हैं, उनके प्राणधारण का एकमात्र उपाय मेरा दर्शन ही है। वे जब मुझे देखती हैं, तो आँखों में पलकें बनाने वाले विधाता को अभिशाप देती हैं। मैं उनके वक्ष पर होता हूँ, तब भी वे अतिशय विरह में 'हा नाथ ! तुम कहाँ हो ?' कहकर रोया करती हैं। आज मैं व्रज छोड़कर मथुरा में हूँ, इस समय वे निश्चय ही मेरा स्मरण कर विरह-उत्कण्ठा से विह्वल होकर मूर्छित हुई पड़ी हैं, यह मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ। उन्हें प्राणधारण की आकांक्षा नहीं है, फिर भी वे एक-दूसरे की सहायता से किसी प्रकार प्राण धारण किये हैं। सम्भव है मैं लौट आऊँ, इसी आशा में !''धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्राय: प्राणान् कथञ्चन।'' (भा. 10/46/6)

उद्धव जी बोले - प्रभु ! आप प्रेमाधीन हैं, वे भी प्रेमप्राणा हैं। प्रणयरसना आपके पादपद्मों को बाँधने के लिये दृढ़ रज्जु है। काका अक्रूर उस बन्धनरज्जु को खोकर आपको यहाँ लाये किस तरह ?

भगवान् ने कहा - उद्धव ! बहुत-सी बातें हैं। 'स्वर्णरथ में मथुरा से राजदूत आया है' यह सुनते ही वे हाहाकार कर टूट गईं। अक्रूर-आगमन का संवाद पाते ही वे समझ गई थीं कि कुछ होने को है। सखी से कहने लगीं -

''ना जानि को, मथुरा सजे आयल,
ताहे हरि काहे जिउ काँपि।
तब धरि दखिन, पयोधर फुरये,
लोरे नयनयुग झाँपि।।
सजनि ! अकुशल शत नाहि मानि।
विपद लाख, तृणहु करि ना गणिये,
कानु-विच्छेद हये जानि।।
किये घर बाहिर, चीत न रहे थिर,
जागरे निंद नाहि भाय।
गढ़ल मनोरथ, तैखने भाङ्गत,
किये सखि करब उपाय।।
कुसुमित कुञ्जे, भ्रमण नाहि गुञ्जरे,
सघने रोओत शुकसारि।
गोविन्द दास, आनि सखि पूछह,
काहे एत बिधिनि बिथारि।।''

इसके बाद जब पिता श्रीनन्दमहाराज की घोषणा व्रजवासियों के द्वार-द्वार पर पहुँची, तो वे जान गईं कि हम लोग सुबह राजधानी जायेंगे। चारों ओर 'तैयारी करो, तैयारी करो' पर वे महाशोक में मुह्यमान हो गईं। करने को कुछ नहीं था, सो देवता से प्रार्थना की कि सुबह न हो -

''नामहि अक्रूर, क्रूर नाहि जा सम,
सो आओल व्रज-माझ।
घरे घरे घोषइ, श्रवण अमङ्गल,
कालि कालिहुँ साज।।
सजनि ! रजनि पोहाइले कालि।
रचह उपाय, जैछे नह प्रातर,
मन्दिरे रहु वनमाली।।
योगिनि-चरण, शरण करि साधह,
बान्धह जामिनि-नाथे।

नखतर चान्द, बेकत रहु अम्बरे,
जैछे नहत परभाते।।
कालिन्दि देवि, सेवि ताहे भाखह,
सो राखउ निज ताते।
कीये शमन, तुरिते मिलाओब,
गोविन्ददास अनुमाते।।''

हाय ! उन्होंने हमारे परस्पर के प्रणय, एक-दूसरे के प्रति प्रणय की परिणति की बात सोचकर सखी से यह भी कहा -

''जाहे लागि गुरु, गञ्जने मन रञ्जलुँ,
दुरजन किये नाहि केल।
जाहे लागि कुलवति, बरत समापलुँ,
लाजे तिलाञ्जलि देल।।
सजनि ! जानलुँ कठिन पराण।
व्रजपुर परिहरि, जाओब सो हरि,
शुनइते नाहि बाहिरान।।
जो मझु सरस, समापन-लालस,
मणिमय मन्दिर छोड़ि।
कण्टक-कुञ्जे, जागि निशि-वासर,
पन्थ नेहारत मोरि।।
जाहे लागि चलइते, चरणे बेढ़ल फाँणि,
मणि-मञ्जिर करि मानि।
गोविन्ददास भण, कैछने सो दिन,
बिछुरब इह अनुमानि।।''

उद्धवजी बोले - प्रभो ! इस तरह तो उन लोगों का अब तक प्राणधारण किये रखना ही असम्भव है। श्रीकृष्ण ने कहा - हाँ उद्धव, ठीक यही बात है। केवल एक ही कारण से उनकी देह में अब भी प्राण हैं। मैंने मथुरा आते समय मधुमङ्गल द्वारा व्रज में शीघ्र लौट आने के सन्देश उनके पास भिजवाये थे, उसी आशा से ही वे बड़े कष्ट से अब तक प्राण-रक्षा किये हैं- ''प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो

मे मदात्मिका:''।

जब अक्रूर ने प्रशस्त मार्ग छोड़कर व्रजललनाओं की दृष्टि से अगोचर पथ पर रथ चलाया, तो वे अतिशय मर्माहत हो गईं। उनकी दशा देखकर मैं भी अश्रु संवरण नहीं कर सका। मेरे अङ्ग से अविरत घर्मजल (पसीना) निकलने लगा। उस समय मैं यदि व्रज शीघ्र लौट आने की बात कहकर सान्त्वना न देता, तो निश्चय ही उनकी देह में प्राण न रहते। यद्यपि वहाँ पत्र-लेखन का कोई साधन न था, तथापि मैंने जिस तरह आँसुओं से धुले काजल से और पसीने से सिंचे कुंकुम से व्रजाङ्गनाओं को पत्र लिखा था, वैसे ही उन लोगों ने भी हृद्वाष्प उद्घाटित कर पत्र लिखा था। मैंने उनकी सान्त्वना के लिये लिखा था -

''आयास्याम्याशु हत्वा तमधिमधु पुरं कंसमप्यस्ति दूरम्
वत्साद्या घातधाम्नः पुरमपि किदमस्तत् प्रियाः कुत्र दुःखम् ।
किन्त्वन्यत् प्रार्थितं यद्भवदभिरुचितं तद्विधत्त प्रसत्त्या
प्राणे प्राणेश्वरीभिर्मयि किमपि परं हन्त मन्तव्यमन्तः ।।''

(गोपालचम्पू उ. 3/20)

हे प्राणप्रियाओं ! मधुपुर-अधिपति कंस का वध कर मैं अति शीघ्र ही लौट आऊँगा। वत्सासुर-वकासुरघाती मेरे लिये मथुरा बहुत दूर नहीं और कंस का विनाश करना भी कोई कष्ट साध्य काम नहीं। इसलिये इन बातों को लेकर तुम लोगों को कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं। मैं अविलम्ब लौट आऊँगा। इसके अतिरिक्त यदि तुम लोगों का कोई प्रार्थित विषय हो, तो मुझे नि:संकोच बता सकती हो।

मेरा पत्र पाकर उन लोगों ने जो लिखा था, तुम्हें बताता हूँ, सुनो -

''गच्छन्नेष त्वमद्य स्फुरसि दयित भोः कंसघातं विधाय
स्वीकर्तुं राजतां तत् कथमथ भवतादागतिस्ते व्रजाय ?
तस्मादस्माभिरर्थ्यं तदिदमिह भवांस्तत्र नानाविराज-
त्तीर्थे सर्वार्थदे नः स्मृतिमनु ददतामञ्जलीनां त्रयाणि ।।''

(वही 3/21)

हे प्रियतम ! अब तुम मथुरा जाकर कंस का वध कर मथुरा के राजसिंहासन पर बैठोगे। तब गोचारण के मैदान इस व्रज में तुम्हारे लौट आने की बात पर हम विश्वास कैसे कर सकती हैं ? राज्य पाकर क्या कोई गायें चराने की इच्छा करता है ? तुमसे हमारी यही एकान्त प्रार्थना है - मथुरा में सर्वाभीष्ट पूरे करने वाले नाना तीर्थ हैं, हम लोगों के नाम स्मरण कर तीन अञ्जलि जल उन तीर्थों में

डाल देना।

मैंने विरह-विधुरा व्रजबालाओं की ऐसी पत्री पढ़कर लिखा था-

"नालं मे राज्यलिप्सा, कथमपि बलते निर्ममे तत्र सत्यं
कंसं हत्वा यदूनां सुखमभिवलयन्नस्मि चायातकल्पः ।
बद्धः स्यात् कृष्णसारः सपदि विधिवशात्तर्हि किं पार्थिवादे-
र्मानस्तस्मिन् सुखाय प्रभवति न वनं नापि कान्तासुसङ्गः ।।"

(वही 3/22)

हे प्राणसखियों ! शपथपूर्वक कहता हूँ, विश्वास करो, मुझे राज्यलिप्सा नहीं। मैं कंस-वध और यादवों का सुखसम्पादन कर अति शीघ्र लौट आऊँगा। कोई कृष्णसार मृग दैववश किसी राजा के हाथों पड़कर बाँध दिया जाय, तो उस बन्धन-ग्रस्त मृग के लिये राजा का वह आदर और लालन-पालन सुख का हेतु नहीं होता। यहाँ तक कि वन और कान्ता का सङ्ग भी उस बन्दी मृग को सुख नहीं देता। इसी तरह मथुरा का राज्य, राजोचित आदर, गौरव रूपी कान्ता का सङ्ग मुझे सुख नहीं पहुँचा सकता। मैं वन का हरिण हूँ, वन ही मेरे सुख का स्थान है, इसलिये तुम लोग निश्चिन्त रहो।

मेरा पत्र पाकर तत्क्षणात् उन सबने लिखा-

"वृन्दं क्रीड़ावनानां बहुविधम-भितोऽप्यस्ति तत्राथ राज्ञां
कन्या बहव्वयोऽपि कान्तास्तव विभवशोदुद्भविष्यन्ति धन्याः ।
तत्तल्लाभे मनस्ते कथमिह भविता-स्मासु वा किं तपोभि-
र्लब्धे भोगे विचित्रे पुनरपि तनुमानीहते वन्यवृत्तीः ।।"

(वही 3/23)

हे प्रियतम ! मथुरा में नाना प्रकार के क्रीड़ावन और उद्यान हैं, और वहाँ तुम राज्यासन पर बैठोगे, इसलिये सौभाग्यवती बहुत-सी राजकन्यायें भी मिलेंगी। उस राज्यसम्पदा, विलास-उद्यान, उन राजकन्याओं को पाकर क्या हम ग्राम्याओं के प्रति तुम्हारा मानससंकल्प स्थिर रह सकता है ? हमें तो नहीं लगता। तपस्या का फल विचित्र भोग्यवस्तु पाकर क्या कोई वन्यवृत्ति की बात याद करता है ?

हे उद्धव ! उन लोगों का नैराश्यउक्तिओं से भरा पत्र पढ़कर मैंने लिखा -

"सत्यं ताः केलिवन्याः विदधति लषितं सर्वतः सत्यमेव
क्षोणीपालादिकन्याः परमगुणगण-स्तोत्रभाजः स्फुरन्ति ।
सत्यं कुर्वे त्रिलोकी मम न हि रतिदा नापि तत्रस्थरामा

यद्वद्वृन्दावनं मे तदनुगतरमा यद्वदेता भवत्यः ।।''

(वही 3/24)

हे प्रियाओं ! मथुरा में वह विहारवनसमूह अभिलषित वस्तु दान करता है, यह सत्य है। वहीं परमगुणगण द्वारा प्रशंसनीय राजकन्यायें विराजती हैं, यह भी सत्य है, मिथ्या नहीं किन्तु मैं सच कहता हूँ, मेरा जितना चित्तहरण वृन्दावन करता है, वृन्दावनवासिनी तुम लोग मेरी जैसी प्रिया हो, मेरे प्रीति-सम्पादन में उतने समर्थ त्रिलोकी के सुरम्य कानन और अनिन्द्यसुन्दरी रमणियाँ भी नहीं, फिर मथुरा के विपिनसमूह और राजकन्याओं की तो बात ही क्या ?

हे उद्धव ! मेरा यह पत्र पाकर तो वे अतिशय चञ्चल हो उठीं। मेरा आग्रह, निश्चय देख कर उनकी समझ में आ गया कि मैं आऊँगा ही। तब उन लोगों ने कातर प्राणों से मुझे जो लिखा, वह बताता हूँ, सुनो-

''सा ते सर्वाङ्गशोभा वत समधिगतायेन नेत्रेन येन
श्रोत्रेणाश्रावि वंशी समगमि वपुषा येन च स्पर्शलक्ष्मीः ।
तेनैवालक्षि दूरं गमनमवगतं तेन सन्दिष्टमुग्रम्
तेन स्वं विप्रलब्धं रचितमिति हहा जीवितं धिग्विधिं धिक् ।।''

(वही 3/25)

हे प्राणवल्लभ ! तुम्हारे व्रजत्यागवाले इस निष्ठुर प्रसङ्ग को सहन करने योग्य शक्ति हम लोगों में नहीं है। हमने तुम्हारी भुवनमोहन मूर्ति के प्राण भरकर दर्शन किये हैं, तुम्हारी मोहन मुरलीध्वनि ने हमारे कानों में अमृतधारा उड़ेली है, तुम्हारा कोटिचन्द्र-सुशीतल स्पर्शसुख हमने सर्वाङ्ग से अनुभव किया है - इन सबका विरह हम कैसे सहन करेंगी ? तुम दूर जाओगे, यह बात हम सोच भी नहीं सकती थीं। हाय ! हमारे जीवन को धिक्कार ! हमारे पापप्राण अब भी देह में बने हुए हैं, यही आश्चर्य है। निदारुण विधाता को धिक्कार कि उसने हमारा ऐसा सर्वनाश किया।

और क्या कहूँ, बताने को और भाषा नहीं। पत्र पढ़कर मेरी आँखों में आँसू आ गये। मैंने उन लोगों को अन्तिम पत्र लिखा।

''येयं दृष्टिर्मया वश्छविपरिकलनात् कृष्यते या श्रुतिर्वाग-
दूरस्था रच्यते या तनुरपि मिलनाद् दव्यते सव्यपेक्षम् ।
यद्येतास्तत्र तत्र प्रतिकृतिकृतये न ह्यधीना मम स्यु-
स्तर्ह्येताः स्वैरिणीर्वा कथमहमहह प्राणसख्यः सहेय ।।''

(वही 3/26)

हे प्राणसखियों ! मैं अपनी दृष्टि को तुम लोगों के शोभादर्शन से खींच रहा हूँ, अपने कानों को तुम्हारे बोलों के अगोचर कर रहा हूँ, तुम्हारे मिलन से अपनी देह को दूर कर रहा हूँ – यदि मेरी ये इन्द्रियाँ इन-इन विषयों में प्रतिनिधि (सहायक) बनने में मेरे अधीन न हों, तो मैं इन इन्द्रियों की स्वाधीनता कैसे सहन करुँगा ? इसका तात्पर्य यही है कि हे प्राणाधिकाओं ! तुमने अपनी विच्छेद की बात लिखी, किन्तु एक बार मेरे विषय में सोचकर देखो। मेरे ये नयन तुम्हारी मुखशोभा दर्शन से वञ्चित हुए जा रहे हैं। मेरे कान तुम लोगों की कर्णानन्दी मधुमयी बातें और नहीं सुनेंगे। यह हृदय तुम्हारे मधुमय अङ्गसुख से वञ्चित हुआ। हृदय वज्राघात से विदीर्ण हो जाय, वह भी सहा जाय, किन्तु तुम लोगों के विरह की वेदना मैं कैसे सहन करुँगा, समझ में नहीं आता।

हे उद्धव ! वे लोग इन्हीं सब सन्देशवाणियों के कारण किसी प्रकार अभी तक प्राणधारण किये हुए हैं। मेरे व्रज में लौटकर आने की आशा में वे महादु:ख के साथ बराबर ही प्रतीक्षा कर रही हैं, किन्तु हाय ! मैं आज भी वहाँ लौट नहीं पाया। कहते-कहते श्रीहरि का कण्ठ रुद्ध हो गया, वे चुपचाप अश्रुधार प्रवाहित करते रहे।

अच्छा, मथुरा में इतने यादवों के होते श्रीकृष्ण ने ऐसे गुरुतर कार्य का भार उद्धव को ही क्यों सौंपा ? श्रीपाद शुकदेव मुनि ने पहले ही इस बात का उत्तर दे दिया है –

**''वृष्णीनां सम्मतो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा ।**
**शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ।।''**

(भा. 10/46/1)

उद्धवजी यादवों के सम्मत, श्रीकृष्ण के मंत्री और प्रिय सखा, साक्षात् श्रीवृहस्पति के शिष्य एवं परम बुद्धिमान थे।

उद्धवजी के छह असाधारण गुण थे। वे यादवों के सम्मत थे। विभिन्न भावों वाले सभी यादव उनके प्रति श्रद्धा रखते। इस गुण के कारण श्रीकृष्ण ने उन्हीं को व्रज भेजा। प्रीति का स्वभाव ही यह है कि विरह में भी यदि प्रीतिमान् जन के गुणों की बात सुनने को मिले, तो विरह दु:ख में भी एक आनन्दविशेष प्राप्त होता है। उद्धवजी व्रज में पहुँचकर व्रजवासियों का शुद्ध प्रेम माधुर्य देखकर चकित हो जायेंगे और मथुरा लौटकर यादवों के आगे उन लोगों के प्रेम के माहात्म्य का कीर्तन करेंगे। यादव लोग उनकी बातें सुनकर व्रजजनों का गुणगान करेंगे और वह सब सुनकर श्रीकृष्ण को आनन्द प्राप्त होगा। (श्रील विश्वनाथ)

दूसरी बात, उद्धवजी श्रीकृष्ण के मंत्री थे। इससे जाना जाता है कि वे परम युक्तिनिपुण थे। उन सर्वज्ञ, सर्ववित् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के भी मंत्रणा-दाता। अतएव अपनी युक्तिनिपुणता से

व्रजवासियों को सान्त्वना देने में समर्थ। (श्रीजीवपाद्)

तीसरी बात, श्रीकृष्ण के दयित या प्रिय, अतएव व्रजप्रेमसुधा-पान के योग्य (श्रील विश्वनाथ) श्रीकृष्ण की दयाविशेष के विषय, तभी दयित। यह एक अनिर्वचनीय गुणविशेष था। श्रीहरि ने उन्हें एकान्तभाव से अपना मानकर स्वीकार किया है, अतएव वे आत्मगम्य स्थान में भेजे जाने और विशेषरूप से गोपिकाओं के निकट सन्देश ले जाने के योग्य हैं। (श्रीजीवपाद)

चौथी बात, उद्धवजी श्रीकृष्ण के सखा हैं, इसलिये व्रज के सुबल आदि प्रिय नर्म सखाओं की तरह उज्ज्वलरसचिन्तामणि गोपबालाओं के साथ वार्ता करने और उन्हें सान्त्वना देने के भी योग्य हैं। श्रीकृष्ण ने कहा है - 'उद्धव मेरी अपेक्षा कम नहीं', तभी उद्धवजी भगवान् की प्रतिमूर्ति हैं, इसलिये यहाँ के लोगों में उन्हीं में इस निगूढ़ दूत-कार्य की योग्यता है। (श्रीविश्वनाथ)

पाँचवाँ गुण, उद्धवजी साक्षात् वृहस्पति के शिष्य है, अतएव नीतिशास्त्र से लेकर श्रीमदभागवतशास्त्र तक सुनिपुण हैं, तभी परम वाग्मी (वाक्पटु, प्रवक्ता) हैं। श्रीसंकर्षण-सम्प्रदाय में श्रीमद्भागवत-अध्ययन किया है, यह जाना जाता है। इसलिये जिनकी वाक्यपरिपाटी से श्रीकृष्ण पराभूत हो जाते हैं, उन्हीं में प्रेम की मूर्ति गोपियों की बातों का उत्तर देने की किञ्चित सामर्थ्य है। (श्रीजीव)

छटवाँ गुण, बुद्धिसत्तम अर्थात् अतिशय बद्धिमान हैं, अतएव शास्त्रार्थअवधारण में सक्षम हैं। जैसे भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य आदि षड़विध असाधारण गुण हैं, वैसे ही उद्धवजी के ये छह असाधारण गुण थे, तभी यादवों में वे ही व्रज में भेजे जाने योग्य थे।

यहाँ एक संशय हो सकता है। व्रज में माता-पिता, ताऊ-चाचा आदि, और सखा, सभी श्रीकृष्ण में परम प्रीति रखते थे। श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से केवल माता-पिता और व्रजगोपियों को ही सान्त्वना देने की बात कही। अन्य किसी व्रजजन को सान्त्वना देने के लिये क्यों नहीं कहा ? इसका समाधान श्रीवैष्णव तोषणी टीका में मिलता है - श्रीकृष्ण के प्रति व्रजजनों की रति तीन प्रकार की है। उत्कण्ठा प्रधान, विश्रम्भप्रधान और विवेकशून्य। माता-पिता और व्रजगोपियों की रति उत्कण्ठा प्रधान है। श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन में भी उन लोगों को उत्कण्ठावश स्फूर्ति लगती है। सखाओं की रति विश्रम्भप्रधान है। उनकी धारणा है कि उनके सखा कृष्ण कभी भी उनका त्याग नहीं कर सकते, इसलिये उन्हें स्फूर्ति ही साक्षात्कार लगती है। तभी उन्हें विरह का अनुभव ही नहीं होता। यदि उनसे कहा जाय - श्रीकृष्ण मथुरा अवस्थान कर रहे हैं, तो इस बात से ही उन्हें भावान्तर हो जायेगा।

माता-पिता को सान्त्वना देने में चाचा-ताऊ आदि की भी सान्त्वना हो जायेगी, इसलिये उनकी बात अलग से नहीं कही। गाय-महिष आदि पशुओं की रति विवेकशून्य है। उन्हें श्रीकृष्णविरह

का अनुभव नहीं होता। इसलिये श्रीकृष्ण ने केवल माता-पिता और गोपियों की सान्त्वना की ही बात कही है।

जो भी हो, श्रील उद्धव महाशय ने श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य कर व्रजधाम गमन किया। श्रील शुकदेव मुनि कहते हैं-

"इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ।।"

(भा. 10/46/7)

'हे राजन् ! श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को इस प्रकार आदेश दिया, तो उन्होंने सादर प्रभु संवाद लेकर रथारोहण कर नन्द व्रज गमन किया।'

उद्धवजी ने श्रीगोविन्द के प्रसादी वस्त्राभूषणों से सज्जित होकर प्रभात के समय व्रज की ओर यात्रा आरम्भ की। मार्ग में गोप-गोपियों की प्रेममाधुरी की बात सोचते-सोचते गये। वृन्दावन की मधुमयी शोभा का दर्शन होने लगा। जैसे-जैसे व्रज की शोभा के दर्शन करते हैं, वैसे-वैसे व्रजगोप-गोपियों का सरल अमायिक स्वभाव, श्रीनन्द-यशोदा के वात्सल्य की मूर्ति, विशेषत: व्रजगोपियों की प्रेममयी छवि उनके चित्त में तैरने लगती है। व्रज में जैसे ही प्रविष्ट हुए, व्रज का प्रत्येक, वृक्ष उन्हें मानो साक्षात् श्रीकृष्ण के दर्शन कराने लगा। उद्धवजी के हृदय में आनदोत्सव की सीमा नहीं। जाते-जाते सोचने लगे- अहो ! यह वही मधुर वृन्दावन है। यह वही तरु-लतायें हैं, जिनके नीचे बैठकर मेरे प्रभु सखाओं के साथ विश्राम करते थे, फल आदि खाते थे, क्रीड़ा से परिश्रान्त होकर सखाओं द्वारा रचित नव-नव पल्लवों की शय्या पर शयन करते थे। गायें चरागाह में चरते-चरते दूर चली जातीं, तो इन्हीं वृक्षों के तले ललित त्रिभङ्ग मुद्रा में खड़े होकर गायों के नाम ले-लेकर वंशी बजाते। व्रज की ये तरु-लतायें धन्य हैं। इन्होंने ब्रह्मा-महेश्वर आदि के भी ध्येय श्रीकृष्ण की कितनी-कितनी प्रकार की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। इन्हीं वनों में मेरे प्रभु ने दिन के समय गोचारण-लीला की है। रात के समय प्रेममयी गोपबालाओं के साथ रहस्यमय रास-विलास आदि करते। यह सब सोचते-सोचते उद्धवजी विभोर तन्मय हो गये। सोचने लगे - व्रजवासी क्या मुझे देखकर आदरपूर्वक अपने चरणों के निकट बिठायेंगे ? वे क्या बिना संकोच अपने-अपने मन की बात मेरे आगे प्रकट करेंगे ? व्रजगोपियाँ क्या कृपा कर अपनी मनोवेदना की बात मुझे बतायेंगी ? मैं क्या उनके प्रभु का सन्देश सुनाकर थोड़ा-सा तुष्ट-सन्तुष्ट कर पाऊँगा ? और भी कितनी-कितनी मधुर व्रजलीलाओं की बातें उनके मन में उठने लगीं। दिन कब बीत गया, उन्हें पता न चला। पूर्व का सूर्य पश्चिम में ढल गया है। सुनहरी आभा से घाट-मैदान रञ्जित हो रहे हैं। गायें मैदान से गोष्ठ में लौट रही हैं। इसी अभिप्राय से श्रीपाद शुकमुनि ने मूल श्लोक में 'ययौ'

न कहकर 'प्रययौ' क्रिया का प्रयोग किया है। उद्धव जी प्रकृष्ट रूप से गये थे। जिसके पास गमन किया जाता है, उसके विषय में गाढ़तर संकल्प करते हुए जाना ही प्रकृष्टरूप से जाना है।

जो भी हो, उद्धवजी ने लक्ष्य किया कि उनका स्वर्णमय रथ नन्दपुर के प्रान्तभाग में आ पहुँचा है। धीरे-धीरे नगर में प्रवेश किया। थोड़ा-थोड़ा अन्धकार उतर आया है। रथ कोई शब्द किये बिना राजपथ पर होता राजभवन के द्वारदेश पर आ पहुँचा। वे रथ से उतर पड़े। अपरिचित स्थान, अपरिचित गृह। कोई दिखाई भी नहीं दे रहा। न कोई आहट-आवाज। एक-दो भृत्य बीच-बीच में आ-जा रहे हैं; उन्हीं में से एक ने श्रीकृष्ण की ही वेशभूषा में भूषित एक अपरिचित व्यक्ति की उपस्थिति का संवाद श्रीनन्द महाराज को दिया। वे सुनते ही समझ गये, सम्भवत: उद्धव आया है। वे तुरन्त आये, उद्धवजी ने उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। नन्द महाराज ने उन्हें सस्नेह कसकर वक्ष से लगा लिया। उनके आँसुओं से उद्धवजी की देह भीग गई। नन्दराज उन्हें सादर भीतर यशोमती माता के पास ले गये। पुत्रविच्छेद के कारण व्रजेश्वरी की दशा अवर्णनीय थी, सो वे उद्धवजी से कोई बात नहीं कर सकीं, बस आँसुओं से वक्ष भिगोती रहीं। अभी तक उनकी पाकशाला में आग नहीं जली; रन्धन आदि भी नहीं हुआ। श्रीकृष्ण मथुरा गये हैं तब से पाक-स्थान अपरिष्कृत है, पाकपात्र आदि धूल से भरे हैं। पाकगृह मकड़ियों के जालों से भरा है। वे लोग पड़ोसियों द्वारा दिये सामान्य दही-दूध आदि से किसी प्रकार जीवन निर्वाह कर रहे है। आहार आदि के विषय में कोई उद्यम ही नहीं। उनके प्राणगोपाल का प्रिय बान्धव उद्धव आया है, यह देखकर उन्होंने दूसरे के घर खीर बनवाकर उन्हें भोजन कराया। भोजनादि के बाद उद्धवजी ने थोड़ा विश्राम किया। नन्द महाराज ने भृत्य से उनका पाद-सम्वाहन गात्रमर्दन आदि कराया। उनका पथश्रम दूर हुआ, तो नन्द महाराज उनके निकट बैठकर हृदय के आवेग को दबाने के लिये छूटते ही श्रीकृष्ण के विषय में न पूछकर श्रीवसुदेव आदि सुहृद् वर्ग का कुशलक्षेम पूछने लगे।

हे उद्धव ! वसुदेवजी राम-गद आदि पुत्रों से मिलकर कुशलपूर्वक तो हैं ? कंस से भयभीत यादव लोग छद्मवेश में नाना राज्यों में वास कर रहे थे, अब वे सब मथुरा आकर मिल गये न ? आह ! वसुदेवजी बहुत दिनों तक कंस द्वारा कारागार में अवरुद्ध हुए क्लेश भोगते रहे। उन्हें अब मुक्ति मिली। पापबुद्धि कंस धर्मशील यादवों के प्रति द्वेष रखकर अपने ही पापों से अनुचरों के साथ विनाश को प्राप्त हो गया। इस प्रकार अन्य बातों से हृदय का वेग कितनी देर दबाया जाय ? वे बोले - हे उद्धव ! यादव लोग नितान्त ही सदाचार निष्ठ और परम धार्मिक हैं, तभी हमने कृष्ण के मथुरा जाने के लिये अनुमोदन किया था, कारण - श्री नारायण की कृपा से हमारे विपदकाल में कृष्ण के भीतर श्रीनारायणी शक्ति प्रकट होती है, यह सोचकर ही हमने यादवों के कल्याण के लिये कृष्ण को मथुरा भेजा था; हम लोग उसे वहाँ छोड़कर हताश जीवन लेकर यहाँ आ गये। हे उद्धव ! हमने सुना है, अति बालक राम-कृष्ण ने

उपनयन के पश्चात् गुरुकुल में वास करने के लिये सुदूर अवन्तीनगर जाकर कठोर ब्रह्मचर्यव्रत पालन किया। जो हर आध-आध घण्टे सात बार न खाते, तो भूख से कातर हो जाते, उन्होंने कठोर ब्रह्मचर्यव्रत कैसे पालन किया ? और पैदल चलकर कैसे इतनी दूर गये ? यह सब सोचकर भी दुःख से छाती फट जाती है। अब क्या वे मथुरा में यादव-सभा में मिल गये हैं ? हे उद्धव ! वह नवजलधर-श्याम सदा मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर जन्मा था, क्या वह अपने पिता को स्मरण करता है ? जो यशोदा उसे आठवें मास में जन्मा मानकर उसकी दीर्घायु के सम्बन्ध में सर्वदा आशंका करती है, अपनी उस मां की बात सोचता है ? यहाँ उसके जो सुहृदगण हैं, क्या उनकी बात उसके मन में आती है ? जिनसे मिले बिना वह अत्यन्त कातर हो उठता था, उन सखाओं की बात उसे याद है ? जिन व्रजवासियों और व्रज को सुखी करने के लिये वह सदा व्याकुल रहता, उनकी बात क्या उसके समृतिपथ पर आती है ? वह गायों को प्राणों की तरह प्रेम करता था, अपने हाथों से तृणग्रास देकर उनका पोषण करता, उन गायों को याद करता है जिस वृन्दावन के नयन-पथ पर उदित होते ही वह भोजन आदि भूल जाता, जिन गिरिराज को उसने छत्र की तरह धारण किया था, उन सबकी स्मृति क्या उसके मानस में जगती है ? हे वृष्णिप्रवर ! गोविन्द क्या अपने स्वजनों को देखने के लिये एक बार व्रज में नहीं आयेगा ? विरह-व्याकुल प्राण उसका मुंह एक बार देखने की आकांक्षा रखते हैं। वह सुन्दर नासिका, सुन्दर चितवन, सुन्दर हँसी - उसका वह चेहरा क्या फिर देख पायेंगे ? उसके लिये दिन-रात रोते-रोते मेरी आँखें अन्धी हो गईं।

श्रीकृष्ण के मुख-माधुर्य की स्मृति में नन्द महाराज मानो मोहदशा को प्राप्त हो रहे थे। बहुत देर बाद थोड़ा धैर्य रखकर रोते-रोते उन सब आसन्न मरणसंकुल विपद-आपदाओं की बात (उन संकटों की बात जिनमें मृत्यु सन्निकट थी) बताने लगे, जिनसे श्रीकृष्ण ने उन लोगों की रक्षा की। बोले- हे उद्धव ! संसार में पुत्र तो बहुतों को प्राप्त होता है, किन्तु इतने गुणों वाला पुत्र किसी का होता है, सुना है ? मेरा हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है जो ऐसी गुणी सन्तान को अपने हाथों घर से बाहर कर मथुरा में छोड़कर शून्य प्राणों से लौटकर अभी तक जीवित हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण के नाना गुणों की बात बताते-बताते व्रजराज को कण्ठरोध हो गया। वे अविरल अश्रुधाराओं से भीगते रहे। हाय ! विश्व में ऐसा कौन है, जो कृष्ण-वात्सल्य की घनीभूत मूर्ति व्रजराज के पुत्रवात्सल्य की कातरता की बात भाषा में वर्णन करने में सक्षम हो !

उधर कृष्णमाता यशोदाजी तो अधैर्यसिन्धु की भँवरों में डूबती-उतराती कुछ भी नहीं कर पा रही थीं। जिस दिन श्रीकृष्ण मथुरा गये और नन्द महाराज उन्हें मथुरा छोड़कर व्रज लौटे, उस दिन से यशोदा मां शत-शत व्रजवासी स्त्री-पुरुषों द्वारा प्रबोधित होने पर भी 'मैं पुत्र के मुंह को छोड़ और कुछ भी नहीं देखूँगी' यह संकल्प लेकर अन्धे की तरह आँखें बन्द ही किये हैं। श्रील व्रजराज जब उद्धवजी

को अपने पुत्र के प्रभावमय चरित्र की बातें बता रहे थे, तब वह सब सुनते-सुनते माता यशोमती के स्तनों से मेघमुक्त जलधाराओं की तरह दुग्ध धार बरस रही थीं, नेत्रों से बह रही थीं विपुल शोकाश्रु-धारायें। उन दुग्ध-धाराओं और अश्रु-धाराओं से उनके वस्त्र भीगते रहे।

उद्धवजी श्रीकृष्ण के प्रति व्रजराज और व्रजेश्वरी का परम आकुलतामिश्रित प्रगाढ़ पुत्रस्नेह देखकर मन ही मन सोचने लगे- अहो ! मेरा कैसा सौभाग्य है ! ऐसे विशुद्ध स्नेह के आधार व्रजराज-व्रजेश्वरी के श्रीचरण दर्शन प्राप्त करने में समर्थ हुआ। पर मेरे प्रभु ने मुझे इन्हें सान्त्वना देने के लिये भेजा है, मैं सान्त्वना कैसे दे सकता हूँ ? श्रीकृष्ण के बिना इनका कालयापन करना ही अत्यन्त असम्भव लग रहा है। पर इस समय मेरे प्रभु का व्रज-आगमन और इनका मथुरा-गमन दोनों ही असम्भव हैं। यद्यपि इनके (श्रीकृष्ण के प्रति) स्वाभाविक पुत्रस्नेह की किसी प्रकार की हानि या ग्लानि सम्भव नहीं, तथापि किसी तरह उस अति महत्वपूर्ण पुत्रस्नेह में यथाकिञ्चित शिथिलता लाई जा सके, तो ये इस दुस्तर शोकसागर से किञ्चित् उत्तीर्ण हो सकते हैं। इस जगत् में ऐसी कोई भाषा, ऐसा कोई भाव नहीं, जिससे इनके इस आकुलताभरे शोकोच्छवास के प्रबल वेग को किञ्चित रुद्ध किया जाय। नन्दमहाराज ने अभी स्वयं ही श्रीकृष्ण की असुरमारण, व्रजरक्षण, गिरिराज-धारण आदि महिमामयी बातें कहीं। इसी सुयोग में यदि श्री कृष्ण के ऐश्वर्य भगवत्तत्व आदि की बातें कर इनके पुत्रज्ञान को थोड़ा शिथिल किया जाय, तो सम्भव है उस शोकउच्छवास का वेग कुछ रुद्ध हो जाय। संवित (ज्ञान) की मूर्ति उद्धवजी ने श्रीगोविन्द-चरण कमलों का ध्यान कर कहना आरम्भ किया -

हे मानद ! देहियों (देहधारियों) में आप लोग श्लाघ्यतम (सर्वाधिक प्रशंसनीय, धन्य) हैं, कारण - श्री नारायण में आपकी ऐसी अनुरागमयी मति जन्मी है। आप लोग जिन्हें पुत्र समझ रहे हैं, वे राम और मुकुन्द विश्व के बीज और योनि अर्थात् निमित्त और उपादान कारण हैं। पिता और माता। वे दोनों ही सर्वव्यापक भगवान् और विश्व के नियन्ता हैं। यदि मनुष्य प्राण त्यागते समय भी क्षणभर के लिये मन को विशुद्ध कर उनमें आवेश पा सके, तो वह सभी जन्मों के सभी कर्म-बन्धन छिन्न कर ।च्चिदानन्दमय देह से परम गति पा लेता है। आप लोगों ने उन्हीं श्रीकृष्ण के प्रति सर्वोत्तम भाव प्राप्त किया है, इसलिये आपकी सुकृति का क्या कुछ शेष है ? आपके गोविन्द थोड़े ही दिनों में आयेंगे, कंस-वध के पश्चात् उन्होंने आपसे जो कहा था, उसे सत्य करेंगे।

हे महाभाग ! आप श्रीकृष्ण के लिये 'हा पुत्र ! हा पुत्र कहकर और खेद न करें। जैसे लकड़ी में अग्नि रहती है, वैसे ही वे भी सर्वत्र विराजमान हैं। उनकी माता नहीं, पिता नहीं, पत्नी नहीं, पुत्र नहीं। उनका न अपना है, न पराया। उनका न शरीर है, न जन्म। इस मायामय विश्व में उनका कोई कर्म भी नहीं, फिर भी वे क्रीड़ा के लिये उसके साथ-साथ दुष्टों के दमन, साधुओं के परित्राण के लिये इस

संसार में अवतीर्ण हुआ करते हैं। वे स्वयं निर्गुण होकर भी सृष्टि, स्थिति और प्रलय के लिये सत्व, रज और तमोगुण को लेकर खेल करते हैं। वे परमात्मा हैं। परमात्मा का कोई कर्म नहीं। इस संसार के कर्म के साथ जोड़कर उन्हें कर्ता समझना भ्रम है। उन्हें पुत्र समझना भ्रम है। आप लोग उन्हें आत्मज समझ रहे हैं, वे किसी के आत्मज नहीं। अथवा वे सभी के आत्मज, सबके आत्मा और सबके माता-पिता ईश्वर हैं। इस विश्व में जितनी भी वस्तुएं हैं- दृष्ट, श्रुत, भूत, भविष्यत्, स्थावर, जङ्गम, महद् और अल्प - वे सभी उनकी सत्ता से सत्तावान् हैं -- वे ही सबके परमात्मा हैं। उनके अतिरिक्त इस विश्व में और कोई वस्तु नहीं।

इस प्रकार कितनी-कितनी बातों में रात बीत गई। बातों का अन्त नहीं। उद्धवजी की बातों का लक्ष्य था - श्रीकृष्ण के प्रति श्रील नन्द-यशोमती की पुत्रत्व बुद्धि थोड़ी शिथिल कर उनके शोक को किञ्चित् शान्त करना। इसलिये वे तरह-तरह से व्रजराज-दम्पति के आगे श्रीकृष्ण की परम ऐश्वर्यमयी कथाओं का वर्णन करने लगे। श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्यरस की प्रकट मूर्ति श्रीश्रीनन्दयशोदा का विशुद्ध वात्सल्यरस है - उन सब बातों को ग्रहण नहीं करता। उद्धवजी ने इतने ऐश्वर्य का बखान किया, पर उस ऐश्वर्यरूपी विशाल पर्वत के गिरने पर भी उन दोनों का वात्सल्य-प्रेमसिन्धु किञ्चित् भी आलोड़ित नहीं हुआ।

श्री नन्दमहाराज बोले - उद्धव ! मैं यह सब जानता हूँ। कृष्ण के नामकरण के समय गर्गाचार्य मुझे यह सब बता गये हैं। पर इसी कारण वह व्रज में लौटकर क्यों नहीं आयेगा। वह हमारा पुत्र है। हे उद्धव, सुनो ! केवल हमारी ही उसमें पुत्रबुद्धि है, सो नहीं; हम लोगों के प्रति उसकी भी पितृ-मातृ बुद्धि स्वाभाविक है, कारण-हम दोनों का उच्छिष्ट भोजन, हमारी गोदों में आरोहण, आलिङ्गन, चुम्बन आदि न मिलता, तो उसका मुंह मलिन हो जाता। यह हमने अनेक बार देखा है। दधिमन्थन का भाण्ड फोड़ देने के अपराध में उसकी मां ने उसे उलूखल से बाँध दिया था। वह सर्वव्यापक परब्रह्म, परमेश्वर है, तो उसका बन्धन कैसे हुआ ? बँधकर वह कितना रोया था, और जब मैंने उसका बन्धन खोल दिया तो वह आनन्द से हँसा था। यह तो मैंने साक्षात् देखा है।

संवित-मूर्ति उद्धवजी द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण का विपुल ऐश्वर्य मातापिता की पुत्रबुद्धि के आगे व्यर्थ हो गया। उद्धवजी ने देखा, इन्हें उपदेश देना अति सुकठिन है। इधर प्रातःकाल हुआ। पूर्व में अरुणालोक फूटा। गोपिकायें शय्या छोड़ दीप जलाकर दधि-मन्थन में लगी हैं उद्धवजी ने उठने का संकल्प किया। चलते समय व्रजराज-दम्पति के श्रीचरणों में प्रणाम कर बोले- हे माता ! हे पिता ! मैंने बड़ा अन्याय किया है। आप लोगों को उपदेश देने चला था। आप कृष्णप्रेम के असीम सिन्धु हैं, उसकी एक बूँद भी मेरे हृदय में नहीं। मेरी धृष्टता क्षमा कीजिये। आपके पुत्र श्रीकृष्ण शीघ्र ही आपके निकट

आयेंगे। वे असत्य बात कभी नहीं कहते। इसलिये आप निश्चिन्त हो जाइये। आप लोग सभी व्रजवासियों के प्रतिपालक हैं। यदि आप दोनों इस तरह रोते-रोते अस्थिर होंगे, तो पूरा व्रजधाम ही अस्थिर हो जायेगा। अतएव आप अश्रुविसर्जन नहीं करेंगे। उद्धवजी व्रजराजदम्पति को इस प्रकार लौकिक रूप से प्रबोध देकर स्नान आदि प्रातःकृत्य के लिये बाहर चले गये।

इधर जो गोपियाँ दधिमन्थन में लग गई थीं, वे सभी विश्रम्भप्रधान हैं। उनका विश्वास है कि श्रीकृष्ण आयेंगे। सम्भव है आज ही आयें। इसलिये वे नित्य ही वस्त्राभूषणों से सजी नवनीत के लिये दधिमन्थन करती हैं। यह उनका नित्य का भाव है। उद्धवजी ने देखा - उन लोगों के हाथों के वलय (कंकण) दधिमन्थन के समय प्रदीप की छटा से और अधिक समुज्ज्वल हो गये हैं। अरुणिम कुंकुम से गण्डस्थल अरुणिम हो गये हैं। दधिमन्थन करती वे उच्चस्वर से श्रीकृष्ण का गुणगान कर रही हैं और वह गायनध्वनि देवलोक तक जा रही है। वह ध्वनि दसों दिशाओं में, लोकपालों के कानों में प्रवेश कर विश्व का सभी प्रकार का अमङ्गल नाश कर रही है।

''उद्गायतीनामर विन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थन शब्द मिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ।।''

(भा. 10/46/46)

सूर्योदय होने पर व्रजवासी श्रीनन्द महाराज के द्वारदेश पर स्वर्णमय रथ देखकर एक-दूसरे से कहने लगे- यह रथ किसका है ? कहाँ से आया है, और यहाँ किस लिये आया है ?

''अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ।।
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृतान्हिकः ।।''

(भा. 10/46/48-49)

पदानुवाद-

''शोधिते प्रभुर धार, कंसभृत्य दुराचार,
अक्रूर कि आइलो आर बार।
कमल लोचन हरि, निलो जे मथुरापुरी,
वृन्दावन करिया आँधार।।

मोदेर लइया हेनो, साधिबे कि कार्य कोनो,
कंसभृत्य अति दुराचार।
शेष ऋण शोध आशे, ताइ क्रूर साधुवेशे,
व्रजे फिरे आइलो आबार।।
बधिया मोदेर हबे, (कंसेर) प्रेतात्माय उद्धारिबे,
मांसपिण्ड करिबे रचन।
बोलि काँदे व्रजनारी, हेनो काले कृत्य सारि,
श्रीउद्धव दिला दरशन।।''

उद्धवजी ने स्नान-आन्हिक पूरा कर नन्दालय में और प्रवेश नहीं किया, व्रज में भी अन्यत्र कहीं नहीं गये। बस यही देखने लगे कि कृष्णप्रियायें कहाँ हैं। जिसे पूछें वही विस्मित हो जाय। यहाँ भला कृष्ण प्रिया कौन है ? यहाँ तो कृष्ण का विवाह ही नहीं हुआ, अतएव यहाँ कृष्ण की स्त्री या कान्ता तो कोई नहीं। हाँ, यहाँ कृष्ण को सभी प्राणों से अधिक प्रेम करती हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर कुछ गोपबालायें तो उनके विरह में उन्मादिनी होकर वन में वास कर रही हैं। वे स्नान-भोजन आदि कुछ भी नहीं करती, दिन-रात केवल 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' कहती रोती रहती हैं। उन लोगों की बातें सुनकर उद्धवजी समझ गये कि वे जिनका अनुसन्धान कर रहे हैं, वे निश्चय ही ये ही होंगी। उद्धवजी उनकी ओर बढ़ने लगे।

श्रीकृष्ण की बातें सुनकर उद्धवजी के मन में श्रीकृष्णप्रिया व्रजदेवियों के श्रीचरणकमलों में पराभक्ति का उद्रेक हुआ था। वे श्रीकृष्णपादपद्मों का ध्यान करते-करते भक्तिपूर्वक प्रार्थना करने लगे - प्रभु ! कृपा करो कि मैं व्रजदेवियों के श्रीचरण-दर्शन से धन्य हो सकूँ। उद्धवजी अति भक्तियुक्त हृदय से व्रजदेवियों के आगे पहुँचे। थोड़ी दूर से उन लोगों को देखा -

''क्षीणाङ्गाः स्रस्तकेशा मलिनविवलपटाः प्रज्ज्वलत्सन्निकृष्टाः
दृष्टान्ता जातवेदस्तत इव वृता धूमभास्मादिभिर्याः ।
किञ्च व्यग्राक्षियुग्मा दलदधरदलश्वासवर्गा मुखान्तः-
शोषा योषा मृगाणामिव दवदवनात्र- स्तेत्रा विमृष्टाः ।।''

(श्रीगोपालचम्पू 11/1)

व्रजाङ्गनाओं के श्रीअङ्ग अत्यन्त क्षीण हो गये हैं, केशकलाप अस्तव्यस्त है; वे मलिन और विविध वर्णों के वस्त्र पहने हैं, धूम-भस्म आदि से ढकी अग्नि की तरह उनकी अङ्गकान्ति की छटा थोड़ी निष्प्रभ हो गई है। श्रीकृष्णदर्शन की उत्कण्ठा में नेत्र सुचञ्चल हैं, तप्त दीर्घ निःश्वास से

अरुणवर्ण अधर फट गये हैं। मुंह का भीतरी भाग सूख गया है। दावानल से भयभीत हरिणियों की तरह उनके नयनप्रान्तों में भय भरा हुआ है।

उद्धवजी ऐसी विरहविधुर मूर्तियाँ देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। होने की बात ही थी, क्योंकि श्रीकृष्णविरह में अब तक किसी की ऐसी अवस्था हुई है, यह आँखों से देखना तो दूर, उन्होंने कानों से सुना भी नहीं, कभी सोच भी नहीं पाये। उद्धवजी मानो विरहरस की साक्षात् अधिष्ठात्री देवी के रूप में विराजमान उन व्रजाङ्गनाओं को विस्मित नेत्रों से देखते रहे। और व्रजदेवियाँ ?

"तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिभृष्ट कुण्डलम् ।।
सुविस्मिताः कोऽयपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत् सुकास्तमुत्तम श्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ।।
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत् कृतं सव्रीड़हासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ।।"

(भा. 10/47/1-3)

श्रीशुकदेव मुनि ने कहा - हे राजन् ! श्रीकृष्ण की प्रेयसियाँ उद्धवजी को देखकर समझ गईं कि ये श्रीकृष्ण के अनुचर हैं, कारण- उद्धवजी की उज्ज्वल श्यामवर्ण आजानुलम्बित भुजायें थीं, वदन विकसित कमल की तरह लावण्ययुक्त था, नवकमल दलों की तरह आयताकार नेत्र शोभा पा रहे थे। परिधान - कनककान्ति उज्ज्वल पीत वस्त्र औरर पीत उत्तरीय। गले में श्रीकृष्ण की प्रसादी पद्ममाला सुशोभित। नवीन यौवन, अति सुन्दरदर्शन। कानों में मकरकुण्डल शोभित। ऐसे उद्धव को देखकर व्रजाङ्गनायें अतिशय विस्मित हुईं। वे एक-दूसरी से कहने लगीं - सखियों ! आज हमारे निकट यह कैसा अपूर्वरूप व्याप्त आ रहा है। इसका रूप, वेशभूषा सभी हमारे अच्युत की तरह है। ऐसा रूपवाला मानुष किसका है ? कहाँ से आ रहा है ? एक व्रजाङ्गना ने कहा - सखि ! यह वेशभूषा तो अच्युत की ही है और इस वेशभूषा से हमारे प्राणवल्लभ का ही अङ्गसौरभ निःसृत हो रहा है।

विकसित कमल का मधु ही जिसकी जीविका है, वह मधुपमाला प्रफुल्लकमल सरोवर के जल को घेरे रहती है। वैसे ही उद्धव के हृदय में श्रीकृष्ण-नीलाम्बुज निरन्तर विकसित रहता है। फलस्वरूप उनकी बाह्य और अन्तरिन्द्रियाँ कृष्णप्रेम-मकरन्द से सुवासित हैं। ऐसे उद्धव को घेर कर वे व्रजाङ्गनायें बैठ गईं। उन्होंने उद्धव को रमापति रहस्य-विषय का संदेशवाहक दूत समझकर उन्हें बैठने के लिये एक छिन्न मलिन आसन दिया, पर उद्धवजी व्रजाङ्गनाओं के दिये आसन पर न बैठ दायें हाथ से उसे स्पर्श कर भूतल पर ही बैठ गये। दास-अभिमान रखने वाले उद्धव श्रीकृष्णप्रियाओं के दिये

आसन पर बैठते तो उनकी अमर्यादा करना होता; उधर आसन ग्रहण न करते तो उनके आज्ञा-लंघन का अपराध लगता, इसलिये वे आसन का स्पर्श कर उनकी आज्ञा का प्रतिपालन कर जमीन पर ही बैठ गये। मूल में 'उपविष्टमासने' लिखा है। श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं 'अत्रासन इति सामीपिकार्थस्यैवाधिकरणं ज्ञेयम्' (लघुतोषणी) अर्थात् यहाँ सामीप्य अधिकरण से ही सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है अर्थात् उद्धव व्रजाङ्गनाओं द्वारा प्रदत्त आसन के समीप बैठ गये। उन्हें एकान्त में अपने निकट आकर बैठते देखकर वे सब समझ गईं कि ये श्रीकृष्ण का कोई गुप्त सन्देश लेकर ही आये हैं। यही कारण था कि वे उन्हें चिरपरिचित बान्धव की तरह घेर कर बैठ गईं यद्यपि उन्होंने उद्धव को पहले कभी नहीं देखा। यहाँ श्रीकृष्ण को 'रमापति' कहने का अर्थ यही है कि अब श्रीकृष्ण विविध सम्पत्ति के अधीश्वर हो गये हैं; उनके दूत उद्धव की भूषण आदि सम्पत्ति को देखकर व्रजाङ्गनाओं के हृदय में यही बात उमगी थी। अथवा, गोपियों का पक्ष लेकर श्रीशुकदेव मुनि ने कहा – अब वे मथुरा में परमेश्वर रूप में ही विराज रहे हैं, अब रमा ही तो उनकी सेवा के लिये आयेंगी, फिर इन काङ्गालिनियों के पास दूत भेजने की क्या आवश्यकता ? (श्रील विश्वनाथ)

जो भी हो, गोपिकायें बोलीं –

"जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान प्रियचिकीर्षया ।।
अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ।।
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।
पुंभिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षटपदैः ।।
निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ।।
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारेण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ।।
इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते समायते उद्धव त्यक्तलौकिकाः ।।
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ।।"

(भा. 10/47/4-10)

हे राजदूत ! हम तुम्हारे अङ्ग-सौरभ से ही समझ गईं कि वर्तमान में जो यादवों के अधिपति हुए हैं, तुम उन्हीं के पार्षद होगे। अन्यथा तुम्हारे अङ्ग से उन यदुपति का अङ्गसौरभ क्यों निर्गत होगा। राजपुरुष हो, तभी तो तुम महामूल्यवान वस्त्र-आभूषणों में हम काङ्गालिनियों के पास आये हो। ऐसे साज में न आते, तो हम तुम्हें राजपुरुष के रूप में कैसे पहचानती ?

जो एक दिन व्रज में गायों का ग्वाला था, वह आज कपालगुण (भाग्य) से मथुरा का राजराजेश्वर हो गया है। अब उसके लिये इस गो-व्रज में आना अपमानजनक है, तभी तुम्हें भेजा है। उसके साथ हम लोगों का कभी कोई सम्बन्ध था, यह बात सोचने में भी हमें डर लगता है, कारण - अब वह राजराजेश्वर है और हम वृक्षतलवासी रास्ते की काङ्गालिनें।

जो भी हो, आज हमें एक ही बात पूछनी है। निश्चय ही तुम यहाँ स्वत:प्रवृत्त होकर नहीं आये, कारण - तुम जैसे राजपुरुष के लिये गायें चराने का मैदान आगमन स्थान नहीं हो सकता। निश्चय ही तुम्हारे प्रभु ने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। किन्तु किस कार्य को पूरा करने के उद्देश्य से भेजा ? यदि कहो कि हम लोगों को सान्त्वना देने के लिये ही भेजा है, तो हमें इस बात पर विश्वास नहीं होता, कारण- हम तो उसके कुछ नहीं (लगते)। उसके साथ हमारा देहसम्बन्ध, ग्रामसम्बन्ध, धर्माधर्म आदि कोई सम्बन्ध ही नहीं था। था एकमात्र शुद्ध प्रीति का सम्बन्ध। उसने जब प्रीतिसम्बन्ध का अनादर कर कर्तव्य (ता) और ऐश्वर्य का आदर किया है, तब हमारे साथ अपने सभी सम्बन्ध छिन्न कर दिये। हम समझ गईं कि केवल उसकी जनक-जननी को छोड़ इस व्रज में उसके स्मरण के योग्य और कोई नहीं कारण - तुम्हारे राज राजेश्वर प्रभु के लिये इस चरागाह की बात याद करना अतिशय लज्जा-घृणाजनक है, क्योंकि यहाँ तो कुछ गायों और उन्हें बाँधने की रस्सियों को छोड़ और कुछ भी नहीं। वे तो अब अनन्त राजवैभव के बीच परिसेवित हैं, इसलिये यहाँ की याद आते ही, सम्भव है वे दाँतों से जीभ काट लेते हों। इसलिये निश्चय ही उन्होंने अपने माता-पिता की प्रसन्नता के लिये ही तुम्हें भेजा है, कारण- माता-पिता के साथ सम्बन्ध त्यागने से तो अपना अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। पिता-माता आदि बन्धुजनों के प्रति स्नेहानुबन्ध तो मुनियों के लिये भी दुस्त्यज है। तभी उनके स्नेह के प्रतिदान के लिये ही तुम्हें भेजा है। हाय ! हमारे मन में बड़ा ही दु:ख और खेद होता है कि काङ्गाल का लड़का भाग्य से राजपदवी प्राप्त कर ले तो उसके व्यवहार से माता-पिता को ऐसी अवमानना और लाञ्छना भोगनी पड़ती है। जिन माता-पिता के हृदय भरे स्नेह से वे लालित-पालित-पोषित हैं, उन्हीं माता-पिता को सुखी करने के लिये एक भृत्य को भेजा है ? ठीक है, यहाँ क्या तुम रास्ता भूलकर आये हो, या काङ्गालिनियों की दुरवस्था देखने के लिये ? यदि ऐसा है, तो हमारी दुरवस्था तो देख ली, अब जाओ, उनके माता-पिता की दुरवस्था अपनी आँखों से देख जाओ। सम्भव है तुमसे मिलकर तुम्हारा रूप-वेशभूषा आदि देखकर

उनके शोक की निवृत्ति हो, वे सुखसागर में निमज्जित हो जायें।

हे मंत्रीप्रवर ! मथुरा से लौटे सुबल आदि से सुनने को मिला कि मथुरा में सम्भवतः तुम्हीं एकमात्र रसिकभक्त हो, तभी हम तुमसे एक बात पूछतीं हैं। जब किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रीति की जाती है, तब जितने दिन प्रयोजन सफल नहीं होता, उतने ही दिन प्रीति रहती है। प्रयोजन-सिद्धि होने पर (काम हो जाने पर) उस प्रीति की भी इति हो जाती है। पर हमने तो तुम्हारे प्रभु से किसी प्रयोजन-सिद्धि के लिये प्रीति नहीं की, फिर इस विशुद्ध प्रेम में विरह क्यों आया ? तुम्हारे प्रभु हम लोगों को त्याग कर दूरदेश मथुरा गये हैं, इसे लेकर हमारे मन में कोई दुःख या क्षोभ नहीं है, किन्तु इस निर्मल निरुपाधि प्रेम पर जो कलंक लगा, उससे हम लोग निरतिशय मर्माहत हो गई हैं। जिस प्रेम की खातिर हमने इहकाल, परकाल, स्वजन, बन्धु-बान्धव, भला-बुरा, धर्म-अधर्म किसी बात की चिन्ता न की, उसी प्रेम में दुरन्त विरह। इस दुःख को सहने का उपाय क्या है ?

हे राजदूत ! इस निरुपाधि प्रेम में विरह देखकर हमारे मन में संशय होता है – तो क्या कैतवमय (कपट भरी) प्रीति का ही अभिनय किया गया था ? (यह कहकर) व्रजाङ्गनायें बहुत से दृष्टान्त देकर कैतवयुक्त प्रीति- रीति की बात करने लगीं।

देखिये मंत्रीप्रवर ! षट्पद भौंरे जब तक सुमन-कुसुम से मधु प्राप्त करते हैं, तभी तक वे कुसुम का आदर करते हैं। मधु के न रहने पर वे भी कुसुम की ओर मुड़कर नहीं देखते। उसी प्रकार लम्पट-कामुक पुरुष शोभनचित रमणियों के साथ प्रीति का अभिनय किया करते हैं। अपने उद्देश्य की सिद्धि के पश्चात् वे चपलता-दोष के कारण उन रमणियों का अनादर कर उन्हें त्याग देते हैं।

**''थाकले मधु, भ्रमरा बँधु,**
**फुलेर पाने धाय।**
**मधु फुराले, भ्रमरा भुले,**
**फुल-पाने ना चाय।।''**

गणिकायें धनी युवक के साथ तब तक ही प्रीति का अभिनय करती हैं, जब तक उसके पास धन रहता है। धन नहीं रहा, वे उसकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखेंगी। प्रजा राजा से तभी तक प्रीति करती है, जब तक उसमें प्रजा-पालन की सामर्थ्य रहती है। प्रजा पालन में असमर्थ होने पर उसमें प्रजा की प्रीति नहीं रहती। विद्यार्थी अध्यापक के प्रति तभी तक प्रीति दिखाता है, जब तक उसका अध्ययन पूरा नहीं होता। विद्या-अध्ययन पूरा होने पर वह अध्यापक की कोई खोजखबर नहीं रखता। जब तक यजमान दक्षिणा नहीं देता, तब तक पुरोहित उसके प्रति प्रीति दिखाता है। दक्षिणा मिल जाने पर वह क्षणभर भी नहीं रुकता, विदा लेकर चला जाता है।

''गणिका निर्धने त्यजे, प्रजाकुल नाहि पूजे,
शक्तिहीन भूपति होइले।
लब्धविद्य गुरु छाड़े, पुरोहित यजमाने,
छाड़ि जाय दक्षिणान्त होले।।''

वृक्ष जब तक फलवान रहता है, तभी तक पक्षी उसके प्रति आदर दिखाते हैं। फल नहीं रहते, तो वे वृक्ष को त्याग देते हैं। अतिथि उतनी ही देर गृहस्थ के प्रति प्रीति दिखाते हैं, जितनी देर वे भोजन करते हैं। खाना-पीना हो जाने के बाद वे उस ओर और नहीं देखते। हिरण तब तक ही अरण्य का आदर करते हैं, जब तक वह दावानल से दग्ध नहीं होता। अग्नि से दग्ध होने पर उस वन को वे त्याग देते हैं। उसी प्रकार जार या उपपति अनुरक्त रमणियों का उपभोग कर उन्हें त्याग देता है।

''फलहीन वृक्ष छाड़ि, पक्षीगण जाय उड़ि,
आहारान्ते जतेक अतिथि।
दावानल दग्धवने, छाड़ि जाय मृगगणे,
भुक्ता कान्ता त्यजे उपपति।।''

हे मंत्रीप्रवर ! हम लोग तुम्हारे प्रभु के प्रति सदा प्रगाढ़ अनुराग ही वहन करती आई हैं, पर उन्होंने उपभोग कर हमें त्याग दिया है। जिस प्रेम में कोई स्वार्थ-उद्देश्य नहीं, उस प्रेम में यह दुरन्त विरह किसी भी रसिक जन को गुरुतर पीड़ा ही पहुँचायेगा।

इसके पश्चात् विरहिणी व्रजदेवियों ने आवेग से भरकर उद्धवजी से कहा - हे राजदूत ! हमारे प्रश्न का कोई उत्तर न देकर तुम चुप क्यों हो ? उद्धवजी उनके परम आवेशभरे आर्ति वचन सुनकर एकदम निर्वाक् और स्तम्भित हो गये। होने की बात ही थी, कारण- ऐसी निगूढ़ आर्तियुक्त कृष्णप्रेम की भाषा उन्होंने कभी नहीं सुनी। किसी शास्त्र में भी नहीं मिली। संवित की मूर्ति उद्धव महाशय श्रीकृष्ण के स्वरूप ऐश्वर्य आदि तत्वों में परम सुनिपुण थे। स्वयं भगवान् परम परतत्वस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति ऐसे आवेगमय अभियोग वचन सुनकर वे अति विस्मित चमत्कृत और हतवाक् हो गये। व्रजरामाओं ने सोचा, इस अरसिक के आगे रस-प्रसङ्ग लाने से कोई लाभ नहीं, उल्टे मनोवेदना ही होगी। सोचते-सोचते उनके कायमनो वाक्य की वृत्तियाँ श्रीगोविन्द में मग्न हो गईं। वे उद्धवजी को देखकर श्रीकृष्णविरह में व्याकुल होकर किञ्चित् भी संकोच न कर उनके आगे ही अपने साथ श्रीकृष्ण की रहस्यमयी लीलाओं का गायन करने लगीं। अपने भावों के अनुकूल कैशोरलीला (और बाल्यलीला भी) गाते-गाते विरह सिन्धु में मग्न हो उच्चस्वर में रोदन और विलाप करने लगीं। ''हा कृष्ण ! हा रमानाथ ! हा व्रजनाथ !

हे आर्तिनाशन ! एक बार आकर अपने व्रज की दशा देख जाओ। विशेषत: वे व्रजरामायें जो तुम्हें छोड़ विश्व में और कुछ भी नहीं जानतीं, शोकसिन्धु में डूबी जा रही है; अपनी चरणतरी देकर उनका उद्धार करो।''

इन व्रजरामाओं ने थोड़ा भी विचार न किया कि मथुरा से आया यह अपरिचित उद्धव उनके विषय में क्या सोचेगा। किन्तु उद्धवजी उनका ऐसा आकुलताभरा कृष्णलीला-गायन, ऐसी आवेश-आर्तिभरी रोदनध्वनि सुनकर स्वयं को धन्य समझने लगे।

''मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलित माला कुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।।''

श्रीश्रीगीतपञ्चक
श्रीमद्भागवत
दशम स्कन्ध
सैंतालीसवाँ अध्याय

# श्रीश्रीभ्रमरगीत

**काचिन्मधुकरं दृष्टवा ध्यायन्ती कृष्ण-सङ्गमम्।**
**प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदम-ब्रवीत्।। 11।।**

---

**अन्वयः** - कृष्णसङ्गमं ध्यायन्ती काचिद् (गोपी) मधुकरं (भ्रमरं) दृष्टवा प्रियप्रस्थापितं (प्रियेण श्रीकृष्णेन प्रस्थापितं प्रेषितं) दूतं कपयित्वा मत्वा इदम् अब्रतीत् (कथितवती) ।। 11 ।।

**अनुवाद**- कोई गोपी प्रियतम श्रीकृष्ण के मिलन का ध्यान कर रही थी। तभी अपने आगे सहसा आये एक भ्रमर को देखकर उसे प्रिय का प्रस्थापित दूत मानकर वह मानभङ्गिमा के साथ अपने मन की बातें कहने लगीं ।। 11 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

परमहंसों के शिरोमणि श्रीपाद शुकदेव मुनि इस श्लोक से श्रीमदभागवत का परम सार अंश भ्रमरगीत आरम्भ कर रहे हैं। उन्होंने इस श्लोक में 'काचित्' शब्द द्वारा जिनका परिचय प्रदान किया है, वे ही गोपीगणशिरोमणि महाभावस्वरूपिणी श्रीकृष्णप्रियाओं में मुख्य श्रीराधा हैं। देह के भीतर मुख्य प्राण की तरह श्रीमद्भागवत में उनका तत्व निगूढ़ रहस्य के बीच छिपा है। मन्थनकाष्ठ से अग्नि का आविर्भाव होता है। उसी तरह साधन-भजन के परिपक्व होने पर जब कृपा प्राप्त सिद्ध भागवत परमहंस के स्वरूप में पूर्णता आती है, तो वह उन (राधारानी) की मधुर दीप्ति का सन्धान पाकर सदा-सदा के लिये कृतकृतार्थ हो जाता है। अग्नि की दाहिका, सूर्य की दीधिति, दुग्ध की धवलता की तरह वे (राधा) तत्वतः श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। भागवत परमहंस श्रीपाद शुकदेव मुनि समस्त गोपललनाओं में उनका भाव-वैशिष्टय अनुभव कर इस श्लोक में 'काचित्' शब्द द्वारा उसी का पृथक् उपक्रम कर रहे हैं।

इस श्लोक में कहा गया है 'ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्', अर्थात् जो कृष्णमिलन ध्यान कर रही थीं। इस अंश के साथ वासनाभाष्य में ली गई अग्निपुराण वाणी को उद्धृत कर श्रील गोस्वामिपाद ने तोषणीटीका में यह प्रतिपादित किया है कि 'काचित' शब्द श्रीराधा का ही ज्ञापक है, यह भावुक भक्तों

के लिये विशेष प्रणिधान के योग्य है।

''गोप्यः पप्रच्छुरुषसि कृष्णानुचरमुद्धवम् ।
हरिलीलाविहारंश्च तत्रैकां राधिकां विना ।।
राधा तद्भावसंलीना वासनाया विरामिता ।
सखीभिः साभ्यधाच्छुद्धविज्ञानगुणवृंहितम ।।
इज्यान्तेवासिनं वेदचरमांशविभावनैः ।।''

तात्पर्य यह है कि उषाकाल में गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रियतम अनुचर उद्धवजी से श्रीकृष्णलीलाविहारात्मक बातें पूछने लगीं, किन्तु गोपीकुल-मुकुटमणि श्रीराधारानी ने कोई बात नहीं पूछी। किन्तु उस समय वे प्रियतम श्रीकृष्ण के भाव में विभोर होने के कारण सभी प्रकार की वासना से विरत थीं। सहसा लीलाशक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से भावान्तर हुआ, मौन (भाव) का अवसान हुआ, तो उन्होंने उपनिषदों के सार सभी रहस्यों को सुप्रसिद्ध श्लोकमय भ्रमरगीत में रूपान्तरित कर वृहस्पतिशिष्य उद्धवजी के आगे व्यक्त कर दिया। यह भ्रमरगीत है मानगर्भ-विरहात्मक (अर्थात् यहाँ विरह में छिपा है मान)।

अग्निपुराण के इस अंश के साथ श्रीमद् भागवत के उक्त अंश का सादृश्य देखकर विज्ञ वैष्णवाचार्यों ने निर्णय किया है - यहाँ 'ध्यायन्ती कृष्ण सङ्गमम्' श्रीकृष्ण ध्यानसुख में मग्ना और कोई नहीं, स्वयं श्रीराधा ही हैं। प्रेममयी राधारानी को लेकर ही भ्रमर-गीत की अवतारणा है। इस भ्रमणगीत में उन्हीं के मोहनाख्य महाभाव का चरम अनुभव है; दिव्योन्माद भाव का चरम विलास 'चित्रजल्प' भावविशेष है। निगमकल्पतरु के गलितफल श्रीमद्भागवत का चरम सारात्सार अंश है यह भ्रमरगीत। कोटि-कोटि समुद्रों से भी अधिक भावगम्भीर, अनन्त, असीम और अति दुर्विगाह (अगाध)। इसकी यथाकिञ्चित् अनुभूति पाने के लिये हमें बड़े प्रणिधान के साथ श्रीराधातत्व की चर्चा-समीक्षा करनी होगी।

परब्रह्म की पराशक्ति का नाम ही श्रीराधा है। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् ये तीन प्रकाश हैं अद्वयज्ञानतत्व के। शक्ति की अभिव्यक्ति का तारतम्य (अन्तर) ही इसका कारण है। ''तत्र शक्तिवर्गक्षणतद्धर्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति शब्दयते। अन्तर्यामित्वमयमाया-शक्तिप्रचुरचिच्छंशविशिष्टं परमात्मेति। परिपूर्णसर्वशक्ति विशिष्टं भगवानिति।'' (भा. 1/2/11 श्लोक की क्रमसन्दर्भ टीका) शक्ति का अभिव्यक्ति-रहित केवल ज्ञान ही ब्रह्म है; अन्तर्यामीत्वमय मायाशक्तिप्रचुर चित् शक्ति का अंश विशिष्ट ज्ञान ही परमात्मा है; परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट ज्ञान ही भगवान् हैं। जिनके ये त्रिविध प्रकाश हैं, वे ही अद्वय ज्ञानतत्व स्वयं भगवान हैं। यह तारम्य है शक्ति की अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति के कारण। इस वैचित्र्य का कारण है एक मात्र स्वरूपशक्ति इसलिये श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने लघु भागवतामृत में

लिखा है –

''एकत्वञ्च पृथकञ्च तथांशत्वमुतांशिता ।
तस्मिन्नेकत्रे नायुक्तमचिन्त्यानन्तशक्तितः ।।''

उसी एक अद्वयतत्व में अचिन्त्य अनन्तत्व के कारण एकत्व, अथवा अनेकत्व अंशत्व अंशीत्व कुछ भी असम्भव नहीं। अद्वयज्ञानतत्व श्रीकृष्ण-स्वरूप में निखिल सर्वशक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के कारण सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में भगवान् वेदव्यास ने उन्हें 'स्वयं भगवान्' कहा है। जैसे श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, वैसे ही कृष्णप्रिया होने के कारण श्रीराधा भी सर्वशक्तिपरा स्वयं भगवती हैं, कारण – शक्ति सभी प्रकार से शक्तिमत्तत्व के अनुरूप ही हुआ करती है। भगवान् रुद्ररूप में ध्वंस के देवता हैं, तभी ध्वंसशक्ति भी महाकाली रुद्राणी के रूप में प्रकाशित हैं। भगवान् श्रीमन्नारायण अचिन्त्य-अनन्त ऐश्वर्य प्रधान वैकुण्ठाधिपति हैं, उनकी शक्ति भी अखिल ऐश्वर्य-अधिष्ठात्री भगवती लक्ष्मीदेवी हैं। भगवान् जहाँ जिस रूप में प्रकट हुए हैं, उनकी शक्ति भी उसी भाव से उसी रूप की अनुगामिनी हुई है।इस प्रकार भगवत् शक्ति कूर्म (अवतार) में कौर्मी, मत्स्य में मात्सी, वराह में वाराही और नरसिंह में नरसिंही रूप में आविर्भूत होकर तत्व की सहायता करती है। श्रीकृष्ण हैं अद्वयज्ञानतत्त्व, अखिलरसामृतमूर्ति, लावण्यधाम, शृङ्गाररसमयविग्रह गोपकिशोर। उनमें निखिल ऐश्वर्य-माधुर्यात्मक अनन्तसर्वशक्ति की नित्य पूर्ण अभिव्यक्ति है, तभी वे 'स्वयं भगवान्' हैं। उस परम स्वरूप के साथ अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य के रूप में सर्वलक्ष्मीमयी महाभावस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी का आविर्भाव सभी प्रकार से योग्य है। श्रीश्रीराधामाधव-युगल नित्य अभिन्नरूप में सभी लोगों के भीतर प्रकाशित हैं। कल्याणमयी श्रुति माता ने विश्वमानव के आगे इसी तत्व की घोषणा की – ''राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा'' (ऋक् परिशिष्ट) अनादिबद्ध मायामुग्ध मानवकुल महाभाव की मूर्ति परम रहस्यमयी श्रीराधा का तत्व कैसे समझेगा ? अथर्वोपनिषत् जलदगम्भीर स्वर में कह रहे हैं – ''गोकुलाख्ये मथुरामण्डले .... गोविन्दोऽपि श्यामः पीताम्बरो द्विभुजो .... द्वे पार्श्वे चन्द्रावली राधिका च यस्यांशे लक्ष्मी-दुर्गादिका शक्तिरिति तस्याद्या प्रकृति राधिका नित्यानिर्गुणा'' गोकुल नामक मथुरामण्डल में द्विभुज पीताम्बर श्यामसुन्दर गोविन्द विराजमान हैं; दोनों ओर चन्द्रावली और राधिका; उनमें श्रीराधा आद्या प्रकृति नित्या निर्गुणा। लक्ष्मी दुर्गा आदि जिनकी अंशरूपा है ''वामाङ्गसम्भिता देवी राधावृन्दावनेश्वरी'' (कृष्णोपनिषत्)।

श्रीराधा कृष्णप्रेम की ही मूर्ति हैं; ह्लादिनी शक्ति हैं। (अपनी) जिस अचिन्त्य शक्ति के द्वारा आनन्दब्रह्म स्वयं आनन्द अनुभव करते हैं और भक्तों के हृदय में शाश्वत आनन्दतरङ्ग प्रवाहित करते हैं। तभी उनकी ह्लादिनी शक्ति। इस ह्लादिनी शक्ति की सारमूर्ति ही श्रीराधा हैं। ''राधा कृष्णप्रणयविकृतिह्लादिनी

शक्ति:'' जैसे तरल दुग्ध का विकार या गाढ़ अवस्था क्षीर है, वैसे ही श्रीकृष्णप्रेम का विकार या गाढ़ अवस्था महाभाव है। वही महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधा हैं।

''ह्लादिनीर सार अंश, तार 'प्रेम' नाम ।
आनन्द-चिन्मय-रस प्रेमेर आख्यान ।।
प्रेमेर परम सार 'महाभाव' जानि ।
सेइ महाभावरूपा राधाठाकुराणी ।।
प्रेमेर स्वरूप, देह प्रेम-विभावित ।
कृष्णेर प्रेयसीश्रेष्ठा जगते विदित ।।''

(चै. च. मध्य. 8)

''रसौ वै स:'' यह श्रुतिवाणी परब्रह्म के रसमय स्वरूप की परिचायक है। ''गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'' अति निगूढ़ तत्व रसराज श्रीकृष्ण ही नराकृति परब्रह्म हैं। रस वस्तु भाववेद्य है (भाव द्वारा ही अनुभव की जा सकती है)। निगूढ़ रसतत्व की पूर्ण अनुभूति महाभाव से ही सम्भव है। तभी अखिल रसामृत मूर्ति रसराज श्रीकृष्ण के पार्श्व में महाभावरूपा श्रीराधा हैं।

''राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान ।
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र-परमाण ।।
मृगमद, तार गन्ध, जैछे अविच्छेद ।
अग्नि-ज्वालाते जैछे नाहि कभु भेद ।।
राधाकृष्ण ओइछे सदा एकइ स्वरूप ।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप ।।''

(चै. च. आदि0 4)

सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराणशिरोमणि या महापुराण है। पद्मपुराण आदि छह पुराण सात्विक हैं। सात्विक व्यक्तियों की तरह सात्विक पुराणों की उक्तियों का मूल्य भी बहुत अधिक है।वेदार्थपूरक, स्पष्टोक्ति- समन्वित और अपौरुषेय होने के कारण पुराण भी वेद के अन्तर्गत है। फलस्वरूप पुराण का पञ्चम वेदत्व प्रमाणित हुआ है। वेदचतुष्टयात्मक यजुर्वेद में जो अप्रकाशित था, वही इतिहास-पुराण में व्यक्त हुआ है। श्रीराधा तत्व के श्रेष्ठत्व के सम्बन्ध में पद्मपुराण में स्पष्ट उक्ति है -

''यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्या: कुण्डं प्रियं तथा ।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ।।''

जैसे श्रीराधा श्रीकृष्ण की प्रियतमा हैं, उनका कुण्ड भी उसी तरह प्रियतम है। सभी गोपियों में वे ही श्रीकृष्ण की अत्यन्त वल्लभा हैं। इस 'अत्यन्त बल्लभा' शब्द से ही सभी शक्तियों से श्रीराधा की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई है। आदिपुराण में भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से कहा है –

**''त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं पुरी ।**
**तत्रापि गोपिका पार्थ ! यत्र राधामिधा मम ।।''**

हे पार्थ ! त्रिलोक में पृथ्वी ही धन्य है, क्योंकि वहाँ वृन्दावन विराजमान है। वृन्दावन की प्रधानता गोपिकाओं के कारण है। फिर गोपियों का गौरव हैं कृष्ण प्रेममयी श्रीराधा। श्रीराधा की तुलना नहीं है। जैसे परतत्व-विचार में श्रीकृष्ण की तुलना नहीं, वैसे ही शक्तितत्वविचार में श्रीराधा की तुलना नहीं। इसीलिये गौतमीययंत्र में वर्णित है –

**''देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।**
**सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिसम्मोहिनी परा ।।''**

देवी श्रीराधिका कृष्णमयी परमदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति सम्मोहिनी और परा हैं 'परा' शब्द शक्तितत्व की ओर स्वयं (मूल) शब्द का ही बोधक है। 'परान्ते श्रेष्ठवाचका:' अन्त में 'परा' पद श्रेष्ठत्व ही बताता है। वे सर्वलक्ष्मीमयी हैं, इससे यही जाना जाता है कि उनमें ऐश्वर्यमाधुर्यात्मिका सभी भगवत् शक्तियाँ विद्यमान हैं। श्रीराधा सर्वशक्तिस्वरूपिणी हैं, यह समझाने के लिये ही सर्वलक्ष्मीमयी शब्द का प्रयोग किया गया है। 'सर्वकान्ति' से सभी इच्छायें जानी जाती हैं। श्रीकृष्ण की सभी कामनाओं की परिसमाप्ति श्रीराधा में है। ''कृष्णेर सकल इच्छा राधातेइ रहे।'' (चै. च.) इसीलिये वे सम्मोहिनी हैं। ''जगतमोहन कृष्ण ताँहार मोहिनी'' (वही) जिन (कृष्ण) के रूप पर स्थावर-जङ्गम आदि सभी जीव विमुग्ध होते हैं, उनकी भी मोहिनी श्रीराधा हैं। शक्ति के आगे शक्तिमान का यह जो पराभव (हार) है, इससे उनकी प्रेमवश्यता ही विघोषित हुई है, कारण- प्रेम के परमसार महाभाव की मूर्ति हैं श्रीराधा। इसीलिये वे निखिल चित् शक्तियों में परा या श्रेष्ठ हैं। महर्षि गौतम सभी ऋक्मंत्रों के द्रष्टा के रूप में प्रसिद्ध हैं, अतएव उनकी यह तंत्रवाणी वेदसार है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है – ''कृष्णवाञ्छापूर्तिरूप करे आराधने। अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने।।'' (वही) पुराण-शिरोमणि श्रीमद्भागवत (10/30/28) में है –

**''अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।**
**यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ।।''**

रासलीला में श्रीकृष्ण राधारानी को लेकर अन्तर्हित हो गये, तो श्रीकृष्ण अन्वेषणपरायण गोपियों में से कोई-कोई (सुहृदपक्षा) कहने लगी- ''हे सखियों ! श्रीकृष्ण की सहगामिनी इस रमणी

ने ही भक्तवाञ्छापूर्णकारी सर्वदुःखहारी श्रीहरि की आराधना की है, तभी श्रीकृष्ण हम सबका परित्याग कर इस भाग्यवती रमणी को लेकर निर्जनस्थान में चले गये हैं।'' इससे पता चलता है कि शतकोटि व्रजबालाओं में श्रीराधा ही सर्वश्रेष्ठ हैं, कारण- वे अत्यन्त वल्लभा हैं, उनके लिये ही श्रीगोविन्द सभी को त्याग सकते हैं। महाभावघन विग्रह, गुण-रत्न-मणि-खनिस्वरूपा श्री राधा ही श्रीकृष्ण की सभी प्रकार की वासनायें पूरी करने में सक्षम हैं।

''कृष्णके कराय श्यामरस मधुपान ।
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्वकाम ।।
कृष्णेर विशुद्ध प्रेम रत्नेर आकर ।
अनुपम गुणगण पूर्ण कलेवर ।।
जाँहार सौभाग्य गुण वाञ्छे सत्यभामा ।
जाँर ठाइँ कला-विलास शिखे व्रजरामा ।।
जाँर सौन्दर्यादि गुण वाञ्छे लक्ष्मी-पार्वती ।
जाँर पतिव्रता-धर्म वाञ्छे अरुन्धती ।।
जाँर सद्गुणागणेर कृष्ण ना पान पार ।
ताँर गुण गणिबे केमने जीव छार ।।''

(चै. च. मध्य. 8)

अखण्ड अद्वयज्ञानतत्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी जिनके महाभावोत्थित गुणों का अन्त नहीं पाते, उन्हीं राधारानी के तत्व को मुझ-जैसा मायाबद्ध नगण्य जीव कैसे समझेगा ? सहस्रांशु (सूर्य) की किरणमाला सहस्र धारों में झर रही है, उससे विश्व का दशदिक् समुज्ज्वल है। मैं अन्धा हूँ, मेरे लिये चारों ओर अँधेरा है। अमानिशा का अन्धकार और स्वप्रकाश दिवालोक दोनों ही समान हैं। मुझ-जैसे मायान्ध नगण्य जीव के लिये राधातत्व समझने की इच्छा करना विडम्बना को छोड़ और कुछ नहीं।

जो भी हो, अब हम आरम्भ किये विषय पर लौटते हैं। आलोच्य श्लोक के 'काचित्' शब्द की व्याख्या में लिखा है- ''के प्रेमसुखे आ समन्तात् चित ज्ञानं यस्याः सेति'' (लघुतोषणी टीका) अर्थात् प्रेमसुख में जिनकी अखण्ड अनुभूति है, वे ही 'कचित्' वे ही 'श्रीराधा' हैं। प्रेमरस की दो भूमियाँ हैं - एक मिलन, दूसरी विरह। इन दोनों ही क्षेत्रों में श्रीमती राधारानी की प्रेमानुभूति की पराकाष्ठा है। मिलन में उनका मादनाख्य महाभाव है। ह्लादिनी का परम सारात्सार एवं सुविलासवर यह मादन महाभाव इतना अति आश्चर्यपूर्ण है कि इसमें विरह और मिलन दोनों की सहस्र नित्यलीलायें एक साथ विराजमान हैं। इस भावसम्पदा पर एकमात्र राधारानी का ही एकाधिकार है।

''सर्वभावोदगमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ।।''

(उ. नी. स्थानी. 219)

अर्थात् ह्लादिनी-सार प्रेम सर्वभावोदगमोल्लासी (सभी भावों का प्रकाशक) होने पर ही एकमात्र राधारानी में ही विराजमान है; कभी उनके हृदय में कभी बाहर प्रकट होता है। (श्रीजीवपाद) यह मादनभाव अप्राकृत नवीन मदन स्वयं श्रीकृष्ण के लिये भी दुर्गम है। श्रीपाद शुकदेव मुनि भी इस विषय में कुछ भी न कह सके, अतएव यह जाना गया कि इसमें श्रीराधा की प्रेमसुखानुभूति अखण्ड है। इसलिये वे ही 'काचित' हैं।

विरह की भूमि पर ही व्रजदेवियों की प्रेमरस-अनुभूति का अत्यन्त चमत्कारित्व है, कारण-विरह में ही उन लोगों के प्रेमसिन्धु का आलोड़न और उच्छ्वास सर्वाधिक है। इसलिये विरह में प्रेमसिन्धु का आस्वादन भी मिलन-आनन्द की अपेक्षा अति चमत्कारिता से भरा है। विरह में राधारानी का महाभाव मोहन नाम धारण करता है। इसके अनुभाव छह हैं-

''अत्रानुभावा गोविन्द कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्छना ।
असह्यदुःखस्वीकारादपि तत्सुखकामता ।।
ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं तिरश्चामपि रोदनम् ।
स्वभूतैरपि तत्सङ्गतृष्णा मृत्युप्रतिश्रवात् ।।
दिव्योन्मादादयोऽप्यन्ये विद्वद्भिरनुकीर्तिताः ।
प्रायो वृन्दावनेश्वर्यां मोहनोऽयमुदञ्चति ।।''

(उ. नी. स्थायी. 181-83)

'कान्ता द्वारा आलिङ्गित श्रीकृष्ण की मूर्छा; असह्य दुःख स्वीकार करके भी श्रीकृष्ण के सुख की कामना; ब्रह्माण्डक्षोभकारिता; तिर्यक् जाति का रोदन; मृत्यु स्वीकार कर अपने शरीर के पञ्चभूतों द्वारा श्रीकृष्णसङ्ग पाने की आकांक्षा; दिव्योन्माद। यह मोहन नामक महाभाव श्रीवृन्दावनेश्वरी में ही सम्पूर्ण रूप से प्रकट होता है।'

(1) कान्ताश्लिष्टेऽपि हरौ मूर्छाकारित्वं -

''रत्नच्छायाच्छुरित जलधौ मन्दिरे द्वारकाया
स्वप्नेऽप्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य ।
विश्वं पायान्मसृण यमुनातीर वाणीर कुञ्जे,
राधाकेलिभरपरिमलध्यानमूर्छा मुरारे ।।''

(पद्यावली)

द्वारका से एक संन्यासिनी वृन्दावन आई। श्रीललिता आदि सखियों की सभा में आकर शुभ आशीर्वाद देती बोली - जिसकी रत्नच्छटा से समुद्र कर्बुरित (कबूतरी रंग का) हो रहा है, ऐसे द्वारका के मन्दिर में रुक्मिणीजी द्वारा आलिङ्गित होने से श्रीकृष्ण के अङ्ग में पुलकोद्गम् हो रहा था। तभी श्रीकृष्ण के चित्त में उदित हुई यमुना-तट स्थित कुञ्जकुटीर में श्री राधा के केलि-परिमल (सौरभ, सहवास) की स्मृति! फलस्वरूप श्रीकृष्ण को मूर्छा आ गई। वह मूर्छा विश्व की रक्षा करे।

(2) असह्यदु:खस्वीकारात् तत्सुखकामता-

"स्यान्नः सौख्यं यदपि वलवदगोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मार्गात् कदापि ।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ।।"

(उ. नी.)

उद्धवजी ने व्रज से मथुरा लौटने का संकल्प कर पूछा - हे राधे ! तुम्हारे प्रियतम को क्या संदेश उपहार दूँगा ? सुनकर श्रीमती ने कहा - हे उद्धव ! यद्यपि कृष्ण के गोष्ठ में आगमन करने से हम सभी व्रजवासियों को परम आनन्द होगा, तथापि वह व्रज में आने से किञ्चित् भी क्षति अनुभव करे, तो यहाँ न आये। इससे हम लोगों को गुरुतर दु:ख ही हो रहा है, फिर भी यदि उसे मथुरा रहकर सुख होता है, तो वह वहीं रहे। हम तो गुरुतर दु:ख स्वीकार करके भी उसके सुख की ही कामना करती हैं।

(3) ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं -

"नारं चुक्रोश चक्रं फणिकुलमभवद्व्याकुलं स्वेदमूहे
वृन्दं वृन्दारकाणां प्रचुरमुदमुचन्नश्रु वैकुण्ठभाजः ।
राधायाश्चित्रमीश ! भ्रमति दिशि दिशि प्रेमनि:श्वासधूमे
पूर्णानन्देऽप्युषित्वा वहिरिदमवहिश्चार्तमासीदजाण्डम् ।।"

(उ. नी.)

व्रजस्थित प्रोषितभर्तृका श्रीराधा के मोहनभाव के उद्रेक से समग्र प्राकृत-अप्राकृत लोकों का क्षोभ देखकर श्रीनान्दीमुखी ने तुरन्त द्वारका जाकर श्रीकृष्ण से कहा - हे ईश्वर ! श्रीराधा के प्रेमधूमनि:श्वास के चारों ओर भ्रमण करने से ब्रह्माण्ड में कैसी एक आश्चर्यजनक घटना घटित हो गई, वह वर्णनातीत है। मनुष्य उच्चस्वर में रोदन करने लगे, फणि (सर्प) व्याकुल हो गये, देवताओं के शरीरों से घर्म (पसीना) निकलने लगा, वैकुण्ठस्थित कमला आदि के भी आँसू निकल पड़े। इस प्रकार

ब्रह्माण्ड भीतर-बाहर से पूर्णानन्द में रहते हुए भी अतिशय पीड़ित हो गया।

(4) तिरश्चामपि रोदनं -

"याते द्वारवतीपुरं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया
कालिन्दीतट कुञ्जवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया ।
उद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं
राधया येनान्तर्जल चारिभिर्जलचरैरप्युतकमुतकूजितम् ।।"

(पद्यावली)

श्रीनन्दीमुखी ने अश्रुविसर्जन करते हुए श्रीपौर्णमासीदेवी को श्रीराधा की चेष्टा के विषय में निवेदन किया- हे देवि ! श्रीकृष्ण द्वारका चले गये, यह सुनकर श्रीराधा ने श्रीकृष्ण का पीत वस्त्र ओढ़कर कालिन्दीकुटीर में एक मनोहर लता का आश्रय लेकर रोते-रोते गद्गद् उच्चस्वर में ऐसा गायन किया जिसे सुनकर यमुना के जलचर मत्स्य मकर आदि आर्तिभरा रोदन करने लगे।

(5) मृत्युस्वीकारात् स्वभूतैरपि तत्सङ्गवृष्णा -

"पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं ।
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे जोतिस्तदीयाङ्गन, ।
व्योन्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालववृन्तेऽनिलः ।।"

श्रीराधा ने ललिताजी से कहा - सखि ! यदि श्रीकृष्ण व्रज में नहीं आते, तो निश्चय ही न मैं उन्हें प्राप्त करुँगी, न वे मुझे प्राप्त करेंगे, अतएव मेरा देहान्त होने पर तुम लोग इस देह की रक्षा के लिये कोई चेष्टा न करना। मैं विधाता को प्रणाम कर उनसे एक यही वर माँगती हूँ - मेरी देह के पञ्चभूत आकाश आदि पञ्चभूतों में मिल जायें। जिस पुष्करिणी में श्रीकृष्ण स्नान करते हैं, उसमें मेरी देह का जल मिल जाय; जिस मुकुर में वे अपना मुंह देखते हैं, उसमें मेरी देह का तेज (ज्योति), उनके विहार-अङ्गन में आकाश, उनके तालवृन्त (तालपत्र के पंखे) में वायु और उनके पग-चालन स्थान में भूमि अंश मिल जाय।

इसी भाव के अनुरूप है पदकर्ता की रचना -

"जाहाँ पहुँ अरुण चरणे चलि जात ।
ताँहा ताँहा धरणि हइये मझु गात ।।
जो सरोवरे पहुँ निति निति नाह ।
हाम भरि सलिल होइ तथि माह ।।

ए सखि ! विरह मरण निरदन्द ।
ओइछे मिलइ जब गोकुलचन्द ।।
जो दरपणे पहुँ निज मुख चाह ।
मझु अङ्ग-ज्योति होइ तथि माह ।।
जो बीजने पहुँ बीजइ गात ।
मझु अङ्ग ताहि होइ मृदु वात ।।
जाहाँ पहुँ भरमइ जलधर श्याम ।
मझु अङ्ग गगन होइ तछु ठाम ।।
गोविन्ददास कह काञ्चन गोरि ।
सो मरकत तनु तोहे किये छोड़ि ।।''

(6) दिव्योन्माद –

''एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः
भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते ।
उद्घूर्णा चित्रजल्याद्यास्तभेदा बहवो मताः ।।''

''इस मोहन नामक महाभाव की किसी एक अनिर्वचनीय अद्भुत भ्रमाभा वैचित्रीमय अवस्था को 'दिव्योन्माद' कहा जाता है। इस दिव्योन्माद की बहुत अवस्थायें हैं – उद्घूर्णा, चित्रजल्प आदि।''

भावराज्य में यह दिव्योन्माद यथार्थ ही एक अति अद्भुत व्यापार है। भाव की अतिशयता में भ्रम का आविर्भाव होता है । भ्रम नहीं, 'भ्रमाभा' – जिसकी भ्रम की तरह आभा है, अर्थात! बाहर भ्रम-जैसा दिखाई देने पर भी जो परम सत्यस्वरूप है। यह भ्रम श्रीकृष्ण को केन्द्र बनाकर है, इसलिये यह भ्रान्ति सत्य की परावस्था है। इस अवस्था में श्रीराधा को मेघ देखकर श्रीकृष्ण का भ्रम होता है। तमाल देख कर श्रीकृष्ण का भ्रम होता है। और भी नाना प्रकार की भ्रमाभा वैचित्री उत्पन्न होने से विरह-विवशा श्रीराधा की भ्रममयी चेष्टायें और प्रलापमय वाक्य सामने आते हैं। यह दिव्योन्माद वैष्णवसाहित्य की एक अतुलनीय सम्पदा है। रसशास्त्र का निर्विवाद श्रेष्ठतम विषय और भजन राज्य का अर्थात् भक्त-साधकों के श्रवणकीर्तन-ध्यान-धारणा का सर्वोच्चतम तत्व, सर्ववेदान्तसार उपनिषद-रहस्य की चरमतम अभिव्यक्ति ही यह दिव्योन्माद है। कोई कह सकता है – छान्दोग्य, वृहदारण्यक् आदि वेदान्तशास्त्र पण्डित समाज में सुप्रसिद्ध है, उन्हें समझने के लिये महर्षि वेदव्यास ने ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' आदि सूत्रों का प्रणयन किया है। उन बहासूत्रों पर श्रीशंकर, श्रीरामानुज, श्रीमध्व, रीबलदेव आदि आचार्यों ने पृथक-पृथक ज्ञानगम्भीर भाष्यों की रचना की है। फिर विरहोन्मादिनी

श्रीराधा के दिव्योन्माद के प्रलापमय कुछ वाक्यों को उपनिषद् का रहस्य कैसे कहा जा सकता है ? भाव या भाषा की तो कोई समानता ही नहीं। इस संशय का संक्षिप्त समाधान किया जा रहा है। ''उपनिषद'' शब्द का अर्थ ''ब्रह्मविद्या परं ब्रह्म गमयेतीति ब्रह्मगमयतृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषत्'' ''उप-नि-षद धातु के उत्तर क्विप्'' प्रत्यय से उपनिषद शब्द निष्पन्न हुआ है। 'षद्' धातु का अर्थ है गति या प्राप्ति। अनादि अविद्या से अपहत (आहत, आबद्ध) जीव को स्वरूपबोध के पश्चात् परमस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति करा देता है, इसलिये उपनिषद शब्द से ब्रह्मविद्या समझी जाती है। ब्रह्म-बोधिका विद्या ब्रह्मविद्या। ब्रह्मशब्द का मुख्य अर्थ है विभु सर्वग (सर्वव्यापी) स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। 'ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थे कहे भगवान्। चिदैश्वर्य परिपूर्ण अनूर्द्धसमान।।'' (चै. च. आदि. 7) 'विद्या' का अर्थ ''सा विद्या तन्मतिर्यथा'' भगवान् की ओर उन्मुख करनेवाली स्वरूपशक्ति का नाम ही विद्या है, इसलिये पराभक्ति ही ब्रह्मविद्या का दूसरा नाम है। इस पराभक्ति की ही चरम उच्च कोटि पर दिव्योन्माद है। अतएव इस दिव्योन्माद में ही उपनिषद का निगूढ़तम रहस्य निहित है। यह दिव्योन्माद ही उद्घूर्णा और चित्रजल्प आदि विविध भावों में प्रकट होता है।

राधारानी की विविध भावविवशतायुक्त चेष्टाओं का नाम ही उद्घूर्णा है -

**''शय्यां कुञ्जगृहे क्वचिद्वितनुते सा वाससज्जायिता**
**नीलाभ्रं धृतखण्डिता व्यवहृतिश्चण्डी क्वचित्तर्जति ।**
**आघूर्ण त्यभिसारसम्भ्रमवती ध्वान्ते क्वचिद्दारुणे**
**राधा ते विरहोद्भ्रमप्रमथिता धत्ते न कां वा दशाम् ।।''**

(उ. नी. स्थायी. 193)

उद्धवजी व्रज से मथुरा लौटकर आये, तो श्रीकृष्ण ने उनसे श्रीराधा की दशा पूछी। उद्धवजी ने कहा - ''हे प्रभो ! तुम्हारे विरह में व्यथित श्रीराधा को क्या-क्या नहीं हुआ ? वे भ्रान्त होकर कभी तो वासकसज्जा की तरह कुञ्जगृह में शय्या की रचना कर रही हैं, कभी खण्डिता का भाव लिये अतिशय क्रोध में नील मेघ को तर्जन कर रही हैं, फिर कभी गहन अन्धकार में अभिसारिका बनी परिभ्रमण कर रही हैं। उनके प्रेम की अति विचित्र गति है।''

श्रीललित माधव नाटक के तीसरे अंक में श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने श्रीराधा के इस उद्घूर्णा भाव का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ हमारा आलोच्य विषय चित्रजल्प ही है। ''काचित्' शब्द की अन्य प्रकार से व्याख्या की गई है - ''कं सर्वेषां प्रेमसुखम् आचिनोति क्षणे-क्षणे बर्द्धयति या सेति च मुख्यत्वात् सैव'' अर्थात् जो सभी के श्रीकृष्णविषयक प्रेम सुख में क्षण-क्षण वृद्धि करती हैं, वे ही 'काचित्' हैं। ऐसे व्युत्पत्तिगत अर्थ में भी परममुख्य श्रीराधिका ही 'काचित्' शब्द की वाच्या हैं।

श्रीराधा एक ऐसी प्रेमघनमूर्ति हैं कि उनके दर्शनमात्र से ही सभी के प्रेमसुख में वृद्धि होती है। ''सा राधिका भगवती क्वचिदीक्ष्यते चेत्, प्रेमा तदनुभवमृच्छति मूर्तिमान् सः'' (वृ. भा. 2/5/233)

'यदि परम प्रेममय मूर्ति श्रीराधा किसी को प्रत्यक्षीभूत हों, तभी उनका मूर्तिमान् प्रेम साक्षात् अनुभव हो सकता है।' इस विशेष कलियुग में यह महासत्य सभी के अनुभव में आया। तभी श्रील गोस्वामिपाद ने लिखा है - ''चेत् कृष्णचन्द्रस्य महावतारस्तादृग निजप्रेमवितानकारी'' (वृ. भा. 2/5/134) अर्थात् अथवा यदि श्रीकृष्ण का वैसा कोई निज प्रेम वितरणकारी महाअवतार हो, तो उसके दर्शन से वह प्रेम अनुभूत हो सकता है। इस कलियुग में श्रीराधा की भावकान्ति लेकर श्रीकृष्ण श्रीगौराङ्ग रूप में अवतीर्ण हुए; उनके दर्शन कर विश्व के अखिल प्राणी प्रेम पाकर धन्य हुए। श्रीराधा सभी की प्रेमसुखदात्री हैं, इस युग में यह बात सभी को प्रत्यक्षीभूत हुई।

जो भी हो, भ्रमरगीत श्रीराधारानी के दिव्योन्माद का चित्रजल्प-भाव है।

**''प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढ़रोषाभिजृम्भितः ।**
**भूरिभावमयो जल्पो यस्तीव्रोत् कण्ठितान्तिमः ।।''**

'प्रियतम श्रीकृष्ण के सुहृद को देखकर गूढ़ रोष से उपजी जो भूरि भावमय जल्पना होती है, उसी का नाम चित्रजल्प है उसके अन्त में तीव्र उत्कण्ठा ही प्रकाशित होती है।''

श्रीकृष्ण की कृपा से उद्धवजी ने श्रीराधारानी के श्रीचरण-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया है। उनका दर्शन करते ही वे समझ जाते हैं कि यही श्रीकृष्णप्रियाओं में मुख्य समस्त गोपियों की शिरोमणि है। वे उनके दर्शन से महासम्भ्रम की स्थिति में पहुँच जाते हैं। उनके श्रीचरण - सान्निध्य से किञ्चित् दूर हाथ जोड़े खड़े होते हैं। श्रीमती राधारानी 'कृष्णसङ्गमं ध्यायन्ती'' श्रीकृष्ण-सङ्गम का चिन्तन कर रही हैं।

**''आयाति च मम निकटं याति च निह्नत्य माथुरं नगरम् ।**
**तस्मात् काचन रामा रमयति रमणं स तत्रापि ।।''**

(गो. च. उ. 11/11)

वह रमण दूसरे की दृष्टि से बचकर मेरे पास आता है, फिर गुप्त रूप से मथुरा चला जाता है। इससे मुझे लगता है कि वह रमणीलम्पट क्षणभर के लिये भी रमणीसङ्ग के बिना नहीं रह सकता। निश्चय ही उस मथुरा नगर में भी उसकी अनेक नायिकायें हैं। ऐसा न होता तो वह गुप्त रूप से मेरे पास आकर लौटकर क्यों जाय ? वे यह सोच रही हैं कि एक मधुकर एकाएक उनके श्रीचरणकमलों के निकट आ पहुँचता है। उसके श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) में लगा है कमल का पीत पराग। उस भ्रमर को देखकर, उसके पीतराग-धूसरित पीतवर्ण श्मश्रु को देखकर राधारानी का चिन्तन अत्यन्त गम्भीर हो

उठता है। वे उस मधुकर को अपना मान शान्त करने के लिये अपने प्राणकोटि प्रियतम श्रीकृष्ण का भेजा दूत समझ लेती हैं और मानभङ्गिमा मिश्रित दशाङ्ग चित्रजल्पमय वाक्य बोलने लगती हैं।

मधुकर को देखकर श्रीराधा के मन में ऐसा वितर्क चलने लगा – यह भ्रमर मथुरापुरी की ओर से आया है, गुनगुन शब्द करता सिर हिला रहा है; अतएव यह निश्चय ही श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर दूत बनकर आया है। यहाँ संशय हो सकता है कि ऐसे महाविरहदु:ख में श्रीराधा की मानभङ्गिमा कैसे ? तभी उत्तर दिया है– 'प्रियसङ्गमं ध्यायन्ती'। श्रीराधा स्फूर्ति में और स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शन को उनका गुप्तरूप से बार–बार आगमन एवं साक्षात्कार मान लेती हैं। इसी से मान का उद्‌गम हो गया है। वे अपने दिव्योन्माद में एक भ्रमर को श्रीकृष्ण का प्रेरित दूत समझ सकती हैं, तो उनके लिये मथुरापुरी की किसी नायिका के साथ श्रीकृष्ण के विलास की कल्पना करना कोई असम्भव बात नहीं ।। 11 ।।

**श्रीगोप्यवाच–**

**मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः**
**कुचविलुलितमाला कुंकुमश्मश्रुभिर्नः।**
**वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं**
**यदुसदसि विडम्बयं यस्य दूतस्त्वमीदृक्।। 12।।**

---

**अन्वयः** – गोपी उवाच ! मधुप ! कितवबन्धो ! (कितवस्य धूर्तस्य श्रीकृष्णस्य बन्धुः) सपत्न्याः कुचविलुलितमाला कुंकुम श्मश्रुभिः (सपत्न्याः कुचाभ्यां विलुलिता या कृष्णस्य वनमाला अतएव तस्याः कुंकुमः येषु तैः श्मश्रुभिः) नः (अस्माकम्) अङ्घ्रिं (पदं) मा स्पृश (मा मां नमस्कारेण

प्रार्थयस्वेत्यर्थः), मधुपतिः तस्मानिनीनां (तासामेव मानवतीनां) प्रसादं बहतु । त्वम् ईदृग् यस्य दूतः, (तस्य) यदुसदसि विड़म्बयम् (उपहासास्पदं भवति) ।। 12 ।।

**अनुवाद**- गोपी (श्रीराधा) बोलीं- अरे भ्रमर ! धूर्त के मित्र ! तू हमारे चरण स्पर्श मत कर। हमारी सपत्नियों (सौतों) के वक्षस्थलों द्वारा श्रीकृष्ण की वनमाला के मसले जाने से उस (माला) में उनके कुचों का कुंकुम लग गया है। वह कुंकुम तेरी मूँछों पर भी लगा है। तुम मधुपति की मानिनियों का प्रसाद वहन करते हो। तेरे जैसा (मूर्ख) जिसका दूत हो, यदुसभा में उसका कार्य उपहासास्पद होगा ।। 12 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

राधारानी की उक्ति भ्रमरगीत का प्रारम्भ होता है इस श्लोक से। उनके दिव्योन्मादमय चित्रजल्प-भाव की अति आश्चर्यपूर्ण जल्पना। श्रील गोस्वामिपाद ने तोषणी टीका में भ्रमरगीत की व्याख्या करते समय सबसे पहले राधारानी की कृपा की कामना की है -

**''स्वतः प्रेमजवार्तया गोविन्दे लीन चेतसः ।**
**राधायाः केन बागर्थो वेद्यः स्यात् तत्-कृपां बिना ।।''**

स्वाभाविक प्रेमवार्ता में राधारानी का चित्त निरन्तर श्रीगोविन्द में लीन है। उनके भीतर-बाहर श्रीकृष्ण की निविड़ स्फुरणधारा सतत् प्रवाहित है। ''कृष्णमयी कृष्ण जाँर अन्तरे बाहिरे। जाँहा जाँहा नेत्र पड़े ताँहा कृष्ण स्फुरे।।'' (चै. च.) ऐसी राधारानी के वाक्यों का अर्थ भला किसे बोधगम्य हो सकता है ? अर्थात् जिन्होंने इस महाविरह में एक भौंरे को देखकर उसे श्रीकृष्णप्रेरित दूत समझ कर मानभङ्गिमा से उसके साथ विविध जल्पना की थीं, उनकी करुणा के बिना उनके इन वाक्यों का अर्थ समझने में कौन समर्थ होगा ? पङ्गु के गिरिलंघन की तरह कृपा से सभी सम्भव है। उनकी कृपा प्राप्त होने पर उत्ताल तरङ्गमालाओं से भरे इस महाभावसिन्धु का बिन्दुमात्र स्पर्श किया जा सकता है। अथवा, जिन्होंने श्री राधा के दिव्योन्माद-सिन्धु में दिनरात यथेष्ट संतरण किया है, उन श्री कृष्णचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणों में अपना चित्त लगा सकें, तो श्रीराधा के निःसीम महाभावामृत-सिन्धु की तरङ्गों के संयोग से अनिर्वचीय माधुरी से भरे चित्रजल्प की किञ्चित् अनुभूति हो सकती है। महाभाव-सिन्धु की वे तरङ्गे हैं - गूढ़, असूया, गर्व, अनादर, उपहास इत्यादि सञ्चारी भाव ! श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का चिन्तन इसलिये कि उन्हीं ने गम्भीरालीला में राधारानी के इस भाव का आस्वादन किया है -

**''शेष जे रहिलो प्रभुर द्वादश वत्सर ।**
**कृष्णेर विरह-स्फूर्ति हय निरन्तर ।।**
**श्रीराधिकार चेष्टा जैछे उद्धव-दर्शने ।**

सेइमत दशा प्रभुर हय रात्रिदिने ।।
निरन्तर हय प्रभुर विरह-उन्माद ।
भ्रममय चेष्टा सदा- प्रलापमय वाद ।।
रोमकूपे रक्तोद्गम, दन्त सब हाले ।
क्षणे अङ्ग क्षीण हय, क्षणे अङ्ग फुले ।।
गम्भीरा-भितरे रात्रे नाहि निद्रा-लव ।
भित्ते मुख-शिर घषे, क्षत् हय सब ।।
तिन द्वारे कपाट, प्रभु जायेन बाहिरे ।
कभु सिंहद्वारे पड़े, कभु सिन्धुनीरे ।।
चटक पर्वत देखि गोवर्द्धनभ्रमे ।
धाइया चले आर्तनाद करिया क्रन्दने ।।
उपवनोद्यान देखि वृन्दावनज्ञान ।
ताँहा जाइ नाचे-गाय क्षणे मूर्छा जान ।।
काँहा नाहि शुनि जे-जे भावेर विकार ।
सेइ भाव हय प्रभुर शरीरे प्रचार ।।
हस्त-पदेर सन्धि जत वितस्ति प्रमाणे ।
सन्धि छाड़ि भिन्न हये चर्मे रहे स्थाने ।।
हस्त-पद-शिर सब शरीर-भितरे ।
प्रविष्ट हय - कूर्म रूप देखिये प्रभुरे ।।
एइमत अद्भुत भाव शरीरे प्रकाश । ''

इस कलियुग में श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने व्रजप्रेम, राधाभाव का स्वयं आस्वादन किया है, वितरण भी किया है। उनके प्रिय पार्षद श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने लिखा है -

**''प्रेमा नामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः**
**को वेत्ता कस्य वृन्दावन विपिन- महामाधुरीषु प्रवेशः ।**
**को वा जानाति राधां परमरस-चमत्कारमाधुर्यसीमा-**
**मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार ।।''**

(चै. चन्द्रा. 10/130)

प्रेम (व्रजप्रेम) नामक अद्भुत पुरुषार्थ की बात किसने सुनी थी ? हरिनाम की इतनी-ऐसी

महिमा है, यह भी कौन जानता था ? श्रीवृन्दावन की महामाधुरी में भी किसका प्रवेश हुआ था? परमरस चमत्कार माधुर्य-सीमा श्रीराधा को कौन जानता था ? अकेले श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने ही परम करुणा से भरकर यह सब आविष्कार किया है। तभी पदकर्ता कहते हैं -

''यदि गौर ना होतो, कि मेने होइतो,
केमने धरिताम दे।
राधार महिमा, प्रेमरस-सीमा,
जगते जानातो के।।
मधुर वृन्दा-, विपिन-माधुरी,
प्रवेश-चातुरी सार।
बरज-जुबती, भावेर भकति,
शकति होइतो कार।।''

इन्हीं श्रीमन्महाप्रभु के प्रिय पार्षद एवं उनके कृपाप्राप्त श्रील गोस्वामिपाद की तोषणी टीका के आधार पर, विशेषत: श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने अपने गोपालचम्पू ग्रन्थ में इस भ्रमरगीत के श्लोकों का जो अपूर्व रस निष्कासन किया है, उसी व्याख्या के आधार पर हम यथामति भ्रमरगीत की व्याख्या-समीक्षा करेंगे।

मानभङ्गिमा से राधारानी के चित्त में निर्वेद सञ्चारी (भाव) के उदय होने पर वे सोचती हैं - 'अशेष दोषों के आकर श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की और कोई आवश्यकता नहीं।' इसी भाव से वे भ्रमर का तिरस्कार करती हुई बोलीं - ''अरे, तू मथुरा से आकर हम लोगों के आगे धृष्टता क्यों कर रहा है ? यहाँ से बहुत दूर वन में चला जा।'' इस प्रकार श्रीमती ने क्रूर दृष्टि से उसकी ओर देखकर परिहास के साथ अपमान करते हुए कहा - अरे खल (दुष्ट) ! तेरे लिये यह सब करना गलत नहीं; तू मद्यपान करता है, इसलिये लोग तुझे मधुप कहते हैं।

श्रीमती यह कहकर हँसते-हँसते बोलीं - अरे ! मद्यपान तेरी सेवा कर रहा है; जो तेरे पति हैं, वे वर्तमान मधुसमूह के पति बन गये हैं। यह कहकर वे वितर्क के साथ कर्कश वचन बोलीं - तुम दोनों का स्वामी-भृत्य सम्बन्ध ठीक ही है -

''मधुपतिरसकौ मधुपस्त्वमसी-त्युच्चैः प्रसिद्धमेवेदम् ।
आजीव्याजीवकता सम्बन्धस्तेनवां सिद्धः ।।''
(गो. च. उ. 11/13)

कारण- वह भी मधुपति है और तू भी मधुप है। यह बात जगत् में विशेषरूप से ही प्रसिद्ध है। जो मधुपति है, वह मधुपों का आजीवक या पालक है; तू आजीव्य या पाल्य है। तुम दोनों का आजीव्य आजीवक सम्बन्ध स्वत:सिद्ध है। इसलिये तुम दोनों का बन्धुत्व भी अति युक्तिसङ्गत है। वह भी काला, तू भी काला; यह हुआ वर्णसाम्य। वह मधुपति, तू मधुप; यह नाम की समानता। वह कपटी, तू मद्यप (कपटी व्यक्ति और मधुपान करने वाले के बीच प्राय: ही सख्य होता है) - यह हुआ कर्मसाम्य।

इसके पश्चात् अन्य दोष दिखाते हुए राधारानी भ्रूभङ्गिमा के साथ सखियों से बोली - हे सखियों ! तुम स्वयं देखो, और मेरी बात सुनो, यह मधुप नशे के कारण विक्षिप्त मति हो गया है, इसलिये देखने में सरलचित्त ही है; फिर मस्तक कम्पन और अव्यक्त ध्वनि से लगता है कि यह धूर्त ही है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है, क्योंकि जो सरल चित्त है वह कभी धूर्त नहीं हो सकता, और जो धूर्त है वह सरलचित्त नहीं होता। किन्तु यह मधुप सरलचित्त होकर भी धूर्तचूड़ामणि है। अथवा, इस मधुकर में इस विरुद्धधर्म का होना कोई आश्चर्य नहीं।

सखियों से इतना कहने के बाद वे पुन: मधुकर से बोलीं - अरे, वह कपटियों का चूड़ामणि है, तू उसी का बन्धु है। तू यह नहीं कह सकता - मेरा मित्र कपटी है, आप लोगों ने कैसे जाना ? तो सुन, उस शठ ने रोते-रोते कहा था - तुम लोगों के इस निरवद्य संयोग का ऋण मैं किसी दिन भी नहीं चुका सकता - 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्' । इस वाक्य का व्यभिचार हुआ (यह बात गलत हो गई)। तभी कहती हूँ, अरे कितवबन्धो ! वह कपटी जनों का चूड़ामणि, और तू उसी का बन्धु। हमारी अनुमति लिये बिना तू सरलचित्त की तरह स्वतंत्ररूप से यहाँ किसलिये आया है ? जा, शीघ्र दूर चला जा।

मानो भ्रमर कह रहा है - 'मैं कपटी का बन्धु ही सही, पर स्वयं कपटी नहीं हूँ।' इसका उत्तर देती हैं - अरे, तू ऐसे छल का सहारा नहीं ले सकता। ''य: कितवानां बन्धु-र्द्विगुणं कितवत्वमस्य मृश्येत। छलयन्नपि तास्तैर्य: स्वं साचिव्यं विद्यापयति।।'' (गो. च. उ. 11/14) पण्डितों ने यह निश्चय किया है कि जो कपटी का बन्धु होता है, उसमें दुगुनी कपटता होती है, कारण- अधिकतर कपटी हुए बिना क्या कोई कपटियों के साथ छल कर उनका बन्धु बन सकता है ? अर्थात् जो लोग सभी को छलते हैं वे कपटी हैं; फिर जो ऐसे लोगों का बन्धु होता है वह उन्हें भी छलकर, उन्हें भी भुलावे में लेकर उनके साथ बन्धुत्व स्थापित करता है।

इसके पश्चात् यह देखकर कि वह भौंरा उनके अरुण वर्ण सुगन्धी चरणों को विकसित कमल समझ कर उन पर गिरना चाहता है, वे ईषत् हास्य के साथ कुछ सोचते हुए उसे विशेषरूप से रोकने की इच्छा से बोलीं - 'अरे धूर्तमित्र मधुप ! मेरा एक चरण भी मत छूना; यदि प्रणाम करने की एकान्त इच्छा हो तो दूर हटकर प्रणाम कर। लघुतोषणी में लिखा है - ''रङ्गणकसुमधिया नखेषु पिपतिषन्तं भृङ्गं

प्रसादनाय पादग्रहणं कुर्वन्तं मत्वाह अङ्घ्रिं मा स्पृशेति। वयन्तु मानधनाः परमस्वतंत्रास्तेन तद्विधेन प्रसादनीया न भवेमेति अङ्घ्रिस्पृशेनि किम् इत्यर्थः'' अर्थात् यह सोचकर कि यह भ्रमर रङ्गणकुसुम (रक्तवर्ण पुष्पविशेष) बुद्धि से मेरे चरणनखों पर गिरने का इच्छुक है और मेरे मान-प्रसादन (मान को शान्त करने) के लिये मेरा चरणस्पर्श करना चाहता है, राधारानी बोलीं - अरे, मान तो हम लोगों का धन है, परमस्वतंत्रा हम लोगों के मान-प्रसादन की आवश्यकता नहीं। अतएव चरणस्पर्श का क्या प्रयोजन ?

धन हो तो प्रियजन की सेवा होती है। राधारानी का मान श्रीकृष्णसेवा की श्रेष्ठ सम्पदा है। ''व्रजगोपीगणेर मान रसेर निदान।'' ''प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन। वेद स्तुति हैते हरे सेइ मोर मन।।'' इत्यादि (चै. च.) इन सब वाक्यों से पता चलता है कि राधारानी का मानरस श्रीकृष्ण को कोई अनिर्वचनीय आनन्द दान किया करता है। किसी तरङ्गिणी (नदी) के मार्ग में पर्वत- जैसी (बड़ी विकराल) बाधा आती है, तो उसका जल गहन हो जाता है और वह उस बाधा का अतिक्रम कर शत-शत उत्सों (फौवारों, धाराओं) के रूप में दौड़ने लगती है। इसी प्रकार श्रीराधा की प्रेम तरङ्गिणी मान की बाधा पाते ही वह प्रेम गहनतर हो जाता है और शत-शत उत्सों में दौड़ पड़ता है। इससे श्रीकृष्ण भी कोई अनिर्वचनीय रसास्वादन प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि मान को 'धन' कहा गया है। फिर बोलीं- अरे ! तेरे छूने से मेरे चरण अपवित्र हो जायेंगे। जानता है, तेरा सखा बहुत बार अपराधी होने पर इन चरणों को स्पर्श करके ही पवित्र हुआ है। श्रीमती के मानिनी होने पर उनके मान-प्रसादन के लिये श्रीकृष्ण ने कहा है -

**''चाहो मुख तुलि राइ चाहो मुख तुलि ।**
**परशिते चाहि तुया चरणेर धूलि ।।**
**अभिमान दूरे करि चाहो एक बार ।**
**दूरे जाउ सब मोर हियार आन्धार ।।''**

(इत्यादि)

अरे ! तू मेरे चरण तो स्पर्श नहीं ही करेगा, मेरी सखियों के चरण भी नहीं छूएगा। मेरे चरणों की तरह मेरी सखियों के चरण भी परम पवित्र हैं। अरे, जानता है? बहुत बार तेरा अपराधी सखा मेरे चरणों को स्पर्श करने का साहस न कर मेरी सखियों के चरण स्पर्श कर धन्य हुआ है। मानिनी श्रीराधा के मान-प्रसादन के लिये माधव सखी की शरण लेते हैं, तो सखी के कहने पर श्रीमती का मान भी प्रशमित (शान्त) होता है। सखी का परामर्श है -

**''दिवस तिल आध, राखबि जौवन,**
**बहइ दिवस सब जाब।**

भालो मन्द दुइ, सङ्गे चलि जायब,
पर-उपकार से लाभ।।
सुन्दरि, हरि-वधे तुहुँ भेलि भागि।
राति दिवस सोइ, आन नाहि भाबइ,
काल विरह तुया लागि।।
विरह-सिन्धु माहा, डुबइते आछय,
तुया कुच-कुम्भ नाउ देइ।
तुँहुँ धनी गुणवती, उधार गोकुलपति,
त्रिभुवन भरि यश लेइ।।
लाख लाख नागरी, जो कानु हेरइ,
सो शुभ दिन करि मान।
तुया अभिमान, लागि सोइ आकुल,
कवि विद्यापति भाण।।''

इसके पश्चात् श्रीमती ने उस भ्रमर को सुदीर्घ दृष्टि से देखते हुए थोड़ा उकसाकर कहा - अरे क्या कहा ! क्या कह रहा है ?

मानो वह उत्तर देता है - स्वामिनी ! मैं अपने प्रभु के पास से आया हूँ, इसलिये आपके श्रीचरण स्पर्श करना अवश्य कर्तव्य है।

अरे कपटी ! यह हो सकता था, अर्थात् तू तेरे प्रभु के निकट से आया है, इसलिये मेरे चरण स्पर्श करना तेरा कर्तव्य है, यह सम्भव था - यदि तेरे पूर्ववर्णित दोष मेरे मन को शुष्क न करते। अच्छा जाने दे, तेरी धूर्तता और मद्यपायिता दोषों की बात में मैंने विश्वास न भी किया; पर इस समय एक अन्य दुष्ट चिन्ह तुम में विलक्षण रूप से दिखाई दे रहा है। उसका सङ्ग पाने के लिये प्रगाढ़ यत्नवती मेरी सपत्नियों (सौतों) के समुज्ज्वल कुच-कुंकुम से उसकी वनमाला रक्तवर्ण हुई और उस वनमाला से तेरी मूँछे रञ्जित हैं। ''एकः खलु चपलानां, जुष्टं कुंकुममुरस्यमहो वहति। तस्मादन्यः श्मश्रुभिरेष प्रेक्ष्येत दग्धकुर्चाभिः।।'' (गो. च. उ. 11/15) अहो ! एक चञ्चल तो चपलाओं का सेवित कुंकम वक्ष पर वहन कर रहा है, दूसरा चञ्चल उसी कुंकुम को उसके वक्ष से लेकर अपनी मूँछों द्वारा वहन कर रहा है। आहा ! इन कुंकुमयुक्त मूँछों को देखकर लगता है मानो मूँछें आग में जल गई हैं ग्राम्यधर्म जन्य जो सम्बन्ध है, वह ग्राम्यधर्म ही हुआ करता है, अर्थात् जो सम्बन्ध कामजन्य है, वह कामधर्म ही होता है।

यह कहकर हँसते-हँसते बोलीं - मेरी सौतों के कुचों का कुंकुमचिन्ह मूँछों में धारण किया है, इसलिये अरे सगर्व ! तू किसी भी तरह मुझे मत छू। यदि छूए, तो इन कुंकुमचिन्हों से युक्त मूँछों से तो बिलकुल ही न छू।

क्रोध से मनोहर चिबुक (ठोड़ी) चलाकर बोलीं - '' क्या बोला रे, क्या कहा ?''

हे ईश्वरी ! प्रभु ने परमप्रेमवती आपका मान शान्त करने के लिये मुझे यहाँ भेजा है। मार्ग में क्षुधा से कातर होकर एक कुसुम का मधुपान किया था, सो उसके पराग से मेरी मूँछे रञ्जित हो गईं; आप ये सब अलीक कल्पनायें क्यों कर रही हैं ? इस पर श्रीराधा सिर हिलाकर बोलीं - सच है रे सच !

**''मिथ्याप्येकैकं यत् तथ्यानां शतसमानमानाभम् ।**
**तस्मात् किल कितवानां कर्तुं कः स्यादतथ्यतां वचसि ।।''**

(गो. च. उ0 11/16)

'कपटी की एक-एक झूठ भी सौ सत्यों के समान लगती है, इसलिये ऐसा कौन है जो उसकी किसी बात को असत्य प्रतिपादित करने में समर्थ होगा ?' अर्थात् सरल प्रकृति के व्यक्ति ने जिस बात को सत्य के रूप में प्रस्तुत किया, उसे कपटी ने मात्र एक बात कहकर उड़ा दिया। मैंने तेरी मूँछों की पीतिमा (पीले रंग) को अपनी सपत्नियों के कुच-कुंकुम के रूप में स्थापित किया, तूने यह कह कर कि पुष्पराग लगा है मेरे सत्य को मिथ्या बताकर उड़ा दिया !

छोड़, तू उस धूर्त का सेवक है, तेरे साथ करसञ्चालन, वाक्यविन्यास अथवा विवाद की क्या आवश्यकता ? और उस कपटी को प्रसन्न करनेवाली बातों की भी हमें क्या आवश्यकता ? फिर उसने तुझे यहाँ भेजा है, इस बात से भी हमें क्या लेना-देना ? किन्तु उस कपटी मधुपति को मधुवधुओं का मान शान्त कर प्रसन्नता मिले, मैं यही कामना करती हूँ। वह मधुपति, वे लोग मधुवधुएं; दोनों ही के साथ 'मधु' शब्द जुड़ा है। एक मधुवधु का मान शान्त करते-करते दूसरी मानिनी होगी, उसका मान-प्रसादन करते-करते तीसरी मान कर बैठेगी - इसी प्रकार क्रमशः मधुवधुओं के मान-प्रसादन को ही वह अपने असाधारण माहात्म्य के रूप में वहन करे। हमें इससे क्या ? तुम भी वहीं दौत्य ग्रहण करो (दूतं का कार्य करो), कारण- तुम्हारे नाम में भी 'मधु' शब्द लगा है। तुम मधुप, वह मधुपति, और वे मधुवधुऐ, क्योंकि -

**''समशीलानां मिलनं भवति परस्परसुखाय सर्वेषाम् ।**
**मद्यपशौण्डककितवाश्चेक्ष्यन्ते यत्तथा सुखदाः ।।''**

(गो. च. उ. 11/17)

'समस्वभाव वाले व्यक्तियों का परस्पर मिलन सुखद ही होता है - जैसे मद्यपायी (शराब पीने

वाला), शौण्डिक (शराब विक्रेता) और धूर्त एक-दूसरे से मिलते हैं तो सुखी नजर आते हैं।

यह कहकर श्रीराधा हँसकर मात्सर्य के साथ भर्त्सना करते हुए बोलीं- --यदुसदसि विड़म्ब्यम्' अरे मधुप ! तेरा प्रभु मधुवधुओं के मान-प्रसादन को अपना गौरव या ऐश्वर्य समझ रहा है, किन्तु यदुसभा में यह बातं उसके लाञ्छन का ही कारण बनेगी, क्योंकि जब यह बातें यदुसभा के सामने आयेंगी, तेरे प्रभु को लाञ्छना ही भोगनी पड़ेगी। वे यादव लोग वंशमर्यादा में श्रेष्ठ और गौरवान्वित हैं। एक गोपकुमार आकर उनकी वधुओं का भोग करे, उन्हें जब यह पता चलेगा तो वे इसे बिलकुल ही सहन न करेंगे। यहाँ तो सब सरलप्रकृति के गोप हैं, इसलिये तेरे प्रभु के गोपवनिताओं का सतीत्व नष्ट करने पर भी इन लोगों ने सरल और प्रीतिवासित हृदय होने के कारण उससे कुछ न कहा, खुशी-खुशी सब क्षमा कर दिया था। तू यदि यह कहे कि यह सब गुप्त रहस्य यादवों को पता कैसे चलेगा, तो सुन - ''यस्य दूतस्त्वमीदृक'' - अरे मधुप ! तुझ जैसा विवेकशून्य कीट (कीड़ा) जिसका दूत हो, उसका क्या कोई कार्य गुप्त रह सकता है ? अब समझो ! मैं ठहरी ग्वालिन, व्रज में रहती हूँ, आँखों से देखे बिना भी तेरे प्रभु के इस दुर्व्यवहार को कैसे पकड़ा ? मानो भ्रमर कह रहा है - मुझे निर्बोध क्यों कह रही हैं ? इसका उत्तर देती हैं - मूर्ख ! मथुरा से आते समय मार्ग में कहीं जल दिखाई नहीं दिया ? यदि जल में ये मूँछें धो आता, तो तुम लोगों के ये सब गुप्त रहस्य क्या मेरी पकड़ में आते ? इसलिये तेरी और तेरे प्रभु की निर्बुद्धिता दोष के कारण सारे गुप्त रहस्य यादवों के आगे व्यक्त हो ही पड़ेंगे।

**''यद्यपि स गन्धनकूलः स्वं गोपयितुं जनाद्वष्टि ।**
**तदपि भजत्यनवरतं गन्धादग्रेसराद्व्यक्तिम् ।।''**

(गो. च. उ. 11/8)

'यद्यपि छछुन्दर अपने को गुप्त रखना चाहता है, पर उसकी वह गन्ध ही उसे सबके आगे प्रकट कर देती है। इसी प्रकार तेरी और तेरे प्रभु की निर्बुद्धिता के दोष में तेरे प्रभु का चरित्र यादवसभा में उजागर हो ही जायेगा।

दस प्रकार के चित्र जल्पों में से यह प्रथम है 'प्रजल्प' -

**''असूयेर्ष्यामदयुजा योऽवधीरणमुद्रया ।**
**प्रियस्याकौशलोद्गारः प्रजल्पः स तु कीर्त्यते ।।''**

अर्थात् ईर्ष्या, असूया, गर्व इन सञ्चारी भावों के साथ अनादर भङ्गिमा से अपने प्रियजन के अकौशल (अनैपुण्य) की अभिव्यक्ति को प्रजल्प कहा जाता है। इस श्लोक में 'कितव' पद में असूया (डाह, क्रोध), 'सपत्न्याः' में ईर्ष्या, 'अङ्घ्रिं मा स्पृश' में गर्व, 'वहतु' में अवधीरण या अवज्ञा है। यहाँ समझने की बात यह है कि श्रीराधा का महाभाव-सिन्धु इस विरह में हर समय विविध सञ्चारीभाव-तरङ्गों

से भरा रहता है। अतएव वे जिस भाषा का प्रयोग कर रही हैं, वह किसी न किसी सञ्चारीभाव से उत्थित है। उनकी एक भी बात विचार (सोच समझ) से निकली नहीं। यहाँ यह भी जानने की बात है कि समुद्र की तरङ्गें सुन्दर दीखती हैं, किन्तु उसके तलदेश में गहन निविड़ता होती है और वह विविध रत्नों का आकर होता है। इसी प्रकार मानभङ्गिमा से कही गई राधारानी की बातें श्री कृष्ण के प्रति नाना प्रकार के अभियोग - जैसी प्रतीत होती हैं, किन्तु उनके तह में दिव्योन्माद की गहन निविड़ता है और वह महाभाव सिन्धु विविध भावरत्नों का आकर है ।। 12 ।।

**सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा**
**सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽमान् भवादृक्।**
**परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा**
**ह्यपि वत हतचेता ह्युत्तमश्लोकजल्पैः।। 13।।**

---

**अन्वयः** - भवादृक सुमनस इव (भवद्विधमधुपजातिः यथा रसं पीत्वा कुसुमानि त्यजति तथा श्रीकृष्णः) स्वाम् (असाधारणीम) अधरसुधा सकृत (वारमेकं) पाययित्वा अस्मान् सद्य तत्यजे। वत (अहो) पद्मा (लक्ष्मीः) कथं न (केन हेतुना) तत्पादपद्मं परिचरति (सेवते) हि (प्रसिद्धौ) अपि (सम्भावनायाम्) उत्तमश्लोकजल्पैः (उत्तमश्लोक स्यव ये तस्य जल्पाः प्रलोभनमयानि भाषितानि तैः) हृतचेताः (सती तत्) परिचरति (इति ज्ञातमित्यर्थः) ।। 13 ।।

**अनुवाद**- राधारानी बोलीं- अरे मधुप ! जैसे तुम (भौंरे) एक बार कुसुमों का मधुपान कर

साथ ही साथ उन्हें त्याग देते हो, वैसे ही तेरे कपटी सखा ने हम लोगों को एक बार अपनी मोहिनी अधरसुधा का पान करा सद्य ही हमें त्याग दिया है। यदि कहो कि लक्ष्मीजी उनकी सेवा कर रही हैं, यह तो प्रसिद्ध है ? तो हमें लगता है कि उत्तमश्लोक की तरह उसकी कुछ जल्पनायें हैं; उन्हीं से मोहितचित्त होकर कमला उसकी सेवा कर रही हैं ।। 13 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

राधारानी ने पुनः रोष से भरकर श्रीकृष्ण के दोष की उद्भावना की। श्रीमती के श्रीचरणों के निकट भ्रमर गुञ्जन कर रहा है। उसके स्वाभाविक गुञ्जन से श्रीमती को लगता है वह मानो कह रहा है – हे ईश्वरि ! आप व्यर्थ ही दोष की सम्भावना लेकर उन गुणनिधि कृष्ण पर दोषारोपण क्यों कर रही हैं। इसका उत्तर देती हैं – अरे सुन, बड़े दुःख की बात है, स्पष्ट रूप से उसका कोई दोष देखने में नहीं आता, पर जो सर्वगोचर नहीं, केवल हम लोगों के अनुभव में है, मैं उसी अति गुरुतर दोष की बात बताती हूँ, सुन ! उस मधुपति ने अपनी असाधारण अधरसुधा छल-बल कौशल से केवल एक बार हम लोगों को पिलाई और हम साध्वियों का धर्म नष्ट कर तत्क्षणात् हमें त्याग दिया। अरे मधुप ! वह अधरसुधा तो उसी की निजी सम्पत्ति है। उस सुधा की तुलना अन्यत्र कहीं भी नहीं। 'स्वामसाधारणीं निजामधरसुधा' (वै. तो.) यह असाधारण अधरसुधा एकमात्र श्रीकृष्ण की ही है। इस विश्व के नरनारी परस्पर के रूप पर मुग्ध होकर मोहवश एक-दूसरे की जिस अधरसुधा का पान करते हैं, वह तो घृणित श्लेष्मा मात्र है। रसघनविग्रह माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण की अधरसुधा उनकी एक असाधारण माधुरी है।

''बिम्बातिमञ्जवधरमध्यगताल्परेखं
स्वं पश्यतामितररागहरस्वभावम् ।
शश्वन्निजामृतसुवासितमञ्जुवंशी-
सूक्ष्मायतध्वनिभिराहृतविश्वचित्तम् ।।
सर्वस्वरत्नपिटको ब्रजसुन्दरीणां
जीवातुसीधुचषकं वृषभानु जायाः ।
तच्छीलसद्दशनलक्षणलक्षितं
श्रीकृष्णाधरौष्ठमनिशं हृदि मे चकास्तु ।।''

(गो. ली. 16/89-90)

'जो बिम्बफल से भी अधिक मनोहर हैं; जिनमें अल्परेखा विद्यमान है; दर्शक अधरों को छोड़ अन्यत्र अनुराग रखें तो उस अनुराग का हरण करना ही जिनका स्वभाव है; जिसने अपने अधरामृत से अभिषिक्त मनोहर वंशी की सूक्ष्म और आयत ध्वनि से विश्व के लोगों के चित्त आकृष्ट किये हैं; जो

व्रजाङ्गनाओं के समूह-धन को स्थापित करने के लिये रत्नपिटक (पिटारी) हैं; जो वृषभानुनन्दिनी राधिका के जीवातु हैं (जीवनधारण करने के उपाय के रूप में अमृतपान करने के पात्र हैं); और जो श्रीराधा के अत्यन्त सुन्दर दशन-चिन्हों से अंकित हो शोभा पा रहे हैं - श्रीकृष्ण के वे ही अधरौष्ठ मेरे हृदय में निरन्तर सुशोभित होते रहें।' ''हेनो कृष्णाधर-सुधा, जे कैलो अमृत मुधा (वृथा), जार आशाय गोपी धरे प्राण।'' (चै. च.)

मानो भ्रमर कह रहा है - ईश्वरि ! आप लोग सब जानकर सुनकर साध्वीपतिव्रता होकर उनकी अधरसुधा पान करने गईं क्यों ? इसका उत्तर देती हैं - अरे! उसके अधर 'मोहिनी' बुद्धिभ्रंश करनेवाले हैं। जैसे ही कोई उन अधरों को देखता है, वे उसके हृदय में ऐसी दुरन्त लालसा उत्पन्न कर देते हैं कि उसमें धैर्य, गम्भीरता, विवेक, धर्म इत्यादि कुछ भी विचार करने की सामर्थ्य नहीं रहती। इस बात को कोई दूसरा नहीं समझ सकता। जिसने अनुराग के साथ उसके अधरों को एक बार देखा है, एकमात्र वही इस लालसा के वेग को समझ सकता है।

अरे मधुप ! उसने अपनी अधरसुधा हम लोगों को जिस प्रकार पिलाई थी, उसका कोई दृष्टान्त इस जगत् में है, ऐसा नहीं लगता। केवल हम लोग ही उसके अद्वितीय दृष्टान्त हैं। लालसा के उस वेग को संभाल न पाकर हम लोग स्वजन, बन्धुवान्धव, इहलोक-परलोक, यहाँ तक कि वेदमर्यादा का लंघन कर उसकी अधरसुधा के पान के लिये हृदय में आकुल पिपासा लिये दिन-रात उन्मादिनी बनी रहतीं। हम-जैसी ऐसी आकुल पिपासाभरी उन्मादिनियाँ त्रिभुवन में और कोई हैं, हमें नहीं लगता। पूर्वराग में श्रीकृष्ण के दर्शन से श्रीराधा में जो उन्मादना आई, उसकी बात दूती श्रीकृष्ण को बताती है -

''काञ्चन गोरी, भोरि वृन्दावने,
खेलइ सहचरि मेलि।
तुया दिठि मीठि, गरले तनु जारल,
तैखने श्यामरि भेलि।।
माधव सो अविचल कुलरामा।
मरमहि गोइ, रोइ दिन-यामिनी,
गुणि गुणि तुया गुणगामा।।
गुरुजन अबुध, मुगधमति परिजन,
अलखित विषम बेयाधि।
कि करब धनि मणि, मंत्र-महौषधि,

लोचने लागल समाधि।।
खेने खेने अङ्ग, भङ्ग तनु मोड़इ,
कहत भरममय वाणी।
श्यामर नामे, चमकि तनु झाँपइ,
गोविन्ददास अनुमानि।।''

''आँचरे मुखशशि गोय। झरझर लोचने रोय ।।
कारण बिनु खेने हसइ। उतपत दीघ निशसइ ।।
शुन शुन सुन्दर श्याम। प्रेमक इह परणाम ।।
तातल तनु नाहि छुटइ। सतत महीतले लुठइ ।।
काहुक कछु नाहि कहइ। को अछु वेदन सहइ ।।
जगभरि कुलवति-वाद। को देइ कहइ सम्वाद ।।
गोविन्ददास आशोयासे। जीवइ तुया अभिलाषे ।।''

अरे मधुप ! उसने जिस तरह से हम लोगों को अपनी अधरसुधा का पान कराया था, जगत् में उसका दृष्टान्त नहीं, यह सही है, पर उसने जिस प्रकार हमें त्यागा है, उसका दृष्टान्त है। जैसे तुम मधुपजाति, सुमन (कुसुमों) का मधुपान कर साथ ही साथ उन्हें त्याग देते हो। किन्तु अरे, तुम सब का दृष्टान्त भी पूरी तरह समीचीन नहीं ठहरता, कारण- तुम सब (भौंरों) की तो वृत्ति ही माधुकरी है। बहुत-से कुसुमों का थोड़ा-थोड़ा रस सञ्चय कर तुम्हें क्षुधा शान्त करनी होती है; तुम (भौंरों) अपने सुख के लिये सुमनों को त्यागते हो, यह युक्तिसङ्गत ही है, किन्तु तुम्हारा सखा हमें क्यों त्यागता है ? उस मधुपति के अधर ही सुधामय हैं। फिर जो सुमना हैं, अर्थात् जिनके मन अति सुन्दर हैं और जो एकमात्र श्रीकृष्णसुख को छोड़ विश्व में और कुछ नहीं जानतीं - ऐसी हम (गोपियों) को वह क्यों त्यागता है ? इससे लगता है कि हम लोगों को दु:ख देने को ही वह अपना सुख समझता है। यह उसकी दु:शीलता को छोड़ और कुछ नहीं। यदि हमें सुख देने की उसकी वासना होती, तो वह एक बार अधरसुधा पिलाकर ही हमें क्यों त्याग देता ? उसका उद्देश्य ही है, हमें प्रचुरतर दु:ख से निष्पेषित करना (पीसना, रगड़ना)। उस शठ ने सोचा, गोपियों को अधिक दु:ख दिया जाय, तो ये मर जायेंगी, तब मैं किसे दु:ख देकर सुखी होऊँगा। तभी वह एक बार अपनी अधरसुधा देकर हमारी देहों को अमर कर अब बार-बार दु:ख देने में लगा है। अरे, हम इस कपटता को पहले नहीं समझ पाई थीं, अब क्रमश: अनुभव कर रही हैं। उस कपट शिरोमणि के पहले आचरणों को याद कर हम मर्म में गुरुतर वेदना अनुभव कर रही हैं।

तेरी यह मधुपजाति दूर से पहले तो कुसुम का सौरभ ग्रहण करती है, फिर गुञ्जन करते-करते

कुसुम के निकट आती है, फिर विकसित कुसुम के चारों ओर परिभ्रमण कर मधुर अस्फुट गुञ्जन करती है, एक-एक बार कुसुम पर गिरकर चुम्बन कर उड़ जाती है। अरे, तेरा सखा भी इसी तरह दूर से हमारी अङ्गगन्ध पाकर अनुराग में अन्धा होकर हमारे पास भागा आता। आने की भङ्गिमा (अदा) भी भाषा में अव्यक्त। फिर मधुर अस्फुट स्वर में हमारे नाम-गुण गाते-गाते हमारे चारों ओर घूमता फिरता। तत्पश्चात् हमारे अनजाने में एक-एक बार रसवर्षि चुम्बन करता।

मानो भ्रमर गुञ्जन करते-करते कह रहा है - हे देवि ! तुमने ही रासरजनी में 'जयति तेऽधिकं' श्लोक में पद्मा (लक्ष्मी) उनकी चरणसेवा कर रही हैं यह गायन किया था। लक्ष्मी अब भी उनकी चरणसेवा कर रही हैं, यही देखने में आता है। वे देवीमुकुटमणि पद्मा जिनकी चरणसेवा करती हैं; आप मानवी, ऊपर से ग्वालिन होकर उनकी इतनी निन्दा कर रही हैं ? मधुकर के स्वाभाविक गुञ्जन को इस रूप में लेकर श्रीराधिका कहने लगीं - अरे मधुप ! समस्त पद्मवनों की अधिकारिणी होकर भी पद्मा उसके दो पादपद्मों की सेवा क्यों कर रही हैं, यह मेरी विचार-बुद्धि के परे है। जो समस्त पद्मवनों की अधिकारिणी हैं, वे उसके दो पादपद्मों की सेवा न भी करतीं तो क्या बिगड़ता, यह मैं नहीं समझ पा रही।

कुछ देर चुप रहकर थोड़ा विचार कर कहने लगीं - अच्छा ! सम्भवतः उत्तम श्लोक भगवान् की तरह प्रलोभनभरे आपाततः रमणीय उसके वचनों की चतुराई से हृतचेता होकर (चित्त लुटाकर) वे उसकी पादपद्म-सेवा कर रही हैं। वस्तुतः श्रीश्रीनारायण आदि स्वरूपों की अपेक्षा श्रीकृष्णस्वरूप में असाधारण माधुर्य-चतुष्टय विद्यमान है। रूपमाधुरी, लीलामाधुरी, वेणुमाधुरी प्रेममाधुरी - इस माधुर्य पर ही प्रलुब्ध होकर लक्ष्मीजी श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं।

**''जे माधुरी-ऊर्द्ध आन, नाहि जार समान,**
**परव्योमे स्वरूपेर गणे।**
**जेंहों सब अवतारी, परव्योमे अधिकारी,**
**ए माधुर्य नाहि नारायणे।।**
**ताते साक्षी सेइ रमा, नारायणेर प्रियतमा,**
**पतिव्रता-गणेर उपास्या।**
**तेंहो ए माधुर्य-लोभे, छाड़ि सब काम-भोगे,**
**व्रत करि करिलो तपस्या।।''**

(चै. च. मध्यं - 21)

श्रीनारायण और श्रीकृष्ण में किसकी माधुरी अधिक है ? इस विषय में रमा को साक्षी बनाया

जा रहा है। निरक्षेप जन का साक्ष्य देना ही समीचीन है। रमा तो नारायण की वक्षविलासिनी है; वे तो श्रीनारायण के माधुर्य की ही अधिक प्रशंसा करेंगी ! इसीलिये बोलीं - तभी तो उन्हें साक्षी रखा। वे यदि श्रीकृष्ण के माधुर्य से आकृष्ट होकर श्रीनारायण का वक्ष-विलास त्यागती है, श्रीकृष्णसेवा पाने के लिये तपस्या करती हैं, तब तो सभी स्वीकार करेंगे कि श्रीकृष्ण-माधुर्य की अधिकता अभ्रान्त सत्य है।

जो भी हो, श्रीमती बोलीं- अरे मधुप ! गण्यमान्य श्रेष्ठ होने से ही कोई बुद्धि में विचक्षण (कुशल, योग्य) होगा, ऐसा कोई नियम नहीं। कपालगुण (भाग्य) से अयोग्य व्यक्ति भी धनी हो जाता है। फिर दरिद्र भी सुविचक्षण हो जाता है। पद्मा ईश्वरी होते हुए भी हम मानवियों की अपेक्षा अविचक्षण (नासमझ) हैं।

''धिक् धिगपि निरपेक्षं रूक्षं पद्मिन्यर्कं जड़ा भजताम् ।
पद्मालया सचेताः कथमिव भजते तथाविध कृष्णम्? ।।''

(गो. च. उ. 11/20)

'पद्मिनी जड़ (अचेतन) है तभी वह निरपेक्ष, रुक्ष (रसहीन) सूर्य का भजन करती है, अतएव उसे धिक्कार । किन्तु कमलालया पद्मा सचेतन होकर भी ऐसे कपटी कृष्ण का भजन क्यों करती हैं, समझ में नहीं आता।' अरे ! सरलस्वभाव व्यक्ति को आकर्षित कर दुःख देना, यह भी उसका एक महादोष हैं। यदि हम लोग पहले से ही सावधान होतीं, उससे प्रेम न करतीं, तो हमें इतनी वेदना भोगनी न पड़ती।

अरे मधुप ! तुम उस कपट-चूड़ामणि से मित्रता मत करो। बन्धुत्व करोगे, तो देखना, एक दिन हमारी तरह परित्यक्त होकर तुम्हें भी ढेर-सा दुःख भोगना पड़ेगा। उसके बन्धुत्व में कोई स्थिरता नहीं है, इसलिये तुम्हें सावधान कर रही हूँ। इस श्लोक में दस प्रकार के चित्रजल्पों में से परिजल्प के लक्षण प्रकट हुए हैं।

''प्रभोर्निर्दयताशाठ्य चापल्याद्युपपादनात् । ''
स्वविचक्षणताव्यक्तिर्भङ्ग्या स्यात् परिजल्पितम् ।।''

जिस (बात, स्थिति) में अपने प्रियतम की निर्दयता, शठता, चपलता आदि प्रतिपादित कर भङ्गिमा द्वारा अपनी विचक्षणता प्रकट की जाती है, उसे परिजल्प कहते हैं। इस श्लोक में 'पाययित्वा' अर्थात् अधरसुधा पान करा और 'मोहिनी' अर्थात् बुद्धिभ्रंश करने वाला - इन दो पदों में श्रीकृष्ण की शठता प्रकट की गई है। 'सद्य तत्यजे' अर्थात् सद्य ही त्याग कर देने से निर्दयता, दृष्टान्त के रूप में मधुप जाति के उल्लेख से चपलता, लक्ष्मीजी की सरलता के उल्लेख द्वारा स्वयं की विचक्षता दिखाई

गई है। फिर इस श्लोक में अकृतज्ञता प्रेमशून्यता आदि भी व्यक्त हुई है ।। 13 ।।

**किमिह बहु षड़ङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-**
**मधुपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।**
**विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्ग**
**क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः।। 14।।**

---

**अन्वयः** -षड़ङ्घ्रे (रे षट्पद भ्रमर !) त्वम् इह अगृहाणां (गृहं त्यक्त्वा वने अवस्थितानां) नः (अस्माकम्) अग्रतः पराणं (बहुधा श्रुतं) यदूनाम् अधिपतिं (श्रीकृष्णं) किं बहु गायसि ? विजयसखः सखीनां (विजयस्य श्रीकृष्णस्य सखा यः श्रकृष्णः तस्य सखीनाम् अग्रतः) तत्प्रसङ्गः (कृष्णस्य प्रसङ्गः) गीतयाम्, क्षपितकुचरुजः (कृष्णेन क्षपिता दूरीकृता कुचरुक् स्तनपीड़ा यासां ताः) इष्टाः (तेन त्वयैव वा सम्मानिताः) ते (तव) इष्टम् (अभिलषितं) कल्पयन्ती (दास्यन्तीति) ।। 14।।

**अनुवाद**- अरे षट्पद ! तू गृहहीन हम लोगों के आगे यदुगणों के अधिपति के वे पुराने गीत बार-बार क्यों गा रहा है ? वह सब विजय सखा की सखियों (मधुवधुओं) के आगे गा। उसके आलिङ्गन से उन लोगों की कुचपीड़ा नष्ट हो गई है - वे तेरी वाञ्छित वस्तु प्रदान करेंगी ।। 14।।

**गीतामृतलेश टीका —**

इस प्रकार राधारानी ने यह सोचकर कि उन्होंने गलत स्थान पर प्रीति की प्रेमोन्माद-स्वभाव से विलाप करते हुए श्रीकृष्ण के ढेर-से अन्याय का वर्णन किया। मधुकर अपने स्वभाववश मनोहर

गुञ्जन करता रहा, अथवा श्रीराधा ने क्रोध से अपने चरणकमल हटा लिये तो वह थोड़ी दूर हटकर जोर-जोर से गुञ्जन करने लगा। इस पर वे उन्माद-स्वभाव से सखियों से कहने लगी - अरी सखियों! बड़ी मुश्किल है, यह मधुकर तिरस्कृत होकर भी पुनः धृष्टता करने पर उतारु है। देखो देखो, जिसके चरित्र के किसी अंश पर किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता, उसी विश्वासघाती का गीत पुनः गाने को प्रवृत्त हुआ है। यह सोचता है, गा-गाकर मेरा हृदय गला देगा।

यहाँ समझने की बात यह है कि जिसके हृदय में जिस वस्तु में प्रगाढ़ आवेश रहता है, उसे प्रत्येक कार्य प्रत्येक अवस्था में उसी का उद्दीपन होता है। यह स्वाभाविक है। राधारानी का श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ आवेश है। वे मधुकर के स्वाभाविक गुञ्जन को भी श्रीकृष्ण का गुणगान समझकर अपने दिव्योन्माद स्वभाव से कहने लगीं - अरे मधुप ! तू क्या हम लोगों को प्रसन्न करने के लिये उस धृष्ट का नाना प्रकार से इतना गुणगान कर रहा है ? गायन तो भ्रमरजाति का स्वभाव है, इसलिये जो गा रहा है उस पर हमें कोई आपत्ति नहीं, पर तू इस परम दुःखी व्रज में क्यों गा रहा है ? गायन के लिये देश, काल, पात्र का विचार करना चाहिये तुझमें क्या इस बात को समझने की भी क्षमता नहीं ?

अरे सुन मधुकर ! तू जिसके गुण गा रहा है, वह तो इस समय असंख्य महाराजवंश यादवों का अधिपति बन गया है। ये सब व्रजवासी तो गोपजाति के हैं, इनमें राजवंशीय कोई नहीं जो उस राजराजेश्वर के गुणों की बात सुनकर सुखी हों। और फिर जिसके गुण गा रहा है, वह तो इन व्रजवासियों का अनादर कर चला गया है। उसके गुण सुनकर इन्हें कोई सुख नहीं हो सकता। इस समय वे राजवंशीय यादव ही उसके द्वारा प्रतिपालित होकर सुखमय जीवन यापन कर रहे हैं, अतएव वे ही यथार्थतः गानजीवी हैं। इसलिये थोड़ा हो, बहुत हो - जा, वहीं जाकर गा। वे तेरा यथेष्ट अभीष्ट पूरा करने में समर्थ हैं।

अपने दिव्योन्माद के स्वभाव से वे मधुकर पर दोषारोपण कर पुनः बोलीं - अरे षट्पद ! इस जगत् में जिसके चार पद होते हैं, उसे लोग मूढ़बुद्धि पशु कहते हैं। तेरे तो छह पद हैं, तभी तू डेढ़पशु माना जाता है। पशु ही बुद्धिहीन होता है, तब तू बुद्धिहीन होगा, यह क्या बड़ी बात ? ऐसा न होता तो तू इस परम दुःखी व्रज में आकर कैसे गाता ?

**"यः परपरिषद्धृदयं जानन् व्यवहारमातनुते ।**
**देवः सखलु निर्दिष्टः पशुरेवान्यो द्विपाच्च निर्दिष्टः ।।**
**गानादिकर्मतिकुर्बन् श्रोतुर्यः खलु न वेति सारस्यम् ।**
**कुक्कुरतुलया वुक्कुन् सोऽयं परितो निरस्येत ।।"**

(गो. च. उ. 11/21-22)

'सुन रे मधुप ! जो व्यक्ति श्रोताओं का मन समझकर व्यवहार करता है, लोग देवता मानकर उसकी पूजा करते हैं। और जो श्रोताओं के मन को न समझ कर भावविरुद्ध गाता है, वह मनुष्य होते हुए भी लोग उसे पशु कहते हैं। और जो श्रोता के हृदय की सरसता समझे बिना अतिशय गायन आदि करता है, उसे तो सभी कुक्कुर मानकर सभा से ताड़ देते हैं। देख मधुप ! (सितार, सरोज आदि) जड़ यन्त्र भी गायक के हृदय के अनुकूल भाव से ही राग आदि अलापते हैं, किन्तु तू सचेतन होकर भी हमारे हृदय के अनुकूल व्यवहार नहीं कर पा रहा।

"गायति स जड़ोऽप्युच्चैः प्रेरकहृदयानुवर्तनो यः स्यात् ।
रागादिविविक्तरचनं दृष्टं यद्वत् पिनाकयन्त्राद्यम् ।।"

(वही 23)

राधारानी क्रोध कर पुनः बोली - अरे मधुकर, तू यदि कहे कि आप लोग जिनके इतने दोष बखान रही हैं, वे तो व्रज में ही सबसे अधिक प्रीतियुक्त हैं; इसलिये उनका गुणमान करने का तो यही प्रकृष्ट स्थान है। तो सुन, उसका यह सम्बन्ध पहले था, अब तो इस स्थान के साथ उसका केवल दुःखद सम्बन्ध है। अब तो तेरे सखा ने यही सम्पर्क रखा है कि व्रजवासियों को कैसे रुलाना है, कैसे इन्हें दुःख देना है। अरे, तेरे सखा का नाम कृष्ण है। 'कृष्' धातु का अर्थ आकर्षण, 'ण' प्रत्यय का अर्थ आनन्द। जो आनन्द देकर आकर्षित करता है, वह कृष्ण। व्रज के लिये 'पुराणं' पुरा या पूर्व में (जब वह व्रज में वास करता था) 'ण' या आनन्द-सम्बन्ध था। अब 'ण' नहीं केवल 'कृष्' धातु का अर्थ आकर्षण है। अब तो वह राशि-राशि दुःख देकर हमारे प्राण पकड़ कर खींच रहा है। ओ भ्रमर, तू कीटजाति है, तभी बड़ा ही मूर्ख हे, इस व्रज में उसके पुराने सम्बन्ध गा रहा है। अरे सुन -

"कविभिः प्रस्तोतव्यः स्तव्यानां विद्यमानसम्बन्धः ।
वन्दिजना न हि राज्ञां प्राग्भवपुत्रादिकं स्तुवते ।।"

(वही 24)

विद्वान लोग कहा करते हैं वन्दीजन जिनका स्तव करते हैं, उनके वर्तमान सम्बन्ध की ही प्रशंसा करते हैं। स्तवनीय राजा लोग पूर्व जन्म में किसके पुत्र थे, उन्होंने क्या-क्या किया था, इन बातों की प्रशंसा नहीं करते।

अरे, यदि धनतृष्णा-पिशाची तुझ पर इतनी ही सवार है, तो जा, उस पिशाची के वशीभूत होकर मधुरापुर के धनाढ्य गृहस्थों के आगे इस दुःखद लम्पट का गुणगान कर। वे लोग उपद्रव निवृत्ति के लिये यत्किञ्चित दे भी सकते हैं। हाय ! हाय ! वह किस तरह उस पापदिन से हम सर्वकामनाशून्य गोपियों का गृहवास त्याग करा वनवासिनी बना गया ! किस अशुभ क्षण में उस रजनी का प्रभात हुआ,

नहीं जानती। जिस दिन वह नन्दकुल चन्द्रमा वृन्दावन में अन्धकार कर मथुरा नगर में जा उदित हुआ। अब व्रजवासियों के आगे गाकर तुझे कोई लाभ नहीं होगा। इस समय तो तुझे एक मुठ्ठी चने देने की भी हमारी क्षमता नहीं।

भ्रमर गुञ्जन कर रहा है। उसका स्वाभाविक गुञ्जन सुनकर श्रीमती सोचती हैं, यह कह रहा है - ईश्वरि ! मैं भी निस्पृह हूँ, कुछ पाने की आशा से आप लोगों के आगे नहीं गा रहा। उसका गुणगान कर मुझे सुख होता है, तभी गा रहा हूँ। विशेषतः आप लोग उनके प्रति अत्यन्त प्रीति रखती हैं, मेरे प्रभु का गुणगान सुनकर आप सब सुखी होंगी, तभी तो गा रहा हूँ। ऐसी कल्पना का उत्तर देते हुए दिव्योन्मादवती राधारानी ने कहा - अरे, तेरी गाने की ही इच्छा है, तो उस निन्दास्पद कृष्ण को लेकर क्यों गा रहा है ? यदि कहे कि मैं तो पुराना गीत ही गा रहा हूँ, तो ऋषि-प्रणीत पुराण ही गा। अरे षट्पद ! और क्या कहूँ, तू डेढ़पशु है, तुझे क्या धनतृष्णा नहीं ? पशु क्या वासनाशून्य होता है ? तब तो एक ओर प्रबल धनतृष्णा, दूसरी ओर सर्वगुणहीनता, इसलिये तुझे दुगुना धिक्कार ! क्योंकि -

**"अपि निजलाभालाभस्थानं ज्ञातुं न चेच्चतुरः ।**
**कं गुणमथ ज्ञानीयाद् येनार्थयितुं जनं वष्टि ? ।।"**

(वही 25)

जो व्यक्ति अपने लाभ-हानि के स्थान को नहीं जानता, वह कभी चतुर नहीं होता। अतएव वह कौन-सा गुण जानता है कि लोगों से प्रार्थना करने की इच्छा रखता है ? सुन रे बर्बर, सदुपदेश सुन। आज तेरा सखा जिन लोगों के साथ मनसिज (कन्दर्प) लीला में विशेषरूप से जयशील हआ है, जा, उनकी सखियों के आगे अपने सखा के विजयप्रसङ्ग का सुन्दर ढंग से गायन कर। सावधान ! यादवों की सभा में वह सब कभी मत गाना, नहीं वे लज्जित होंगे। तेरे सखा ने जिन लोगों की कुचवेदना दूर की है, यदि उनकी सभा में गायन करेगा, तो उनके हृदय में मनसिजसुख का विस्तार होगा। सुन रे, वात्स्यायन तत्व सुन, लज्जा त्यागकर तुझसे कहती हूँ - 'यावान् प्रियकृतधर्षस्तावान् हर्षः पृथुस्तनस्त्रीणाम्' (वही 26) 'जिस मात्रा में प्रियजन का धर्ष या प्रागल्भ्य (धृष्टता, औद्धत्य) प्रकट होता है, उसी मात्रा में पृथुस्तनों वाली रमणियों को हर्ष या आनन्द होता है।' और सुन-

**"यावान्न भवति सुरते, साक्षाद् भूतेऽपि सौख्यसन्दोहः ।**
**तावांस्तच्छ्रवणे स्यादयमपि वात्सायनस्य सिद्धान्तः ।।"**

(वही 27)

दूसरी बात, सुरतक्रीड़ा साक्षात् अनुभूत होने पर भी जिस मात्रा में सुख नहीं होता, उसी मात्रा में उसके विषय में सुनकर भी सुख प्राप्त होता है, यह वात्स्यायन मुनि का सिद्धान्त है। यह कहकर वे

हँसते-हँसते बोलीं - अरे मधुप, सिर हिलाकर क्या वितर्क् कर रहा है ? माँगने पर वे सखियाँ कैसे देगी ? अरे सुन, जो व्यक्ति किसी से अपनी अभीष्ट वस्तु के लिये स्पष्ट रूप से प्रार्थना करता है, तो वह कहता है कि दूँगा। और जो स्पष्ट रूप से कोई प्रार्थना नहीं करता, उसे देने में दाता को संकोच होता है। स्पष्ट रूप से प्रार्थना करने पर दाता के हृदय में उत्साह ही बढ़ता है। इस श्लोक में दस प्रकार के चित्रजल्पों में 'विजल्प' के लक्षण प्रकट हुए हैं।

"व्यक्तयासूयया गूढ़मानमुद्रान्तरालया ।
अधद्विषि कटाक्षोक्तिर्विजल्पो विदुषां मतः ।।

(उ. नी. स्थायी. 203)

श्रीकृष्ण के प्रति असूया, गूढ़ रूप से मान, प्रत्येक बात में श्रीकृष्ण के प्रति कटाक्ष। पण्डित इसे 'विजल्प' नाम देते हैं। 'किमिह बहु षड़ङ्घ्रे' इस श्लोकांश में असूया और गूढ़ रूप से मान है। श्लोक में सर्वत्र श्रीकृष्ण के प्रति कटाक्ष-उक्तियाँ हैं ।। 14 ।।

**दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तददुरापाः**
**कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।**
**चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का**
**अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः।। 15।।**

---

**अन्वयः** - दिवि भुवि च रसायां (स्वर्गेमर्ते तथा पाताले) याः स्त्रियः स्युः काः (को नाम स्त्रियः) तत् (तस्य श्रीकृष्णस्य) दुरापाः (दुर्लभाः) कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य (कपटेन रुचिरेण हासेन भ्रूविजृम्भस्य यस्य) भूतिः (लक्ष्मीः यस्य) चरणरजः उपास्ते (सेवते) वयं (गोप्यः) काः ?

अपि च (यद्यप्येवं तथापि) कृपणपक्षे (कृपणानुकम्पिनि पुंसि) उत्तमश्लोकशब्दः (भवतीति) ।। 15 ।।

**अनुवाद**- अरे मधुप ! स्वर्ग, मर्त्य और रसातल में ऐसी कोई रमणी है, जो उस कृष्ण के लिये दुर्लभ है - जिसके पास कपटरुचिर हास्य है, भ्रूविजृम्भण है ? जिसकी चरणरज की उपासना लक्ष्मी भी करती हैं। हम लोगों की तो बात ही क्या ? फिर भी कृपण लोग उसे उत्तमश्लोक कहकर जल्पना करते हैं ।। 15 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

दिव्योन्मादवती राधारानी ने क्षणभर सोचकर भ्रमर का अनादर कर अपनी सखियों से कहा- अरी प्राणसखियों ! यह भ्रमर कुसुम का कीट है, हमारे मर्म की बात कैसे जानी ? देखो देखो, यह कहता है - हे देवि ! आप मुझे ये रूखी बातें और मत कहिये। मथुरापुर की पतिपरायण रमणियाँ परपुरुष श्रीकृष्ण की सेवा क्यों करेंगी ? वे क्या अपना-अपना पतिव्रताधर्म परित्याग करेंगी ? इसलिये आप इस विषय में चिन्ता न करें; इस विषय में अब और कुछ न कहिये।

अरे मधुप ! सत्य ही उस मथुरापुर की रमणियाँ पतिव्रतायें हैं, मैं यह बात अस्वीकार नहीं करती। किन्तु स्वर्ग, मर्त्य, रसातल में ऐसी कोई स्त्री है जो उसके वशीभूत न हो ? यहाँ तक कि सुतवस्करा (सात सन्तानों की मां) भी उस का त्याग नहीं कर सकती। राजरजनी में श्रीकृष्ण ने उपेक्षावाणी का प्रयोग कर गोपियों को पतिव्रताधर्म-पालन का उपदेश दिया था, तो उन्होंने कहा था -

**''का स्त्यङ्ग ते कलपदायत वेणुगीत- ।**
**सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।।**
**त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं ।**
**यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन् ।।''**

(भा. 10/29/40)

'हे कृष्ण ! त्रिभुवन में ऐसी कौन रमणी है, जो तुम्हारे मधुर-अस्फुट एवं दीर्घ मूर्छनासमन्वित वेणु-स्वरालाप को सुनकर और तुम्हारे इस त्रैलोक्यसुन्दर श्यामसुन्दर रूप को देखकर पतिव्रताधर्म से विचलित न हो ? रमणियों की बात दूर, तुम्हारे भुवनमोहन रूप और वंशीतान से पक्षी, गाय आदि पशु, यहाँ तक कि वृक्षलतायें भी पुलकित हो जाती हैं।' श्रीमन्महाप्रभु ने अपनी कूर्माकृति से जुड़ा अनुभाव शान्त होने पर श्रीस्वरूप दामोदर के मुख से जब यह श्लोक सुना, तो उन्होंने रसोद्गार प्रकट किया -

**''नागर ! कहो तुमि करिया निश्चय।**
**एइ त्रिजगत भरि, आछे जतो योग्या नारी,**

तोमार वेणु काँहाना आकर्षय।।
कैला जतो वेणुध्वनि, सिद्ध मंत्रादि योगिनी,
दूती हैया मोहे नारीर मन।
महोत्कण्ठा बाढ़ाइया, आर्यपथ छाड़ाइया,
आनि तोमाय करे समर्पण।।
धर्म छाड़ाओ वेणुद्वारे, हानो कटाक्ष कामशरे,
लज्जा-भय सकलि छाड़ोओ।
एबे आमाय करि रोष, कहो पतित्यागे दोष,
धार्मिक हइया धर्म शिखाओ।।''

(चै. च.)

मधुकर का स्वाभाविक गुञ्जन सुनकर राधारानी दिव्योन्माद-स्वभाव से कल्पना करती हैं, मानो वह कह रहा है - स्वामिनी ! वह यदि इतना ही गुणवान् है, तो आप उसकी (श्रीकृष्ण की) इतनी निन्दा क्यों कर रही हैं ? उत्तर देती है - अरे सुन -

''वैड़ालव्रतिकाख्यः कर्षति लोकं तथा न सल्लोकः ।
आदेस्तदेकनिष्ठा तन्नादृत्यं द्वितीयस्य ।।''

(गो. च. उ. 11/129)

बगुला भगत की तरह कपटी मनुष्य दूसरे को अपने अधीन किये रहता है प्रकृत सत् व्यक्ति वैसा व्यवहार कभी नहीं करता। बगुला भगत का मात्र यही उद्देश्य रहता है - किसी तरह सबको वशीभूत करना, किन्तु साधु पुरुष ऐसा कपटतापूर्ण व्यवहार कतई पसन्द नहीं करता। अरे भ्रमर, सामान्य लोग तो उसके आपात रमणीय हास्य, सुमधुर भ्रूविलास, सुधाकरनिन्दि मुखमण्डल इत्यादि को सद्गुण बताते हैं। उनकी धारणा है कि केवल मन में ही कपटता है, किन्तु हम सब जानती हैं कि उसका सभी कुछ कपटतामय है। तभी मैं करुणापरवश होकर तुझ से यह सब कह रही हूँ जिससे मधुपुर की रमणियों की हमारी-जैसी अवस्था न हो। तू यह मत समझना कि हम मात्सर्यवश कुछ कह रही हैं। हम लोग उसकी मधुर हँसी पर, उसकी भ्रूविलास-भङ्गिमा पर विमुग्ध होकर, उसे प्रेम कर रोते-रोते जीवन काट रही हैं। उन सरलप्राण मथुराअङ्गनाओं की ऐसी अवस्था न हो, इसीलिये कहती हूँ, तू उन्हें यह सिखा देना, कारण-

''यस्मिन् कण्टकविद्धस्तस्मादन्यं निवारयत्यपरः ।

"यः खलु तदुदासीनः स हि न हि कथ्येत कण्टकादितरः ।।"

(वही- 30)

जिसके पैर में काँटा चुभता है, वही दूसरे को कण्टकवन जाने से रोकता है। उदासीन व्यक्ति अर्थात् जिसके पैर में काँटा नहीं चुभा, दूसरे को कभी निषेध नहीं करता। श्रीराधा ने इस प्रकार भ्रमर को उपदेश दिया और उसके गुञ्जन से पुनः यह कल्पना कर कि वह मानो कह रहा है - यदि श्रीकृष्ण में इतने ही दोष हैं, तो परम बुद्धिमती आप लोगों में आज भी उसके प्रति इतनी लालसा क्यों ? इसके उत्तर में श्रीमती प्रागल्भ्य के साथ कहने लगीं- अरे शिलीमुख ! हम उसके प्रति ऐसी गुरुतर लालसा का पोषण क्यों करती हैं, सुन ! लोक-परम्परा से सुनने में आता है, जहाँ-जहाँ उसकी चरणरज गिरती है, लक्ष्मी सर्वेश्वरी होकर भी निर्लज्ज होकर वहाँ जाकर उसकी चरणरज की उपासना करती है। हम साधारण मानुषी, फिर ग्वालिनें होकर उसके प्रति आसक्ति का त्याग कैसे कर सकती हैं ?

श्रीमती पुनः विचार कर बोलीं - अरे मधुप ! तू समझ नहीं पा रहा, उसने लक्ष्मीदेवी को पहले ही इस प्रकार वशीभूत क्यों कर लिया है।

"सर्वं वशयितुमिच्छति यः सोऽयं चेद्भवेच्चतुरः ।
मुख्यं वशयति पूर्वं तत्प्रामाण्याद्भजन्ति तं सर्वे ।।"

(वही- 31)

जो सबको वशीभूत करने की इच्छा रखता है, वह यदि सुचतुर हो, तो पहले सर्वप्रधान जन को वशीभूत करता है, कारण - सर्वप्रमुख को वश में कर लेने से अन्य सभी उस प्रधान जन को आदर्श मानकर वशीभूत हो जाते हैं। सभी शक्तियों में श्रीशक्ति प्रधान है, उसे वश में करके सभी शक्तियों को वशीभूत कर लिया। सम्भव है तू सोचे, जो दुःखदाता है, उसके प्रति आसक्ति रखने से भला किस लाभ की सम्भावना हो सकती है। इसके उत्तर में सुस्पष्ट रूप से मन की बात कहती हूँ - यद्यपि उससे प्रीति कर कोई भी लाभ नहीं, फिर भी उस चितचोर की माया के भुलावे में आकर ही हम लोगों ने उसके प्रति आसक्ति की है और उसी भूल के कारण हम उसके प्रति उत्तम बुद्धि पोषण करती हैं; लेकिन कभी कपटबुद्धि नहीं की। सम्भव है इस बात से तुझे आशंका हो - यदि उस कपट चूड़ामणि की कपटता समझ गई हो, तो उसके प्रति श्रद्धा पोषण क्यों कर रही हो ? अरे मधुप, तेरी यह बात सत्य है। उसे कपट-चूड़ामणि जानकर भी हम उसका विश्वास करती हैं, उससे प्रीति करती हैं। कारण सुनो। अपनी-अपनी वासना के अनुरूप वस्तु न पाने के कारण जो दरिद्र हैं, उनकी मनोवासना पूरी करता है, इसलिये उसका एक नाम है उत्तमश्लोक। यह नाम सुन कर वह एक दिन हम लोगों का निस्तार करेगा - उसके प्रति ऐसी जो दृढ़ श्रद्धा है, वह उसकी माया ने ही हमारे हृदय में बद्धमूल कर रखी है। अर्थात् हम

लोग उसका विश्वास करती हैं, इसका कारण भी उसकी मायाशक्ति का प्रभाव है।

"देवेऽप्यश्रद्धेये तच्छब्देनैव वीक्ष्यते सिद्धिः ।
जैमिनिमुनिशिष्याणां यज्ञे यद्वत् फलं बलते ।।" इति

(वही - 32)

अरे मधुप, जैमिनि मुनि के शिष्य कहते हैं, देवताओं का विश्वास नहीं करना चाहिये, कारण- देवताओं के जिन आकारों और वाहनों आदि की बातें शास्त्रों में लिखी हैं, यज्ञ आदि स्थलों में घट आदि में यदि उनका आह्वान उन्हीं-उन्हीं आकारों में किया जाय, तो ऐरावत आदि के पैर के स्पर्श से ही स्थापित घट के भङ्ग होने की सम्भावना है। तभी देवता मंत्रात्मक ही हैं। इसी प्रकार वह कपटी होते हुए भी उसका नाम ही दु:ख सिन्धु से हमारा निस्तार करेगा, यह विश्वास हृदय में जड़ जमाये है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने इस श्लोक के व्याख्या प्रसङ्ग में लिखा है - मानो भ्रमर कह रहा है - हे श्रीकृष्णप्रेयसी-शिरोमणे ! मेरे बन्धु मथुरा रहते हुए, दिनरात आपकी ही बात सोचते हैं और कामशर से जर्जर होकर खेद करते हैं। इसलिये आप प्रसन्न होंगी, तभी वे इस दु:ख से निस्तार प्राप्त करेंगे। इसके उत्तर में श्रीमती असूया के साथ बोलीं - अरे ! तेरे बन्धु का तो स्त्री के बिना समय ही नहीं कटता, यह हम सब अच्छी तरह जानती हैं। यदि मथुरा में कोई स्त्री न होती, तब वह हम लोगों की बात सोचता और तुझे दूत बनाकर यहाँ भेजता। यदि कहे कि वे तो गोपजाति हैं, मथुरा की क्षत्रिय रमणियाँ उन्हें अङ्गीकार क्यों करेंगी, तो सुन। मथुरा की क्षत्रिय रमणियाँ ही क्यों, त्रिलोक में ऐसी कौन स्त्री है, जो उसके लिये दुर्लभ है ? वह यदि स्वर्ग में जाय तो वहाँ देवियाँ हैं, और यदि रसातल जाय तो वहाँ सब नागपत्नियाँ अपने-अपने पतियों को त्यागकर उसकी सेवा करेंगी। मथुरा की नागरियाँ किस गिनती में ! अरे, उन सब अङ्गनाओं को पाने के लिये उसे किसी पण आदि की अपेक्षा नहीं; उसका कपटरुचिर हास्य और मनोहर भ्रूविलास ही यथेष्ट है। देवियों या अन्य किन्हीं रमणियों के पतियों के पास यह सब नहीं है। तभी उसके उस कपटपूर्ण हास्य से ही रमणियाँ अपने पतियों को त्याग कर उसका भजन करने को बाध्य हैं। 'कपट' पद से यही व्यञ्जित हुआ कि श्रीकृष्ण उन्हें एक बार भोग कर ही छोड़ देंगे, वे नव-नव प्रिय जो हैं।

अरे मधुप ! इस त्रैलोक्य की स्त्रियों की तो बात ही क्या, वैकुण्ठेश्वरी कमला तक उसकी सङ्ग-लालसा से उसकी चरणरज की उपासना करती हैं। यह बात हमने नागपत्नियों और पौर्णमासी देवी के मुख से सुनी है। हम लोग तो मानवी हैं, ऊपर से गोपियाँ, हम वृन्दावनवासिनियों की भला क्या बात ! और कहती हूँ, उसका जो 'उत्तमश्लोक' नाम है, यह कृपण जनों के लिये है। जो सन्तप्त दीन जनों पर दया करता है, वही है उत्तमश्लोक । कृष्ण में इस लक्षण का अभाव है, इसलिये यह कृपण लोगों का

मिथ्या कलरव मात्र है। यदि वह हम- जैसे कृपण जनों को दु:ख न दे, तो उसका उत्तमश्लोक नाम सार्थक कैसे होगा ? यह राधारानी की असूया वाणी है।

इस श्लोक में चित्रजल्प के उज्ज्वल्प के लक्षण प्रकट हुए हैं –

**''हरेः कुहकताख्यानं गर्वगर्भितयेर्षया ।**
**सासूयश्च तदाक्षेपो धीरैरुज्ज्वल्प ईर्यते ।।''**

(उ. नी. स्थायी. – 205)

गर्वमिश्रित ईर्ष्या के साथ श्रीहरि की कुहकता का वर्णन और असूया के साथ श्रीहरि के प्रति आक्षेप – इसे पण्डितजन 'उज्ज्वल्प' कहते हैं। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'दिवि भुवि च रसायाम्' वाक्य में श्रीहरि की कपटता प्रदर्शित है। तृतीय चरण में 'चरणरज उपास्ते' अर्थात् लक्ष्मी जिनकी चरणरज की उपासना करती हैं, हम तुच्छ किस गिनती में – इसमें गर्वयुक्त ईर्ष्या है। चौथे चरण में 'अपि च कृपणपक्षे' अर्थात् जो कृपण (दीन) पर कृपा करता है, वह उत्तमश्लोक है – इस उक्ति में असूया के साथ आक्षेप है ।। 15 ।।

**विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-**
**रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।**
**स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका**
**व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिम्।। 16।।**

---

**अन्वयः** – विसृज शिरसि पादं (तव मस्तके न्यस्तं मम पादं विसृज त्यज) मुकुन्दात् अभेत्य (शिक्षित्वा) चाटुकारैः (प्रियोक्तिरचनाभिः) दौत्यैः (दूतकर्मभिः) अनुनयविदुषः (प्रार्थनाचतुरस्य) ते

अहं वेद्मि (जानामि) अकृतचेताः (न विद्यते कृते उपकृते चेतो यस्य अकृतज्ञः इत्यर्थः) स्वकृते (तदर्थमेव) इह (व्रजे) विसृष्टापत्यपत्यन्यलोकाः (विसृष्टानि त्यक्तानि अपत्यानि पतयश्च इहलोके अन्यलोके धर्मसाध्याश्च याभिः ताः) वयमुज्जत् (तत्याज) अस्मिन् (मुकुन्दे) किं नु सन्धेयम् ? ।। 16।।

अनुवाद- औरे मधुप ! मेरे चरणों को अपने मस्तक से शीघ्र हटा। अरे अनुनयविद्या-विशारद ! ये सब चाटुकारिता-वचन मुकुन्द से सीख कर आया है। मैं तुम लोगों को अच्छी तरह जानती हूँ। जिसके लिये हम लोगों ने पति-पुत्र-आत्मीयस्वजन सबका परित्याग कर दिया है, वह अकृतज्ञ हमें छोड़ गया है। ऐसे व्यक्ति के साथ क्या सन्धि होती है ? ।। 16।।

**गीतामृतलेश टीका —**

भ्रमर श्रीजी के श्रीचरणों पर गिरकर सुमधुर गुञ्जन कर रहा है। वे सोचती हैं कि यह मेरे चरणों को अतिशय सुगन्ध के साथ विकसित कमल समझकर अपराध-क्षमा-प्रार्थी है, अर्थात् अपने सखा कृष्ण के अपराध के लिये क्षमा-प्रार्थना कर रहा है। इसी आवेश में वे भ्रमर की भर्त्सना कर उसे पैर से दूर कर कहती हैं – अरे दुष्ट षट्पद ! तू चाटुता दिखाता (चापलूसी करता) अपने सिर पर मेरे चरण धारण क्यों कर रहा है ? शीघ्र मेरे चरण छोड़ दे। वह गुञ्जन करता मानो कहता है- हे देवि ! तुम मुझ पर वृथा कोप मत करो, कृपा कर एक बार मेरा निवेदन सुनो। मैं जिस उद्देश्य से तुम्हारे प्राणाधिक प्रियतम श्रीकृष्ण के पास से आया हूँ, उसे तुम्हारे चरणों में निवेदन करने का अवसर तो एक बार भी नहीं पाया। वे अपने दिव्योन्माद के स्वभाव से मधुकर के स्वाभाविक गुञ्जन से यही कल्पना कर कहने लगीं – अरे, तू अपने मस्तक से मेरे चरण अलग कर दे, यहाँ से दूर हट जा। मैं सब जानती हूँ। अन्य कोई कुछ जाने न जाने, मुझे कुछ जानने को नहीं बचा। मुझे लक्ष्मी की तरह अचतुर मत समझना। मैं तुझे जानती हूँ, तेरे मुकुन्द को भी जानती हूँ, और तुम दोनों के स्वभाव को भी जानती हूँ। मेरे चरण छोड़ और अपने ये असाधारण चाटुवचन भी छोड़। मुकुन्द की असाधारण अनुनय करने की प्रचुर क्षमता है, यह मुझ से छिपा नहीं। यहाँ वह जब मेरे प्रति गुरुतर अपराध करता, तो गललग्नीकृतवास होकर मेरे पगतले बैठकर रोते-रोते कहता –

**"जनमे जनमे हम, तुया आराधन बिनु,**
**आर नाहिक अभिलाषे।**
**तुहुँ मने जानह, हाम तुया किंकर,**
**तबहुँ ना मुञ्चह रोषे।।**
**मानिनि यामिनि भेलो अवसादे।**

त्वया पदकमल, विमल वरदाता,
कि देखि ना हये परसादे।।
रूप-गुण तुया, बिहि निरमाओल,
आन कि कहब तुया आगे।
नयनक लोर, थोर ना हेरसि,
ए मोहे कमन अभागे।।
अनुनय करइते, श्रवणे ना शुनसि,
लगइते लागु तरसे।
ज्ञानदास कह, कैछे बिछुरह,
पूरब-पिरितिरस-आशे।।''

इस पर भी मेरे प्रसन्न न होने पर वह हाथ जोड़कर अश्रु-वर्षण करता-करता कहता-

''ए धनि मानिनि कि बोलब तोय।
तुयार पिरीति मोर जीवन होय।।
विविध केलि तुया तनु परकाश।
तथि लागि केलि कदम्ब करि वास।।
रजनि-दिवस करि तुया गुण-गान।
तुया बिने मने मोर नाहि गलाये आन।।
शयन करिये यदि तोमा ना पाइया।
स्वपने थाकिये तुया तनु आलिङ्गिया।।
तोमार अधररस पाने मोर आश।
कबज लिखिया लहो मुइँ तुया दास।।
मनमथ-कोटि मथन तुया मुख।
तोमार वचन शुनि उठे कतो सुख।।
ज्ञानदास कह धनि मोर मुख चाओ।
सरस परश देइ कानुरे जियाओ।।''

अन्त में 'देहि पदपल्लवमुदारम्' कह कर मेरे चरण मस्तक पर रख लेता। शत-शत चाटुताभरे विनय-वाक्यों से और व्यवहार से मेरा हृदय गला देता। मैंने बहुत भोगकर (सहन कर) सीखा है, अब

तू और विनय-वचनों से मुझे भुलावा नहीं दे सकता। तू तो उसी से यह सब चाटुवाक्य सीखकर दूतकार्य में व्रती हुआ है ?

भ्रमर मानो गुञ्जन करते-करते कह रहा है - हे स्वामिनी ! अपने प्राणकोटि प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ विवाद न कर मेरे साथ सन्धि स्थापित कर लेना ही तो कर्तव्य है। ऐसी कल्पना के आवेश में बोलीं - ''स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोकां व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन'' - अरे मधुप ! हम लोगों ने उसी की प्रीति के लिये पति, अपत्य (भतीजे और जिठानी-देवरानी के पुत्र), घर, इहलोक-परलोक के सुखभोगों की अनुकूलतायें सभी कुछ त्याग दिया था, किन्तु उस अकृतज्ञ ने हमारी ओर थोड़ा दृष्टिपात भी नहीं किया। उसने एक बार भी सोचा नहीं, ये व्रजाङ्गनायें मेरे ही सुख के लिए सब छोड़कर अनन्यगति बनी हैं; इनका मुझे छोड़ अन्य कोई आश्रय नहीं; मैं यदि इन्हें त्यागता हूँ तो इन निराश्रय व्रजाङ्गनाओं की क्या गति होगी ? यह सब न सोचकर हमें वन-वासिनी बनाकर हम अनन्यशरणाओं को त्याग दिया है। अरे, सोचकर देख, ऐसे अकृतज्ञ कठोर शठ के साथ क्या सन्धि की जाती है ?

**''कपटी कुरुतां कपटं तत्र न यत्राभवत् प्रकटः ।**
**सकृदपि कपटे प्रकटे सर्वं नटवन्मृषास्य तर्क्येत ।।''**

(गो. च. उ. 11/33)

कपटी व्यक्ति वहीं कपटता करता है, जहाँ उसकी कपटता प्रकट नहीं होती। एक बार कपटता उजागर हो जाने पर तो उसकी हर बात अभिनय की तरह मिथ्या लगती है।

इस श्लोक में दिव्योन्माद के दस प्रकार के चित्रजल्प नामक अनुभावों में से पञ्चम 'संजल्प' प्रकट हुआ है।

**''सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया ।**
**तस्याकृतज्ञताद्युक्तिः संजल्पः कथितो बुधैः ।।''**

(उ. नी.)

जब गूढ़ रूप से सोल्लुण्ठ रीति (ताने व्यंग्य के साथ प्रशंसा) द्वारा किसी आक्षेप भङ्गिमा से श्रीकृष्ण की अकृतज्ञता आदि का वर्णन होता है, तो पण्डित लोग उसे 'संजल्प' कहते है। इस श्लोक में 'विसृजशिरसि पादं' में आक्षेप-भङ्गिमा है। उत्तरार्द्ध में अकृतज्ञता व्यक्त हुई है। अकृतज्ञता से निर्दयता, परद्रोहिता प्रेमशून्यता समझनी होगी ।। 16 ।।

**मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधेऽलुब्धधर्मा**
**स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।**
**बलिमपि बलिमत्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-**
**स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्य जस्तत् कथार्थः।। 17।।**

**अन्वयः** - यः (कृष्णः) अलुब्धधर्माः (तद्धर्मरहितोऽपि) मृगयुः (व्याधः) इव कपीन्द्र (बालिनं) विव्यधे (जघानं तथा) स्त्रीजितः (सीतापरतन्त्रः अपि) कामयानां (काम एव प्राप्तिसाधनं यस्याः तां) स्त्रियं (शूर्पनखां) विरूपाम अकृत (अकरोत्) धाङ्क्ष (काक) वत् बलिमत्वा (पूजां गृहीत्वा) बलिम् अपि अवेष्टयत् (पाशैः वबन्ध) तद् असित सख्यैः (तत् तस्य असितसख्यैः असितमात्रस्य सख्यैः) अलं (न प्रयोजनं तथापि) तत् कथार्थः दुस्त्यजः (तस्य कथारूपः अर्थः दुस्त्यजः) ।। 17।।

**अनुवाद**- अरे भ्रमर ! (जिसने) व्याध की तरह कपीन्द्र बाली का वध किया है, स्त्री-परतंत्र होकर भी कामयाना (कामुक) शूर्पनखा के कान-नाक छेद दिये, बलि राजा का पूजोपहार खाकर अन्त में काक की तरह कुशलता के साथ उसे बाँध लिया- उसी कृष्णवर्ण पुरुष के साथ सख्य की हमें कोई आवश्यता नहीं। हाँ, उसकी चरितकथा हम नहीं छोड़ सकतीं ।। 17।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीराधा क्षण भर मौन रहीं, फिर सहसा प्रगाढ़ प्रणय को घुमाकर अरसिक जन की विरसतायुक्त बात कहने लगीं। यहाँ एक बात विचारणीय है। जैसे समुद्र सर्वदा विविध तरङ्गों से भरा रहता है, वैसे ही श्रीराधा का प्रेमसिन्धु भी सतत विविध प्रकार की व्यभिचारी भावतरङ्गों से समाकुल रहता है।

**"विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ।**
**सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते ।।**
**उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ ।**
**ऊर्मिव द्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपताञ्च ते ।।"**

(भ. र. सि.)

व्यभिचारी भाव विशेषरूप से स्थायी भाव की ओर गमन करते हैं। भाव की गति का सञ्चरण करते हैं, इसलिये इन्हें सञ्चारी भाव भी कहते हैं। ये व्यभिचारी या सञ्चारी भाव तरङ्गों की तरह स्थायीभाव-सिन्धु में उन्मज्जन-निमज्जन कर उसकी वृद्धि करते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं। इसलिये इनकी चार अवस्थायें सामने आती हैं - भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य एवं भावशान्ति।

स्थायीभावसिन्धु में कोई तरङ्ग उठती है तो कहते हैं भावोदय; दो भावों का एक साथ मिलन होता है तो भावसन्धि; अनेक भावों के सम्मर्द (परस्पर घर्षण) को भावशावल्य और उदित भाव के स्थायीभावसिन्धु में लीन होने को भावशान्ति कहते हैं।

श्रीराधा की दिव्योन्माद-अवस्था में निर्वेद सञ्चारी उनके महाभाव-सिन्धु में स्थायीरूप से प्रकट हुआ, तो वे 'दु:खद श्रीकृष्ण के साथ मुझे और किसी सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं' – इस भावना से प्रतिपद श्रीकृष्ण के दोषों का बखान करने लगीं। यहाँ निर्वेद सञ्चारी अत्यन्त प्रगाढ़ होने के कारण वे जो भी श्यामवर्ण है उसी के दोष बता रही हैं। दुर्जय मान में वे किसी भी श्यामवर्ण वस्तु का दर्शन नहीं करेंगी। उनके तदनुरूप व्यवहार की बात पदकर्ता से भी पता चलती है –

''राइक निठुर, वचन शुनि सहचरि,
मीलल कानुक पाश।
पन्थक श्रमभरे, वचन कहे गदगद,
खरतर बहइ निशास।।
माधव, दुर्जय मानिनि मानि।
विपरित चरित, हेरि भेल चमकित,
ना फुरये एह आधवाणी।।
'का' बोल बोलइते, शुनइ ना पारइ,
श्रवण मुदये दुइ पाणि।
जैमिनि जैमिनि, पुन पुन फुकरइ,
बजरशबद सम मानि।।
तुया गुण-नाम, श्रवणे नाहि शुनये,
तुया रूप रिपु-सम जानि।
तुया निज जन-सजें, सम्भाष ना करये,
कैछे मिलायब आनि।।
नील वसन वर, नील चूड़ि कर,
पौंतिक-माल उतारि।
करिरद-चूड़ि कर, मोतिमाल वर,
पहिरण अरुणिम शाड़ी।।

असित चित्र कर, उर पर आछिल,
मिटायल चन्दन लागाइ।
मृगमदतीलक, धोइ दृगञ्चल,
कुचमुख चन्दने छापाइ।।
चारु चिबुक पर, एक तिल आछिल,
निन्दि मधुपसुत श्यामा।
तृण-अग्रे करि, मलयजे रञ्जल,
सबहुँ छापायलि रामा।।
जलधर हेरि, चन्द्रातपे झाँपल,
श्यामरि सखि नाहि पाश।
तमालतरुगणे, चूने लेपायल,
शिखि-पिक दूरे निवास।।
तुया गुण बोलत, एक शुक पण्डित,
शुनि तहिं उठि रोषाइ।
पञ्जर झटकि, फटकि कर पटकिते,
धाइ धरल हाम जाइ।।
मधुकर डरे धनि, चम्पक-तरुतले,
लोचने जल भरिपूर।
श्याम-चिकुर हेरि, मुकुर करे पटकल,
टुटि भैगेल शतचूर।।
मेरुसम मान, कोप सुमेरु-सम,
देखि भेल वेणु-समान।
चपति पति अब, राइ मानाइते,
आप सिधारह कान।।''

इस निर्वेद सञ्चारी की प्रगाढ़ता में राधारानी ने भ्रमर से कहा- अरे, मैं केवल उस (कृष्ण) के कुटिल व्यवहार से ही डरी हूँ, ऐसा नहीं, मैं तो श्यामवर्ण के स्वभाव से भी अत्यत डरती हूँ। यह कहकर वे वर्णगत साम्य के कारण धीरोदात्त आदि नायक-गुणों से विभूषित श्री राम, श्रीवामन इत्यादि

के भी दोष दिखाकर काले वर्ण मात्र के भीषण व्यवहार की बात करने लगीं। श्रीमती के हृदय में यह निर्वेद सञ्चारी इतना प्रगाढ़ हो गया है कि वे 'श्याम' शब्द उच्चारण करने में भी डर रही हैं, उसके स्थान पर 'असित' (काला, नीला) शब्द प्रयोग कर रही हैं।

अरे भृङ्ग ! एक असित ने कपिराज बाली को वाणविद्ध किया है। जैसे निर्दय व्याध गुप्तरूप से हरिण आदि वन्यपशुओं को वाणविद्ध करता है, वैसे ही इस असित ने अति निर्दय होकर छिपकर बाली को बींधा था। व्याध मांस-चर्म आदि के लोभ से हरिण आदि का वध करता है, पर क्षत्रियवंश के दाशरथि राम ने व्याध-धर्म-रहित धार्मिक चूड़ामणि एवं मर्यादा पुरुषोत्तम होकर भी यह व्याध-विगर्हित कार्य किया, इसका एकमात्र कारण ही है इस असित वर्ण का योग। अरे, उसी असित का एक अन्य चरित सुनो। साक्षात् विश्रवा मुनि की वंशप्रभवा शूर्पनखा के कान-नाक काटकर उसे विरूप कर दिया। उस शूर्पनखा का दोष यह था कि उसने उस (असित) का रूप देखकर और गुण सुनकर उससे विवाह करना चाहा था। इस अपराध के कारण उससे विवाह तो नहीं ही किया, उससे अन्य कोई विवाह न करे इसलिये नाक-कान काटकर विरूप भी कर दिया। वे यदि नारीवार्ता-विमुख होते, तो मैं जानती, पर वे ऐसे न थे। पिता के सत्य के पालन के लिये जटा-जूटधारी तपस्वी का धर्म अवलम्बन कर वन गये, पर स्त्री को साथ-साथ लेकर ही विचरण किया। स्त्री-प्रेम में मुग्धता के कारण इस (असित) की स्वर्णमृग को मारने की बात भी सर्वत्र ही प्रसिद्ध है।

अरे, एक अन्य असित की बात सुन ! उसने ब्राह्मणवंश में जन्म लेकर ब्रह्मचारी रूप में शान्ति-क्षान्ति आदि गुणों के योग्य होकर भी परम धार्मिक बलि महाराज की जो लाञ्छना की थी, वह जगत् में सभी को सुविदित है। धर्मात्मा बलि महाराज ने ब्राह्मण को देखकर कितनी श्रद्धायत्न से उसकी त्रिपाद भूमि-दान की प्रार्थना पूरी करने का संकल्प लेकर उसकी पूजा की। उस ब्राह्मण ने बलि राजा की पूजा ग्रहण कर पहले तो छोटे-छोटे पैर दिखाये, अन्त में ऐसे बड़े-बड़े पैर निकाले कि उसकी उस कुहक माया को कोई न समझ सका। समझता कैसे ? यह तो सभी जानते हैं कि बड़े के भीतर छोटा रहता है, पर छोटे के भीतर इतना बड़ा कैसे रहता है - यह सबकी बुद्धि के अगोचर है। दो पगों में बलि महाराज का त्रिलोकी का राज्य नापकर यह कहकर कि तीसरे पग के लिये स्थान नहीं छल से उन्हें बाँध लिया। जैसे काक आहार दाता के दिये भक्ष्यद्रव्य खाकर अन्त में अपने शब्द से अन्यान्य कौवों को बुलाकर आहारदाता को घेर कर चञ्चु-आघात से उसे उद्विग्न कर देता है, वैसे ही ब्रह्मचारी-चूड़ामणि ने भी यह कहकर कि संकल्पित दान पूरा नहीं हुआ गरुड़-सुनन्द आदि निज जनों से धर्मात्मा बलि को बँधवा कर रसातल में निक्षेप कर दिया।

अरे मधुप ! क्षत्रियजाति होने के कारण दाशरथि की क्रूरता आदि असम्भव नहीं, किन्तु

साक्षात् कश्यपमुनि के पुत्र ने आजन्म ब्रह्मचारी निःसङ्ग शान्तदान्त गुणयुक्त होकर भी परम धार्मिक बलि महाराज के प्रति जो दौरात्म्य किया, उसका स्मरण करके भी हृदय काँप उठता हैं। असित वर्ण- योग ऐसे ब्राह्मण को कितना विकृत कर डालता है, यह सोचकर ही विस्मय होता है। दाशरथि का बाली को वाणविद्ध करना- इसमें कठोरता, उन्होंने स्त्रीजित होकर वह सब किया - इसमें कामित्व; वामन देव का बलि-बन्धन इसमें धूर्तता ! ये सब असित वर्ण के गुरुतर दोष है। हम लोगों को उसी माथुरपुर-स्त्रीजित असित (कृष्ण) से अपने जीवन के लिये विशेष आशंका है।

मानो भ्रमर कह रहा है - ईश्वरि ! यदि उन लोगों के चरित्र में इतने दोष हैं, तो मुनियों ने उसे विश्वपावन कहकर कीर्तन क्यों किया है ? इसका उत्तर देती हैं - अरे, इसका कारण सुन ! उन सब असितवर्ण कपटियों की ऐसी मोहिनी शक्ति है कि वे मुनियों तक को वशीभूत किये रखते हैं। उस मोहिनीशक्ति से सभी भयभीत रहते हैं।

**''हिंस्रादपि न हि तादृग्, भीतिर्भवतीह लोकानाम् ।**
**यादृग् दर्शनमात्राद्धर्मध्वजिनः प्रजायते ।।**
**हिंस्रः खलु किं कुर्याद्-यस्माद्भीत्या पलायते लोकः ।**
**हिंस्रात्मापि चरित्रं शुभमिव कलयन् भृशं शंक्यः ।।''**

(गो. च. उ. 11/36-37)

'मनुष्य के मन में जैसा भय धर्मध्वजियों के दर्शनमात्र से उत्पन्न होता है, वैसा भय हिंस्र जन्तुओं से नहीं होता। इसका कारण यह है कि हिंस्र जन्तुओं के भय से मनुष्य भाग सकता है, पर हिंस्रात्मा या हिंस्रस्वभाव व्यक्ति बाहर से ऐसा चरित्र दिखाता है कि सबको विमुग्ध होना पड़ता है।

यहाँ प्रणिधानयोग्य विषय यह है कि दिव्योन्माद के आवेश में राधारानी मानभङ्गिमा के साथ श्रीकृष्ण का जो तिरस्कार कर रही हैं - वह सब श्रीकृष्ण का परम आस्वाद्य रस है।

**''प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन ।**
**वेदस्तुति हैते हरे सेइ मोर मन ।।''**

(चै. च.)

भक्तगण का भी परमास्वाद्य है यह लीलारस। श्रवण, कीर्तन, ध्यान, धारणा की उच्चकोटि की विषयवस्तु। तत्वतः यह सब श्रीहरि की परम करुणा की लीला है। रामअवतार में सुग्रीव का पक्ष लेकर बाली को वाणविद्ध करना - यह भूभार हरण और भक्तवात्सल्य के अन्तर्गत है। ''किना बले कि ना करे भक्तेर कारणे। भक्त लागि बाली वधे सुग्रीवेर स्थाने।। ज्वलन्त अनल प्रभु भक्त लागि खाय। भक्तेर किंकर हय आपन इच्छाय।।'' (चै. भा.) बाली का भी परम कल्याण हुआ, क्योंकि उसने भी परमगति

प्राप्त की। श्रीरामचरित मानस में वर्णित है कि श्रीरामचन्द्र बाली को वाणविद्ध कर उसके आगे आ खड़े हुए, तो बाली ने कहा – प्रभु, तुम समदृष्टा हो; सुग्रीव और मैं दो भाई हैं; सुग्रीव तुम्हारा प्रिय हुआ और मैं तुम्हारा शत्रु। मुझे व्याध की तरह वाणविद्ध किया, इसका कारण क्या है ? श्रीरामचन्द्र बोले– तुमने भ्रातृजाया (भाई की पत्नी) का हरण किया है, तुम महापापी हो, तुम्हारा वध करने में कोई दोष नहीं है। यह सुनकर बाली ने कहा– प्रभु, महाभक्तगण अन्तिम समय में तुम्हारा नाम उच्चारण कर सकें, इस दृष्टि से जीवनभर नामसाधना करते हैं; वही तुम स्वयं मेरे मृत्युकाल में मेरे आगे खड़े हो, मैं क्या अब भी पापी हूँ ? यह सुनकर श्री राम का हृदय करुणा से विगलित हो गया। बोले – वत्स, मैं तुम्हारी देह को स्वस्थ किये देता हूँ, तुम चिरायु हो जीवनयापन करो। इस पर बाली ने कहा – प्रभु इस पशुदेह से भजन साधन तो कुछ होगा नहीं; व्यर्थ जीवित रहकर पशुजीवन–यापन करने के लिये योगीन्द्र–मुनीन्द्र जनों को दुर्लभ ऐसा सुयोग क्यों खोऊँ ? प्रभु ने उसे परमगति प्रदान की। शूर्पनखा का नासिका–कर्णछेदन, रावण–वध आदि भूभार–हरण के अन्तर्गत हैं। ये सभी भक्तों के श्रवण–कीर्तन के विषय हैं। बलि महाराज का सर्वस्वहरण यह उनकी शरणागति के चरम अङ्ग आत्मसमर्पण के अन्तर्गत है।

**"श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने,**
**प्रल्हादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।**
**अक्रूरस्त्व भिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः**
**सर्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्ति रेषां परम्।।"**

(पद्यावली)

श्रीविष्णु के गुणलीला आदि के श्रवण से महाराज परीक्षित ने; कीर्तन द्वारा श्रीशुकदेव ने, स्मरण से प्रल्हाद ने, पादसेवन द्वारा लक्ष्मीजी ने, पूजन द्वारा राजा पृथु ने, वन्दन से अक्रूर ने, दास्य द्वारा हनुमान ने, सख्य से अर्जुन ने और सभी प्रकार से आत्मनिवेदन कर बलिराजा ने भगवत्प्रेम प्राप्त कर भगवान् को प्राप्त किया था।

जो भी हो, भ्रमर राधारानी के श्री चरणसान्निध्य में गुञ्जन कर रहा है। उस अस्पष्ट गुञ्जन से वे कल्पना करती हैं, वह मानो कह रहा है – उसमें यदि इतने ही दोष हैं, तो मैं यहाँ आया हूँ तभी से आप उसकी बातें छोड़ अन्य कोई बात ही नहीं कर रहीं, सो क्यों ? जो दोषी व्यक्ति के दोषों का कीर्तन करता है, वह क्या बड़ा भलमानुष होता है ? इसी का उत्तर देती हैं – "दुस्त्यजस्तत् कथार्थः" अरे, यद्यपि मुझे उस असित के बन्धुत्व के लेशमात्र की भी कोई आवश्यकता नहीं, तथापि हम उसकी कथारूपी सम्पत्ति को त्यागने में असमर्थ हैं। सब त्याग किया जा सकता है, यहाँ तक कि तेरे बन्धु को भी त्यागकर रहा जा सकता है, पर उसकी कथा का त्याग नहीं किया जा सकता। मैं इस दुरन्त विरह में

एकमात्र उसकी कथा का आश्रय लेकर ही जीवित हूँ। अरे, उसकी कथा में एक मुहूर्त को भी विराम आ गया, तो इस तापित देह में प्राण नहीं रहेंगे। केवल हम लोग ही नहीं; मुनिजन भी उसकी कथा का आदर करते हैं। अरे, यह भी उसका एक अति दुरन्त मोहन स्वभाव है। इस श्लोक में चित्रजल्प के अन्तर्गत 'अवजल्प' के लक्षण प्रकट हुए हैं।

''हरौ काठिन्यकामित्वधौर्त्यादासक्त्ययोग्यता ।
यत्र सेर्ष्याभियेवोक्ता सोऽवजल्पः सतां मतः ।।''
(उ. नी.)

जब आसक्ति की अयोग्यता, ईर्ष्या और भय के साथ हरि की कठोरता, कामित्व और धूर्तता का वर्णन होता है, तो साधुजन (इन लक्षणों को) अवजल्प कहते हैं। 'विव्यधे' पद में कठोरता, 'स्त्रीजित' में कामित्व, 'बलिमपि' में धूर्तता, 'असितसख्यै' में आसक्ति की अयोग्यता वर्णित है। ध्वनि को लेकर भय, ईर्ष्या आदि का भी वर्णन है ।। 17 ।।

**यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट-**
**सकृददन विधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।**
**सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सज्य दीनाः**
**बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति।। 18।।**

---

**अन्वयः** - यदनुचरितलीलाकर्णपीयूष विप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माः विनष्टाः (यस्य

अनुचरितमेव लीला, तदेव कर्णपीयूषं, तस्य विप्रुट् कणिका, तस्याः सकृद् अदनं सेवनं तेन विधूताः निरस्ताः द्वन्द्वधर्माः रागादयः येषां ते, अतएव विनष्टाः) बहवः (न तु द्वित्राः) विहङ्गा (हंसाः) दीनाः सपदि (लीलाश्रवणानन्तरमेव) दीनं गृहकुटुम्बम् (दीनमपि गृहस्य कुटुम्बं तात-जननी-भार्यादिकम्) उत्सृज्य (त्यक्त्वा) इह (वृन्दावने) भिक्षु चर्यां चरन्ति ।। 18।।

**अनुवाद**- अरे, वह जो करता है, मुनिजन उसी को उसकी लीला कहकर कीर्तन करते हैं। वह लीला कानों को अमृत की तरह स्वादिष्ट लगती है, पर वह मन को प्रीतिकर नहीं होती, कारण- उसकी एक कणिका का श्रवण कर सभी प्रकार के द्वन्द्वधर्म रागद्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं। (इस प्रकार के श्रवण के पश्चात्) अनेक लोग दीनातिदीन विहङ्गम या हंस की तरह तत्क्षणात् गृह-कुटुम्ब त्यागकर इस वृन्दावन में आकर भिक्षावृत्ति द्वारा प्राण-धारण करते हैं ।। 18 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

राधारानी क्षणभर विश्राम और विचार कर बोलीं- अरे मधुप ! हम लोग साक्षात् उसके साथ बन्धुता कर दुःखिनी बनी हैं, इसमें आश्चर्य की क्या बात ? उसकी तो लीलाकथा भी त्रिवर्ग-लताओं का मूलरूप से उन्मूलन करने वाली है। अर्थात् जो उसकी लीलाकथा का श्रवण करता है, उसकी त्रिवर्गलता- धर्म, अर्थ, काम - जड़ से उखड़ जाती है। कोई धार्मिक (व्यक्ति) सुनता है, तो वह धर्म के प्रति आस्थारहित हो जाता है। धनी श्रवण करता है, तो उसकी धनसम्पदा की स्पृहा नहीं रहती। विषयी सुनता है, तो वह विषयभोगों से विरत हो जाता है। यह सब जानकर भी हम उसकी कथा का त्याग नहीं कर पा रहीं। उसकी तरह उसकी कथा में भी निश्चय ही कोई मोहिनी शक्ति है। अरे मधुप ! उसके अपने मन के अनुकूल कर्म का नाम ही लीला है। उसके मन में जो आता है, अच्छा-बुरा कुछ विचार न कर वह बालक की तरह जो करता है, मुनिजन उसी को उसकी लीला कह कर कीर्तन करते हैं।

यहाँ ज्ञातव्य विषय यही है कि भगवान् की चेष्टायें दो प्रकार की हैं - कर्म और लीला। जो चेष्टा किसी उद्देश्य को लेकर सामने आती है, उसी का नाम कर्म है। जैसे गीता में भगवान् ने कहा है - "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।" मैं साधुओं की रक्षा, दुष्कृतिजनों के विनाश और धर्म-संस्थापन के लिये युग-युग में अवतीर्ण होता हूँ। ये सब भगवान् के कर्म हैं। उधर जो चेष्टा किसी उद्देश्य के बिना आनन्द-उल्लास को लेकर प्रकाश में आती है, वही उनकी लीला हैं। विशुद्ध लीला का क्षेत्र है व्रजधाम। यहाँ जो असुर-वध आदि कार्य हैं, वे भी आनन्दोल्लास से भरकर खेल करते-करते ही सम्पन्न हुए हैं। फिर यथार्थ तो यह है कि असुर-मारण आदि कार्य श्रीव्रजेद्रनन्दन के नहीं हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि. 4) में लिखा है –

"स्वयं भगवानेर कर्म नहे भार-हरण ।
स्थितिकर्ता विष्णु करे जगत् पालन ।।
किन्तु कृष्णेर जेइ हय अवतार-काल ।
भार-हरण-काल ताथे हइलो मिशाल ।।
पूर्ण भगवान् अवतरे जेइ काले ।
आर सब अवतार ताथे आसि मिले ।।
नारायण-चतुर्व्यूह-मत्स्यादि अवतार ।
युग-मन्वन्तरावतार जतो आछे आर ।।
सभे आसि कृष्ण-अङ्गे हय अवतीर्ण ।
ऐछे अवतारे कृष्ण भगवान् पूर्ण ।।
अतएव विष्णु तखन कृष्णेर शरीरे ।
विष्णुद्वारे कृष्ण करे असुर संहारे ।।"

अवश्य ही भगववान् के कर्म और लीला दोनों ही दिव्य अर्थात् अलौकिक या अप्राकृत हैं। भगवान् ने ही कहा है– "जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।" (गीता) मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक या अप्राकृत है, जो मेरे जन्म-कर्म आदि के इस तत्त्व को जानता है, वह देहत्याग के पश्चात् पुनः जन्मग्रहण नहीं करता और मुझे ही प्राप्त करता है। फिर भी कर्म की अपेक्षा लीला का माधुर्य बहुत गुना अधिक है। चित्त लीला के श्रवण-कीर्तन से श्रीहरि में जैसा आविष्ट होता है, वैसा कर्म के श्रवण-कीर्तन से नहीं होता। इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण रसस्वरूप और आनन्दस्वरूप हैं, उस रसरूपता की पूर्णतम अभिव्यक्ति उनकी लीलाकथा में ही है। तभी श्रीकृष्ण की लीला कथा के वर्णन से युक्त श्रीमद् भागवत् के प्रारम्भ में श्रीपाद शुकदेव मुनि ने कहा है –

"पिवन्ति ये भागवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।"

(भा. 2/2/37)

"जो लोग 'सताम् आत्मनः' अर्थात् महत्गण के प्राणेश्वर (श्रीजीवचरण) भगवान् का

कथामृत श्रवणपुटों से पान करते हैं, वे विषयवासना से दूषित मलिन चित्त का शोधन कर भगवान् के श्रीचरणसान्निध्य में चले जाते हैं।'' श्रीमद्भागवत के 12/14/40 श्लोक में श्रीपाद सूतमुनि ने भी श्रीशौनकादि मुनियों से कहा है –

''संसार सिन्धुमति दुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः
प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो
भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ।।''

'विविध दुःखदावानल से दग्ध व्यक्ति अतिशय दुस्तर संसारसिन्धु को पार करने का इच्छुक है, तो उसके लिये लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के लीलाकथारस-निषेवण (पान-सेवन) के अतिरिक्त अन्य कोई नौका नहीं है।' लीलाकथा का माधुर्य साधक के चित्त में श्रीकृष्ण वेश अति सत्वर जगा देता है। ऐसा अन्य किसी साधना से नहीं होता। इस श्लोक में दिव्योन्मादवती राधारानी ने मानभङ्गिमा से तिरस्कार के छल से श्रीकृष्णलीलाकथा का जो माधुर्य वर्णन किया है, वह कोई कभी स्तव-स्तुति द्वारा भी नहीं कर पायेगा।

जो भी हो, श्रीमती राधारानी भ्रमर से बोलीं- अरे मधुप ! उसकी कथा 'कर्ण-पीयूष अर्थात् कानों की ही सुधा है। आपाततः (सुनते समय ही) कानों को सुख देने वाली है, किन्तु अर्थ-विचार से मन को प्रीतिकर नहीं, कारण- यदि कोई दूरदेश में रहकर भी किसी प्रकार (श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि द्वारा) उस लीलासुधा की एक कणिका का भी सेवन करता है, तो उसका मिथुनाचार विशेषरूप से ही विदूरित हो जाता है – 'विधूतद्वन्द्वधर्माः'। अर्थात् यदि स्त्री श्रवण करती है, तो वह अपने पति के प्रति प्रीति त्याग देती है, पति श्रवण करता है तो स्त्री के प्रति आसक्ति त्याग देता हैं माता-पिता श्रवण करते हैं, तो पुत्र के प्रति; पुत्र श्रवण करता है तो माता-पिता के प्रति स्नेह-प्रीति त्याग बैठते हैं। फिर उसकी कथा में एक ऐसी मादकता है कि उसका किसी भी प्रकार किञ्चित् मात्र भी आस्वादन कर लेने पर शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि द्वन्द्वधर्म विनष्ट हो जाते हैं।

अरे मधुप ! यदि अतिशय स्निग्धचित्त व्यक्ति भी उस कठोरचित्त कृष्ण की लीलाकथा श्रवण करे, तो वह अतिशय कठोर निर्दय और कृतघ्न हो जाता है। (इसके प्रमाणरूप में कहती हैं) – जिस समय (जैसे ही) उसकी लीलाकथा सुनता है, उसी समय इतना कठोर निर्दय हो जाता है कि अन्य उपार्जक न होने पर भी अति दरिद्र वृद्ध माता-पिता, असहाय भार्या, शिशु सन्तान आदि को त्याग देता है। उसके मन में यह विचार भी नहीं आता कि मेरे त्याग जाने पर इन लोगों की क्या अवस्था होगी। मोटी बात, उसमें यह विचार करने की क्षमता ही नहीं रहती। मूल में जो 'उत्सृज्य' पद है, उसकी व्याख्या में

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है - 'मृत्यवे कुशवारिसंयोगेन सम्प्रदायैवेत्यर्थः' उन सब स्वजन-आत्मीय आदि को कुश-जल-संयोग से मृत्यु को सम्प्रदान कर चला जाता है। हाय, हाय, वे स्त्रीपुत्र मरें (तो मरें), यदि वह स्वयं भी सुखी हो पाता, तो समझती कि अच्छा है। किन्तु ऐसा भी तो नहीं होता। वह जब स्वयं गृहत्याग करता है, चित्त के विक्षेप के कारण जाते समय एक फूटी कौड़ी भी गाँठ बाँधकर नहीं ले जाता। यहाँ तक कि गृहत्याग के समय भार्या आदि का रोदन देखकर चित्त में किञ्चित् विकलता भी नहीं आती। ऐसा महाकठोर हो जाता है। अरे, ऐसे एक-दो लोग नहीं, 'बहवः' - हजार हजार लोगों ने ऐसी दुर्गति पाई है और पायेंगे। जिन-जिन ने उसकी कथा सुनी है, सुनोगे कि सभी की यही दशा है। अरे मधुप, यदि कहे कि वे सब किस जीविका के सहारे बचे हुए हैं, (तो सुन) अरे, मनुष्य उसकी कथा सुनते हैं, वे क्या फिर मनुष्य रह जाते हैं, वे तो विहङ्ग या पक्षी हो जाते हैं पक्षी भी कोई और नहीं हंस हो जाते हैं। हंस भी छोटामोटा नहीं, परमहंस बन जाते हैं। (इस बात का तात्पर्य यह है कि श्री कृष्ण की लीलाकथा की ऐसी माधुर्यशक्ति है कि उसे किसी न किसी प्रकार मात्र एक बार सुनने से ही श्रोता की समस्त पार्थिव पदार्थों के प्रति अरुचि हो जाती है और श्रीकृष्णकथा में प्रबल रुचि उत्पन्न हो जाती है। क्रमशः शीघ्र श्रीकृष्णपादपद्मों में आसक्ति, भाव और प्रेम होता है, वह भागवत परमहंसपदवी प्राप्त कर धन्य हो जाता है।) वे लोग उसके लीलास्थल इस वृन्दावन में आकर गोधूमकणा (अन्न-कण) इत्यादि भिक्षा परिपाटी द्वारा जीवन-धारण करते हैं। यदि कोई स्थूल भिक्षा देना चाहे, तो उसे भी ग्रहण नहीं करते।

राधारानी ने यहाँ निन्दाछल से ही श्रीकृष्णलीला के दोष बताये, पर परमार्थ की दृष्टि से समस्त साधनाओं में श्रीकृष्णकथा के श्रवण-कीर्तन का परम उत्कर्ष ही स्थापित किया गया, कारण - सभी साधनों का उद्देश्य या लक्ष्य है साधक के हृदय के सारे जड़ीय आवेशों को दूर कर अभीष्ट-चरणों में प्रगाढ़ आवेश उत्पन्न करना। अन्यान्य साधनाङ्गों की ऐसी माधुर्य शक्ति नहीं कि वे अनादिबद्ध मानव के हृदय का कामना-वासनामल धोकर श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ आवेश उत्पन्न कर सकें। श्रीकृष्णलीला के एक बार श्रवण-कीर्तन से ही भोग आदि में अनासक्ति, विषय-वैराग्य, और व्रजवास में रति उत्पन्न हो जाती है। साधक अचिरात् श्रीकृष्णरति और भागवत परमहंस-पदवी प्राप्त कर लेता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा हैं - "तेन तत्कथाया बहुमत्स्यन्तिकामहाधुस्तर बीज चूर्णत्वं कथावाचकस्य साधुवेशाच्छन्न-महाघातकत्वम्। पुराण पुस्तकस्य जालत्वं ..... ..... व्यासा दीनां जालनिर्मातृत्वं कृष्णस्य परमेश्वरत्वेन तत्तदादेष्टृत्वं गोप्य इव सर्वलोका दुःखाब्धौ पतन्त्विति तस्य विचारः। ईदृश पर दुःख दर्शन मेव तस्य सुखम्।।" यहाँ वर्णनभङ्गिमा से यही भाव प्रकट हो रहा है कि उसकी कथा मानो बहुत-सी मिश्री-मिला धतूरा-बीजों का चूर्ण है। बहुत-सी मिश्री मिली है, इसलिये

खाने में खूब मीठा है, किन्तु धतूरे के बीजों का चूर्ण है, इसलिये नशे से सिर चकराने लगता है। जो लीलाकथा का वर्णन करते हैं, वे साधुवेशाच्छन्न महा घातक हैं; पुराणपुस्तकें या लीलाग्रन्थ जाल की तरह हैं। व्यासदेव आदि मुनिजन जाल-प्रस्तुतकर्ता हैं। श्रीकृष्ण परमेश्वर है, सो उस जाल निर्माण का आदेश देने वाला है ? उसके मन की बात यह है कि गोपियों की तरह सभी दु:खसागर में गिरें। इस प्रकार दूसरे का दु:ख देखकर उसे परम सुख होता है।

इस श्लोक में ऐसी शत-शत ध्वनियाँ हैं। व्याजस्तुति द्वारा भक्ति की सर्वोत्कर्षता प्रतिपादित की गई है। इस श्लोक में दस प्रकार के चित्रजल्प के अन्तर्गत अभिजल्प के लक्षण प्रकट हुए हैं। उज्ज्वलनीलमणि में अभिजल्प के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं –

**''भङ्ग्या त्यागोचिती तस्य खगानामपि खेदनात् ।**
**यत्र सानुशयं प्रोक्ता तद्भवेदभिजल्पितम् ।।''**

पक्षियों को भी खेद या दु:ख प्रदान करता है, इसलिये उसका त्याग करना ही उचित – जब अनुताप के साथ यह बात कही जाती है, तो उसे विज्ञजन अभिजल्पित कहते हैं ।। 18 ।।

**वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः**
**कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।**
**ददृशुरसकृदेत्तन्नखस्पर्शतीव्र –**
**स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यताभन्यवार्ता ।। 19 ।।**

---

**अन्वयः** – उपमन्त्रिन् ! (हे दूत) अज्ञाः कृष्णवध्वः हरिण्यः (यथा) कुलिकरुतं (कुलिकस्य व्याधस्य रुतं गीतं श्रुत्वा मोहिताः सत्यः तत्समीपं गताः वाणवेधादिदु:खम् अनुभवन्ति तथा) वयम्

(अपि) जिह्मव्याहृतं (जिह्मस्य कुटिलस्य कृष्णस्य व्याहृतम्) ऋतमिव (सत्यम् इव) श्रद्धधानाः असकृत् (पुनः पुनः) तन्नखस्पर्शतीव्रस्मररुजः (तस्य नखैः यः स्पर्शः तेन यः तीव्रः स्मरः तेन रुजः पीड़ाः) एतद् (दुःखं) दृदृशुः (ददृशिम तस्माद्) अन्यवार्ता भण्यताम् ।। 19।।

**अनुवाद**- अरे दूत ! जैसे निर्बोध कृष्णासारमृगों की पत्नियाँ हरिणियाँ व्याध के मोहन गायन पर मुग्ध होकर उसके निकट जाकर उसके शराघात से जर्जर होती हैं, वैसे ही हम लोगों ने भी उस कुटिल की बात पर विश्वास कर बार-बार उसकी नखस्पर्शजनित तीव्र स्मरपीड़ा सहन की है। तभी कहती हूँ, अरे दूत ! उसकी बातों की और आवश्यकता नहीं, कोई अन्य बात कर ।। 19 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

राधारानी दिव्योन्माद के आवेश में भ्रमर का गुञ्जन सुनकर कल्पना करती हैं, वह मानो कह रहा है - हे कृष्ण तृष्णापात्रि ! आप उनके विषय में जो सम्भावना कर रही हैं, वह सत्य नहीं है, कारण- मैं देख रहा हूँ, वे आपके भीतर-बाहर पूजित हो रहे हैं। इसका उत्तर देती हैं - रे मधुप ! सुन ! केवल सम्भावना ही नहीं, इस व्रज में बहुत-से प्रमाण हैं, जो प्रत्येक व्यवहार में एक-एक की आँखों में प्रकट हुए हैं। हम लोग पहले उसकी सभी बातों को ऋषिवाक्य की तरह प्रामाणिक मानती थी; तभी तो इस दुःखसागर में निमग्न हुई हैं।

भ्रमर मानो गुञ्जन करते-करते कह रहा है - हे देवि ! पहले प्रिय का सन्देश सुनिये, फिर विचार कीजिये, तत्पश्चात् सन्तुष्ट हों या रुष्ट हों, जो उचित समझें कीजिये। इसका उत्तर देती हैं - अरे मधुप ! उस कपटी के प्रतिश्रुति-वचनों को सत्य मानकर विश्वास किया, तभी तो यह चरम दुर्दशा हुई है। सुन, रासरजनी में उसने गोपीसभा में रोते-रोते कहा था -

**"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां ।**
**स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।।**
**या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः ।**
**संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।"**

(भा. 10/32/22)

'हे व्रजदेवियों ! मैं तुम लोगों के इस निर्दोष प्रेममय संयोग और व्यवहार का ऋण देवताओं का आयुष्काल प्राप्त करके भी परिशोध नहीं कर पाऊँगा। तुमने अच्छेद्य गृहश्रृङ्खला छिन्न कर मेरा भजन किया है यह ऋण तुम्हारी सुशीलता से ही परिशोध हो सकता है।' फिर "सान्तयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः" (भा. 10/39/35) - मथुरा जाते समय व्रजदेवियों को अति सन्तप्त देखकर 'मैं शीघ्र आऊँगा' इस सप्रेम दूत-वाक्य द्वारा उन्हें बार-बार सान्त्वना प्रदान की थी। (हम इससे पहले श्रीगोपालचम्पू

ग्रन्थ से श्रीमधुमङ्गल द्वारा दिये श्रीकृष्ण के उस आश्वासन का उल्लेख कर चुके हैं) राधारानी ने कहा – अरे, उसकी बार-बार की ये सभी उक्तियाँ व्यभिचार होते हुए भी हमने उन पर ऋषिवाक्यों की तरह विश्वास किया था। उस विश्वास का ही परिणाम है हमारी यह दुर्दशा। व्याध के मोहन गीत पर मुग्ध होकर कृष्णसार वधु हरिणियाँ उसके वाणों का आघात ही प्राप्त करती हैं। उस तरह हमने भी उसके नखस्पर्श की तीव्र व्यथा ही अनुभव की है; कभी स्मरसुख प्राप्त नहीं किया। इसे राधारानी के महाभाव से उत्थित अतिशय तृष्णामयी उक्ति ही समझना होगा। श्रीकृष्ण ने व्रज में रहते समय प्रति रात्रि व्रजगोपियों के साथ रास-विहार किया था। प्रत्येक रजनी ब्रह्मरात्रि के तुल्य होने पर भी गोपियों को क्षण-जैसी लगती। कृष्णमाधुर्य के आस्वादन पर उन्हीं की तृष्णामयी उक्ति है – ''जनम अवधि हाम रूप नेहारिनु, नयन ना तिरपित भेलो। लाख-लाख युग हिये हिये राखनु, तबु हिया जुड़न ना गेलो।। वचन अमियारस अनुखन पियलुँ, श्रुतिपटे परश ना भेलो। कतो मधु यामिनि रभसे गोयाइनु, ना बुझनु कैछन केलो।।''

श्रीमती बोलीं – अरे, हम लोग जब भी अपने इन अङ्गों में उसके नखों के चिन्ह देखती हैं, तभी उसके प्रति आकुल पिपासा से अतिशय कातर हो उठती हैं। अधिक क्या कहूँ, हम उसके रूप आदि के माधुर्य से, प्रीतिमिश्रित वचन-लालित्य से ऐसे मोह में पड़ गई थीं कि प्रीतिके आवेश में उसकी वधुएं भी बन गईं।

श्रीकृष्ण-मिलन के आवेश में श्रीमती की उक्ति –

''बन्धु ! कि आर बलिबो आमि।
जीवने मरणे, जनमे जनमे,
प्राणनाथ हैयो तुमि।।
तोमार चरणे, आमार पराणे,
बाँधिलो प्रेमेर फाँसि।
सब समर्पिया, एकमन हैया,
निश्चय हइलाम दासी।।
एकुले ओ कुले, मोर केबा आछे,
आपना बलिबो काय।
शीतल बलिया, शरण लइनु,
ओ दुटि कमल पाय।।

आँखिर निमेखे, जदि नाहि देखि,
तबे से पराणे मरि।
चण्डीदास कहे, परश रतन,
गलाय गाँथिया परि।।''

दानलीला के अन्त में राधारानी की उक्ति है –

''किछु बोइलो ना हे कोइयो ना हे
कथा शुनि फाटे मोर बुक।
तोमा ना देखिले प्राण
सदा करे आनचान
देखिले से जिये चाँदमुख।।
तुमि जल आमि मीन
आमि देह तुमि प्राण
तुमि चन्द्र आमि जेनो निशि,
के जाने ना जानि केने
आधो तिल तोमा बिने
आपना भसम सम बासि।।
सरल सारिका हाम
पञ्जर तोमार प्रेम
ताहे बन्दि हइयाछि हरि।
तोमार वियोगे हाम
सदाइ वियोगी हे
तेइँ आमि दधिर पसारि।।
दाड़ाइया पथेर माझे
तिलाञ्जलि दिलाम लाजे
तुया गुणे तुलिया निसान।
हेरो देखो ओहे श्याम
दुइ बाहुते तोमार नाम
दागिया राख्याछि निज प्राण।।

धैरज धरिते नारि
एक निवेदन करि
ना हइओ मोर बधेर बधी ।
वंशीवदने कय
एकथा अन्यथा नय
एक जिउ दुइ कैलो बिधि ।।''

श्रीमती बोलीं - अरे मधुप ! सम्भव है तुम यह सोच बैठो (कि) आप लोग हैं मानवी कुलवधुएं और हरिणियाँ हुईं पशुजाति, ऊपर से मनुष्यों की भक्ष्य; उनकी व्याधकृत दुरवस्था सम्भव हैं; उस हिरणजाति के साथ अपनी समता क्यों दिखा रही हैं ? इसी के उत्तर में श्रीमती हरिणियों का पक्ष लेकर उनकी प्रशंसा करते हुए बोलीं - अरे ! उन हरिणियों को साधारण मत समझ, कारण- उनके पति परम उत्कृष्ट 'कृष्ण' - नाम से ही अपना परिचय दिया करते हैं। इसलिये तेरे, बन्धु की तुलना में उन कृष्णसारों (मृगों) का क्या अपकर्ष है, जिससे उनकी पत्नियों (हरिणियों) का अपकर्ष हो सके ? अतएव जैसे उन सब कृष्णसार वधुओं (हिरणियों) का दु:खदायी व्याध है, वैसे ही हम लोगों का दु:खदायी तेरा बन्धु ही है।

**''शपथं करोमि मधुकर न मनसि तस्याङ्गसङ्गमः स्फुरति ।**
**नखरस्पर्शविषं पुनरन्तर्ज्वालाभि-रनुमितं क्रियते ।।''**

(गो. च. उ. 11/39)

रे मधुकर, मैं शपथ लेकर कहती हूँ, श्रीकृष्ण का अङ्गसङ्गम मेरे हृदय में स्फूर्ति नहीं पा रहा। इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण के नखस्पर्श में जो विष है, उसका अनुमान मेरे अन्तर्दाह से ही किया जा रहा है।

रे उपमंत्रिन् ! भण्ड विद्यापण्डित ! दाम्भिक की तरह चुप क्यों है ? 'भण्यतामन्यवार्ता' अधन्य कृष्णकथा त्यागकर अन्य धन्य कथा कह।

**''देखि एइ उपाये, कृष्णेर आशा छाड़ि दिये,**
**आशा छाड़िले सुखी हय मन।**
**छाड़ो कृष्णकथा अधन्य, कहो अन्य कथा धन्य,**
**जाते कृष्णेर हय विस्मरण।।''**

(चै. च. अन्त्य. 10)

राधारानी की सखी श्रीकृष्णकथा कहकर उनके मान-प्रशमन की चेष्टा करती है, तो वे कहती हैं -

"सखि हे ना बोल वचन आन ।
भाले भाले हाम अलपे चिन्हलुँ
ओइछन कुटिल कान ।।
काठ कठिन कयल मोदक
उपरे माखिया गुड़ ।
कणया कलस विषे पुराइया
उपरे दुधक पूर ।।
कानु से सुजन हाम दुरजन
ताकर बचने जाइ ।
हृदय मुखेते एक समतुल
कोटिके गुटिक पाइ ।।
जे फुले तजसि से फुले पूजसि
से फुले धरसि वाण ।
कानुक वचन ओइछन चरित
कवि विद्यापति भान ।।"

इस श्लोक में दशविध चित्रजल्प के अन्तर्गत आजल्प के लक्षण प्रकट हुए हैं -

"जैह्यं तस्यार्तिदत्वञ्च निर्वेदाद् यत्र कीर्तितम् ।
भङ्ग्यान्यसुखदत्वञ्च स आजल्प उदीरितः ।।"

(उ. नी.)

जब निर्वेदवश श्रीकृष्ण का कौटिल्य (कुटिलता), दु:खदत्व और भङ्गिमा से अन्य का सुखदत्व कीर्तित होता है तो उसे पण्डितगण आजल्प कहते हैं। इस श्लोक में श्रीकृष्ण की कुटिलता, उनकी कथा का दु:खदत्व और अन्य कथा का सुखदत्व वर्णित है ।। 19 ।।

**प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं**
**वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेहङ्ग।**
**नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यज द्वन्द्वपार्श्वं**
**सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते।। 20।।**

अन्वयः - प्रियसख ! (हे प्रियस्य कृष्णस्य सखे !) प्रेयसा (कृष्णेन) पुनः प्रेषितः किं आगाः (त्वमागतोऽसि) अङ्ग ! (हे दूत !) मे माननीयोऽसि (मे मम माननीयः पूज्यः असि अतः भवान्) किमनुरुन्धे (किं प्राप्तुम् इच्छति तद्) वरय (वृणीष्व) इह अस्मा् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं कथं नयसि ? (इह सतीः अस्मान् दुस्त्यजं द्वन्द्वं मिथुनीभावः यस्य तस्य पार्श्वं समीपं कथं नयसि नेष्यसि ?) सौम्य ! (हे सौम्य !) सततमुरसि श्रीः वधूः साकमास्ते (श्रीः नाम वधूः साकं सहैव सततम् आस्ते, तत्रापि उरासि वक्षसि एव) ।। 20।।

**अनुवाद**- हे प्रिय सखे ! तुम क्या प्रियतम द्वारा पुनः प्रेरित होकर आये ? हे दूत ! तुम मेरे माननीय हो ! बोलो, तुम क्या चाहते हो ? हे सौम्य ! जो मधुवधुओं के साथ मिथुन भाव परित्याग करने में अक्षम हैं, हम लोगों को उनके पास ले जाने के लिये तुम इतना आग्रह क्यों कर रहे हो ? उनके वक्ष पर लक्ष्मीवधु परम सुखपूर्वक सतत वास कर रही हैं ।। 20 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

इस प्रकार दिव्योन्मादजनित महाविरह में भी राधारानी के हृदय में कृष्ण-अङ्ग-सङ्ग की अतिशय स्फूर्ति होने के कारण मानभङ्गिमा प्रकट हुई। तत्पश्चात् भ्रमर अपने जातीय स्वभाव से वृक्ष की आड़ में चला गया अथवा वे अपनी ही उन्माददशा में भ्रमर के वहीं होने पर भी क्षण भर को उसे न देख पाईं। परिणामस्वरूप वे प्रेमोत्कण्ठा के स्वभाव से कलहान्तरिता दशा को प्राप्त हो गईं।

**''या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं रुषा ।**
**निरस्य पश्चात्तपति कलहान्तरिता हि सा ।।''**

(उ. नी. 5/87)

'जो नायिका सखियों के आगे अपने चरणों में गिरे वल्लभ को रोष से भरकर भगा देती है और फिर अनुताप करती है, उसी को कलहान्तरिता कहा जाता है।

कलहान्तरिता श्रीमती सखी से कहती हैं -

**''आपन शिर हाम, आपन हाते काटिनु,**

काहे करिनु हेनो मान।
श्याम सुनागर, नटवर-शेखर,
काँहा सखि करलो पयान।।
तप-बरत कतो, करि दिन-यामिनी,
जो कानु को नाहि पाय।
हेनो अमूल्य धन, मझु पदे गड़ायल,
कोपे मुँइ ठेलिनु पाय।।
आरे सइ, कि हबे उपाय।
कहिते विदरे हिया, छाड़िनु से हेनो पिया,
अति छार मानेरइ दाय।।
जन्म अवधि मोर, ए शेल रहिबे बुके,
ए पराण कि काज राखिया।
कहे दीन चण्डीदास, कि फल हइबे बोलो,
गोड़ा केटे आगे जल दिया।।''

राधारानी बोलीं - हाय, हाय, मैंने बड़ा कठोर कार्य किया। मेरे ही सन्तोष के लिये मेरे प्राणवल्लभ ने मेरे मानप्रसादन हेतु दूत भेजा था, पर मैंने तो उसका कोई आदर न किया, उसकी एक बात न सुनी। दोष बताबताकर ऐसे कर्कश वाक्यों का प्रयोग किया कि वह मेरी वक्रोक्ति न समझ पाया, अपमान समझकर यहाँ से चला गया। जिसे अभिमान के कारण विदा कर दिया, उसी को एक मुहूर्त देखे बिना अब हृदय अधीर हो रहा है। श्रीकृष्ण के दोष देखकर भी रोष करने का उपाय नहीं, उल्टा रोष करना ही दोष है। अब इसके लिये स्वयं ही पछताना पड़ रहा है। श्री कृष्णप्रेम की यही एक चिरप्रसिद्ध ज्वाला है।

कलहान्तरिता श्रीमती सखी से कहती हैं -

''आन्धल प्रेम, पहिले नाहि हेरिलुँ,
सो बहु वल्लभ कान।
आदर साधे, बाद करि ता सएँ,
अहर्निश ज्वलत पराण।।
सजनि तोहे कहि मरमक दाह।

कानुक दोखे, जो धनि रोखइ,
सोइ तापिनि जग माह।।
जो हाम मान, बहुत करि मानलुँ,
कानुक मिनति उपेखि।
सो अब मनसिज, शरे भेलो जरजर,
ताकर दरश ना देखि।।
धैरज-लाज, मान सऐं भागल,
जीवन रहत सन्देह।
गोविन्द दास, कहइ सति भामिनि,
ओइछन कानुक लेह।।''

सखियों ! अन्यान्य रमणियों को न पाकर श्रीकृष्ण ने हम लोगों की रक्षा करने की इच्छा से - इस दुरन्त विरहानल में हम लोग प्राणत्याग न कर दें, इसलिये भ्रमर को भेजा था। किन्तु मैंने उसकी और श्रीकृष्ण की निन्दा कर उसे भगा दिया। सखि ! मैंने अपने हृदयकमल पर स्वयं ही अग्नि निक्षेप कर दिया; उस अनल में स्वयं ही जल मरी। यह कहकर वे उच्चस्वर से रोने लगीं। उनकी रोदनध्वनि सुनकर धैर्य धारण करने में असमर्थ होकर सखियाँ भी रोने लगीं। किन्तु राधारानी रोते-रोते उस भ्रमर के पथ पर आँखें लगाये उसके आने की अपेक्षा करने लगीं। तभी वही भ्रमर हो अथवा कोई अन्य, एक भ्रमर को आते देखकर श्रीमती सम्भ्रम (हड़बड़ी) और प्रचुर कम्पन के साथ ह्रास एवं वृद्धि युक्त विकृत वर्णों में 'प्रियसख पुनरागाः को इस प्रकार उच्चारण करने लगीं - पि, पि, प्रिय, सख, पु, पु, पु, पु, पुनरागाः - तुम पुनः आये हो ? तुम यहाँ से चले गये थे, पुनः आये हो, इसलिये तुम हम लोगों के प्रिय सुहृद् हो। इसका अभिप्राय ऐसा है -

''यः सह खेलति स सखा, यः समदुःखः प्रियः स पुनः ।
अपि दुःखे सहवासी यः प्रियसखतां स तु व्रजति ।।''
(गो. च. उ. - 11/43)

जो साथ खेलता है वह सखा है, जो दुःख में समान दुःखी है वह प्रिय। जो दुःख में सहवासी बनता है, वह प्रियसखता युक्त होता है।

उस समय श्रीराधिका का चित्त अनुरागयुक्त हो गया, इसलिये अपना भाग्यविशेष मानकर कहने लगीं - तुम मेरे पास से मेरे प्रियतम के निकट गये थे, उसने मेरी दुरवस्था की बात सुन कर मुझे

सान्त्वना देने के लिये तुम्हें पुनः भेजा है ? यह बात कहते ही पुनः प्रेमकम्पित कण्ठ से प्रे, प्रे, प्रे, प्रे-य-सा प्रे, प्रे, प्रे, प्रे-षि-त किम् ? बस, कहते-कहते मूर्छित हो गईं। इस प्रकार श्रीराधा की मूर्छा देखकर उद्धव का धैर्य विलुप्त हो गया; सखियों की भी बुद्धिवृत्ति विलुप्त हो गई। तब श्रीमती ने प्रवृद्ध मोहसम्वलित मूर्छादशा में स्वप्न की तरह कुछ प्रलाप किया। 'हाय, हाय, मैं इस भ्रमर के प्रियताभरे व्यवहार का ऋण कैसे चुकाऊँगी' - ऐसा सोचकर वह प्रलाप किया था। वही प्रलाप - 'वरय किमनुरुन्धे !' इसके लिये युष्मत् (मध्यम) पुरुष की क्रिया 'अवरुणत्से' का प्रयोग उचित था, किन्तु उहोंने बुद्धिविपर्ययवश अस्मत् (उत्तम) पुरुष की क्रिया 'अवरुन्धे' का प्रयोग किया है। अर्थात् 'तुम मुझ से किस बात के लिये अनुरोध कर रहे हो' के स्थान पर 'तुम मुझसे किस बात के लिये अनुरोध कर रही हूँ, कह गईं। इससे अच्छी तरह समझ में आता है कि श्रीराधामोहदशा में थीं। यहाँ अभिप्राय यह है -

**''यत् प्रियसखताभाग्यस्तस्य धनं तस्य नान्यस्य ।**
**प्रियतमदूताय तु तन्नालं किन्त्वस्य वाञ्छितं पृच्छ्यम् ।।''**

(गो. च. उ. - 11/44)

अर्थात् 'जो व्यक्ति प्रियसखता का भाग्य प्राप्त करता है, उसका धन उसी का है, अन्य किसी का नहीं। प्रियतम के दूत को वह प्रदान करना समुचित नहीं। किन्तु वह क्या चाहता है, यह उसी से पूछना चाहिये।'

श्रीराधिका ने दृढ़ आवेश के कारण ऐसी आशंका की - सम्भव है भ्रमर यह सोचे कि ये (श्रीराधा) मुग्धा हैं। सुचतुरा या रसिका नहीं हैं, क्योंकि मेरे निरुपाधि सुहृद् होने पर भी ये मुझे उपाधि युक्त या सकाम समझ रही हैं। तभी उन्होंने कहा - 'माननीयोऽसि मेहङ्ग' हे अङ्ग (प्रिय) तुम मेरे माननीय हो, अर्थात् प्रिय और माननीय जन को प्रसन्न करना कर्तव्य है। भ्रमर श्रीमती की यह बात सुनकर गुञ्जन करते-करते मानो यह कह रहा है - हे ईश्वरि ! यदि मुझे कुछ दान करना चाहती हैं, तो कोई शोक न कर रथ में बैठिये, मथुरा मेरे बन्धु के निकट चलिये। आपके मथुरा चलने के लिये ही मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। भ्रमर की ऐसी उक्ति की कल्पना कर काकुतिमिश्रित व्याकुलता के साथ उन्होंने प्रलाप किया - ''नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वम्'' जो मधुवधुओं का मिथुन भाव परित्याग करने में असमर्थ हैं, तुम हम लोगों को उनके पास ले जाने का आग्रह क्यों कर रहे हो ?

**''मधुकर स भवान् जात्या सर्वेषां च प्रमोदमाहर्ता**
**मत्प्रियसखतामञ्चन्नयसि कथं मां सपत्नीषु ?**
**त्वं हि यन्मम दुःखं कृष्णश्चावैत्ततः सपत्नीषु**
**अविभर्मामपि विरहव्याधिं नेतुं सयत्नतामभितः ।।''**

(गो. च. उ. - 46-47)

इसका अभिप्राय यही है कि राधारानी बोलीं - रे मधुकर ! तुम स्वभाव से ही सबको आनन्द दान किया करते हो। फिर मेरा प्रियबन्धुत्व प्राप्त कर मुझे मेरी सपत्नियों के पास क्यों ले जाना चाहते हो ? वहाँ हम लोगों की विजातीय मधुवधुएं उसे घेरे हुए हैं। एक तो विरह-व्यथा से मेरा मर्मस्थान विदीर्ण हो रहा है, ऊपर से सपत्नियों की वेदना भोग कराओगे, क्यों ? मानो भ्रमर कह रहा है - स्वामिनि ! उन्होंने अभी-अभी तो गायत्री व्रत (ब्रह्मचर्य व्रत) उत्तीर्ण किया है, आप मिथुन भाव की अलीक कल्पना क्यों कर रही हैं ? (गो. च.) तोषणीटीका में लिखा है - भ्रमर मानो कह रहा है, हे देवि ! आप वहाँ पहुँचेंगी, तो मथुरापुर की नागरियाँ सद्य ही धिकृत हो जायेंगी। इसके उत्तर में बोलीं - हे मधुप ! यह तो सच है, किन्तु "सततमुरसि सौम्य ! श्रीर्वधुः साकमास्ते" - लक्ष्मी तो हमारे इस व्रज से ही उसके साथ गई है। वह जितने दिन व्रज में था प्रेम का आदर करता, इसलिये स्वभावतः ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी अनादृत होकर हम लोगों के भय से स्वर्णरेखा के रूप में उसके वक्ष पर रहती। अब उसने ऐश्वर्य का आदर किया है और गोपियाँ उसके निकट नहीं हैं, तो अब वह वधुरूप में ही उसके वक्ष पर विलास कर रही है। श्रीकृष्ण का अधरामृतपान करता है, इस बात को लेकर जिनके मन में अचेतन वंशखण्ड (बाँस के टुकड़े) वेणु के प्रति ईर्ष्या जगती हे, उनके मन में श्रीकृष्ण वक्षस्थित स्वर्णरेखारूपिणी लक्ष्मी के प्रति ऐसी ईर्ष्या का उद्‌गम कोई विचित्र बात नहीं। श्रीकृष्ण-वक्ष के वाम भाग में जो स्वर्णरेखा विद्यमान है, श्रीमती ने उसी को मूर्तिमती लक्ष्मी के रूप में उत्प्रेक्ष्या कर ऐसा कहा है। यहाँ श्लेषार्थ में यह बात भी कह दी कि इस समय लक्ष्मी विपरीत भाव से उसके वक्ष पर विलास कर रही है। इससे लक्ष्मी की धृष्टता दिखाई है और उसके प्रति मात्सर्य एवं असूया स्पष्टरूप से प्रकट हुए है। अरे मधुप ! अब तुम्हीं बताओ, ऐसी स्थिति में हम लोग उसके पास कैसे जा सकती हैं ? अतएव तुम उसी को यहाँ ले आओ, यही गूढ़ अभिप्राय है।

इस श्लोक में दशविध चित्रजल्प के अन्तर्गत प्रतिजल्प के लक्षण प्रकट हुए हैं -

**"दुस्त्यजद्वन्द्वभावेऽस्मिन् प्राप्तिर्नार्हेत्यनुद्धतम् ।**
**दूतसम्माननेनोक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः ।।"**

अनुद्धत (गर्व-अहंकारविहीन) भाव से स्तुति और युक्ति के साथ दूत का सम्मान करते हुए भी जब यह बात कही जाय कि स्त्रियों से घिरे श्रीकृष्ण के निकट जाना उचित नहीं, तो उसे प्रतिजल्प कहते हैं ।। 20 ।।

**अपि वत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते**
**स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धुंश्च गोपान्।**
**क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते**
**भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु।। 21।।**

**अन्वयः** - सौम्य (हे मधुकर !) वत (खेदे) आर्यपुत्र (आर्यस्य श्रीगोपेन्द्रस्य पुत्र) अधुना मधुयुर्याम् आस्ते (वर्तते किम् ?) सः पितृगेहान् बन्धून, गोपान् च (क्वचित्) स्मरति ? क्वचिदपि (कास्मिंश्चित् स्थानेऽवसरे वा) किंकरीणां नः कथाः गृणीते ? नु कदा अगुरुसुगन्धं (अगुरुवत् सुगन्धं) भुजं मूर्ध्नि अधास्यत् ? ।। 21।।

**अनुवाद**- हे सौम्य ! आर्यपुत्र क्या इस समय मथुरा हैं ? वे क्या अपने पितृगृहों, बन्धुओं या सम्बन्धियों और गोपों अर्थात् श्रीदामादि सखाओं को स्मरण करते हैं ? क्या कभी किसी प्रसङ्ग में अपनी किंकरी हम लोगों की चर्चा करते हैं ? वे अपनी अगुरु-सुगन्धित बाहु हमारे मस्तक पर कब रखेंगे ? ।। 21 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

अरे, मैंने क्या प्रलाप किया, मैं क्या उन्मादिनी हूँ, ऐसा न होता तो ..... मेरे प्राणकोटि प्रियतम ने मेरी ही सान्त्वना के लिये मधुकर को दूत बनाकर मेरे पास भेजा, और मैं हूँ कि जो बात पूछनी आवश्यक थी वह न पूछकर पगली की तरह मैंने मुंह पर जो आया भ्रमर को और उस (श्रीकृष्ण) को कह दिया। यह कहकर श्रीराधा सरलता, गम्भीरता, दीनता, चपलता और उत्कण्ठा के साथ गद्गद् अक्षरों में आँसुओं से भरकर मधुकर से पूछने लगीं - आर्यपुत्र इस समय क्या मथुरा में ही हैं ? हे मधुप ! जिस रहस्य-वृत्तान्त को अन्य कोई नहीं जानता, मैं वही सुगोप्य तत्व तुम्हें बताती हूँ, क्योंकि तुम मेरे हितकारी और बन्धु हो, श्रीकृष्ण के भी बन्धु हो। तुम्हारे आगे गोपनीय कुछ भी नहीं । हे भृङ्गराज ! यदि धर्मविचार किया जाय, तो वही हम लोगों का वास्तविक पति है; गोपियों के जिन अन्य पतियों की बात सुनी जाती है वह लोक-प्रतीति मात्र है। उसके जन्म से ही हम लोगों की स्वाभाविक प्रीति ही इस विषय में मूल प्रमाण है।

यहाँ प्रणिधानयोग्य विषय यह है कि राधारानी ने श्रीकृष्ण को आर्यपुत्र (आर्यपुत्र शब्द अपने पति के लिये ही रूढ़ि है) अर्थात् 'वे ही हमारे वास्तविक पति हैं' कहा ! इससे यह समझना होगा कि यहाँ परकीय भाव से ही अनुराग के प्रगाढ़ आवेश में पति कहा है, कारण - जिस समय आर्यपुत्र कहा

है, उस समय भी वे परकीया कान्ता ही हैं, श्रीकृष्ण के साथ उनका विवाह नहीं हुआ। श्रीजीवगोस्वामिपाद ने उज्ज्वल की लोचनरोचनी टीका में प्रतिपादित किया है कि अनुराग परकीयभाव के बिना कभी भी महाभावदशा को प्राप्त नहीं होता। (स्थायी. श्लोक 109 की लोचनरोचनी टीका, बहरमपुर संस्करण) भ्रमरगीता की प्रवृत्ति परकीयभाव में ही है, क्योंकि मोहनाख्य महाभाव की पराकाष्ठा दशा में ही दिव्योन्माद होता है। अतएव श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने जहाँ-जहाँ व्रजबालाओं के साथ श्रीकृष्ण का नित्यदाम्पत्य वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ पाणिग्रहणविधि के बिना भी प्रगाढ़ आवेश में परकीयदशा में ही नित्यदाम्पत्य जानना होगा। तभी सभी मतों के सामञ्जस्य की रक्षा होती है। यदि कोई परकीयभाव का अनित्यत्व प्रतिपादित करने के लिये (अर्थात् यह प्रकटकाल मात्र में ही स्थायी है; अप्रकट लीला में स्वकीया ही है) ऐसा सिद्धान्त रखते हैं, तो उपासना और उपास्य या साधन और साध्यगत पार्थक्य घटित होने से वह वैष्णवशास्त्र के विरुद्ध हो जाता है। साधन की वस्तु ही परिपक्वदशा में साध्य होती है, यही वैष्णवशास्त्र का सुनिर्णय है। ''साधने भाविबो जाहा, सिद्धदेहे पाबो ताहा, पक्वापक्व मात्र से विचार।।'' (श्रील ठाकुर महाशय) इसमें किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होता। ''परकीयाभावे अति रसेर उल्लास''। अति रसोल्लास की साधना, सिद्धि में कभी भी रसोत्कर्षशून्य नहीं हो सकती।

जो भी हो, राधारानी ने भ्रमर से पूछा - रे मधुप ! आर्यपुत्र क्या इस समय मथुरा में हैं ? हाय ! हाय ! प्रियतम के मधुपुरी चले जाने के बाद लम्बे समय तक उनका कोई संवाद ही नहीं मिला। अब लगता है वे मथुरा नहीं हैं यह सोचकर चित्त गुरुतर ज्वाला में दग्ध हो रहा है। इस प्रसङ्ग में श्रीलगोस्वामिपाद ने लिखा है - ''तत्र मधु पुर्यामास्त इति प्रागयं प्रश्नश्चिरात् संदेशस्याप्यनागमनात् न तु केवलतयातिदूरगुरुकुल-गमनश्रवणात्। तच्छ्रवणे सति व्यग्रतया प्रथमं तदेव पृच्छ्येत न तु मानभङ्गी प्रसङ्ग लभेत।'' (वैष्णतोषणी टीका) अर्थात् राधारानी के आर्यपुत्र इस समय क्या मथुरा में हैं - इस प्रश्न से मन में यह बात आ सकती है कि राधारानी को यह पता था कि श्रीकृष्ण उपनयन के पश्चात् गायत्री-पुरश्चरण और विद्याशिक्षा के लिये सुदूर अवन्तिपुर गये थे। यदि ऐसा होता तो वे पहले ही भ्रमर से यह प्रश्न पूछतीं इतने विलम्ब से यह न पूछतीं और उनकी यह मानभङ्गिमा भी सम्भव न थी। वह तो मथुरा में ही है मथुरा से वृन्दावन अधिक दूर नहीं; इच्छा करते ही वह यहाँ आकर हम विरहतापितों को दर्शन देकर जा सकता है - इसी आशय से श्रीमती ने यह प्रश्न किया है।

मधुकर कह रहा है - वे मधुपुरी में ही हैं और सुख से हैं। मधुकर के गुञ्जन से ऐसी कल्पना कर उन्होंने पुनः विशेष प्रश्न किया - 'स्मरति स पितृगेहान् सौम्य ! बन्धूंश्च गोपान्' - वे क्या अपने पितृगृहों, बन्धुओं ओर गोपों की बातों का स्मरण करते हैं ? यहाँ अभिप्राय यह है -

''चित्ते चेद् व्रजभाव्रजत्यनुदिनं सोऽपि स्मरत्यम्बहम्
तं तातं जननीञ्च तामहह तान्यात्मीयवृन्दान्यपि ।
तर्हि स्यादुभयत्र सन्ततमिथः स्फूर्तिः समक्षप्रभा
येन स्याम वयञ्च हन्त मृतकाः शुद्धामृतेनोक्षिताः ।।''
(गो. च. उ. 11/52)

हे मधुप ! हम लोग अपने चित्तों को अन्य सभी विषयों से हटाकर निरन्तर एकमात्र उसी के विषय में सोचती हैं और हृदय में उसकी स्फूर्ति प्राप्त करती हैं। वह यदि इसी तरह प्रतिदिन बाबा नन्दमहाराज को, व्रजेश्वरी माता को अपने आत्मीयों सुबल आदि सखाओं को एवं हम लोगों को स्मरण करता और व्रज में आता, तो एक-दूसरे की सतत स्फूर्ति चाक्षुष साक्षात्कार की तरह प्रकट होती और मृतप्राय हम लोग भी उस साक्षात्कारसुधा से सिञ्चित होतीं।

क्या उस मधुपुरनिवासी को अपने अतिशय प्रिय घरों की बात याद आती है ? यद्यपि वह आज मधुपुरी का राजा हो गया है, तथापि जन्मभूमि की बात अवश्य स्मरण करना कर्तव्य है। आहा ! व्रजराज ने पुत्रस्नेह में विभोर होकर उसके सुख के लिये वृन्दावन इत्यादि स्थानों में जब जहाँ वास किया, वहीं कितने सुन्दर-सुन्दर गृहों का निर्माण किया। अब नन्दीश्वर गिरि पर उसी के सुख के अनुकूल कितने प्रकार के गृह निर्माण किये हैं। वह जब यहाँ रहता था, तो वे सब गृह कितनी परिपाटी से सुसंस्कृत रहते थे। अब वह यहाँ नहीं है - वे सब गृह भी तृण-धूलि मकड़ी के जालों से भर गये हैं। वह ये सब बातें दिनान्त में एक बार भी याद करता है ? वह क्या अपने बान्धवों अर्थात् सम्बन्धियों श्रीउपनन्द आदि, श्रीदामा आदि गोपों या अपने सखाओं की बात कभी किसी प्रसङ्ग में किसी अवसर पर अपने मुंह से उच्चारण करता है ? श्रीमती ने मधुकर के साथ इस प्रकार आलाप कर पुनः प्रश्न किया - 'क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते' क्या कभी किसी प्रसङ्ग में इन किंकरियों की बात करता है ? इसका भी ऐसा अभिप्राय है -

''क्वचिदपि रहसि स्वां मूर्तिमस्मिन्निषे-
वाविरचितचरवेषां वक्ष्य चैतद्व्रवीति ।
अपि वत परिचर्याकारिका हन्त नामः
स्मरसि यदसि दूरे नात्मना सार्द्धमेषि ।।''

हे मधुकर ! हम लोग अनुराग के साथ जिस मूर्ति की विविध वेशरचना करती थीं, क्या वह कभी निर्जन में दर्पण आदि में उस मूर्ति को देखकर अपने मुंह से कहता है - 'आहा ! मेरी यह मूर्ति तो है, किन्तु व्रज छोड़कर बहुत दूर मधुपुरी आ गया, अब व्रजबालाओं की तरह उस तरह अनुराग-परिपाटी

से और कौन वेशरचना करेगा ? इस प्रकार अपनी मूर्ति के साथ हम लोगों की बात करता है ? हे मधुप ! हम लोग उसकी किंकरियाँ हैं, उसकी बहुत प्रकार से बहुत सेवा की है, वह क्या कभी अपने मुंह से हूबहू चित्रण करता उन सब बातों का वर्णन करता है ? श्रीमती राधारानी ने स्वयं कृष्णप्रिया शिरोमणि होते हुए भी अपने श्रीमुख से अपने को श्रीकृष्ण की किंकरी कहा है – यह श्रीकृष्णप्रेम का ही स्वत: सिद्ध स्वभाव है। श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि0 – 6) में वर्णित है –

"कृष्णप्रेमेर एइ एक अपूर्व प्रभाव ।
गुरु सम लघुके कराय दास्यभाव ।।
इहार प्रमाण शुनो शास्त्रेर व्याख्यान ।
महदनुभव जाते सुदृढ़ प्रमाण ।।
अन्येर का कथा व्रजे नन्द महाशय ।
ताँर सम गुरु कृष्णेर आर केहो नय ।।
शुद्ध वात्सल्य ईश्वर ज्ञान नाहि जार ।
ताँहाकेइ प्रेमे कराय दास्य अनुकार ।।
तिंहो रति-मति मागे कृष्णेर चरणे ।
ताँहार श्रीमुखवाणी ताहाते प्रमाणे ।।
शुनो उद्धव ! सत्य कृष्ण आमार तनय ।
तिंहो ईश्वर हेनो जदि तोमार मने लय ।।
तथापि ताँहाते मोर रहु मनोवृत्ति ।
तोमार ईश्वर कृष्णे हउक मोर मति ।।
श्रीदाममादि व्रजे जतो सखार निचय ।
ऐश्वर्यज्ञानहीन केवल सख्यमय ।।
कृष्णसङ्गे जुद्ध करे स्कन्धे आरोहण ।
तारा दास्यभावे करे चरण सेवन ।।
कृष्णेर प्रेयसी व्रजे जतो गोपीगण ।
जाँर पदधूली करे उद्धव प्रार्थन ।।
जाँ सभा उपरे कृष्णेर प्रिय नाहि आन ।
ताँरा आपनाके करे दासी-अभिमान ।।
ताँ सबार कथा रहु श्रीमती राधिका ।

सबा हैते सकलांशे परम अधिका ।।
तेंहो जाँर दासी हैआँ करेन सेवन ।
जाँर प्रेमगुणे कृष्ण बद्ध अनुक्षण ।।''

जो भी हो, राधारानी पुनः विलाप करते हुए बोलीं - ''भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु'' - वह अगुरु से भी अधिक सुगन्धी अपनी अति मनोहर भुजा हम लोगों के मस्तक पर कब रखेगा ? यह कहते-कहते श्री कृष्ण की बाहु का माधुर्य उनके स्मृति-पथ पर उदित हुआ, विरहव्यथा इतनी बढ़ गई कि वे 'कदा धास्यति' के स्थान पर 'कदा अधास्यत्' कह बैठीं। अर्थात् 'अपनी अगुरुसुगन्धित बाहु हमारे मस्तक पर कब धारण करेगा' के स्थान पर 'भुजा कब धारण की थी' कह दिया। इस उक्ति से श्रीराधा का भ्रमविकार प्रकट हुआ है। मस्तक पर श्रीकृष्ण के हस्त रखने की प्रार्थना का तात्पर्य यही है कि वह श्रीकृष्णप्राप्ति में आने वाली सभी प्रकार की बाधा-विपत्ति का विनाश कर हम लोगों को अभय प्रदान करेगा ? हमें उसके विरहानल में जलभुन कर इस प्रकार पुनः न मरना पड़े।

इस श्लोक में दशविध चित्रजल्प के अन्तर्गत सुजल्प के लक्षण प्रकट हुए हैं।

''यत्रार्जवात् स गाम्भीर्यं सदैन्यं सहचापलम् ।
सोत्कण्ठ्यं च हरिः पृष्टः स सुजल्पो निगद्यते ।।''

'दिव्योन्माद की जिस अवस्था में शावल्यवश गाम्भीर्य, दैन्य, चापल्य और उत्कण्ठा के साथ दूत से श्रीहरि का कुशल-प्रश्न किया जाता है, विज्ञजन उसी को 'सुजल्प' कहते हैं।

इस श्लोक में प्रथम चरण में सरलता, द्वितीय चरण में गम्भीर्य (केवल व्रजराज, बन्धुवर्ग और गोपों की बात कही, अपने विषय में नहीं कहा ?) तृतीय और चतुर्थ चरणों में दैन्य, चापल्य, उत्कण्ठा सञ्चारी भाव प्रकट हुए हैं।

राधारानी ने श्रीकृष्ण को अगुरुसुगन्धी बाहु के सन्दर्भ में भ्रमर से प्रश्न किया, तो उस बाहु की स्मृति उनके चित्त में समुदित हुई और उन्हें मूर्छा आ गई। उस मूर्छाकाल में उनकी देह की जो अवस्था हुई, उसका वर्णन श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने श्रीगोपाल चम्पू ग्रन्थ में किया है -

''वैस्वर्यात् कृशिमान्वयादवयवस्थित्यन्यभावाश्रया-
द्वैवर्ण्यादपि या न सेति मुहरप्यूहांवभूवे यदा ।
तर्ह्योषा वत लालयावृतिवशाच्चेष्टाविघट्टादुत
श्वासाद्यानुपलम्भनान्निजतनावस्तीति नातर्कि च ।।''

(उ.च. 11/58)

अर्थात् स्वर का वैपरीत्य (विपरीत, उल्टा, अस्वाभाविक होना), देह की अत्यन्त कृशता, हाथ-पैर आदि अवयवों के सन्निवेश की अन्यथा स्थिति (अर्थात् जिस अङ्ग की जो दीर्घता, सरलता आदि होनी चाहिये उसकी विपरीत अवस्था), वैवर्ण, श्रीमुख से लालास्राव (लार बहना) श्वासरोध इत्यादि जो बातें राधारानी में दिखाई दीं, उनके कारण सखियाँ भी उन्हें नहीं पहचान सकीं। इन भावों का द्वैत नहीं, यह राधारानी की निजी भाव-सम्पदा है। श्रीकृष्ण राधारानी की भाव-कान्ति अङ्गीकार कर श्रीमन्महाप्रभु के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। उन्होंने गम्भीरालीला में जब राधारानी के इस दिव्योन्माद का आस्वादन किया, तो उन्हीं के भीतर कूर्म-आकृति दीर्घाकृति आदि इन सब भावों की अभिव्यक्ति दृष्ट हुई।

भ्रमर चला गया। झंकार थम गई। राधारानी नीरव हो गईं। अतिशय विस्मित चमत्कृत उद्धव हतवाक् और स्तब्धप्राय हुए रहे। संवित् की मूर्ति उद्धवजी की ज्ञानशक्ति, भाव, भाषा सब महाभावमयी के भाव के प्रवाह में जानें कहाँ खो गये। वे स्वयं को अत्यन्त धन्य और कृतकृतार्थ समझने लगे। मन ही मन श्रीकृष्ण चरणों का स्मरण कर बोले - प्रभु ! तुमने मुझे इन लोगों की सान्त्वना के बहाने व्रज में भेजकर इन उत्ताल तरङ्गमालाओं से भरे प्रेमसिन्धु के दर्शन करा मेरा जीवन धन्य कर दिया। अहो ! तुम्हारे इस कृपाऋण के आगे यह दीन जन सदा-सदा को बिक गया। वे राधारानी के प्रति परम सम्भ्रम और भक्ति से भरकर दूर उनके श्रीचरणों को लक्ष्य कर बहुत देर तक प्रणत हुए रहे। ।। 21 ।।

श्री श्री भ्रमरगीत समाप्त।

।। जय श्रीराधे।।

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दौ जयतः।
श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

# श्रीश्रीगीतपञ्चक

# श्रीश्रीउद्धवगीत

श्रीमान् उद्धव महाशय राधारानी की भावशान्ति के पश्चात् धीरे-धीरे अपनी देह नौका को लेकर राधारानी के श्रीचरणसरोजों के समीप पहुँचे। गङ्गासागरसङ्गम पर उत्ताल तरङ्गों को देखकर नाविक इस डर से कि उसकी नाव का बाँध टूट जायेगा उसे किनारे पर एक ओर लगाये रखता है। उसी प्रकार उद्धवजी इस भय से कि राधारानी के भ्रमरगीत में महाभावसिन्धु की उत्ताल सञ्चारी भावतरङ्गों के आघात से उनके चित्त की नौका का बाँध कहीं टूट न जाय एक ओर रुके रहे। इससे पहले वे कल्पना भी न कर पाये थे कि ऐसी प्रीतिरस-मिश्रित बातें कहीं भी सम्भव हैं। उन्हीं बातों को साक्षात् सुनकर उन्होंने स्वयं को अतिशय धन्य माना। वे सोचने लगे, मेरे प्रभु ने इन लोगों को सान्त्वना देने का भार मुझे सौंपा है, किन्तु इन्हें सान्त्वना देना कैसे सम्भव है ? साधारण व्यक्ति अपने प्रियजन के अभाव में कातर प्राणों से रोदन करे, तो व्यवहारिक जगत् की अनित्यता और श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध की नित्यता का उपदेश देकर उसे सान्त्वना दी जा सकती है। इधर ये तो उन्हीं श्रीकृष्ण के लिये व्याकुल प्राणों से रो रही हैं। इस तरह 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण' कहकर रोना ही तो परम पुरुषार्थ है । अतएव मैं किस तरह कहूँगा कि आप लोग श्रीकृष्ण के लिये इस प्रकार व्याकुल होकर न रोयें ? संवित् की मूर्ति श्रीउद्धव श्रीकृष्णपादपद्मों का ध्यान करने लगे। श्रीकृष्ण की कृपाप्रेरणा से उन्हें अनुभव हुआ कि उन सबकी ऐसी व्याकुलता के दो कारण है श्रीकृष्ण के प्रति विशुद्ध माधुर्यमय प्रेम। 'श्रीनन्दनन्दन हमारे प्राणनाथ हैं' इस विशुद्ध सम्बन्ध-ज्ञान से जो मदीयता अभिमान आया है, उसी से यह आकुलता हुई है। दूसरा, श्रीकृष्णविरह में इनमें असाधारण दैन्य जगा है। यदि श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यज्ञान की बात कहकर श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध-ज्ञान में किञ्चित् शिथिलता लाई जा सके, साथ ही इन लोगों के अतुलनीय प्रेम की महिमा का कीर्तन कर इनके दीनभाव को किञ्चित् शान्त किया जा सके, तो सम्भव है ये इस महाशोक के समय थोड़ी सान्त्वना पा ले।

उद्धवजी जब मथुरा से व्रज के लिये चले, तो श्रीकृष्ण ने कहा था- ''गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय'' - गोपियों की मेरी विरहजनित पीड़ा का विमोचन मेरे सन्देश द्वारा करना। उद्धव ! तुम अपने पाण्डित्यपूर्ण उपदेशों से उनका कुछ (भला) नहीं कर पाओगे, तुम्हारी उन बातों को वे नहीं सुनेंगी, कारण- उनके देह-मन-प्राण सब मुझे समर्पित हैं इसलिये तुम उनसे जो कुछ कहो, इस भाव से

कहना कि 'तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने यह बात कही है', 'यह श्रीकृष्ण का आदेश है'। उद्धवजी सोचने लगे- पहले इन लोगों के अतुलनीय प्रेम की महिमा का वर्णन कर इनका दीनभाव थोड़ा उपशम करना होगा, कारण - अपने प्रेमविकार इस दैन्य के रहते सम्भवतः ये वह नहीं सुन सकेंगी जो मैं कहूँगा। उद्धवजी श्रीराधिका का भ्रमरगीत सुनकर उनकी प्रेममहिमा देखकर ऐसे सम्भ्रान्त हो उठे हैं कि उन्हें सीधे सम्बोधित कर कुछ कहने का साहस नहीं कर पा रहें। गोपियों को सम्बोधित कर राधारानी को सुना-सुना कर और 'आप लोगों के प्रियतम ने ऐसा कहा है' कहते हुए उन्होंने बात आरम्भ की -

"अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः।।
दानव्रततपोहोम जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्ति हिं साध्यते ।।
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ।।
दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च ।
हित्वावृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ।।
सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ।।"

(भा. 10/47/23-27)

उद्धवजी व्रजाङ्गनाओं को सम्बोधित कर कहने लगे - अहो ! (अति आश्चर्य से) मैंने जो अपनी आँखों से देखीं और अपने कानों से सुनीं, वैसी भावप्रवणतामयी चेष्टायें और बातें न कहीं देखीं, न सुनीं। राधारानी के यूथ को लक्ष्य कर बोले - आप लोग अपनी ही तरह की हैं। आप सब निरुपमा हैं। आप लोगों के भाव की तुलना नहीं है, कारण - अधिरूढ़ महाभाव आप सबकी निजी सम्पत्ति है। आप कृतकृत्य हैं। समस्त पुरुषार्थों की मुकुटमणि है श्रीकृष्णप्रेम। यही कृष्णप्रेम परमपूर्णता या पराकाष्ठा प्राप्त कर महाभाव दशा में उन्नीत होता है। वही महाभाव आप लोगों की निजी सम्पदा है। अन्य गोपिकाओं को सम्बोधित कर बोले - 'भवत्यो लोकपूजिता' लोग आपके इस प्रेम की पूजा ही करते हैं, किन्तु कोई इसे प्राप्त नहीं कर सकता। जिस कृष्ण के प्रति आपका यह प्रेम है, वही श्रीकृष्ण वासुदेव अर्थात् समस्त भगवत् स्वरूपों के अंशी या स्वयं भगवान् हैं, जिनकी अन्यनिरपेक्ष स्वयं सिद्ध भगवत्ता है। उन्हीं वासुदेव को आप लोगों का मन महाप्रेम-रूप में स्वयं समर्पित है। मन के ऊपर आप लोगों का किसी प्रकार का कर्तृत्व (कर्तापन, अधिकार) नहीं है, मन स्वयं ही श्रीकृष्ण को अर्पित है।

शास्त्रों में जिन साधनों की बात कही गई है, उन सभी का एकमात्र साध्य है श्रीकृष्ण में रुचिलक्षणा भक्ति। विष्णु-वैष्णव को सम्प्रदानरूपी दान, एकादशी आदि का व्रत, कृष्ण के लिये भोग-त्यागरूपी तपस्या, वैष्णव होम, कृष्णमंत्र-जप और गोपालतापनी आदि भक्तिशास्त्रों का पाठरूपी स्वाध्याय इन्द्रियसंयम - इन सभी साधनों का लक्ष्य है श्रीकृष्ण में रुचिलक्षणा भक्ति। समस्त साधनाओ का मुख्य साध्य। फिर आप लोगों की महाभावलक्षणा भक्ति तो नित्यसिद्धा है, जिसे आप लोगों ने किसी साधना द्वारा प्राप्त नहीं किया। यह महाभावलक्षणा भक्ति अग्नि की दाहिका की तरह आप लोगों के भीतर नित्यसिद्ध है। निखिल ऐश्वर्य-माधुर्यमय परम पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में इस महा प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार आप लोगों ने ही किया है। जो लोग आपकी इस अनुरागमयी भक्ति की बात का श्रवणकीर्तन, स्मरण आदि करेंगे, वे भी आपकी तरह श्रीकृष्ण में गाढ़ आवेशमयी भक्ति पाकर धन्य होंगे। आप लोगों की यह भक्ति मुनियों को भी दुर्लभ है। जैसे कौस्तुभमणि को धारण करने की क्षमता श्रीकृष्ण को छोड़ और किसी में नहीं, वैसे ही इस महाभावात्मिका भक्ति को धारण करने की क्षमता आप लोगों को छोड़ अन्य किसी में नहीं। इस जगत् को धन्यवाद है कि आप लोग इस मर्त्यलोक में अवतीर्ण होकर सिखा रही हैं कि श्रीकृष्ण को प्रेम कैसे किया जाता है।

उद्धवजी व्रजबालाओं द्वारा भक्तिप्रवर्तन की रीति का स्पष्ट रूप से प्रचार कर रहे हैं - आप लोगों ने भतीजे, देवरानि, जिठानी के पुत्र, पति माने गये गोप स्वजन बन्धु बान्धव, देह-गेह आदि सबका परित्याग कर श्रीकृष्ण नाम के नराकृति परब्रह्म को कान्तरूप में वरण किया है। यद्यपि "बिना सर्वस्वत्यागं न भवति भजनं ह्यसुपते:" यह बात सभी के लिये है कि सर्वस्व त्याग किये बिना प्राणपति श्रीकृष्ण का भजन नहीं होता, तथापि आप लोगों के त्याग की महान विशिष्टता यह है कि आपने कृष्ण में गाढ़ आवेश के कारण सब कुछ त्यागा है जबकि अन्य लोग सोच विचार कर त्याग करते हैं। जैसे गाढ़ पिपासा से आर्त व्यक्ति जल में गाढ़ आवेश होने के कारण अन्य किसी बात की चिन्ता नहीं करता, वैसे ही आप लोग श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ आवेश के फलस्वरूप अन्य अनुसन्धानरहित होकर श्रीकृष्णतन्मयता को प्राप्त हुई हैं। अतएव विश्व का भक्तसमाज सुमेरु की तरह आप लोगों को आदर्श मानकर श्रीकृष्ण-आवेश की शिक्षा लेकर धन्य होगा।

श्रीकृष्ण के प्रति आप लोगों का सर्वात्मभाव या महाभाव है। जो भाव सर्व स्वरूप से परिपूर्ण है, उसी का नाम महाभाव है। सूर्य अति दूरस्थ होकर तापसंक्रमण से समस्त विश्व में फैला रहता है। चन्द्रमा शैत्य (शीतलता) संक्रमण द्वारा सभी तक पहुँच जाता है। वैसे ही जो महाभाव अपने धर्मसंक्रमण गुण के कारण सभी को प्रभावित करता है, उसका नाम 'सर्वात्मभाव' है। प्रेम महाभाव दशा को प्राप्त कर श्री कृष्ण को निरन्तर आविर्भूत कराये रखता है। उसी महाभाव को आप लोगों ने अपने

अधिकार में ले रखा है। आप लोगों को कभी भी श्रीकृष्णविरह नहीं हो सकता, कारण - प्रेम के वशीभूत श्रीकृष्ण आपको छोड़ कर अन्यत्र रहने में समर्थ नहीं । अतएव हे महाभाग्यवतियों ! आप लोगों का यह विरह तो बहिरङ्ग है। यह विरह केवल बाहर प्रकट हुआ है, इसलिये इसमें मन का आवेश रखना उचित नहीं। यदि कहें कि ऐसा बाह्य विरह हुआ क्यों, तो मेरा निवेदन है कि यह केवल मुझ जैसे व्यक्ति को अपनी ऐसी प्रेममहिमा दिखाकर कृतार्थ करने के लिये है। यदि आप लोगों का यह विरह न होता, तो श्रीकृष्ण मुझे आपके श्रीचरणों के पास न भेजते, मैं भी ऐसे आश्चर्यजनक भाव के दर्शन न कर पाता। मैं इसे अपने सौभाग्य की परावधि के रूप में अनुभव करता हूँ। आपने मुझसे जो प्रश्न किया - इस निरुपाधि प्रेम में विरह क्यों हुआ, उसका उत्तर है - मुझे कृतार्थ करने के लिये यह बाह्यविरह है। आप परम उत्कण्ठित हैं, आप सबको शीघ्र ही श्रीकृष्ण मिलेंगे - अब वही प्रिय सन्देश सुनिये। यह सुखसंवाद देने के लिये ही मैं आप लोगों के पास इस व्रज में आया हूँ।*

"श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः"। यह कहकर उद्धवजी उस सन्देश की बात बताने लगे, जो श्रीकृष्ण ने व्रजदेवियों के लिये भेजा है। यह सन्देश वार्ता अत्यन्त ज्ञानगम्भीर है, गूढ़ और परम रहस्यमय है। श्रीकृष्ण ने इसे ज्ञान-अर्थ का आवरण देकर भेजा है, व्रजदेवियों के लिये सुखद या विरहज्वाला का प्रशमन करने वाले प्रेमानुभवसिद्ध अर्थ और नित्यलीलारूपी अर्थ को निहित रखकर यह सन्देशवार्ता भेजी है।**

महामांत्रिक सिद्धमंत्र से झाड़फूँक कर महाविषधर सर्प के काटे व्यक्ति की विषज्वाला प्रशामित कर उसे स्वस्थ करता है। उसी प्रकार उद्धवजी ने श्रीकृष्णविरहरूपी विषधर द्वारा दष्ट व्रजदेवियों के आगे श्रीकृष्ण-प्रेरित इस सन्देश को मंत्र की तरह बार-बार पढ़ कर उन्हें स्वस्थ किया था ? श्रील उद्धव महाशय ने दस महीनों की लम्बी अवधि व्रज में बिताई; वहाँ रहकर श्रीकृष्णलीला-कीर्तन कर विरह-विधुर श्रीनन्द-यशोमती आदि सभी व्रजवासियों के आगे श्रीकृष्ण को मानो साक्षात् मूर्त कर दिया था। श्रीशुकदेव मुनि ने कहा है - "कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्" श्रीकृष्ण ने व्रज में कितने ही स्थानों पर कितनी ही लीलायें की थीं। उद्धवजी उन सभी लीलाओं का ऐसे मधुरभाव से गायन करने लगे कि व्रजवासियों को वे लीलायें और लीलामय श्रीकृष्ण साक्षात्कार की तरह ही प्रतीत

---

* व्रजाङ्गनाओं ने कहा था - इस गोव्रज में माता-पिता के स्नेह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, जिसका आपके प्रभु स्मरण करें। इसी बात का उत्तर दिया गया।

** जो इसे जानना चाहते हैं, वे भा. 10/47/29-37 का अर्थ श्रीगोस्वामिपादगण की टीकाओं के साथ आस्वादन करें।

होने लगे। श्रीशुकदेव मुनि आनन्द-आवेश में उद्धव को हरिदास उपाधि देकर बोले - हे राजन् ! उद्धवजी ने यथार्थ हरिदास का कार्य ही किया है, कारण - श्रीकृष्णविरहियों को श्रीकृष्ण लीलाकथा सुनाकर आप्यायित (तृप्त-सन्तुष्ट) करना ही हरिदास का मुख्य कार्य है। श्रीउद्धव के मुख से श्रीकृष्ण की सन्देश-वार्ता सुनकर उसके प्रेमानुभावसिद्ध अर्थ को और नित्यलीलारूपी अर्थ को अनुभव कर भावसम्मीलन से राधारानी और गोपबालाओं के हृदय में समृद्धिमान सम्भोग का अनुभव जगा था। भावसम्मीलन के कारण श्रीराधा की उक्ति -

''बहुदिन परे बँधुया एले ।
देखा ना हइतो पराण गेले ।।
एतेक सहिलो अबला बोले ।
फाटिया जाइतो पाषाण होले ।।
दुखनीर दिन दुखेते गेलो ।
मथुरा-नगरे छिले तो भालो ।।
ए सब दु:ख किछु ना गणि ।
तोमार कुशले कुशल मानि ।।
ए सब दु:ख गेलो रे दूरे ।
हारानो रतन पाइलाम कोरे ।।
(एखन) कोकिल आसिया करुक गान ।
भ्रमरा धरुक ताहार तान ।।
मलय-पवन बहुक मन्द ।
गगने उदय हउक चन्द ।।
बाशुली आदेशे कहे चण्डीदासे ।
दुख दूरे गेलो सुख-विलासे ।।''

''आजु रजनी हम भागे पोहायलुँ ।
पेखलुँ पियामुखचन्दा ।।
जीवन-जौवन सफल करि मानलुँ
दस दिस भेलो निरदन्दा ।।
आजु मझु गेह गेह करि मानलुँ
आजु मझु देह भेलो देहा ।।

आजु बिहि मोहे अनुकूल होअल,
टूटलो सबहुँ सन्देहा ।।
सेइ कोकिल अब लाख लाख डाकउ
लाखे उदय करु चन्दा ।।
पाँच वान अब लाख वान हउ
मलय-पवन बहु मन्दा ।।
अवहन जबहुँ मोरे परि होयल
तबहि मानहु निज देहा ।।
विद्यापति कह अलप भागि नह
धनि धनि तुया नव नेहा ।।''

''कि कहब रे सखि आनन्द ओर ।
चिरदिने माधव मन्दिरे मोर ।।
पाप सुधाकर जतो दुःख देलो ।
पियामुख दरशने ततो सुख भेलो ।।
निधन बोलिया पियाय ना कैनु जतन ।
अब हाम जानलु प्रिया बड़ो धन ।।
आँचल भरिया जदि महानिधि पाउँ ।
तब हाम दूरे देशे पिया ना पाठाउँ ।।
शीतेर ओड़नि पिया गिरिसेर बाओ ।
बरिसार छत्र पिया दरियार नाओ ।।
भनये विद्यापति शुनो वरनारी ।
सुजनके दुख - दिवस दुइ-चारि ।।''

श्रीश्रीगीतपञ्चक
श्रीमद्भागवत
दशम स्कन्ध
अध्याय सैंतालीसवाँ

# श्रीश्रीउद्धवगीत

**दृष्टवैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।**
**उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ।। 57।।**

**अन्वयः** - उद्धवः गोपीनाम् एवमादि (एवम् उक्तप्रकारः आदिः यस्य तत्) कृष्णावेशात्मविक्लवं (कृष्णावेशेन आत्मनः विक्लवः दिव्योमादादिः यत्र तत्) दृष्ट्वा परमप्रीतः (सन्) ताः (गोपीः) नमस्यन् (नमस्करिष्यन्) इदं जगौ (आवेशेन सुस्वरं तुष्टाव) ।। 57 ।।

**अनुवाद**- उद्धवजी ने श्रीकृष्णावेश के कारण गोपियों की पूर्वोक्त प्रकार की दिव्योन्माद जनित विरहव्याकुलता देखकर उनके चरणों में प्रणत होने के लिये सुस्वर से उनकी महिमा का कीर्तन किया था ।। 57 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रील शुकदेव मुनि महाराज परीक्षित से बोले - हे राजन् ! व्रजवासीमात्र का ही श्री कृष्ण से अति विलक्षण प्रेम है। वह प्रेम ऐश्वर्य ज्ञानगन्धशून्य है। 'मोर पुत्र, मोर सखा, मोर प्राणपति' ऐसे सम्बन्ध-ज्ञान से युक्त उनका जो शुद्ध माधुर्यमय प्रेम है वह मदीयताबुद्धिपूर्ण है। तब भी श्रीमान् उद्धव महाशय के हृदय में महाभाववती गोपियों के प्रति अत्यन्त चमत्कारमयी भक्ति का उद्रेक हुआ था। उद्धवजी श्रीकृष्ण के असाधारण भक्त हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है - ''तन्तु भागवतेष्वहं'' (भा. 11/16/29) अर्थात् भागवतगण या प्रेमिकभक्तों में मैं उद्धव हूँ। इस उक्ति से स्पष्ट ही समझ में आता है कि उद्धवजी श्रीकृष्णभक्तों में श्रेष्ठ हैं, इसलिये उन्हें श्रीकृष्णभक्ति एवं भावजगत का यथेष्ट अनुभव है। किन्तु व्रजबालाओं के भाव का प्रकार देखकर और उनकी अति आवेगमयी भाषा सुनकर उनके चरणों में उद्धवजी की प्रगाढ़ भक्ति जगी। विशेषतः 'एवमादि' पूर्व वर्णित प्रकार की भक्ति देखकर उन्हें अत्यन्त प्रीति हुई। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है - ''आदिशब्दान्मुहु-रुन्मत्तवद्वचनादिकं मुहुमूर्छादिकं च ज्ञेयम्। यद्वा, आदिगोपीनां नित्यप्रियाणां व्रजसुन्दरीणां कृष्णे आवेशेन तथा तथानुभवात् सम्यगभि निवेशेनात्मनो विक्लवं दिव्योन्मादं दृष्टवा'' (वृहत्तोषणी) अर्थात् आदि शब्द से यह जानना होगा कि

बार-बार उन लोगों के उन्मत्तवचन सुनकर और बार-बार उनकी मूर्छा आदि देखकर गोपीचरण में उद्धवजी की ऐसी भक्ति उदित हुई। सर्वोपरि नित्य प्रियाओं में शिरोमणि राधारानी की श्रीकृष्ण में सम्यक् आवेश-आत्मविह्वलता और दिव्योन्माद देखकर उद्धवजी आनन्द-आवेश में आत्महारा हो उठे थे। मथुरा लौट जाने से पूर्व वे गोपीचरणों में प्रणत होकर आत्मसमर्पण करेंगे, इसलिये उन्होंने बड़े आवेश में स्तोत्र रूप में सुस्वर से गोपी-महिमा का गायन किया था।

उद्धवजी सोचने लगे, अनेक रसिक भक्त हैं जो श्रीकृष्ण का विरहदु:ख अनुभव करते है, पर कोई इस तरह पागल नहीं होता। व्रजाङ्गनायें श्रीकृष्ण को मर्म से प्रेम करती हैं, तभी इनका मर्म श्रीकृष्णविरह में चूरचूर हो गया है, और तभी ये उन्मादिनी हो गई हैं। जब मिलन और विरह प्रेम के ही दो कलेवर हैं, तो प्रेमिक भक्तों को सतत ही श्रीकृष्ण के मिलन-आनन्द और विरह-दु:ख की अनुभूति में मग्न रहना होता है। व्रजसुन्दरियों को इस विरह की ही अधिकता है। इनके हृदय में मिलन-काल में भी भावी विरह की अनुभूति निहित रहती है। इन लोगों का तब भी ऐसा भाव होता है कि 'अब खोये, अब खोये' । विरह ने ही इनके प्रेम को इतना उन्नत और महान् बना रखा है। इसी अभिप्राय से कहा गया है – 'कृष्णावेशात्मविक्लवम्' – इन लोगों का श्रीकृष्ण में इतना प्रगाढ़ आवेश है, उसी के फलस्वरूप यह विह्वलता या मन की कातरता है, जिसे देखकर उद्धव जी ने गोपीचरणों में अपना मस्तक विक्रय कर दिया। इसी बात की अभिव्यक्ति के रूप में वे सुस्वर में गोपियों की महिमा गाने लगे – यही उद्धवगीत है।

श्रील उद्धवजी परम भागवतोत्तम हैं, इसलिये वे भक्ति और भक्तकी महिमा उत्तमरूप से ही जानते हैं। "आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात् परपरं देवि तदीयानां समर्चनम्।। (पद्मपुराण) श्रीमन्महादेव ने पार्वती से कहा – हे देवि ! अन्यान्य देवों की आराधना की अपेक्षा विष्णु की आराधना श्रेष्ठ है। विष्णु की आराधना से भी अधिक श्रेष्ठ उनके भक्तों का समर्चन (अर्चना) है।" "ये मे भक्तजना: पार्थ न मे भक्ताश्च ते जना:। मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता:।। (आदि पुराण) श्रीकृष्ण कहते हैं – हे अर्जुन ! जो केवल मेरे ही भक्त हैं, वे वस्तुत: मेरे भक्त नहीं, किन्तु जो मेरे भक्त के भक्त हैं, वे ही मेरे उत्तम भक्त हैं।"

उद्धवजी ने लम्बी अवधि तक व्रज में वास कर महाभाववती व्रजसुन्दरियों के प्रेम की महामहिमा देखी, उसे देखकर आनन्दित-चमत्कृत हुए। उन लोगों के चरणों में शरणागति को ही परम पुरुषार्थ मानकर उनके श्रीचरणों में अपना मस्तक विक्रय करने का संकल्प किया। संवित्-मूर्ति विज्ञचूड़ामणि उद्धवजी ने पूरे दस महीने व्रज में अवस्थान कर व्रजाङ्गनाओं के प्रेम के सम्बन्ध में जो अभिज्ञता उपलब्ध की है, उसके कारण वे सोचने लगते हैं – प्रेम के इस महा महातीर्थ को छोड़ अन्यत्र

जाना किसी के लिये उचित नहीं, पर मेरे प्रभु व्रजजनों का, विशेषत: अपनी गोपिकाओं का कुशल जानने के लिये मेरी नित्य प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्रति दिन सोचते हैं, उद्धव आज निश्चय ही आयेगा, उससे व्रज के समाचार मिलेंगे। इसलिये मुझे मथुरा प्रभु के निकट लौटना ही होगा। किन्तु मैं अपने इस उत्तमाङ्ग (सिर) को उत्तमोत्तम आराधना-स्थल गोपी चरणों में विक्रय करके ही जाऊँगा, कारण - मस्तक को कहीं भी विक्रय क्यों न किया जाय, (उसे बेचने का) शीर्षस्थान है श्रीगोविन्दचरण। इसलिये कि वे अद्वयज्ञानतत्व हैं। दूसरी बात, वे प्रेमाधीन हैं। जिस भक्तका जितना प्रेम, वे उसी परिमाण में उसके अधीन। अखण्ड महाभावस्वरूपिणी व्रजदेवियों के अधीन हैं अखण्डित रूप से तभी यह (गोपीचरण) मस्तक-विक्रय या शरणागति का मुख्य स्थान है। इसलिये तत्वज्ञ चूड़ामणि उद्धव महाशय ने विश्व के साधकों, सिद्धों, महासिद्धों को सुना-सुना कर श्रील व्रजबालाओं की महामहिमा के गीत गाये थे ।। 57 ।।

**एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो**
**गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।**
**वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च**
**किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य।। 58।।**

---

**अन्वयः** - निखिलात्मनि (सर्वांशिनि) गोविन्दे रूढ़भावाः एताः गोपवध्वः परं (केवलं) तनुभृतः (सफलजन्मानः) यद् (यं रूढ़भावं) भवभियः (मुमुक्षवः) मुनयः (मुक्ताः अपि) वय (भक्ताः

अपि) वाञ्छन्ति (न तु प्राप्नोति) अनन्त कथारसस्य (अनन्तस्य कथासु रसः रागः यस्य तस्य) ब्रह्मजन्मभिः (विप्रसम्बन्धिभिः जन्मभिः) किम् ? (कः अतिशयः) ।। 58 ।।

**अनुवाद**– अखिलात्मा श्रीगोविन्द के प्रति जिनका रूढ़ महाभाव है, इस जगत् में उन व्रजदेवियों का ही जन्म सफल है। मुमुक्षु, मुक्त एवं हम भक्त भी उस भाव की वाञ्छा करते हैं, पर प्राप्त नहीं कर पाते। जिन लोगों के हृदय में अनन्त श्री कृष्ण की कथा में अनुराग उत्पन्न हो गया है, उन्हें ब्राह्मण जन्म से क्या लाभ ? ।। 58 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रील उद्धव महाशय इस श्लोक से श्रील व्रजदेवियों का महिमा-कीर्तन आरम्भ करते हैं। श्रील गोस्वामिपाद ने तोषणी टीका के आरम्भ में लिखा है – ''गोपीमाहात्मविद्वर्यं सर्वभागवतोत्तमम्। तमुद्धवं प्रपद्येऽहं तद्गीतार्थ -विलुद्धधीः।।'' इस जगत् में जो-जो गोपी-माहात्म्य जानते हैं, उसमें सर्वभागवतोत्तम उद्धवजी ही श्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्ण की कृपा से उद्धवजी ही तटस्थ होकर व्रजदेवियों की प्रेममहिमा पर विचार करने में समर्थ हुए थे। उन्होंने व्रजदेवियों के विरह के समय साक्षात् रूप से दस महीनों की दीर्घ अवधि तक उनके श्रीचरणसान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त किया था। फलस्वरूप संवित् की मूर्ति श्रीउद्धव ने गोपियों के प्रेम की महामहिमा के विषय में जो अभिज्ञता प्राप्त की वह अन्य किसी के लिये भी सम्भव नहीं। उनके द्वारा वर्णित गोपीमहिमा के इन श्लोकों की व्याख्या के लिये मैं उन्हीं के श्रीचरणों में शरणागत होता हूँ।

उद्धवजी मन ही मन इस प्रकार का वितर्क करने लगे – कोई मुझसे कह सकता है, आप क्षत्रिय जाति हैं, आपकी प्रणम्य ब्राह्मण देह ही है। व्रजाङ्गनायें तो वैश्य जाति की हैं, ऊपर से स्त्री जाति, आप इन्हें प्रणाम क्यों करने लगे ? इसी का उत्तर दे रहे हैं आटोप (रौब, गर्व) से भरकर – यह श्रीकृष्ण का अवतारकाल है (उन्होंने अवतरण किया है), इस समय भक्तिसाधक, भक्तिसिद्ध, नित्यसिद्ध आदि भक्तरूपी अलंकारों से धरणी विभूषित है। यहाँ तक कि अन्यान्य भगवत् पार्षद भी विश्व का गौरव बढ़ाते हुए विद्यमान हैं ? इस विश्व में श्रीनन्दव्रज-वासिनी भगवत प्रेयसी गोपवधुएं ही एकमात्र उत्तमदेह धारिणी हैं, कारण – श्रीगोविन्द के प्रति इनका रूढ़ महाभाव या उद्भूत (जात, उत्तुंग) महाभाव है। अथवा इनकी देह ही रूढ़ महाभाव नामक प्रेम का एकमात्र आधार है।

प्रेम के जिस उन्नत स्तर पर प्रणय के उत्कर्षवश अत्याधिक दुःख भी सुख रूप में अनुभूत होता है, उसे राग कहा जाता है। यह राग जब उत्कर्ष प्राप्त कर नव-नव वैचित्री धारण करता है और सदा अनुभूत प्रिय को नव-नव रूपों में अनुभव कराता है, तो उसका नाम अनुराग होता है।

''अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद् भाव इत्यभिधीयते ।।''

(उ. नी.)

अर्थात् अनुराग जब 'स्वसंवेद्यदशा' प्राप्त कर प्रकाशित होता है और –यावदाश्रयवृत्ति' होता है, तब उसे 'महाभाव' कहा जाता है। इससे समझ में आता है कि अनुराग की एक विशेष अवस्था का नाम ही 'महाभाव' है। इस विशेष अवस्था में अनुराग (1) स्वसंवेद्यदशा प्राप्त करता है (2) प्रकाशित होता है (3) यावदाश्रय वृत्ति होता है। 'स्वसंवेद्य' शब्द का अर्थ है सम्यक रूप से अनुभव के योग्य। अनुराग की जो दशा अनुराग के स्वयं के लिये सम्पूर्णरूप से अनुभव योग्य है। इस स्वसंवेद्य दशा की व्याख्या में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने लिखा है – अनुराग के तीन स्वरूप हैं – भाव करण और कर्म। भावस्वरूप में अनुराग का उत्कर्ष होता है – आनन्द–अंश में श्रीकृष्णानुभव। अर्थात् अनुराग के उत्कर्ष की दशा में बलवती उत्कण्ठा के फलस्वरूप जब श्रीकृष्ण–माधुर्य आदि अनुभूत होता है, तब आस्वादन की अधिकता में साधक इतना तन्मय हो उठता है कि आस्वाद्य और आस्वादक आदि की स्मृति नहीं रहती; रहता है केवल आस्वादन या अनुभव का ज्ञान। यही है अनुराग के उत्कर्ष का भाव स्वरूप। 'करण' शब्द का अर्थ है उपाय। जिसके द्वारा जो कार्य किया जाता है, वही उसका करण है। अनुराग द्वारा श्रीकृष्ण–आस्वादन किया जाता है। अनुराग सर्वोत्कर्ष दशा में उन्नीत हो जाय, तो कृष्णमाधुर्य आदि भी सर्वोत्कर्ष के साथ आस्वादित हो सकता है। ऐसे (सर्वोत्कर्षयुक्त) आस्वादन के हेतु या उपाय के रूप में अनुरागोत्कर्ष हुआ 'करण'। इसके बाद कर्मस्वरूप। जो किया जाय वही कर्म। जिसे आस्वादन किया जाय, वही आस्वादन का कर्म। श्रीकृष्ण–माधुरी आस्वादन द्वारा भी अनुराग का उत्कर्ष अनुभव किया जाता है। जिस अवस्था में भाव करण और कर्म स्वरूप में अनुराग की पूर्णतम अभिव्यक्ति होती है, वही अनुराग की स्वसंवेद्यदशा है।

प्रकाशितः जब उद्दीप्त आदि सात्विक भावों द्वारा बाहर अभिव्यक्त हो, अर्थात् अनुराग के चरम उत्कर्ष की दशा में अश्रु–पुलक आदि अष्ट सात्विक भावों में से पाँच–छह अथवा सभी एक साथ उदित होकर परम उत्कर्ष प्राप्त करते हैं, तब अनुराग को प्रकाशित कहा जाता है।

यावदाश्रय वृत्ति : जब अनुराग परम उत्कर्ष प्राप्त कर निकटस्थ साधकभक्त, सिद्धभक्त सभी पर अपना प्रभाव विस्तार करता है, तब अनुराग की 'यावदाश्रय वृत्ति' होती है। जैसे कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलने पर गोपियों के अनुराग – उत्कर्ष के प्रभाव से वहाँ उपस्थित सभी के चित्त विक्षुब्ध हो गये थे।

श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद ने इस 'यावदाश्रयवृत्ति' की जो व्याख्या की है, उसका संक्षिप्त मर्म यह है कि परकीय भाववती व्रजबालाओं ने श्रीकृष्णसुख के लिये आर्यपथ कुलधर्म आदि का त्याग

किया है; उस त्याग के बिना अनुराग यावदाश्रयवृत्तित्व प्राप्त नहीं करता। (उल्लिखित श्लोक की लोचनरोचनी टीका द्रष्टव्य है।) इसलिये अन्य की तो बात ही क्या, मुकुन्द-महिषियों के लिये भी यह महाभाव अत्यन्त दुर्लभ है। यह तो एकमात्र व्रजदेवियों के लिये ही सम्भव है। यह महाभाव रूढ़ और अधिरूढ़ भेद से दो प्रकार का है। उद्धवजी ने रूढ़ महाभाव की बात कही है। इस रूढ़ महाभाव के अनुभाव –

"निमेषासहतासन्नजनताहृ - द्विलोड़नम् ।
कल्पक्षणत्वं खिन्नत्व तत्सौख्येऽप्यार्तिशंकया ।।
मोहाद्यभावेऽप्यात्मादि-सर्वविस्मरणं सदा ।
क्षणस्य कल्पतेत्याद्या यत्र योगवियोगयोः ।।"

(उ. नी.)

अर्थात् निमेष की असहिष्णुता, आसन्न (निकटस्थ) लोगों का हृदय-विलोड़न, कल्पक्षणत्व, श्रीकृष्ण के सुख-सद्भाव में भी आर्ति-आशंका के कारण खिन्नता, मोह आदि के अभाव में भी आत्मादि सर्वविस्मरण, क्षणकल्पता इत्यादि अनुभाव रूढ़ महाभाव में यथायथ रूप से प्रकट हुआ करते हैं।*

यह रूढ़ महाभाव कोई अनिर्वचनीय अवस्था प्राप्त करके ही अधिरूढ़ आख्या प्राप्त करता है। यह अधिरूढ़ महाभाव एकमात्र राधारानी के गणों में ही विराजता है उद्धवजी ने इसी अधिरूढ़ की चरम अवस्था मोहनाख्यभाव के चरम अनुभाव (श्रीराधा के दिव्योन्माद चित्रजल्पभाव) को साक्षात् देखने का सौभाग्य पाया है। इस प्रत्यक्ष अनुभूति को लेकर ही उन्होंने कहा- इस प्रेम का विषय, प्रेम की जाति, परिमाण अतुलनीय है। ऐसे भाव के स्वरूप को अनुभव करने की शक्ति व्रजाङ्गनाओं को छोड़ किसी में नहीं। इस भाव की महिमा और क्या बताऊँ ? मुमुक्षु, मुक्त महापुरुषगण, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण के नित्यसङ्गी दासभक्त हम लोग भी इस भाव की महामहिमा देखकर इसे प्राप्त करने की प्रार्थना ही किया करते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं करते। हम लोगों के मन में आकांक्षा जगती है कि इन व्रजाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण में जो प्रगाढ़ आवेश है, उसका थोड़ा सा अंश भी पा जाते, तो जीवन धन्य हो जाता। पर कोई भी श्रीकृष्ण में ऐसा आवेश प्राप्त नहीं कर सकता। इन लोगों की देह, इन्द्रिय, मन, वाक्य प्राण वल्लभ श्रीकृष्ण में ऐसे मग्न हैं कि यह आवेश अन्य किसी को प्राप्त होने का उपाय नहीं। श्रीकृष्ण के माधुर्यविशेष के अनुभव से ये सब उन्मादिनी हैं। इसलिये इनकी देह में स्त्रीभाव बुद्धि रखना महाअपराध जनक है। जैसे तपस्वियों की देहें तपस्तेजोमय होती हैं, वैसे ही इन व्रजाङ्गनाओं की देहें

* इन अनुभावों के दृष्टान्त उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में द्रष्टय हैं।

महाभावतेजोमय हैं।

ये व्रजाङ्गनायें जिनसे ऐसी प्रीति कर रही हैं, वे निखिलात्म अर्थात् निखिल आत्माओं के एकमात्र अंशी या परम आश्रय हैं। अतएव वे ही सबके निरुपाधि प्रेमास्पद हैं, कारण– आत्म को छोड़ स्वतंत्ररूप से प्रीतियोग्य अन्य कुछ भी नहीं। ''प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् प्रेयः सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा'' (श्रुति) जिस आत्मासम्बन्ध को लेकर देह आदि सब प्रिय होते हैं, परमात्मा उन्हीं समस्त आत्माओं के आत्मा अंशी और परम आश्रय हैं, उनके अतिरिक्त और कौन प्रीतियोग्य हो सकता है ? वही परमात्मा निखिल आनन्दस्वरूप हैं। वे 'आनन्दरूपममृतम्' 'रसो वै सः' 'सर्वेषां भूतानां मधु' हैं, तभी सबके प्रीतियोग्य हैं। फिर ये श्रीगोविन्द अर्थात् अखण्ड रूप–गुण–लीला–माधुर्य से परिपूर्णतम हैं। श्रुतिशास्त्रों ने सर्वरस, सर्वगन्ध, सर्वस्पर्श, सर्वशब्द, सर्वरूप कहकर जिस अखण्ड तत्व का सन्धान दिया है, वह अखण्ड तत्ववस्तु ही गोविन्द हैं। उन्हीं अखिल रसामृत मूर्ति श्रीगोविन्द के प्रति इन व्रजाङ्गनाओं का रूढ़ महाभाव है। ऐसे असाधारण श्रीकृष्णमाधुर्य के आस्वादन की क्षमता किसी में भी नहीं।

कैमुतिक न्याय कहता है – जो श्रीहरि–कथा का रसिक है, उसे शौक्र, सावित्र और दैक्ष्य इन तीन प्रकार के ब्राह्मण–जन्म की क्या आवश्यकता ? ओर जो हरिकथा का अरसिक है, वह भी इस त्रिविध ब्राह्मण–जन्म का क्या करेगा ? अथवा, जिसकी हरिकथा में रुचि है, उसे बहुत–से ब्रह्मा–जन्मों की क्या आवश्यकता। फिर जिसे हरिकथा में रुचि नहीं है, उसे भी बहुत–से ब्रह्मा–जन्मों से क्या लाभ ? जब हरिकथा में रुचि ही इतनी दुर्लभ है, तो व्रजदेवियों के महाभाव की दुर्लभता की बात कौन कहेगा ?। 58 ।।

**क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचार दुष्टाः**
**कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढ़भावः।**
**नन्वीश्वरोऽनु भजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-**
**च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः।। 59।।**

---

अन्वयः - परमात्मनि कृष्णे एषः रूढ़भावः (परां कोटिम् आरूढ़ः महाभावः) क्व (कुत्र वा वर्तते) ? इमाः स्त्रियः (गोप्यः) वनचारीः (वनचर्यः) व्यभिचारदुष्टाः (पतिन्मन्यगोपान् त्यक्त्या भगवद् रमणं यद्यपि अनभिज्ञ जननिन्दनीयं तथापि अभिज्ञजनशास्त्रयोः परमर्हणीयमिति), ननु (अहो) उपयुक्तः (सेवितः) अगदराजः (अमृतम्) इव ईश्वरः (श्री कृष्णः) अविदुषः अपि साक्षाद् अनु (निरन्तरं) भजतः (जनस्य) श्रेयः तनोति (विस्तारयति) ।। 59।।

**अनुवाद**- कहाँ परमात्मा श्रीकृष्ण में ऐसा परमोत्तम महाभाव और कहाँ वृन्दावन में विचरने वाली स्त्रियाँ ये व्यभिचारदुष्टा गोपियाँ (जो शास्त्र महापुरुषों की दृष्टि में परम वन्दनीय हैं) ? अहो, यदि अमृत-पान बिना जाने भी करें, तो अमरत्व प्राप्त होता है । उसी प्रकार बिना जाने भी निरन्तर श्री हरिभजन किया जाय, तो परम मङ्गल होता है ।। 59 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

उद्धवजी ने पिछले श्लोक में व्रजाङ्गनाओं के श्रीचरणों में मस्तक विक्रय करने का संकल्प किया। तभी उनके मन में आशंका जगी कि बहिर्मुख लोग ईर्ष्या आदि कारणों से व्रजाङ्गनाओं के गुणों पर भी दोषारोपण करेंगे। इसलिये उद्धवजी इस श्लोक के प्रथम चरण में उन बहिर्मुख लोगों के मत का उल्लेख कर प्लुतस्वर में उस पर आरोप करते हुए कहते हैं : ये व्रजाङ्गनायें जाति से स्त्री, फिर वनचरी, ऊपर से व्यभिचारदुष्टा- बहिर्मुख लोगों की बाह्यदृष्टि में व्रजाङ्गनाओं के प्रति इस प्रकार की अवज्ञाबुद्धि आ सकती है, किन्तु ऐसी अवज्ञादृष्टि घोरतर अपराध होने के कारण वे लोग दुरन्त यातनामय नरक में ही गिरेंगे। इन व्रजाङ्गनाओं का स्त्रीत्व दूषणीय नहीं; कारण- लक्ष्मी आदि भगवत् प्रियायें भी स्त्रीजाति हैं, फिर जैसे ज्ञानयोग आदि साधनों में पुरुषों का उत्कर्ष है, वैसे ही प्रीति के राज्य में स्त्रीजाति का ही सर्वोत्कृष्ट अधिकार है। अपने बहुनिष्ठता-दोष के कारण पुरुषजाति के लिये एकमात्र प्रीतिनिष्ठ होना सम्भव नहीं। उधर व्रजाङ्गनाओं की देह प्रेम के परमसार महाभाव का एकमात्र आधार है। इस जगत् में अनेक शक्तिशाली तपस्वी और तेजस्वी ऋषि-मुनि हैं, पर गङ्गा को धारण करने की शक्ति एकमात्र गङ्गाधर श्रीमन्महादेव में ही थी। उसी प्रकार इस विश्व में अनेक प्रेमिक हैं, पर महाभाव के वेग धारण

करने की शक्ति एकमात्र इन व्रजगोपियों में ही दृष्ट होती है। 'इमाः' यह पद भी निन्दावचन नहीं हैं, कारण- उद्धव जी ने ही 'आसामंहो' (आगे 10/47/61) इत्यादि श्लोकों में 'इदम्' शब्द का प्रयोग कर व्रजाङ्गनाओं की श्रीचरणरेणु पाने की सम्भावना से व्रज में तृण-गुल्म के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की है। ब्रह्माजी ने वृन्दावन के स्वरूप-निरूपण प्रसङ्ग में कहा है -

''चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।।''

(ब्रह्मसंहिता - 5/25)

'जो लक्ष-लक्ष कल्पवृक्षों द्वारा मण्डित और चिन्तामणि-विरचित गृहों में सहस्रशत गोपसुन्दरियों द्वारा सादर सेवित हो रहे हैं, और जो गायों का सभी प्रकार से पालन कर रहे हैं - मैं उन्हीं आदि पुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ।

''सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक-धाम ।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम ।।
सर्वग अनन्त विभु कृष्ण तनु सम ।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम ।।
ब्रह्माण्डे प्रकाश ताँर कृष्णेर इच्छाय ।
एकइ स्वरूप ताँर नाहि दुइ काय ।।
चिन्तामणि-भूमि, कल्पवृक्षमय वन ।
चर्मचक्षे देखे ताँरे प्रपञ्चेर सम ।।
प्रेमनेत्रे देखे ताँर स्वरूप-प्रकाश ।
गोप-गोपी सङ्गे जाँहा कृष्णेर विलास ।।''

(चै. च. आदि. 5)

और भी कहा है -

''श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्य मपि च ।।''

(ब्रह्मसंहिता - 5/56)

"परम पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् ।
कृष्ण जाँहा धनी ताँहा वृन्दावनधाम ।।
चिन्तामणिमय भूमि, रत्नेर भवन ।
चिन्तामणिगण दासी-चरणभूषण ।।
कल्पवृक्षलता जाँहा साहजिक वन ।
पुष्पफल बिना केहो ना मागे अन्य धन ।।
अनन्त कामधेनु जाँहा चरे वनेवने ।
दुग्धमात्र देन, केहो ना मागे अन्यधने ।।
सहज लोकेर कथा जाँहा दिव्यगीत ।
सहज गमन करे नृत्य परतीत ।।
सर्वत्र जल जाँहा अमृत समान ।
'चिदानन्द ज्योतिः' स्वादु जाँहा मूर्तिमान ।।
लक्ष्मी-जिनि जाँहा सब लक्ष्मीर समाज ।
कृष्णवंशी करे जाँहा प्रिय सखी-काज ।।"

(चै. च. मध्य. 14)

प्रियजन को एकान्त रूप से आस्वादन करने का उपयुक्त स्थान जैसे निर्जन अरण्य है, पुष्पोद्यान, नदी-तट, गिरितट है, वैसा राजधानी या नगर नहीं। इसीलिये सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के साथ मिलन हुआ, तो श्रीराधा ने अपनी सखी से कहा -

"प्रियः सोऽयं सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयो सङ्गम सुखम् ।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ।।"

(पद्यावली - 387)

हे सहचरि ! जिन्होंने वृन्दान में मेरे साथ विहार किया है, ये वे कृष्ण ही हैं, अब कुरुक्षेत्र में मुझ से मिल रहे हैं। और मैं भी वही राधा ही हूँ; हम दोनों का सङ्ग-सुख भी वैसा ही है। फिर भी श्रीकृष्ण जिस वृन्दावन में क्रीड़ा करते-करते अपनी मधुर मुरली पञ्चमस्वर में बजाते थे, मेरा मन उसी वृन्दावन के लिये व्याकुल हो रहा है।

''श्रीराधिका कुरुक्षेत्रे कृष्णेर दर्शन ।
यद्यपि पायेन तबु भावेन ओइछन ।।
राजवेश हाती घोड़ा मनुष्यगहन ।
काहाँ गोपवेश- काहाँ निर्जन वृन्दावन ।।
सेइभाव सेइ कृष्ण सेइ वृन्दावन ।
जबे पाइ तबे हय वाञ्छित पूरण ।।''

(चै. च. मध्य. 1)

वृन्दावन श्रीकृष्ण की एकान्त रहस्यमय विहारभूमि है। इन वृन्दावन-विहारिणी श्रीकृष्णकान्ता गोपरमणियों की महिमा भाषातीत है। व्यभिचार की दृष्टि से इन लोगों के प्रति दोष की आशंका नहीं की जा सकती, कारण - इनके सर्वोत्तम गाढ़ अनुरागमय आवेश का ही कार्य है स्वजन-पति-वेदधर्म-पातिव्रत्यधर्म का त्याग। इन लोगों ने बुद्धि-विचार के साथ इन सबका त्याग नहीं किया, श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रीतिमय पिपासा के आवेग में इनका त्याग हो गया है। इसलिये इनके अनुराग का इतना गौरव है।

उद्धवजी आवेश से भरकर प्लुत स्वर में (शब्दों को खींचते हुए) इन व्रजदेवियों के गुण पर भी दोष लगाने वाले बहिर्मुख लोगों के प्रति आक्षेप कर बोले - ये व्रजाङ्गनायें क्या व्यभिचार दुष्टा हैं ? विपरीत दिशा में चलने का नाम ही व्यभिचार है, अर्थात् जिस दिशा में सर्वउपास्यतम श्रीकृष्ण विद्यमान हैं, उसके विपरीत दिशा में जो लोग विचरण करते हैं वे ही व्यभिचारी हैं। व्रजाङ्गनायें तो श्रीकृष्ण से भिन्न सभी विषयों को सम्यक् रूप से त्यागकर प्रगाढ़ अनुराग के आवेश में श्रीकृष्ण में ही तन्मय हो गई हैं। समस्त वेद आदि शास्त्रों ने सभी जड़ीय वस्तुओं की आसक्ति त्यागकर अद्वय ज्ञानतत्ववस्तु श्रीकृष्ण के प्रति उन्मुख होने के लिये ही बार-बार नाना प्रकार से उपदेश दिया है, किन्तु कोई भी व्रजाङ्गनाओं की तरह सभी विषयों को त्यागकर श्रीकृष्ण में ऐसा गाढ़ आवेश प्राप्त नहीं कर सका।

यदि कोई ऐसा सोचे कि इन्होंने अपने अपने पति को त्यागकर श्रीकृष्ण को भजा है, यही इनका व्यभिचार है ..... इसी आशंका की निवृत्ति के लिये उद्धव जी ने पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण को 'निखिलात्मनि' और इस श्लोक में 'परमात्मनि' कहा है। जो समस्त जीवों के परम आश्रय परमात्मा है। जिनकी सत्ता से समस्त पतियों का पतित्व है, उसी परमात्मा के, पराश्रय श्रीकृष्ण के भजन से पतिव्रता-धर्म कैसे नष्ट हो सकता है ? श्रीकृष्ण-विमुखी होकर पातिव्रत्य-अभिमानिनी सभी रमणियाँ ही व्यभिचार दुष्टा हैं, किन्तु कृष्णैकवल्लभा गोपियाँ ही पतिव्रताशिरोमणि हैं, क्योंकि उन्होंने निखिल-पति को ही प्राणप्रिय के रूप में वरण किया है। ''परमात्मा जेहो तेंहो कृष्णेर एक अंश। आत्मार आत्म होन

कृष्ण सर्वअवतंस।।'' (चै. च.) रासलीला के अन्त में श्रील शुकदेव मुनि ने कहा है –

''गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः एष क्रीड़णेनेह देहभाक् ।।''

(भा. 10/33/36)

'जो गोपियों के उनके पतियों के, और समस्त देहधारी जीवों के हृदय में अन्तर्यामी बने अध्यक्षरूप से विराजमान हैं, वे ही ये लीलाविग्रहधारी श्रीकृष्ण हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही व्रजाङ्गनाओं के यथार्थ पति हैं। बाह्यदृष्टि से उनके जिन अन्य पतियों की बात जानी जाती है, वे तो योगमाया द्वारा कल्पित हैं – श्री कृष्ण के प्रति व्रजाङ्गनाओं के गाढ़ अनुराग का परिचय देने के लिये। वस्तुतः उन पतिन्मन्य (पति माने गये) गोपों ने तो इन कृष्णप्रियाओं के कभी दर्शन भी नहीं किये। योगमाया ने उन लोगों को इन सबकी छायामूर्तियाँ दिखाकर उनके परकीयाभाव की पुष्टि की है, कारण– परकीया भाव के बिना मधुर प्रेम में कभी महाभाव दशा प्राप्त नहीं होती, यह बात हम पहले लिख चुके हैं ।

यदि कोई कहे कि व्रजाङ्गनायें तो जानती नहीं कि श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, वे तो उन्हें नन्दनन्दन ही समझती हैं, इसलिये इन सबके जारत्व दोष की निवृत्ति कैसे होगी ? इसी का उत्तर है – कोई अनजाने में भी अमृतपान करता है, तो सभी व्याधियों का नाश और अमरत्व–प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यदि कोई बिना जाने भी परमेश्वर का भजन करे तो उसके सभी दोष नष्ट होंगे और सर्वमङ्गल होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। व्रजाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण के साथ जो मधुर विहार है, उसके श्रवण–कीर्तन आदि से भी साधकों का परम कल्याण होता है, यह बात रासलीला के उपसंहार में 'विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः' (भा. 10/33/39) श्लोक में बताई गई है।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने अपनी वृहत्तोषणी टीका में इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है – जिन उद्धवजी ने परम् भक्ति के साथ श्रील व्रजरामाओं के श्रीचरणों की रज के एक कण की आशा से व्रज में गुल्म –लता–औषधि के रूप में जन्म लेने की आकांक्षा की है, उनके द्वारा उनकी परमाराध्य व्रजदेवियों को लक्ष्य कर 'व्यभिचारदुष्टाः' वाक्य का प्रयोग अत्यन्त अनुचित है। ऐसा कभी सम्भव नहीं। अतएव इसका अर्थ है – उद्धवजी कहते हैं, मुझ –जैसा व्यक्ति व्यभिचारदुष्ट है। यहाँ व्यभिचार का अर्थ है सत्कर्मपराङ्मुख (विमुख), उससे दुष्ट (दूषित)। अथवा, पिछले श्लोक में उन्होंने जो कहा– मुमुक्षु, मुक्त और हम भक्तजन व्रजाङ्गनाओं के भाव की वाञ्छा किया करते हैं, किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर पाते। इसी सन्दर्भ में परम विस्मित होकर रोमाञ्चित देह से कह रहे हैं – जिन व्रजदेवियों का कृष्ण में, हम लोगों के ईश्वर या परमेश्वर में रूढ़ महाभाव है, अर्थात् चरम कोटि पर आरूढ़ भावविशेष है – और यह महाभाव उन्हीं की निजी सम्पदा है – हम उन सबके सङ्ग के भी अयोग्य हैं। इसका कारण

यह है कि ये सब स्त्रियाँ हैं, लज्जा के कारण अन्य के आगे नहीं जा सकतीं; हम लोग पुरुष हैं। ये वृन्दावन-विहारिणी हैं, हम लोग नगर (पुर) - वासी हैं। इनका श्रीकृष्ण के प्रति रूढ़ महाभाव है; हम कृष्ण के विषय में व्यभिचार-दुष्ट हैं। व्यभिचार अर्थात् महापराध से दुष्ट हैं। इस प्रकार इन व्रजदेवियों के साथ हम लोगों की नाना प्रकार की (असमानता) होने के कारण हमारे लिये इनका सङ्ग भी अति दुर्लभ है।

मूल बात है, श्रीकृष्णमाधुर्य का परम उत्कर्ष एकमात्र व्रजाङ्गनाओं ने ही अनुभव किया है और उस माधुर्य-आस्वादन में एकमात्र इन्हीं को महा अभिनिवेश प्राप्त है। इनके अतिरिक्त और कोई इस परिमाण में श्रीकृष्णमाधुर्य आस्वादन भी नहीं कर सका, श्रीकृष्ण में आवेश भी प्राप्त नहीं कर पाया ।। 59 ।।

**नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः**
**स्वयोषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।**
**रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-**
**लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम्।। 60।।**

---

**अन्वयः** - रासोत्सवे (रासलीलायाम्) अस्य (श्रीकृष्णस्य)) भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां (भुजदण्डाभ्यां गृहीतः आलिङ्गितः कण्ठः तेन लब्धाः आशिषः मनोरथाः याभिः तासां) व्रजसुन्दरीणां यः (भगवत् प्रसादः) उदगाद् (आविर्वभूव) अङ्गे (वक्षसि) नितान्तरतेः (एकान्तरतिमत्याः) श्रियः (लक्ष्म्याः) अपि अयं प्रसादः उ (निश्चितमेव) न (न विद्यते) नलिनगन्धरुचां (नलिनस्य इव गन्धः रुक्कान्तिः च यासां तासां) स्वर्योषितां (भूलीलाप्रभृतीनाम् अपि नास्ति) अन्याः स्त्रियः कुतः ? । 60।।

**अनुवाद**- जो रासोत्सव में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के भुजदण्डों द्वारा कण्ठदेश ग्रहण किये जाने से पूर्णमनोरथ हुई थीं, उन व्रजसुन्दरियों ने श्रीकृष्ण का जैसा प्रसाद प्राप्त किया है, वैसा प्रसाद वे लक्ष्मदेवी भी नहीं पा सकीं, जो उनके वक्षस्थल पर सदा वर्तमान हैं और उनमें एकान्त रतियुक्त हैं। पद्म की-सी गन्ध और कान्ति से युक्त भू-लीला आदि को भी वैसा भगवत् प्रसाद नहीं मिला। अन्यान्य रमणियों की तो बात ही क्या ।। 60 ।।

**गीतामृतलेश टीका** —

उद्धवजी ने पिछले दो श्लोकों में श्रील व्रजदेवियों के परम उत्कर्ष का वर्णन किया है। अब वे मन ही मन ऐसा वितर्क कर रहे हैं - सम्भव है कोई यह सोच ले कि परव्योमनाथ श्रीमन्नारायण और श्रीकृष्ण स्वरूपत: अभिन्न हैं। श्रीनारायणवक्षविलासिनी कमला सर्वभक्तशिरामणि हैं, तुम उनकी भक्ति की प्रशंसा क्यों नहीं कर रहे ? सही है कि विरह में व्रजसुन्दरियों का उत्कर्ष सर्वत्र वर्णित है, पर यदि संयोग में भी इन लोगों का उत्कर्ष लक्ष्मी जी से अधिक हो, तो उसका वर्णन करो। हम लोग तो सयोग में लक्ष्मी देवी का ही उत्कर्ष देखते हैं, कारण- वे सतत श्रीनारायण के वक्ष पर विलास किया करती हैं और श्रीकृष्ण के वामवक्ष पर भी स्वर्णरिखा के रूप में उनकी नित्य स्थिति है। विशेषत: वे स्वरूपशक्ति हैं। व्रजाङ्गनायें गोपी हैं, इसलिये स्वरूप में भी लक्ष्मीजी से कम हैं। अतएव यदि तुम्हारी अभिलाषा स्त्रियों का उत्कर्ष वर्णन करने की ही है, तो लक्ष्मीजी का उत्कर्ष वर्णन करना ही उचित ? तुम व्रजाङ्गनाओं की इतनी स्तुति क्यों करते हो ?

इस प्रकार वितर्क करते-करते उद्धवजी प्रगाढ़ आवेश में आटोप से भरकर (गर्व के साथ) गाने लगे - ''न'' ना ना ना, संयोग में भी व्रजाङ्गनाओं - जैसा उत्कर्ष लक्ष्मीजी का निश्चय ही नहीं है। 'अङ्गे मदीश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मूर्तिविशेषे तस्मिन् संसक्ता या श्रीस्तस्या: अप्ययम् एतावान् प्रसादस्तदङ्गसङ्ग सुखोल्लास: उ निश्चितं न विद्यते। (लघुतोषणी) श्रीमन्नारायण मेरे ही प्रभु श्रीकृष्ण के अङ्ग या मूर्तिविशेष हैं। श्रीमद्भागवत में ब्रह्माजी ने भी श्रीनारायण को श्रीकृष्ण के अङ्ग कहकर स्तव किया है -

**''नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।**
**नारायणोऽङ्गं नर-भू-जलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ।।''**

**''शिशु वत्स हरि ब्रह्मा करि अपराध ।**
**अपराध क्षमाइते मागेन प्रसाद ।।**
**तोमार नाभिपद्म हैते मोर जन्मोदय ।**
**तुमि पिता माता आमि तोमार तनय ।।**
**पिता माता बालकेर ना लय अपराध ।**

अपराध क्षमि मोरे करहो प्रसाद ।।
कृष्ण कहे ब्रह्मा तोमार पिता नारायण ।
आमि गोप तुमि कैछे आमार नन्दन ।।
ब्रह्मा कहे तुमि कि ना हओ नारायण ।
तुमि नारायण शुनो ताहार कारण ।।
प्राकृताप्राकृत सृष्टे जतो जीवरूप ।
ताहार जे आत्मा तुमि मूल स्वरूप ।।
पृथ्वी जैछे घटकुलेर कारण-आश्रय ।
जीवेर निदान तुमि, तुमि सर्वाश्रय ।।
नार शब्दे कहे सब जीवेर निचय ।
अयन शब्देते कहि ताहार आश्रय ।।
अतएव हओ तुमि मूल नारायण ।
एइ एक हेतु, शुनो द्वितीय कारण ।।
जीवेर ईश्वर पुरुषादि अवतार ।
ताहा सभा हैते तोमार ऐश्वर्य अपार ।।
अतएव अधीश्वर तुमि सर्व पिता ।
तोमार शक्तिते तारा जगत् रक्षिता ।।
नारेर अयन जाते करहो पालन ।
अतएव हओ तुमि मूल नारायण ।।
तृतीय कारण कहि शुनो भगवान् ।
अनन्त ब्रह्माण्ड, बहु वैकुण्ठादि धाम ।।
इथे जतो जीव तार त्रैकालिक कर्म ।
ताहा देखो साक्षी तुमि जानो सब मर्म ।।
तोमार दर्शने सब जगतेर स्थिति।
तुमि ना देखिले कार नहे स्थिति गति ।।
नारेर अयन जाते करो दरशन ।
ताहातेओ हओ तुमि मूल नारायण ।।
कृष्ण कहे ब्रह्मा तोमार ना बुझि वचन ।

जीवहृदि जले वैसे सेइ नारायण ।।
ब्रह्मा कहे जीवे जले-जीवे जेइ नारायण ।
से सब तोमार अंश ए सत्य वचन ।।''

(चै. च.)

इस वाक्य से ज्ञात होता है कि स्वरूप में भी लक्ष्मीदेवी की अपेक्षा श्रील व्रजदेवियों का आधिक्य है। श्रीकृष्ण है स्वयं भगवान्अंशी परिपूर्णतम स्वरूप; श्री नारायण उनकी विलासमूर्ति या अंश हैं। उसी प्रकार स्वयं भगवती श्रीराधा सभी लक्ष्मियों की अंशिनी हैं।

''कृष्णकान्ता गण देखि त्रिविध प्रकार ।
एक लक्ष्मीगण पुरे महिषीगण आर ।।
व्रजाङ्गनागण आर कान्तागणसार ।
श्रीराधिका हैते कान्तागणेर विस्तार ।।
लक्ष्मीगण ताँर वैभव विलासांशरूप ।
महिषीगण वैभवप्रकाशस्वरूप ।।
आकार स्वभाव भेदे व्रजदेवीगण ।
कायव्यूहरूप ताँर रसेर कारण ।।''

(चै. च. आदि. 4)

उद्धवजी कहते हैं - लक्ष्मी मेरे ही प्रभु श्रीकृष्ण के अङ्ग या मूर्तिविशेष श्रीनारायण से संयुक्त है, उन्हें श्री नारायण के अङ्ग-सङ्ग का सुखोल्लास प्राप्त है। किन्तु उन्हें प्राप्त यह प्रसाद व्रजदेवियों को प्राप्त प्रसाद जितना नहीं - 'उ' निश्चय ही नहीं। जो लक्ष्मी स्वर्णकमल की-सी कान्ति और सुगन्ध से युक्त हैं, दिव्य सुख-भोग के स्थान लोक-शिरोमणि वैकुण्ठ में स्थित भूलीला आदि शक्तियों में परम प्रेमवती हैं, उन्हें व्रजदेवियों जैसा आस्वादन भी प्राप्त नहीं है। फिर अन्य रमणियाँ तो स्वत: दूर निरस्त हो जाती हैं।

श्रील व्रजसुन्दरियों का मिलनभूमि पर भी रसगत उत्कर्ष स्थापित करते हुए कहते हैं - ''रासोत्सवेऽस्यभुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम्'' - रासोत्सव में श्रील व्रजाङ्गनाओं का जिस जाति का आस्वादन-आधिक्य प्रकट हुआ था, वह भाषातीत है, दूसरे के लिये अलभ्य है। स्पष्ट है कि रासलीला में अखिलमाधुर्य विशेष प्रकट करने वाले रासविहारी श्रीकृष्ण के भुजदण्डों से आलिङ्गित होकर व्रजदेवियों ने जो आस्वाद विशेष प्राप्त किया था, वह लक्ष्मीजी कभी प्राप्त नहीं कर सकीं।

''रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ।।''

(भा. 10/33/3)

'गोपिका-मण्डली द्वारा सुशोभित रास-उत्सव पूरी तरह आरम्भ हुआ। अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण ने दो-दो गोपियों के बीच में प्रविष्ट होकर उनके कण्ठदेश धारण किये । प्रत्येक गोपी यह समझने लगी कि श्रीकृष्ण मेरे ही निकट विद्यमान हैं।'' ''रासमहोत्सवोऽयं परस्पर सुखार्थ मेव श्रीकृष्णेन प्रारब्धः'' (लघुतोषणी) गोपिकाओं के साथ श्री गोपीनाथ ने परस्पर के परम सुख आस्वादन के लिये रासक्रीड़ा आरम्भ की। इसीलिये रास लीला को 'परम रसकदम्बमय' कहा गया है। ''रासः परमरसकदम्बमय इति यौगिकार्थः'' (श्रीजीव) जिस लीला में परमरस या महामहा आस्वादन-समूह विद्यमान है, वही रासलीला है। यही रासलीला का यौगिक अर्थ है। ''नृत्य गीतचुम्बनालिङ्गनादीनां रसानां समूहः। रासस्तन्मयी क्रीड़ा'' (श्रील विश्वनाथ) अर्थात् जिस लीला में नृत्य, गीत, चुम्बन, आलिङ्गन आदि विपुल रससम्पद विद्यमान है, वही रासलीला है। लक्ष्मी आदि अन्यान्य भगवत कान्तायें इस आस्वादन की बात कभी कल्पना में भी नहीं कर सकेंगी। इसके कुछेक कारण हैं, जिन्हें क्रमशः बता रहे हैं ।

पहला, पिपासा के कम-अधिक होने से ही वस्तु के आस्वादन का तारतम्य (अन्तर) सामने आता है। जैसी आकुल पिपासा व्रजाङ्गनाओं में है, वैसी लक्ष्मीजी में नहीं है। इसलिये श्रीनारायण-वक्ष पर सतत विलास करने पर भी उनके आस्वादन का चमत्कारित्व व्रजदेवियों (के चमत्कारित्व) - जैसा नहीं। दूसरा, श्रीनारायण के प्रति लक्ष्मीजी का प्रेम ऐश्वर्यज्ञान सम्पन्न है; श्रीनारायण मे उनकी ईश्वरबुद्धि है, इसलिये प्रेम संकोच और साध्वस (भय) से पूर्ण है। व्रजाङ्गनाओं की श्रीकृष्ण में नन्दनन्दनबुद्धि होने से उनके प्रेम में ऐश्वर्यज्ञान की गन्ध तक नहीं, इसलिये श्रीकृष्ण को लेकर उनके मन में किसी प्रकार का सम्भ्रम्-साध्वस नहीं। तीसरा, लक्ष्मीजी के प्रेम में तदीयताबुद्धि (मैं उनकी हूँ) है; वक्षविलासिनी होकर भी उनकी निष्ठा दास्यभाव से श्रीचरणसेवा में है। ''नारायणेर हृदे स्थिति, तबु पादसेवाय मति, सेवा करे दासी अभिमानी।।'' (चै. च.) व्रजाङ्गनाओं की श्रीकृष्ण में मदीयताबुद्धि। (वे मेरे हैं) होने से उनकी मधुररस की सेवा आदि अबाध रहती हैं। चौथा, श्री लक्ष्मीदेवी श्रीनारायण की अपेक्षा करती हैं, उधर व्रजाङ्गनायें श्री कृष्ण की अपेक्षा नहीं करतीं, उल्टे श्रीकृष्ण ही उनकी अपेक्षा करते हैं। इसी उद्देश्य से श्लोक में ऐसा उल्लेख है - ''अस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ''। रासनृत्य के समय व्रजरामाओं ने श्रीकृष्ण का कण्ठ धारण नहीं किया (उनके गले में बाहें नहीं डालीं), वे तो परस्पर हाथ पकड़े

मण्डलाकार खड़ी थीं, श्रीकृष्ण ने ही उन लोगों के कण्ठ धारण किये। यहाँ श्रीकृष्ण की भुजा को दण्ड (सोटा) कहा गया जबकि कविलोग प्राय: बाहुपाश या बाहुलता का प्रयोग करते हैं। उद्धवजी द्वारा 'दण्ड' - प्रयोग का उद्देश्य यही बताना है कि रासोत्सव में व्रजाङ्गनाओं के प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य, सौरभ्य (अङ्गगन्ध), रूपरस आदि और नृत्यविलास-माधुरी को लेकर श्रीकृष्ण के हृदय में ऐसा प्रगाढ़ आवेश उत्पन्न हो गया था कि (उन्हें व्रजाङ्गनाओं का विच्छेद सहन न था) उन्होंने अपने बाहुदण्ड द्वारा उनके विच्छेद रूपी शत्रु को भगा दिया था।

व्रजाङ्गनाओं का भी अनुरूप आस्वादन था, जिसका परिचय देने के लिये श्रीपाद शुकदेवमुनि ने कहा है -

**''तदङ्गसङ्गप्रेमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।**
**नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह ।।''**

(भा. 10/33/18)

व्रजाङ्गनाओं की इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण के अङ्ग-सङ्गजनित अपार आनन्दरस में ऐसी आकुल हो उठी थीं कि आँखें श्रीकृष्ण के रूपमाधुर्यामृत के, कान श्रीकृष्ण के शब्द माधुर्यामृत के, त्वक् उनके स्पर्श-अमृत के, रसना अधररसामृत के और नासिका गन्धमाधुर्यामृत के आस्वादन से भर गईं और वे अपने केश-वस्त्र-कञ्चुलिका आदि का भार वहन करने में असमर्थ हो गई। उनके लिये आस्वादन का भार-वहन करना ही कठिन हो गया, वेशभूषा का भार कैसे वहन करेंगी ? तभी उनके केश, माल्यआभरण आदि अस्तव्यस्त हो गये थे। लक्ष्मीजी के लिये श्रीनारायण के अङ्गसङ्ग में ऐसा आस्वादनआधिक्य सर्वथा ही असम्भव है।

यदि कोई ऐसा सोचे कि व्रजदेवियों की ऐसी अवस्था एकमात्र रासलीला में ही हुई थी, ऐसे आस्वादन का संवाद हर समय तो नहीं मिलता ! इसी का उत्तर दिया है - 'रासोत्सवे'। व्यावहारिक जगत् में भी देखने को मिलता है कि धनाढ्य रमणियों के पास मणिमुक्ता आदि के मूल्यवान अलंकार होते हैं, पर वे उन्हें सर्वदा व्यवहार नहीं करतीं, उत्सव आदि में ही पहनती हैं। व्रजाङ्गनायें रास-उत्सव में ही नानाविध भाव-भूषणों (सात्विक, व्यभिचार, अनुभाव आदि) से भूषित हुई थीं। उद्धव जी ने इस श्लोक में 'अस्य' या इनका शब्द प्रयोग किया है, इससे यह समझ में आता है कि उन्होंने श्री कृष्ण के दर्शन करके ही गायन किया था, कारण- जहाँ जहाँ गोपीमहिमा का कीर्तन होता है, श्रीकृष्ण वहाँ-वहाँ आविर्भूत होकर उसे सुनते हैं। 'व्रजसुन्दरीणाम्' प्रयोग से उद्धवजी का अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य में भी लक्ष्मी आदि भगवत् कान्ताओं की अपेक्षा व्रजदेवियाँ अधिक (बढ़कर) हैं। विशेषत: यह सौन्दर्य इनके महाभाव से उत्थित होने के कारण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की इतनी मुग्धता और वश्यता का हेतु होता

है। तभी श्रील जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है –

''रासलीला जयत्येषा जगदेकमनोहरा ।
यस्यां श्रीव्रजदेवीनां श्रीतोऽपि महिमास्फुटः ।।''

(भा. 11/33/1 की लघुतोषणी)

जगत की एकमात्र मनोहारिणी यह रासलीला सर्वोत्कर्ष के साथ विराज रही है, जिसमें श्रील व्रजदेवियों का माहात्म्य लक्ष्मीजी (के माहात्म्य) से अधिक प्रकाशित हुआ था।

श्रील व्रजदेवियों का यह लक्ष्मीविजेता श्लोक (श्लोक जो व्रजदेवियों को लक्ष्मी-विजयिनी रूप में प्रस्तुत करता है) श्रीचैतन्यचरितामृत में चार स्थानों पर उद्धृत हुआ है। मध्यलीला श्लोक सत्रह में जब श्रीरामराय ने महाप्रभु के आगे साध्यतत्व-निर्णय प्रसङ्ग में व्रज के कान्ताप्रेम का श्रेष्ठत्व निरूपित किया है, तब यह श्लोक दृष्टान्त रूप में दिया है। इसी अध्याय में गोपीप्रेम के साधन प्रसङ्ग में लिखा है –

''गोपी अनुगति बिना ऐश्वर्य-ज्ञाने ।
भजिलेह नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने ।।
ताहाते दृष्टान्त लक्ष्मी करिलो भजन ।
तथापि ना पाइलो व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ।।''

तथापि उक्ति के प्रमाणस्वरूप यह श्लोक उद्धृत किया है। फिर मध्यलीला के ही नवें परिच्छेद में दक्षिण भारत में श्रीरङ्गक्षेत्र में महाप्रभु ने श्रीश्रीलक्ष्मीनारायण के उपासक श्रीवैष्णकट भट्ट से सख्यभाव से परिहास करते हुए कहा था –

''प्रभु कहे - भट्ट ! तोमार लक्ष्मीठाकुराणी ।
कान्तवक्षःस्थिता पतिव्रता शिरोमणि ।।
आमार ठाकुर कृष्ण गोप गोचारण ।
साध्वी हैया केनो चाहे ताहार सङ्गम ।।
एइ लागि सुखभोग छाड़ि चिरकाल ।
व्रत नियम करि तप करिलो अपार ।।
भट्ट कहे - कृष्ण नारायण एकइ स्वरूप ।
कृष्णेते अधिक लीला वैदग्यादि रूप ।।
तार स्पर्शे नाहि जाय पतिव्रता-धर्म ।
कौतुके लक्ष्मी चाहेन कृष्णेर सङ्गम ।।

कृष्णसङ्गे पतिव्रता-धर्म नहे नाश ।
अधिक पाइये आर रासविलास ।।
विनोदिनी लक्ष्मीर हय कृष्णे अभिलाष ।
इहाते कि दोष केने करो परिहास ।।
प्रभु कहे - दोष नाहि ताहा आमि जानि ।
रास ना पाइलो लक्ष्मी शास्त्रे इहा शुनि ।।''

इसी के दृष्टान्त रूप में यह श्लोक उद्धृत करते हैं। फिर नीलाचल में श्रीवल्लभ भट्ट के अभिमान-खण्डन प्रसङ्ग में श्रीमन्महाप्रभु ने 'ऐयवर्यज्ञाने लक्ष्मी ना पाइलो व्रजेन्द्रनन्दन' इस उक्ति के प्रमाण स्वरूप यह श्लोक उद्धृत किया था ।। 60 ।।

**आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां**
**वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।**
**या दुस्त्यजं स्वजनमार्य पथञ्च हित्वा**
**भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।। 61।।**

---

**अन्वयः** - अहो ! याः (गोप्यः) दुस्त्यजं स्वजनम् आर्यपथं च हित्वा (परित्यज्य) श्रुतिभिः (वेदैः) विमृग्यां (अन्वेषणीयां) मुकुन्दपदवीं (मुकुन्दस्य श्रीकृष्णस्य पदवीं प्राप्ति मार्गं) भेजुः (भजनपराः बभूवुः) वृन्दावने आसां चरणरेणुजुषां गुल्मलताऔषधीनां (मध्ये) किम् अपि अहं स्याम् (भवेयम्) ? ।। 61।।

**अनुवाद**- अहो ! जिन व्रजदेवियों ने दुस्त्यज पति आदि स्वजनों का और आर्यपथ का

परित्याग कर श्रुतियों द्वारा अन्वेषणीय मुकुन्द श्रीकृष्ण को पाने के मार्ग (प्रेम) का आश्रय लिया है, मेरी अभिलाषा है कि मैं इनके चरणों की संसेवी वृन्दावनस्थ लता औषधि आदि में से कोई एक बन सकूँ ।। 61 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रीमत् सनातन गोस्वामिपाद ने वृहत्तोषणी टीका में इस श्लोक की व्याख्या-भूमिका में लिखा है - उद्धवजी ने श्रील व्रजदेवियों का सर्वश्रेष्ठत्व कीर्तन कर उनका दास्य प्राप्त करने की इच्छा की, फिर भी यह सोचकर कि वह अतिशय दुर्लभ है वे यह प्रार्थना कर रहे हैं कि उन लोगों के श्रीचरणकमलों की रज के सम्पर्क में आने वाले गुल्म-लता आदि के रूप में मेरा जन्म हो। श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने लघुतोषणी में लिखा है - पूर्व कथित रीति के अनुसार यद्यपि श्रील व्रजदेवियाँ श्रीकृष्ण की नित्यप्रेयसियाँ हैं, तथापि जन्म आदि लीलाओं के आवेश में (प्रकटलीला में) वे यह बात भूल गई हैं। श्रीकृष्ण परपुरुष हैं और वे परवधुएं, इस अभिमान को लेकर उन्होंने श्रीकृष्ण के लिये लोकधर्म वेदधर्म आदि की मर्यादा का लंघन किया है और प्रगाढ़ अनुराग के आवेश में उस आकुल पिपासामय पदवी (मार्ग) का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है, जो वेददुर्लभ है।

उद्धवजी ने व्रजरामाओं की अनुगति की प्रार्थना कर मन में सोचा कि इन व्रजरामाओं की श्रीचरणरज ही इनका आनुगत्य पाने की एकमात्र मुख्य साधना है। मन ही मन ऐसा निश्चय कर वे वृन्दावन में स्थावर (जड़ अचेतन) के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना कर रहे हैं, क्योंकि ऐसा होने से इन व्रजदेवियों की श्रीचरणरज का स्पर्श प्राप्त हो सकता है।

यहाँ प्रणिधानयोग्य विषय यह है कि गोपियों के आनुगत्य के बिना गोपीभाव से श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा प्राप्त नहीं की जा सकती। "गोपी अनुगति बिना ऐश्वर्य ज्ञाने। भजिलेह नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने।।" (चै. च.) यहाँ गोपी-आनुगत्य का अर्थ ही है गोपीभाव का आनुगत्य। गोपिका-आनुगत्य में भजन कर श्रुति-अधिष्ठात्री देवियों और दण्डकारण्यवासी गोपाल-उपासक ऋषियों ने व्रज में गोपीदेह प्राप्त कर व्रजेन्द्रनन्दन की सेवा पाई है, यह बात पुराणों में देखने को मिलती है।

**"कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः ।**
**कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः।।**
**यथा त्वल्लोकवासिन्यो कामतत्वेन गोपिकाः ।**
**भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनि नस्तथा।।"**

(वामन पुराण)

अर्थात् 'ब्रह्मलोकवासिनी श्रुतियों की अधिष्ठात्री देवियों ने श्रीकृष्ण-दर्शन कर प्रार्थना की

थी - हे कृष्ण ! तुम्हारी कोटि कन्दर्प-विनिन्दि (करोड़ों कामदेवों को लजाने वाली) अङ्गकान्ति देखकर हमारे चित्त मदन-विक्षुब्ध हो गये हैं, मन में कामिनीभाव से तुम्हारी सेवा करने की लालसा जग गई है। वृन्दावन वासिनी गोपियाँ प्राणवल्लभ-ज्ञान से मधुरभाव से तुम्हारी सेवा करती हैं, उसी भाव से तुम्हारी सेवा करने की प्रबल वासना हुई है।' इन सबने श्रीकृष्ण की कृपा से व्रज में गोपीगर्भ से जन्म लेकर गोपीभाव से श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्त की। फिर पद्मपुराण में देखते हैं -

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।
रामं दृष्टा हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ।।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ।।"

पूर्वकाल में दण्डकारण्य में कुछ कृष्णोपासक महर्षि थे। श्रीरामचन्द्र पिता के सत्य-वचन का पालन करने के लिये सीता और लक्ष्मण के साथ वहाँ पहुँचे, तो उन्हें देखकर उन सब महर्षियों के मन में कान्ताभाव से अपने उपास्य श्रीकृष्णविग्रह के माधुर्य-आस्वादन की प्रबल कामना उत्पन्न हुई। लज्जावश श्रीरामचन्द्र से किसी वर की प्रार्थना न करने पर भी वाञ्छाकल्पतरु श्रीराम की कृपा से उन्होंने रागभक्ति-साधन अनुष्ठान में सिद्धि प्राप्त कर गोकुल में गोपीगर्भ से जन्म लिया और गोपीभाव से श्रीकृष्ण की सेवा का अधिकार पाया।

उद्धवजी श्रीकृष्ण के नित्यपार्षद और सख्यमिश्रित दास्यरस के भक्त हैं। वे साधकजीव नहीं हैं। वे श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित होकर गोप-गोपियों की सान्त्वना के लिये व्रज गये। विरह में गोपियों के उत्ताल प्रेमसिन्धु की विविध सञ्चारी भाव-तरङ्गों को देखकर चमत्कृत हो गये। फलस्वरूप उनके हृदय में गोपियों के प्रति परम भक्ति का उदय हुआ; उन्होंने उनकी श्रीचरणरेणु पाने की आशा से व्रज में गुल्म आदि के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की। इससे गोपीभाव के परम महत्व का ही प्रकृष्ट परिचय मिलता है। उद्धवजी ने गोपीभाव की दुर्लभता देखकर उन लोगों की श्रीचरणरेणुमात्र की कामना से गुल्मलतादि बनना चाहा है; यह वस्तु साधारण साधकों को कैसे मिल सकती है ? ऐसी आशंका करना उचित नहीं। इस महाप्रभु के युग में गोपीभाव के सर्वोच्च स्तर पर आरूढ़ राधारानी के दास्य भाव की या मञ्जरीभाव की उपासना श्रीमन्महाप्रभु और उनके श्रीचरणाश्रित श्रील रूप-सनातन आदि आचार्यपादगण का अवदान है।

जो भी हो, उद्धवजी आरम्भ में ही बड़े चकित होकर बोले - अहो ! मैं अतिशय दुर्लभ वस्तु की लालसा कर रहा हूँ। इस वृन्दावन की ये सब लता-गुल्म-औषधियाँ परम सौभाग्यवान् सौभाग्यवती हैं, क्योंकि इन सबने व्रजाङ्गनाओं की श्रीचरणरेणु अनायास मस्तक पर धारण करने का सौभाग्य प्राप्त

किया है। मैं यदि इनमें से किसी एक रूप में जन्म पा सकूँ, तो अनायास व्रजाङ्गनाओं की श्रीचरणरेणु का कण पाकर धन्य हो सकता हूँ।

उद्धवजी मन ही मन वितर्क कर रहे हैं - यदि कोई मुझसे कहे कि ब्रह्माजी ने किसी भी गोकुलवासी की चरणरेणु की कामना से गोकुल में स्थावर-रूप से जन्म लेने की प्रार्थना की थी, क्योंकि लोकालय (बस्ती) में स्थावर-जन्म होने से वहाँ के गोप-गोपियों की श्रीचरणरेणु-प्राप्ति की एकान्त सम्भावना है, पर तुम तो वृन्दावन में स्थावर-जन्म की इच्छा कर रहे हो। गोपियाँ हैं गृहवधुएं, वृन्दावन में उनकी पगरज तुम्हें कैसे मिलेगी ? इसके उत्तर में कहते हैं - व्रज में कहीं ही मुझे अति दुर्लभ गोपी-पगरज मिल जायेंगी, ऐसी बात नहीं है। वहाँ स्थावर-जन्म लेकर मुझे उसके लिये साधना करनी होगी। गोकुल में विभिन्न भावों की स्थावर जातियाँ हैं। वृन्दावन में केवल मधुरभावयुक्त गोपियों की श्रीचरणरेणु की लालसा से भरी स्थावर जाति ही है, तभी मैं अपने भाव-पोषक सजातीयआशय सङ्ग और स्थान की लालसा से वृन्दावन में जन्म पाने की प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं जिन लताओं के पार्श्व में जन्मग्रहण करूँगा, उनके हृदय में भी श्रीगोपी-चरणरेणु पाने की लालसा होगी, अन्यथा उनका जन्म इस वृन्दावन में क्यों होगा ? इससे ज्ञात होता है कि व्रज की तृण-गुल्म आदि स्थावरजाति भी असाधारण सौभाग्य की धनी है। वृन्दावनवासी स्थावर-जङ्गम के प्रति ऐसे उत्तमता-ज्ञान से ही साधक का व्रजवास सार्थक होता है, अन्यथा यह मानने से कि ये कर्मफल भोगने के लिये साधारण जीवयोनि में भ्रमण कर रहे हैं साधक अपराधी बनता है और उसकी अभीष्ट-सिद्धि सुदूरपराहत हो जाती है (पिछड़ जाती है)।

जो भी हो, उद्धवजी ने कहा - मैं जिस लता के पार्श्व में रहूँगा, वह वायुसञ्चरण से मेरे अङ्गपर गिरेगी और मैं भी उसके अङ्गपर गिरूँगा। इस प्रकार उस सजातीयाशय (समान आशय, अभिलाषा) लता का सङ्ग मेरी गोपीरज-प्राप्ति की लालसा को पुष्ट करेगा। यदि कोई कहे कि गुल्मलता रूप में जन्म लेकर तो पथ के बाहर ही रहोगे, गोपियाँ पैदल चलकर रास्ते पर ही जायेंगी, तुम उनकी पदरेणु कैसे प्राप्त करोगे ? यहाँ उद्धवजी का अभिप्राय यही है कि वृन्दावन में जब श्रीकृष्ण की मधुर मुरली बजेगी, तब उसके मोहन स्वर से आकृष्ट हो कर लक्ष-लक्ष व्रजबालायें उन्मादिनी हुई मुरलीधर के निकट अभिसार करेंगी। उस समय उन्हें पथ-विपथ का कोई ध्यान नहीं रहेगा; उस अवस्था में उनकी श्रीचरणरज प्राप्ति ही मेरा एकान्त काम्य है। वृक्ष आदि बनने की प्रार्थना नहीं की, कारण - वृक्ष ऊँचा होता है, व्रजबालाओं की श्रीचरणरज का सम्यक् निषेवन (सेवन) सम्भव नहीं। गुल्म-लता-औषधियों में उत्तरोत्तर न्यूनता का उल्लेख दैन्य की उत्तरोत्तर अधिकता प्रकट करता है। परम दैन्य का उद्रेक होने से व्रजबालाओं के महत्व के आगे वे स्वयं को अतिशय दीन अनुभव कर रहे हैं। उनका यह दैन्य तृण-गुल्म आदि के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना में पर्यवसित हो गया है। यद्यपि

उद्धवजी ने पहले व्रजबालाओं के माहात्म्य का प्रचुरता के साथ गायन किया है, तथापि अतिशय उत्सुकता के साथ पुनः गाने लगे- व्रजाङ्गनाओं ने मुकुन्द की पदवी अर्थात् उनकी प्राप्ति के सर्वोत्कृष्ट उपाय कृष्णप्रेम की चरम कक्षा में आरूढ़ महाभाव का आश्रय लेकर उनका भजन किया है। यहाँ मुकुन्द कहा। ''अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'' (भा. 5/6/18) भगवान् मुकुन्द भजन करने वाले को मुक्ति दिया करते हैं, (मुक्तिं ददातीति मुकुन्दः) किन्तु प्रेमभक्ति कभी नहीं देते। ''कृष्ण यदि छुटे भक्ते भक्ति मुक्ति दिया। कभु प्रेमभक्ति ना देन राखेन लुकाइया।।'' (चै. च.) इस निरुक्ति के अनुसार प्रेमदान में ही मुकुन्द की कृपणता सूचित की गई, कारण - प्रेमभक्ति अतिशय दुर्लभ है। इससे व्रजदेवियों के प्रेम के परमसार महाभाव की महादुर्लभता की ही सूचना दी गई। व्रजाङ्गनाओं ने दुस्त्यज स्वजन, आर्यपथ, लोक-वेद-मर्यादा त्यागकर मुकुन्द का भजन किया है। यह लोक-वेद-मर्यादा लक्ष्मीजी, श्रीरुक्मिणी सत्यभामा आदि महिषियों के लिये भी दुस्त्यज हैं, वे श्रीकृष्ण को सर्वलोक- सर्व वेदसार मानकर ही भजन करती हैं इसलिये श्रीकृष्ण के प्रति उनका राग उत्कट नहीं। किन्तु श्रील व्रजाङ्गनाओं ने श्रीनन्दनन्दन-बुद्धि से गाढ़ अनुराग के आवेश में स्वजनआर्यपथ आदि त्यागकर जिस मुकुन्द पदवी का भजन किया है, उस पथ का अन्वेषण श्रुतियाँ भी करती हैं, पर निर्देश नहीं कर सकतीं (उस पथ को श्रुतियाँ खोजती हैं, पर प्राप्त नहीं कर पातीं)। अर्थात् व्रजाङ्गनाओं ने जिस प्रीतियुक्त आकुल पिपासा के आवेग से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है, वह वेदविधि के अगोचर है, कारण - वेद जीव के कर्तव्यमय पथ का ही उपदेश दे सकते है; मुकुन्द के प्रति आकुल पिपासा की खबर वेद कैसे रखेंगे ?

श्रीमज्जीव गोस्वामिपाद ने लिखा है - ''तदेवं मुकुन्द पदवीमिति तत्रापि श्रुतिभिर्विमृग्यामिति तस्या नित्यत्वं सर्वोत्तमत्वञ्च गम्यते।'' (लघुतोषणी) अर्थात् यह मुकुन्दपदवी श्रुतियों के लिये भी अन्वेषणीय है, ऐसा उल्लेख कर व्रजाङ्गनाओं के स्वजन-आर्यपथ-त्याजक परम अनुरागमय परकीयभाव का नित्यत्व और सर्वोत्तमत्व दिखाया गया, कारण- जो वेदों के लिये भी दुष्प्राप्य है, वह कभी अनित्य नहीं हो सकता। जो लोग श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद के वाक्य के अति गूढ़ तात्पर्य को न समझ पाकर यह मन्तव्य व्यक्त करते हैं कि परकीयाभाव का नित्यत्व नहीं है या यह प्रकटकालमात्र स्थायी है - यही श्रीजीव गोस्वामिपाद का अभिमत है, वे श्रीजीवगोस्वामिपाद की इस श्लोक की व्याख्या देखें। विशेषतः श्रीकृष्ण के नित्यपार्षद भक्तगणशिरोमणि उद्धवजी ने जिस भाव का आनुगत्य चाहा है, जिसकी महामहिमा का कीर्तन किया है और जिसके लिये प्रार्थना की है, वह सर्वोत्तम और नित्य है, इसमें और सन्देह क्या ? 'भेजुः' इस अतीतकाल के क्रियापद के प्रयोग से यदि कोई सोचे कि व्रजाङ्गनाओं ने अतीत में मुकुन्द का भजन किया था, अब तो कर नहीं रहीं; उन लोगों के भजन का नित्यत्व प्रतिपादित नहीं होता - तो

ऐसी आशंका स्वतः ही निरस्त हो गई ।। 61 ।।

**या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-**
**र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।**
**कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं**
**न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्।। 62।।**

---

**अन्वयः** - भगवतः कृष्णस्य (असमोर्द्धरूपत्वेन प्रसिद्धस्य तस्य स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य यत्) प्रपदारविन्दं (प्रकृष्टाविर्भावयुक्तं पदारविन्दं) श्रिया (लक्ष्म्या) अजादिभिः (ब्रह्मादिभिः) आप्तकामैः (आत्मारामैः भक्तैः) योगेश्वरैः (शुद्धभक्तियोगिभिः) च अपि आत्मनि (मनसि चिन्तितम्) अर्चितं (पूजितं) रासगोष्ठ्यां याः (गोप्यः) वै (निश्चये) स्तनेषुन्यस्तं तत् (पदारविन्दं) परिरभ्यः (आलिङ्गय) तापं (कामतापं) विजहुः (परितत्यजुः) ।। 62।।

**अनुवाद**- स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के जिन पदारविन्दों की अर्चना लक्ष्मीजी, ब्रह्मा आदि, आप्तकाम एवं योगेश्वरगण अपने-अपने हृदय में किया करते है, रासमण्डल में गोपियों ने अपने-अपने स्तनमण्डल पर अर्पित उन्हीं चरणकमलों को आलिङ्गन कर अपना कन्दर्प ताप दूर किया था ।। 62 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

श्रील व्रजदेवियों ने जिस प्रेममयी आकुल पिपासा के पथ का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था केवल उस गाढ़ अनुरागमय पथ की प्रशंसा से ही उनके उत्कर्ष की बात पूरी हो जाय, ऐसा नहीं। उनकी भगवत्प्राप्ति भी परम उत्कर्षयुक्त है - निखिल प्रेमिक समाज की भगवत्प्राप्ति की अपेक्षा

कहीं अधिक उत्कर्षयुक्त ! जैसे उनका कृष्णप्राप्ति का साधन (अनुरागमय आकुल पिपासा) सर्ववेददुर्लभ है, वैसे ही उनकी कृष्णप्राप्ति भी सर्वोत्तम है। उद्धवजी इस श्लोक में इसी परम उत्कर्ष का प्रतिपादन कर रहे हैं। यह सर्वत्र ही प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण को जिस भाव से व्रजदेवियों ने प्रात किया था, उस भाव से और कोई भी नहीं पा सका।

"परिपूर्ण कृष्णप्राप्ति एइ प्रेमा हैते ।
एइ प्रेमार वश कृष्ण - कहे भागवते ।।"
"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत् स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।"

सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलीं गोपियों से श्रीकृष्ण ने कहा - "(मेरे प्रति) भक्ति ही प्राणियों के संसार-मोचन में और मेरा पार्षदत्व प्रदान करने में समर्थ है। किन्तु मेरे भाग्य से मेरे प्रति तुम्हारा जो स्नेह है, वह मुझे बलपूर्वक आकर्षित कर तुम लोगों के निकट ले आता है।

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।।"

(भा. 1/3/28)

असमोर्द्ध स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्यपूर्ण हैं। वे व्रजबालाओं के महाभाव प्रेम द्वारा भाव्य हैं। उन्हीं स्वयं भगवान् के प्रकट आविर्भावयुक्त पदारविन्दों को स्नेहमय अनुराग से आलिङ्गन कर इन व्रजबालाओं ने विरहजनित सन्ताप विदूरित किया था। मथुरा-नागरियों ने कंस के रङ्गालय में श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त करके भी व्रजबालाओं के सौभाग्य की ही भूरि-भूरि प्रशंसा की थी -

"गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य
रूपं लावण्यसारमसमोर्द्धमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधामयशसः श्रिय ऐश्वरस्य ।।"

(भा. 10/44/14)

'गोपियों ने ऐसी क्या तपस्या की है कि वे श्रीकृष्ण के लावण्यसार असमोर्द्ध स्वयं सिद्ध क्षण-क्षण नवीन दुर्लभ और यश-सौन्दर्य-ऐश्वर्य के एकमात्र आश्रय इस रूप का नयनों से पान करती हैं।'

"गोपीभाव दर्पण, नव-नव क्षणे क्षण,
तार आगे कृष्णेर माधुर्य।
दोंहे करे हुड़ाहुड़ि, बाढ़े मुख नाहि मुड़ि,

नव-नव दोंहार प्राचुर्य।।''

(चै. च.)

श्रील व्रजदेवियों ने गाढ़ अनुरागमय आवेश के साथ श्रीकृष्ण के श्री चरणारविन्दों को आलिङ्गन किया था ''यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु'' (भा. 10/31/19) हे प्रिय ! तुम्हारे श्रीचरणकमल अति सुन्दर और कोमल हैं, इन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर डरते हुए धारण करती हैं। और 'एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात्' (भा. 10/32/5) -एका' उपलक्षण से सभी ने श्रीकृष्णचरण वक्षों पर रख कर कामताप शान्त किया था। इसी प्रकार 'व्रजाङ्गनाओ, मेरे पदारविन्द आलिङ्गन करो' इस भाव से इस विषय में श्रीकृष्ण का गाढ़ अनुरागमय आवेश दिखा रहे हैं - 'न्यस्तं' अर्थात् श्रीकृष्ण ने गाढ़ अनुरागयुक्त आवेश के साथ उन लोगों के महाभाव नामक प्रीति-रसवासित स्तनमण्डलों पर बलपूर्वक ही अपने पदकमल अर्पित किये थे।

यहाँ 'न्यस्तं' पद उल्लेख करने की ध्वनि यह है - कोई अपना महामूल्यवान रत्न किसी बड़े धनी और विश्वासपात्र के पास सुरक्षित रख देता है। जहाँ महामूल्यवान रत्न का उत्कर्ष ही होगा, अपकर्ष की सम्भावना नहीं, ऐसे स्थान में ही आदमी उसे रखता है। इसी प्रकार श्री कृष्ण ने अपने प्रकट आविर्भावयुक्त पदारविन्द उन व्रजरामाओं के महाभावाख्य प्रीतिरसवासित स्तनमण्डलों पर सुरक्षित रखे थे, जो अपने स्वयं के सुख-तात्पर्य से शून्य हैं, जो श्री कृष्ण के सुख की भावना को लेकर तन्मय हैं। अर्थात् यदि कोई मेरे इन प्रकृष्ट आविर्भावयुक्त चरणकमलों को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे एकान्त भाव से व्रजरामाओं की ही शरण लेनी होगी। यदि उद्धवजी 'न्यस्तं' न कहकर 'अर्पितं' कहते, तो ऐसी अर्थसरसता प्रकट न होती।

वैकुण्ठेश्वरी उन चरणारविन्दों की भावविशेष के साथ अपने मन में ही अर्चना किया करती हैं, किन्तु श्रील व्रजाङ्गनाओं की तरह साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं कर पातीं। ''यद्वा कृष्णस्य श्रीव्रजेन्द्रनन्दनस्य यत् प्रपदारविन्दं तदीयासमोर्द्ध सौन्दर्यसार सर्वस्वमवेक्ष्य मोहितया श्रिया तदुपलब्धये तपआदिभिरर्चितमिति' (वृहत्तोषणी) अर्थात् श्रीव्रजराजनन्दन के असमोर्द्ध सौन्दर्यसारसर्वस्व प्रकृष्ट आविर्भावयुक्त पदारविन्द दर्शन कर वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी तपस्या आदि द्वारा अर्चना करती हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर सकतीं। ''ना पाय कृष्णेर सङ्ग, बाढ़े तृष्णार तरङ्ग, तप करे, तभु नाहि पाय'' (चै. च.)। ब्रह्मारुद्र आदि आधिकारिक परम भक्त भक्तिभरे हृदय से उन श्रीचरणों की अर्चना करते हैं। अथवा 'अजादि-ब्रह्मादि-सेव्या योग माया आदि शब्द का अर्थ है विद्याशक्ति इत्यादि। वे इन चरणों की अर्चना करते हैं, अर्थात् विविध उपासना द्वारा सम्मानित करते हैं। आप्तकाम जीवन्मुक्तगण श्रीकृष्णचरणों की आरक्तिम छटा और तापहरणता मधुररसप्रावित्व आदि गुण देखकर अर्चना करते हैं। ''मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा

भगवन्तं भजन्ते'' (नृसिंहतापनीश्रुति 2/5/16 शंकरभाष्य) अथवा जीवन्मुक्त पुरुष प्रकृष्ट या सर्वथा उत्कृष्ट जानकर हृदय में उन श्री चरणों की अर्चना करते हैं अर्थात् वैष्णव-कृपा से मुक्ति को तुच्छ अनुभव कर परमफल रूप में श्रीकृष्णपादपद्मों का आश्रय लेते हैं। योगेश्वर 'योग' अर्थात् भक्तियोग, उसमें जो ईश्वर हैं - अर्थात् जो भक्तियोग साधना में समर्थ समग्र हैं, जिनकी भक्ति-प्रचार में निष्ठा है, वे भी सदा आत्मा से परम उत्तम विशुद्धचित्त से श्रीकृष्णचरणों की अर्चना करते हैं या प्रेमध्यान आदि से सेवा करते हैं। ये सभी साक्षात् दर्शन के अभाव में मन में ही अर्चना किया करते हैं। इससे ब्रह्मा आदि अर्चकों का उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व समझना होगा। इस प्रकार इन सबके द्वारा अर्चित कहने से श्रीकृष्ण-पदारविन्दों का क्रमशः सर्वार्थप्रदत्व, परमफलत्व और परमाराध्यत्व आदि माहात्म्य भी वर्णित हुआ। (वृहत्तोषणी व्याख्या)

ऐसे सर्वदुर्लभ श्रीकृष्ण-चरणारविन्द श्रीलव्रजबालाओं ने परिपूर्णरूप से ही, प्राप्त किये हैं। अर्चितं पद 'क्त' प्रत्यय निष्पन्न हुआ है, इससे अर्चना का सर्वदिकत्व बताया गया है। प्राप्ति का स्थान और काल निर्देश कर कहा 'रासगोष्ठयाम्' रास की उपक्रम-सभा में यमुना पुलिन पर उन्होंने श्रीकृष्णपदारविन्द प्राप्त किये थे। इस रासलीला के स्थान और काल का ऐसा अपूर्वत्व है कि श्रील व्रजदेवियों ने उद्धव जी से श्रीकृष्ण का भेजा सन्देश सुनकर रासरजनी का स्मरण कर उनसे पूछा था -

**''ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-**
**वृन्दावने कुमुद-कुन्द-शशांक-रम्ये ।**
**रेमे क्वणच्चरण नूपुररासगोष्ठ्या-**
**मस्माभिरीड़ितमनोज्ञकथः कदाचित् ।।''**

हे यदुप्रवीर ! यहाँ हम लोगों ने तुम्हारे प्रभु के साथ बहुत-सी रात्रियों में विहार करने का सौभाग्य प्राप्त किया था। उनमें भी जैसी परिपूर्ण आस्वादन-चमत्कारिता रासरजनी में निहित थी, वैसी किसी भी रजनी के विलास में न थी। तुम्हारे प्रभु क्या उन रासरजनियों की बात स्मरण करते हैं ? उन रजनियों की बात मन में आते ही हृदय एक अनिर्वचनीय उन्मादना से अधीर हो उठता है। उस रात्रि को वृन्दावन के आकाश में उदित हुआ था शारदीय पूर्ण शशधर ! उस दिन चन्द्रमा ने किञ्चित् भी ज्योत्स्ना अपने भण्डार में न रखकर अपना समस्त ज्योत्स्नालोक वृन्दावन यमुनापुलिन पर बिखेर दिया था। उसकी शुचि शुभ्र किरणमालाओं से वृन्दावन यमुना-पुलिन उद्भासित हो उठा था। उस रात के ज्योत्स्ना-आलोक में हमारी सूक्ष्म रोमावली भी दीख रही थी। कालिन्दी के जल में फूटी थी कुमुद आदि शुभ्रवर्ण जलजकुसुमावली और तटवर्ती उपवनों में शुभ्र वर्ण कुन्द-मल्लिका आदि कुसुम विकसित हुए थे। वह चाँद और वह कुसुमावली अन्य किसी दिन इस प्रकार उदित और विकसित नहीं हुए थे; किसी

दिन होने की सम्भावना भी नहीं। और उस दिन यमुना-पुलिन की बालुकाराशि भी कर्पूरचूर्ण की तरह शुभ्र सुकोमल स्निग्ध सुगन्धित थी। उस रात की बालुकाराशि हम लोगों के नृत्य के समय प्रेम से विगलित हो गई थी, इसलिये हम तीन सौ करोड़ व्रजाङ्गनाओं के कण्ठों में हाथ डालकर तुम्हारे प्रभु ने नृत्य किया तो एक बालुकाकण भी नहीं उड़ा। विशेषत: आकाश में विमानस्थित देव-गन्धर्व आदि ने विपुल शुभ्र सुगन्धी पुष्प बरसाये, तो वह रासस्थली का आस्तरण (बिछावन) बन गया। उस रासमण्डली में नृत्य के समय हम सबके पैरों के नूपुरों, कटिकिंकिणियों, हथकंगनों की जो अति सुमधुर ध्वनि उठी, उससे विविध वाद्य यंत्रों की ध्वनि भी तिरस्कृत हो गई थी। हे यदुप्रवीर ! उस रासरजनी में सब प्रियाओं के साथ उसका रासविलास हुआ था। वे सभी प्रियायें अन्तर्धान हो गई हैं, कारण- उसकी जिन सब प्रियाओं ने वह सौभाग्य प्राप्त किया था, उन्हें ऐसा दुरन्त विरह हो ही नहीं सकता और ऐसे विरह में वे कभी जीवित रह भी नहीं सकतीं। इसी अभिप्राय से ऐसा कहा है - ''तदा प्रियाभि:'', उस समय जो उनकी प्रियायें थीं। यद्यपि ये लोग ही वे रासनायिकायें हैं, तथापि इस विरह में वे सब बातें स्वप्न की तरह लगती हैं। हे दूत ! उस सुखद रसमय रास आदि विहार की बात क्या वह स्मरण करता है ? श्रील व्रजाङ्गनाओं ने उसी रसमयी रासरजनी में अपने कुचप्रदेशों पर प्राणवल्लभ के श्रीचरणारविन्द प्राप्त किये थे, किन्तु उन्होंने स्वयं यत्न कर प्राप्त किये थे, ऐसा नहीं श्रीकृष्ण ने स्वयं ही उत्तम स्थान मानकर उन कुचप्रदेशों पर अपने श्रीचरणकमल न्यस्त किये थे।

यहाँ जानने की बात यह है कि श्रील गोपिकाओं के सङ्ग की महिमा के फलस्वरूप उद्धवजी के हृदय में ऐसा भाव उत्पन्न हुआ, ऐसा रहस्यबोध हुआ। सुबल आदि की तरह सख्यभाव में उद्धवजी के हृदय का गूढ़ अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण ने इन लोगों के वक्ष पर अपने श्रीचरणकमल विन्यस्त कर उनका उस समय का विरहताप नष्ट किया था। इस समय इनका विरहताप इतना विशाल है और श्रीकृष्ण ने इसी ताप के अपनोदन के लिये मुझे यहाँ भेजा है, अतएव इनके विरहताप को नष्ट करने के लिये एकान्त रूप से प्रयत्न करना मेरा कर्तव्य है ।। 62 ।।

**वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्नशः।**
**यासां हरिकथोदगीतं पुनाति भुवनत्रयम्।। 63।।**

**अन्वयः** – यासां (नन्दव्रजस्त्रीणां) हरिकथोदगीतं (हरिकथायाः उद्गानं) भुवनत्रयं पुनाति (पवित्रीकरोति, अहं) नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुम् अभीक्ष्नशः (प्रतिक्षणमेव) वन्दे (प्रणमामि) ।। 63।।

**अनुवाद**– जिनकी श्रीकृष्णकथा के उच्च गायन ने त्रिभुवन को पवित्र किया है, श्रीनन्दव्रज की उन्हीं रमणियों की श्री चरणरेणु की मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ ।। 63 ।।

**गीतामृतलेश टीका —**

उद्धवजी श्रील व्रजदेवियों की ऐसी महामहिमा का वर्णन करते-करते दैन्यसागर में ऐसे निमग्न हो गये कि वे उन लोगों के श्रीचरणों में साक्षात् प्रणाम करने का साहस न कर पाये। कम्पगद्गद् होकर चाटुवचनों का प्रयोग कर कहने लगे– अहो ! इन लोगों की ऐसी महामहिमा के कीर्तन की क्या तो मेरी शक्ति, और क्या मेरी योग्यता ? इस वृन्दावन में श्रीनन्दव्रजवासिनी गोप-रमणियों के श्रीचरणकमलों की रेणु तो सर्वत्र बिखरी है; मैं उसके एक कण को निरन्तर प्रणाम करता हूँ – तभी कहा 'वन्दे' ! जब तक मुझे अनायास इन लोगों की श्री चरणरज-प्राप्ति के अनुकूल इस व्रज में तृण-गुल्म आदि के रूप में जन्म लेने का सौभाग्य नहीं मिलता, तब तक मैं इनके श्रीचरणों के असंख्य रजरेणुओं में से एक रेणु की प्रतिक्षण वन्दना करता हूँ। उद्धवजी ने व्रज में तृण-गुल्म आदि के रूप में जन्म ग्रहण करने की प्रार्थना की है, क्योंकि वे इन लोगों के श्रीचरणों की रेणु प्राप्त करना चाहते है। इन लोगों की पगरज के एक कण की सारे आयुष्काल (जीवनभर) निरन्तर भक्तिभाव से वन्दना या प्रार्थना करना उसी लक्ष्य की प्रकृष्ट साधना है। अपने मन में ऐसा निश्चय कर उद्धवजी ने यह श्लोक गाया है। व्रजदेवियों के श्रीमुख निःसृत श्रीहरिकथा का उच्चकीर्तन त्रिभुवन को पवित्र कर रहा है उद्धव जी ने जिस दिन श्रीनन्दव्रज में आगमन किया, उसके अगले दिन प्रातः काल ही उन्होंने व्रजरमणियों का उच्च कृष्णकीर्तन सुना था –

**''उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः ।**
**दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो, निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ।।''**

(भा. 10/46/46)

श्रीपाद शुकदेव मुनि कहते हैं – हे राजन् ! व्रजाङ्गनाओं ने उच्च स्वर में कमलनयन श्रीकृष्ण का गुणगान किया, तो उनकी वह गीतध्वनि दधिमन्थन के शब्द के साथ मिलकर गगनस्पर्शी हो उठी। वह ध्वनि सभी दिशाओं के अमङ्गल अर्थात् इहलोक-परलोक के अशेष दुःख, उसके मूल कर्म और कर्मवासना तक को विनष्ट कर देती है। अथवा, व्रजाङ्गनाओं से सम्बन्ध रखने वाली हरिकथा (इस

गीतपञ्चक की कथा) महानुभावगण उच्चस्वर में कीर्तन करते हैं, तो वह ऊर्द्ध-मध्य-अधः त्रिभुवन को पवित्र करती है।

इस प्रकरण में श्रील वेदव्यास आदि महावक्ताओं का तात्पर्य यही है कि समस्त भागवतगणों में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त-भागवतगण ही श्रेष्ठ हैं, कारण- अन्यान्य भागवतगणों की अपेक्षा श्रीकृष्णभक्तों में भक्ति का पूर्ण आविर्भाव होता है। फिर उनमें भी लीलापरिकरगण ही अन्तरङ्ग होते हैं, क्योंकि अन्यान्य कृष्णभक्त इन लीलापरिकरों के ही अनुगत होते हैं। श्रीकृष्ण के लीलापरिकरों में भी उद्धवजी श्रेष्ठ हैं। एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है - ''त्वं तु भागवतेष्वहं'' समस्त भागवतों में तुम्हारे रूप में मैं हूँ (भागवतगण में मैं उद्धव हूँ) । श्रीउद्धव ''कृष्णस्य दयितः सखा'' कृष्ण के प्रिय और सखा हैं। ''नोद्धवोऽण्वपि मन्यूनः'' अर्थात् उद्धवजी मुझ से अणुमात्र भी कम नहीं। इस प्रकार बहुत-से प्रमाणों से उद्धवजी का सर्वश्रेष्ठत्व स्थापित किया गया हैं उन्हीं भागवतश्रेष्ठ श्रीउद्धव की भी व्रजदेवियों के भाव के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की स्पृहा, उनके प्रति ऐसे सादर दैन्य की बात सुनी जाती है। पट्टमहिषियों के प्रति उनका ऐसा सादर दैन्य देखने में नहीं आता। अतएव ऐसा कौन है जो व्रजदेवियों के श्री चरणों का आनुगत्य न करेगा ? फिर इन व्रजदेवियों में भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं। अतएव श्रीराधारानी के श्रीचरणारविन्दों की सेवा की वाञ्छा किये बिना कौन रह सकता है ?

हमारे इस विशेष कलियुग में श्रीराधा की भाव-कान्ति अङ्गीकार करने वाले श्रीमन्महाप्रभु और उनके श्रीचरणाश्रित श्रील रूप-सनातन आदि आचार्यपादगण ने यही महादुर्लभतम श्रीराधादास्य विश्वमानव को अकातर रूप से दान किया है। धन्य है यह कलियुग, धन्य-धन्य इस कलियुग का मानवसमाज, फिर अतिशय धन्यातिधन्य वे, जिन्होंने श्रीमन्महाप्रभु और श्रीनिताइचाँद की अनुकम्पा से श्रीश्रीरूप-सनातन आदि गोस्वामिपाद के श्रीचरण-आनुगत्य में श्रील उद्धव आदि महामनीषियों के लिये भी ऐसी महादुर्लभतम श्रीराधा दास्य-साधना का सौभाग्य प्राप्त किया है !! व्रज के ठाकुर ने श्रीराधा के प्रेममाधुर्य पर प्रलुब्ध होकर श्रीमन्महाप्रभु के रूप में अवतीर्ण होकर राधारानी के चरमभाव दिव्योन्माद का गम्भीरालीला में आस्वादन किया। श्रीमती की भावमाधुरी के आस्वादन के पश्चात् भी उनके मन में इस राधादास्य मञ्जरीभाव के आस्वादन की वासना जगी। इस मञ्जरी भाव के आस्वादन में ही उनके श्री अङ्ग में अद्‌भुत अष्ट सात्विकभाव प्रकट हुए, इसी भाव के आस्वादन में कूर्माकृति हुए, इसी भाव के आस्वादन में उनकी अस्थि सन्धियाँ शिथिल हुईं!!! *

**''आपने करि आस्वादने, शिखाइलो भक्तगणे,**
**प्रेमचिन्तामणिर प्रभु धनी।**

---

* श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्यलीला में चटकपर्वत की ओर दौड़, कूर्माकृति अनुभाव, समुद्र-पतन देखिये।

नाहि जाने स्थानास्थान, जारे तारे कैलो दान,
महाप्रभु दाताशिरोमणि।।
ओइछे गुप्तभाव-सिन्धु, ब्रह्मा ना पाय एकबिन्दु,
हेनो धन बिलाइलो संसारे।
ओइछे दयालु अवतार, ओइछे दाता नाहि आर,
गुण केहो नारे वर्णिबारे।।
कहिबार कथा नहे, कहिले केहो ना बुझये,
ओइछे चित्र चैतन्येर रङ्ग।
सेइ से बुझिते पारे, चैतन्येर कृपा जारे,
हय ताँर दासानुदास सङ्ग।।''

(चै. च. मध्य. 2)

उद्धवजी दस महीने इस प्रकार व्रज में रहकर श्रीकृष्णलीला-गायन कर सभी व्रजवासियों का चित्त-समाधान कर मथुरा लौटने को हुए, तो प्रेमपरिपाटी के अनुसार सबसे अनुमति देने के लिये प्रार्थना की। वे वृष्णिकुल-श्रेष्ठ होने के कारण सभी नीतियों के ज्ञाता जो थे ! उन्होंने श्रीमती राधारानी के प्रेम के परम महान उत्कर्ष का अनुभव किया था, इसलिये पहले राधारानी के श्रीचरणों में ही मथुरा जाने की अनुमति-प्रार्थना की। हे श्रीकृष्णप्रेयसी-शिरोमणि श्रीराधिके ! मेरा आप लोगों के श्रीचरणों के समीप आजीवन रहना ही परम लाभ है, पर आपके प्राणकोटि प्रियतम श्रीकृष्ण आप लोगों के संवाद के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हैं। इसीलिये मैं उनके चित्त-विनोदन के लिये मथुरा जाना आवश्यक समझता हूँ। अपने प्रियतम को कुछ कहलवाना हो, तो इस दास को आज्ञा दीजिये। यह सुनकर श्रीमती बोलीं-

**''यथा मां सहसावादीस्तथा त्वं मा तमुद्धव ।**
**अहं व्रजमयी शश्वन्नवनीतमयः स तु ।।**
**किन्तु स्नेहत्यागशिक्षां तं वद प्रान्तकक्षया ।**
**क्रमेण हि वहिः कार्या जीर्णवस्त्रार्दता बुध ।।''**

(गो. च. उ. 12/47)

हे उद्धव ! तुमने जैसे हम लोगों को हमारे विरह में हुई कृष्ण की व्यथा की बात बताई थी, वैसे हमारी दुरवस्था की बात उससे सहसा न कहना, कारण- मैं तो वज्रमयी हूँ, उसके दुःख की बात सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हुआ। किन्तु वह नवनीतमय है, उसका हृदय नवनीत की तरह अतिशय सुकोमल

है, हम लोगों की दुरवस्था की बात सुनकर वह प्राणधारण नहीं कर सकेगा।

हे उद्धव ! तुम्हारे प्रभु को मथुरा पहुँचाकर जिस दिन सुबल आदि सखा व्रज में लौटकर आये, उस दिन मैंने सुबल से पूछा था – हे सुबल ! क्या मथुरा में कोई कृष्णप्रेमिक हैं, जो उसका मन जानकर सेवा कर उसे सुखी कर सके ? क्या वहाँ राधा नाम की उसकी कोई दासी है ? वह मथुरा में है इस बात को लेकर हम लोग इतनी दु:खी नहीं हैं, पर उसका मर्म समझकर सेवा करने वाला कोई है या नहीं इस चिन्ता से हम सविशेष दु:खी है। तब सुबल ने तुम्हारा ही नाम लिया था। तुम्हारी बात सुनकर मैं बहुत कुछ शान्त हो गई थी। किन्तु तुम जब गोपियों के साथ वार्ता कर रहे थे, तो तुम्हारे मुंह से यह बात निकली ''तुम लोगों के विरह में वे कातर हैं'' इसे सुनते ही मैं समझ गई कि तुम 'काम' की बात जानते हो, प्रेम की कोई खबर नहीं रखते। हम लोगों को सान्त्वना देने आये और हमारे आगे उसकी कातरता की बात कहीं, तो मैं समझ गई कि मैंने जो सुना था कि तुम एक प्रेमिक हो, वह गलत था। उस दिन से मेरी उन्मत्तता बढ़ गई।

उद्धवजी महाप्रेमिक थे, किन्तु उनमें भी त्रुटि (कमी) है, यह वे समझ गये। जहाँ लक्षकोटि बत्तियाँ जलती हैं, वहाँ भी अँधेरा छिपा रहता है – यह समझ में आता है सूर्य के उदय होने पर। इसी प्रकार राधारानी की बात सुनकर अपने महाप्रेम के भीतर भी छिपी त्रुटि उद्धवजी की पकड़ में आ गई। वे समझ गये, इन लोगों के साथ बात करना कितना कठिन है। श्रीमती बोलीं – तभी कहती हूँ, हम लोगों की दुरवस्था की बात उसे मत सुनाना। सुनानी पड़े, तो धीरे-धीरे अवसर देखकर। यह कहकर उन्होंने उद्धवजी को एक पत्रिका पकड़ाई। उस समय श्री राधा की आँखों में जल था, उनके हाथ काँप रहे थे। पत्र इस प्रकार –

**''व्रजशशधर ता व्रजगास्त्यज्या न कलंकशंकया भवता ।**
**न शशी कलंकतनुमप्युज्झति शशकं स्वमाश्रितं जातु ।।''**

(गो. च. उ. 12/48)

हे व्रजसुधाकर ! यद्यपि तुम व्रज में अँधेरा कर मथुरा-गगन में उदित हुए हो, तथापि कलंक की आशंका से व्रजाङ्गनाओं का त्याग मत करो। शशधर (चन्द्रमा) मृगांक (मृगरूप में लांछन का चिन्ह) वक्ष पर लेकर ही सबके आगे उदित होता है। इसके लिये चन्द्रमा पर कोई दोषारोपण नहीं करता। उसी तरह हम लोगों को वक्ष पर रखो।

उद्धवजी बोले– आपके प्राण वल्लभ से एक बार व्रज में आने का अनुरोध करूँ ? राधारानी ने कहा– नहीं; जब तक वह निश्चिन्त होकर मेरे पास नहीं आ सकता, तब तक सचिन्तहृदय से मेरे पास न आये, क्योंकि हम लोग केवल उसे पाकर ही सुखी नहीं। हम सुखी होती हैं उसे सुखी निश्चिन्त

देखकर, उसके चेहरे पर हँसी देखकर। प्रेमिक-प्रेमिका का अनुरोधमय मिलन सुखकर नहीं होता, अनुरागमय मिलन ही सुखकर।

इसके पश्चात् उद्धवजी ने मथुरा जाने के लिये अन्यान्य सभी गोपियों से अनुमति माँगी। उनकी अनुमति लेकर वात्सल्यमयी माता यशोमती से माँगी। नन्दबाबा की अनुमति ली। तत्पश्चात् गुरुजनों की एवं सभी गोप-गोपियों की अनुमति ली। उद्धवजी व्रज से निकल कर रथ के निकट आकर खड़े हुए, तो श्रील व्रजराज आदि सभी गाढ़ अनुराग से भरकर अपने-अपने चिन्हों से अंकित उपहार देने लगे। व्रजेश्वरी माता ने अपने पुत्र, श्रीबलदेव, श्रीरोहिणी और श्रीदेवकी देवी के लिये नवनीत, क्षीर के लड्डू आदि दिये। श्रील व्रजदेवियों ने अपने प्राणेश्वर के लिये अपने-अपने शिल्पचिन्हों से अंकित गुञ्जाहार आदि दिये। श्रीदाम आदि सखाओं ने अपने प्रिय सखा के लिये दिये वण्यपुष्प, फल, मूल आदि। श्रील व्रजराज ने अपने पुत्र के लिये कस्तूरी गजमुक्ताहार आदि, श्रील वसुदेव के लिये घृतशर्करा आदि, और श्रीउग्रसेन जी के लिये गोरस दिया। उद्धवजी के लिये सभी ने वस्त्र-अलंकार आदि नाना प्रकार के उपहार दिये। ये सब देते समय श्रीकृष्ण का नाम लेने में आँखों में प्रेमाश्रु उमड़े, कण्ठरोध हो गया। तत्पश्चात् श्रीनन्द आदि गोपों ने सजल नेत्रों से गद्गद् कण्ठ से कहा -

**"मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।**
**वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत् प्रह्वणादिषु ।।**
**कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।**
**मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ।।"**

(भा. 10/147/66-67)

**"शुनो उद्धव ! सत्य कृष्ण आमार तनय ।**
**तिंहो ईश्वर हेनो यदि तोमार मने लय ।।**
**तथापि ताँहाते रहु मोर मनोवृत्ति ।**
**तोमार ईश्वर कृष्णे हउक मोर मति ।।"**

(चै. च. आदि 6)

इस प्रकार श्रीकृष्ण - अनुरागमयी भक्ति से सम्मानित होकर उद्धवजी लौटे। मथुरा में प्रवेश कर उन्होंने सबसे पहले अपने अन्तःपुर में अवस्थित श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। श्रीकृष्ण ने भी उन्हें आलिङ्गन किया और कुशल-प्रश्न किया, तो उद्धवजी ने व्रजवासियों का श्रीकृष्ण के प्रति विलक्षण प्रेम, उनकी अनुरागमयी बातें और चेष्टायें - सबके विषय में बताया। हे प्रभो ! तुम्हारे साक्षात् दर्शन से ही व्रजवासियों को आनन्द मिल सकता है, उनके दुःख-शोक आदि की निवृत्ति हो सकती है। तुम्हारे

दर्शन के बिना मेरे चातुर्य और तुम्हारे संदेश भेजने से उन्हें सुख मिलेगा और दु:ख की निवृत्ति होगी - इसकी सम्भावना नहीं।

उद्धवजी ने वात्सल्यप्रेमसिन्धु श्रील नन्दमहाराज की महाअनुरागमयी प्रेमचेष्टाओं का वर्णन किया। किन्तु माता यशोमती अनुराग से गद्‌गद् कण्ठ होकर कुछ भी कहने में असमर्थ हो गईं तो वहाँ सभा में ही उन्मुक्त रूप से रोने लगीं। इसके पश्चात् उद्धवजी श्रीव्रजराज व्रजेश्वरी आदि जिसने जो उपहार दिये थे, उनके नाम ले-लेकर उनके उपहार देने लगे।

किन्तु जब रात हुई, तो उद्धवजी ने निर्जन में श्रीकृष्ण-प्रेयसियों का प्रेम-दावानल उद्‌घाटित कर दिया। उद्धवजी ने श्रीमती राधारानी के दिव्योन्माद चित्रजल्प का आभासमात्र व्यक्त किया था। उसे सुनकर श्रीकृष्ण सारी रात विलाप करते रहे - ' हा राधे ! मेरे चित्त-भृङ्ग की माधवीमञ्जरि ! तुम कहाँ, और मैं कहाँ। मैंनें कभी नहीं सोचा था कि इस अनुरागमय प्रेम में ऐसा दुरन्त विरह घटित होगा।' वे इस प्रकार अनेक रात्रियों में बहुत विलाप कर रोये। श्रीराधा का भ्रमरगीत सुनकर उनके नेत्रों में जो विरह-मेघ जम गया था, इस विशेष कलियुग में विश्व के आकाश में उसी की धारा उतर आई - 'हेम जलद काय, प्रेमधारा बरिषय'। राधारानी की भाव-कान्ति अङ्गीकार कर श्रीकृष्ण श्रीगौराङ्ग हुए, तो वही नयनाश्रु प्रकट रूप से बरस पड़े। ''जलयन्त्र धारा जेनो बहे अश्रुजल। आसपाश लोक जतो भिजिलो सकल।। दुइ नेत्र भरि अश्रु बहये अपार। समुद्रे मिलित जेनो गङ्गा-यमुना-धार।।'' (चै. च.) समस्त विश्ववासी गङ्गा-यमुना- जैसी उन्हीं प्रेमाश्रु-धाराओं से सिञ्चित होकर राधारानी के श्रीपादपद्ममकरन्द-प्रेमरस का आस्वादन कर धन्य हुए।

**''काञ्चन वरण, गौर तनु मोहन,**
**प्रेमे आकुल दु नयन झरे।**
**करिवर ललित, आजानुलम्बित,**
**भुजयुग शोभित पुलकभरे।।**
**श्री शचीनन्दन चैतन्यनाम।**
**जय जगतारण कारण धाम।।**
**निज गुण कीर्तन, नटन अनुक्षण,**
**नाहि परापर भावभरे।**
**शिव-शुक-नारद, व्यास-विशारद,**
**रङ्गे सब खन सङ्गे फिरे।।**

चुया-चन्दन, अङ्गे विलेपन,
रूप सुधाकर मोह करे।
ज्ञान दास कह, गौर कृपामय,
हेरइते को जीव थेह धरे।।''

श्रीश्री उद्धवगीत समाप्त

जय गौर ! जय श्री राधे !!